गीता-दर्शन

स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

1



संकलनकर्त्री

श्रीमती सरला बसन्तकुमार बिरला

गीता-दर्शन

प्रथम खण्ड

स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

संकलनकर्त्री
श्रीमती सरला बसन्तकुमार बिरला

पुस्तक प्राप्ति स्थान :

सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

'विपुल' 28/16 बी. जी. खेरमार्ग
मालावार हिल
मुम्बई - 400 006
फोन : (022) 23682055
मो. : 09619858361 (नरेश भाई)

स्वामीश्री अखण्डानन्द पुस्तकालय
आनन्द कुटीर, मोतीझील
वृन्दावन - 281 121
फोन : (0565) 2913043, 2540487
मो. : 09837219460

•

प्रथम (नव कलेवर) संस्करण : 500
आराधन दिवस
19 नवम्बर 2011 (मुम्बई)
17 से 23 नवम्बर 2011 (आनन्द वृन्दावन)
(मार्गशीर्ष कृष्ण त्रयोदशी, सम्वत् 2068)

•

मूल्य (तीनों खण्डोंका) : रु0 600/

•

मुद्रक :
आनन्दकानन प्रेस
डी. 14/65, टेढ़ीनीम, वाराणसी - 221001
फोन : (0542) 2392337

****

विनम्र निवेदन

प्रस्तुत 'गीता-दर्शन'' (तीन खण्डोंमें), पूर्व प्रकाशित 'गीता-दर्शन' तेरह खण्डोंका ही एक नवीन संस्करण है। श्रीमद्भगवद्गीता पर परमपूज्य 'महाराजश्री' स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजीका प्रायः दस दिवसीय प्रवचन सत्रका आयोजन श्रीमती सरला एवं श्रीबसन्तकुमार बिरला द्वारा, बिरला पार्क, कोलकातामें सन् 1974 से प्रति वर्ष आयोजित किया जाता रहा। यह क्रम सन् 1986 पर्यन्त, लगातार तेरह वर्षों तक चलता रहा।

पूज्य महाराजश्रीने 19 नवम्बर 1987के दिन वृन्दावनमें अपनी लीलाका संवरण कर लिया। उपरोक्त प्रवचन श्रृंखलामें श्रीमद्भगवतगीताके पन्द्रहवें अध्याय तक ही प्रवचन हो पाये थे। इन प्रवचनोंकी रिकार्डिंग कर ली जाती थी, तदन्तर सुनके लिख लिया जाता था।

प्रथम तीन प्रवचन-सत्रोंका संकलन श्रीमती सतीशबाला महेन्द्रलाल जेठीने किया। उसके अगले 'गीता-दर्शन' के दस खण्डोंका संकलन स्वयं श्रीमती सरला बसन्तकुमार बिरलाने किया है। पिछले पच्चीस वर्षोंमें 'गीता-दर्शन'के तेरह खण्डोंके सम्पूर्ण सेटकी माँग पाठक वर्ग द्वारा निरन्तर बनी हुई है।

कुछ माह पूर्व सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्टके न्यासी श्री केवलकिशन सेठीने श्रीमती सरला बसन्तकुमार बिरला का 'गीता-दर्शन'के तेरह खण्डोंको तीन खण्डोंमें उपलब्ध करवाये जानेका सुझाव जब ट्रस्टके चेयरमैन स्वामीश्री सच्चिदानन्द सरस्वतीजीके समक्ष प्रस्तुत किया तब उन्होंने इस कार्यके लिए अपनी सहर्ष स्वीकृति प्रदान की। श्रीस्वामीजीने तत्काल श्रीसोमदत्त द्विवेदीको, इस कार्यको शीघ्र-से-शीघ्र सम्पन्न करने हेतु आवश्यक निर्देश दिए। परमादरणीय वीतराग स्वामीश्री गोविन्दानन्द सरस्वतीजीका अथक प्रयास था कि यह ग्रन्थ संशोधित रूपमें पाठकोंके समक्ष प्रस्तुत हो। संशोधनमें ब्रह्मचारी रामनरेशजीका सहयोग सराहनीय है।

आज हम इस बातसे अत्यधिक हर्षित हैं कि पूज्य महाराजश्री जी की श्रीमद्भगवद्गीताकी अनुपम व्याख्याका यह प्रसाद अब हमें इस नवीन कलेवरमें उपलब्ध हो रहा है। इन तीन खण्डोंमें पूज्य महाराजश्रीके रोचक, सरस, प्रसन्न एवं गम्भीर शैलीमें प्रदत्त 130 प्रवचनोंका बेजोड़ संकलन है जिसके माध्यमसे भगवान् श्रीकृष्णका सन्देश 'गीता-दर्शन' साधारण-से-साधारण व्यक्ति भी समझ सकता है। हमें पूर्ण विश्वास है कि सुधी पाठक वर्ग पूज्य महाराजश्रीकी प्रस्तुत व्याख्यासे अवश्य लाभान्वित होंगे।

पुनर्मुद्रणमें प्रकाशनकी अशुद्धियाँ, त्रुटियाँ जहाँ कहीं भी रह गयी हों, आप हमें अवश्य लिखें जिससे कि अगले संस्करणमें शुद्ध किया जा सके। परमपूज्य महाराजश्रीके श्रीचरणोंमें बारम्बार प्रणाम सहित...

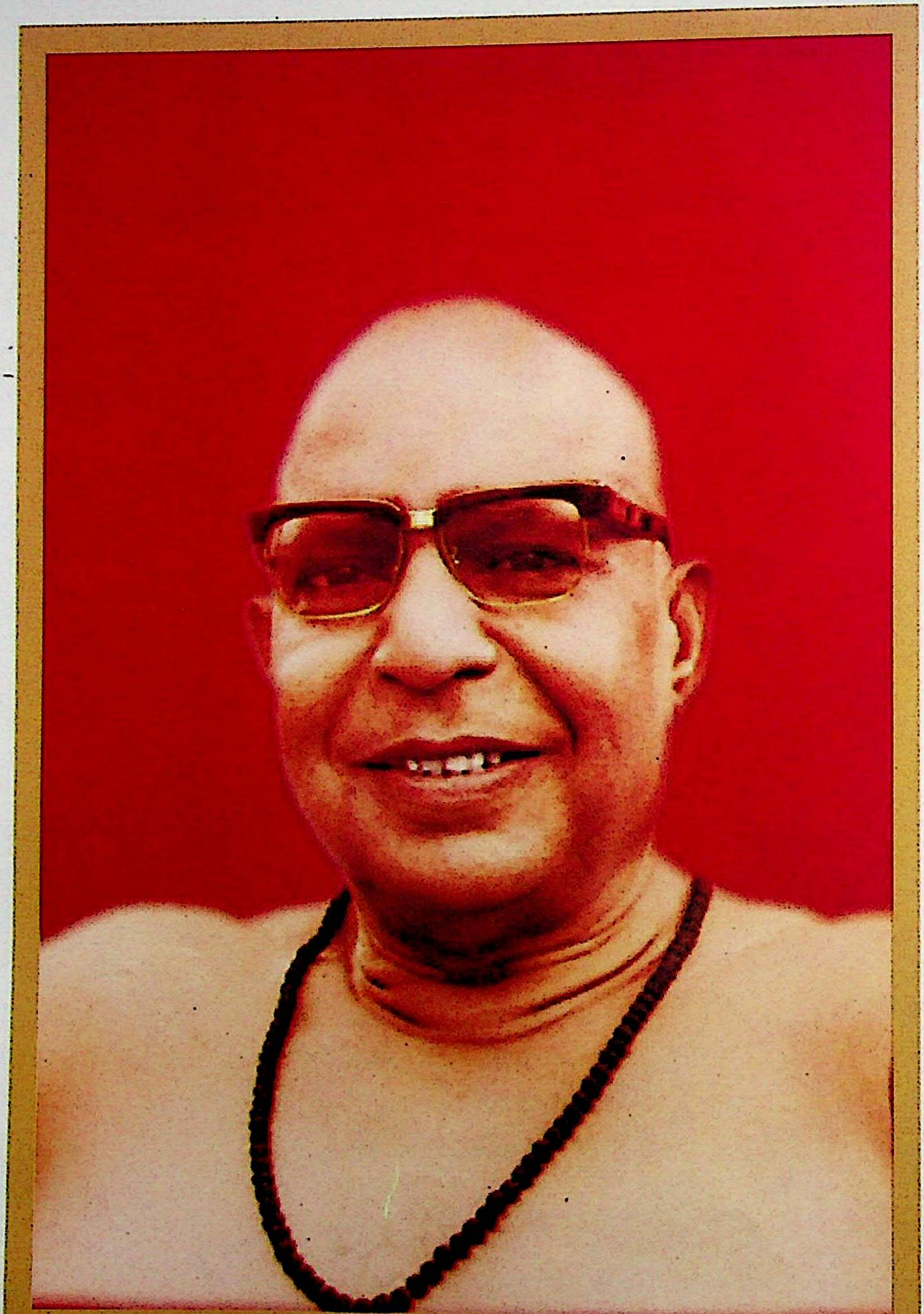
–ट्रस्टी

सत्साहित्य-प्रकाशन ट्रस्ट

****

अनुक्रमणिका

प्रथम खण्ड



स्वामीश्री अखण्डानन्दजी सरस्वती

ॐ

गीता अध्याय 1-4

प्रवचन :1

(16-11-1974)

प्रपन्नपारिजाताय तोत्रवेत्रैकपाणये।
ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः॥
सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥
गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता॥

भगवान् श्रीकृष्ण करुणावरुणालय हैं। जब उनके हृदयसे करुणाकी धारा प्रवाहित हुई, जीवोंका कल्याण करनेके लिए, तब उसने सबसे पहला पात्र चुना धृतराष्ट्र नामक एक अन्धे व्यक्तिको, जिनके पास स्वयं देखनेका, युद्ध-भूमिमें जानेका, गीता सुननेका कोई साधन नहीं था और जो गीताके उपदेश-स्थलसे बहुत दूर बैठे हुए थे। भगवान् श्रीकृष्णने उन्हींके हृदयमें प्रेरणा प्रदान की कि वे उनकी वाणीके सम्बन्धमें प्रश्न करें। यद्यपि भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं तो अर्जुनको गीता सुनायी, परन्तु अर्जुनके अतिरिक्त यदि किसीको सुननेका सौभाग्य प्राप्त हुआ तो संजय और धृतराष्ट्रको ही। इसलिए गीताके तीन पात्र हैं—अर्जुन, संजय और धृतराष्ट्र।

अतः सबसे पहले भगवान् श्रीकृष्णका ही स्मरण करना चाहिए, जिन्होंने जगन्मंगलके लिए धृतराष्ट्रके हृदयमें गीता-विषयक जिज्ञासा उत्पन्न की। धृतराष्ट्रको युद्धके समाचार पहले हीसे मालूम थे। दस दिन युद्ध हो चुका था। भीष्म-पितामह शरशय्यापर जा चुके थे, तब इस प्रश्नको कि—

किमकुर्वत संजय : कौरवों और पाण्डवोंने धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्रकी युद्धभूमिमें इकट्ठे होकर क्या किया, केवल यह तात्पर्य नहीं हो सकता कि उन्होंने युद्ध किया या नहीं किया? उस प्रश्नका तो तात्पर्य यह है कि वहाँ कौन-सी विशेष घटना घटित हुई थी?

गीता महाभारतके भीष्म पर्वमें आती है और वह उसका सारभूत ज्ञान है। यह बात बार-बार ध्यान देने योग्य है कि जिनके पास कोई सामर्थ्य नहीं, कोई साधन नहीं, कोई दृष्टि नहीं उनके हृदयमें भी गीता-विषयक प्रश्न उठाकर भगवान् अपना आदेश-सन्देश उनतक पहुँचाते हैं।

अब दूसरी बात संजयकी लेते हैं। संजयने समग्र गीता भगवान्के श्रीमुखसे ही श्रवण की, परन्तु वह व्यास-प्रसाद भी है। स्वयं संजयका कहना है कि मैंने गीताका गुह्य ज्ञान तो भगवान्के श्रीमुखसे ही प्राप्त किया; किन्तु उसमें केवल भगवान्का ही प्रश्न नहीं, व्यासका प्रसाद भी है—

व्यासप्रसादात् श्रुतवान् एतद् गुह्यमहं परम्। (गीता 18.75)

इससे निष्कर्ष यह निकला कि धृतराष्ट्र पर संजयकी, संजयपर महापुरुष व्यासकी और अर्जुनपर साक्षात् भगवान्‌की कृपा है।

संजयने समग्र गीताका श्रवण करके अपना एक निश्चय बताया और छह बातोंपर ध्यान आकृष्ट किया। संजयका कहना है कि हम लोग जो कुछ भी करते हैं, उसमें ईश्वरका हाथ सन्निविष्ट है और यह बात हम लोगोंको ज्ञात रहनी चाहिए। ईश्वरका हाथ होना इतना महत्त्वपूर्ण नहीं, जितना महत्त्वपूर्ण उसका ज्ञात रहना है।

अविदितो देवो नैनं भुनक्ति।

पूर्वाचार्योंका कहना है कि ईश्वर तो सब जगह है, परन्तु वह रक्षा तब करता है जब मालूम पड़े कि ईश्वर रक्षा करता है—

हरिस्मृतिः सर्वविपद्विमोक्षणम्।

भगवान्‌की स्मृतिसे कष्टका निवारण होता है। वस्तुतः भगवान् स्वयं विपत्तिसे नहीं छुड़ाते, भगवान्‌की स्मृति विपत्तिसे छुड़ाती है। भगवान् तो विपत्तिके आनेमें कर्मका फल देते हैं। परन्तु जो अपने हृदयमें भगवान्‌की स्मृति रखता है, उसको विपत्तिका अनुभव नहीं होता। अपने द्वारा किये हुए भगवत्स्मरणमें यह सामर्थ्य है कि वह विपत्तिको मिटा दे। हृदयमें भगवान्‌का विद्यमान होना एक बात है और भगवान्‌का स्मरण होना दूसरी बात है। भगवान्‌की स्मृति ही सब दुःखोंको दूर करती है। भगवत्स्मृति हमारे हाथमें है। अतः हमें चाहिए कि हम उसे निरन्तर बनाये रखें।

हम जो साधन कर रहे हैं, उसके पीछे भगवान्‌की प्रेरणा है। साधनका अभिप्राय केवल माला फेरनेसे नहीं होता—यह बात हम आपको स्पष्टम्-स्पष्टम् सुना देते हैं। भारतीय संस्कृतिमें जीवनके चार विभाग माने गये हैं। महाकवि कालिदासने रघुवंशकी विशेषता बताते हुए भारतीय संस्कृतिका निचोड़ प्रस्तुत किया है—

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धके मुनिवृत्तीनां योगोनान्ते तनुं त्यजाम्।। (1.8)

शैशवमें—बाल्यावस्थामें विद्याका अभ्यास करना चाहिए, शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए। यौवनमें धनका उपार्जन और विषय-भोग करना चाहिए। वृद्धावस्थामें महात्माकी तरह जीवन व्यतीत करना चाहिए और जब शरीर छोड़नेका समय आये तो अपने आपको भगवान्‌के साथ मिला देना चाहिए।

संजयने कहा—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम।। (गीता 18.78)

यहाँ 'मतिर्मम'का अर्थ है—यह मेरा निश्चय है। और व्यक्तिगत निश्चय है। अर्थात् विद्वान् लोग तो गीताका न जाने क्या-क्या अभिप्राय बतायेंगे—द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत, कर्म, भक्ति, योग आदि बहुतसे अभिप्राय बतायेंगे; परन्तु मैंने गीता-श्रवणसे जो निश्चय किया है, उसमें छः बातें हैं।

एक तो ईश्वर ही प्रेरणाका स्रोत है। वह योगेश्वर साधन बताता है; गुरुके रूपमें आता है; शिक्षकके रूपमें आता है, माता-पिताके रूपमें आता है; हृदयमें प्रेरणा देता है।

दूसरे हम जो कुछ कर रहे हैं, ईश्वर उसका निर्वाह कर रहा है। ईश्वरकी यही विशेषता है कि वह मार्ग भी बताता है, मार्गका निर्वाह भी करता है और उसका फल भी देता है। जब मार्ग बताता है तब ईश्वर होता है ज्ञानस्वरूप। जब निर्वाह करता है तब ईश्वर होता है सत्-स्वरूप और जब फल देता है तब ईश्वर होता है आनन्द-स्वरूप। इस प्रकार सच्चिदानन्द स्वरूप है और प्रेरक, फलदाता तथा निर्वाहके समय स्थिति-स्थापक आत्म-धारणानुकूल व्यापार उत्पन्न करनेवाला प्रभु है।

अच्छा देखो, साँस लेते हैं तो वायुके द्वारा क्या क्रिया होती है? वही हृदयको स्पन्दन देता है, जिससे हम साँसको खींच सकें या ले सकें, और वही श्वासके रूपमें आता-जाता रहता है। वही हमें जीवन देता है। जिस प्रकार साँसके लिए—जो एक शरीरकी वस्तु है—पूर्ण वायुकी आवश्यकता हो रही है, उसी प्रकार हमारे शरीरमें जो चेतना है, वह व्यक्तिगत होते हुए भी उसे सच्चिदानन्द-स्वरूप पूर्ण चेतनासे भी सत्ता मिलती है, ज्ञान मिलता है और आनन्द मिलता है। इसका अर्थ यह हुआ कि जैसे हम बाहरकी वायुके बिना, समष्टि वायुके बिना, जीवित नहीं रह सकते; साँस नहीं ले सकते वैसे ही हमारी अथवा किसी भी जीवकी चेतना पूर्ण परमेश्वरके साथ सम्बन्ध रखे बिना पूर्णताको प्राप्त नहीं हो सकती। इसलिए आप अपने जीवन-कर्मके प्रेरक-रूपमें, निर्वाहकरूपमें और फलदाता-रूपमें परमेश्वरको पहचान लीजिये। स्वयं निकम्मे होकर मत बैठिये। आप धनुर्धारी अर्जुनकी तरह पौरुष पूरा कीजिये। अर्जुन पुरुष है, भगवान् पुरुषोत्तम हैं। पुरुषको अपना पौरुष करना चाहिए और पुरुषोत्तमको प्रेरणा, निर्वाह और फल देना चाहिए। फलके रूपमें चार बातोंका उल्लेख है :

श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवानीतिः (18.78)

ये चारों आपके जीवनमें आनी चाहिए। श्री है आनन्द। आनन्दकी अभिव्यक्ति होनी चाहिए श्रीके रूपमें। श्री एक तो सौन्दर्य है और एक है लक्ष्मी। अपने जीवनमें अन्तःसौन्दर्य, बहिः-सौन्दर्य दोनोंकी अभिव्यक्ति होनी चाहिए। विजय बाहरके शत्रुओंपर भी और भीतरके शत्रुओंपर भी। श्रीमें आनन्द है, विजयमें शौर्य है—वीर्य है। हमें वीर भी होना चाहिए और सुन्दर एवं सम्पन्न भी होना चाहिए। श्रीका अर्थ है—हमारे कर्ममें सुन्दरता हो, शरीरमें सुन्दरता हो, मनमें सुन्दरता हो। विजयका अर्थ—भीतरकी जो वृत्तियाँ हैं, वे हमसे गलत काम न करायें, हमारे काबूमें हों, वशमें हों। काम-क्रोध आदि भी हमारे जीवनमें हों तो वे हमारे अधीन होकर रहें। हम उनके वशमें न रहें, वे हमारे वशमें रहें। जहाँ जरूरत हो वहाँ हम क्रोध करें। सबको 'बाबाजी' होनेकी आवश्यकता नहीं; राष्ट्रपर कोई आक्रमण करे तो वहाँ माला लेकर सामने नहीं जाना चाहिए, बन्दूक लेकर सामने जाना चाहिए। अपना जो शास्त्र है, वैदिक साहित्य है; वह केवल अहिंसाके लिए नहीं और केवल हिंसकोंके लिए भी नहीं। साधनाकी पराकाष्ठा है अहिंसा और क्रूरताकी पराकाष्ठा है हिंसा। विश्व-सृष्टिमें अहिंसा और हिंसाके जो प्रवाह होते हैं, उनमें समत्व रहे हमारी बुद्धि-वृत्तिपर। गीता इस साम्ययोगपर पहुँचाती है, नहीं तो उसमें—

हत्वापि स इमाँल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते। (18.17)
सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ॥ (2.38)

ऐसे प्रसङ्ग क्यों आते?

भारतीय संस्कृति केवल निवृत्ति-प्रधान संस्कृति है और हाथ-पर-हाथ रखकर बैठे रहना हिन्दू संस्कृति या वैदिक संस्कृति है—ऐसा सोचना बिलकुल गलत है। हमारे वेदशास्त्र केवल धर्मग्रन्थ ही नहीं; अर्थ-ग्रन्थ भी हैं, काम-ग्रन्थ भी हैं, मोक्ष-ग्रन्थ भी हैं। किसी मजहब या मजहबी मर्यादाओंको बतानेके लिए ही वेद-शास्त्र नहीं, बल्कि उनमें धन कैसे कमाना चाहिए और भोग कैसे करना चाहिए—इस विद्याका भी प्रचुरतासे निरूपण है। इसलिए चारों पुरुषार्थोंके ग्रन्थ हैं वेद, उपनिषद्, गीता आदि। इस बातको कभी भूलना नहीं चाहिए।

'श्रीर्विजयो भूति:'में जो भूति है, उसका अर्थ है वैभव। आनन्दका विशेष उल्लास है श्री और सत्ताका विशेष उल्लास है विजय। क्रियात्मक है विजय और द्रव्यात्मक है भूति। वस्तु-रूपसे है विभूति और कर्ममें जो पौरुष है, उसके साथ है विजय। 'ध्रुवानीति' सबके लिए चाहिए। नीति माने नेत्र-नयन-आँख। 'नीप्रापणे' धातु है। नयन क्या करता है? पाँव रखनेको जगह बताता है। हमारे पाँवको जो लेकर चलता है, उसका नाम होता है नयन। नयनवालेको बोलते हैं नेता। उस नेतामें जो नीति है, धर्म है, उसको बोलते हैं नीति। नयन बाहर हैं, नीति भीतर है। गीतामें नेता धनुर्धारी अर्जुन हैं। निश्चय यह हुआ कि मनुष्यके जीवनमें एक स्थिर नीति होनी चाहिए। ध्रुवानीतिका अर्थ है डावाँडोल नीति नहीं चाहिए, योजनाबद्ध स्थिर नीति होनी चाहिए। वैभव भी होना चाहिए और विजय भी होना चाहिए। अन्तःसौन्दर्य और बहिःसौन्दर्य भी ठीक हों और सोचनेमें भी ठीक हों। इस प्रकार संजयने जो छह बातें बतायीं, उनमें श्री, विजय भूति और ध्रुवनीति ये चार तो फलात्मक हैं। पाँचवी 'धनुर्धरः' पौरुषात्मक है। धनुर्धर पौरुष है अर्जुनका और छठी 'योगेश्वरः' है सर्वात्मक अर्थात् समष्टिके साथ सम्बन्ध रखनेवाली। चूँकि ईश्वर सर्वात्मक है इसलिए आप सोच-विचार करते समय केवल व्यक्तिगत स्वार्थ न सोचें, परिवारपर भी दृष्टि रखें, गाँवपर भी दृष्टि रखें, राष्ट्रपर भी दृष्टि रखें। समग्र विश्वपर, समग्र मानवतापर भी दृष्टि रखें। ईश्वर यदि केवल कल्पनाकी वस्तु होगा, आप आँख बन्द करके ही उनके बारेमें सोच सकेंगे और बाहरी दुनियामें उसको देख सकेंगे तो उसका अनुभव कभी नहीं होगा। ठोस दुनियाके साथ मिले बिना, ईश्वर कभी अनुभवका विषय नहीं हो सकता। वह जब ठोस दुनियामें मिलेगा, परिवारमें मिलेगा, गाँवमें मिलेगा, जातिमें मिलेगा, मानवताके साथ मिलेगा तब अनुभवका विषय होगा। इसलिए ईश्वरके साथ सम्बन्ध, जीवका पौरुष, अन्तःबहिः सौन्दर्य, भीतरी-बाहरी शत्रुओंपर विजय, वैभव और एक ध्रुवानीति—ये छहों जीवनमें सफलता लानेवाली वस्तुएँ हैं। संजयने अपना यही निश्चय धृतराष्ट्रपर प्रकट किया।

अब जब हम गीताके प्रारम्भमें दूसरी बातपर ध्यान देते हैं तो दुर्योधन और अर्जुन दोनोंके विवेक उपस्थित होते हैं। दुर्योधनके सामने भी सेना है और अर्जुनके सामने भी सेना है। दुर्योधन द्रोणाचार्यको सेना दिखाते हुए कहते हैं—

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता॥ (गीता 1.3)

परन्तु विवेककी जो गम्भीरता चाहिए, वह दुर्योधनमें नहीं। वैसे कुछ विद्वान् दुर्योधनको आसुरी सम्पदाका और अर्जुनको दैवी सम्पदाका प्रतीक मानते हैं। दोनोंमें जो अन्तर है वह स्पष्ट है। अर्जुन जब सेना देखते हैं तो पहले भगवान्से बातचीत करते हैं और भगवान् भी अर्जुनके सामने केवल चुपचाप बैठे हुए नहीं। न निर्गुण हैं, न निराकार हैं, न वैकुण्ठनाथ हैं, न गोलोकाधिपति हैं। आप देखें हमारे भगवान्का यह रूप। हमारे भगवान्की जो विविक्त विशेषता है, उसकी ओर देखिये। कहाँ है ऐसी मान्यता कि वह हमारे रथपर सारथि होकर बैठता है। सब जगह ईश्वर हैं पर वे बहुत बड़े हैं और इतने बड़े हैं कि हम केवल उनको हाथ जोड़ सकते हैं, प्रार्थना कर सकते हैं, नमस्कार कर सकते हैं। हफ्तेमें एक बार प्रार्थना कर लें तो भी चले और दिन भरमें पाँच बार नमस्कार करें तो भी चले। नमस्कार अथवा प्रार्थनाके विषय जो परमेश्वर हैं, वे भिन्न-भिन्न धर्मोंमें हैं। हमारा परमेश्वर अपने भक्तके रथपर बैठकर एक वेतनभोगी सारथिके समान काम करता है। यह क्या करुणाका कोई छोटा-मोटा उदाहरण है कि हाथमें घोड़ोंकी बागडोर पकड़े, चाबुक ले, मालिककी जगहपर नहीं, नौकरकी जगहपर बैठे और केवल नौकरकी जगहपर बैठे ही नहीं, आज्ञाका भी पालन करे।

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत। (1.21)

मानो अर्जुनने पूछा—'सारथि बने हो?'

'हाँ इसमें कोई शङ्का है।' भगवान्ने उत्तर दिया। 'तब पहली परीक्षा तुम्हारी यह होगी कि तुम रथीकी आज्ञाके अनुसार रथ चलाते हो कि नहीं? कहीं ईश्वरताके आवेशमें तुमने अपने मनसे रथ चलाना शुरू किया तो तुम्हारा सारथि बनना सच्चा नहीं होगा। सारथि बनना तो तब सार्थक होगा जब रथीकी आज्ञाके अनुसार रथ चलाओगे।' भगवान्ने स्वीकार किया।

यह आज्ञा माननेवाले भगवान् हैं। यहाँ आज्ञा देनेवालेका नाम भगवान् नहीं, आज्ञा पालन करनेवालेका नाम भगवान् है। यह भगवान्के स्वरूपकी एक ऐसी झाँकी है, जो आपको संसारमें अन्यत्र मिलनी मुश्किल है। बहुत कठिन है कि ईश्वर आज्ञापालनकारीके रूपमें उपस्थित हो। इसलिए संजयने कहा—

सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्। (1.24)

भगवान्ने दोनों सेनाओंके बीचमें रथ खड़ा किया। जब कोई बीचमें नहीं होगा, मध्यस्थ नहीं होगा, तटस्थकी तरह दोनों पक्षोंका विचारक नहीं होगा, तब वह एक पक्षका पक्षी हो जायेगा, पक्षपात आजायेगा उसमें।

सत्यके ज्ञानके लिए तटस्थ-दृष्टि होना बहुत ही आवश्यक है। जब हम एक पक्षमें आरूढ़ होकर किसी वस्तुको देखते हैं तब उसके स्वरूपको ठीक नहीं देख पाते। जिस वस्तुके साथ 'मैं' और 'मेरा' जुड़ता है, उधर पलड़ा भारी हो जाता है और हम उसीकी ओर झुक जाते हैं, नीचे चले जाते हैं। जब हम 'मैं-तेरा' जोड़े बिना किसी वस्तुको ठीक-ठीक देखते हैं तभी उसका सच्चा स्वरूप प्रकट होता है। दो वस्तुएँ हमारे सामने अपना स्वरूप तभी प्रकट करती हैं, जब हम दोनोंके प्रति तटस्थ हों। नहीं तो एक वस्तु अपने पक्षका न

मानकर अपना हृदय नहीं दिखायेगी और दूसरी वस्तु कहेगी कि यह हमारे पक्षका है इसलिए आओ इसको अपनी लपेटमें ले लें। अतः भगवान् अर्जुनका रथ वहाँ खड़ा करते हैं, जहाँ दोनों पक्षोंको बराबर देख सके, उसके भीतर ठीक-ठीक दृष्टि आजाये।

अब आप अपनी दृष्टि दुर्योधन और अर्जुन दोनोंकी विचार-पद्धति, विचार-सरणिपर डालिये। दुर्योधनका कहना है कि यहाँ जो सेना इकट्ठी हुई है, वह सब मेरे लिए मरनेको इकट्ठी हुई है—**मदर्थे त्यक्तजीविताः**। ये सब मर जायें, हमारी जीत हो जाये, हम महाराजा बन जायें; इसके लिए सब इकट्ठे हुए हैं। किन्तु अर्जुनका दृष्टिकोण है—

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च॥ (गीता 1.33)

जिनके लिए मैं राज्य और भोग-सुख चाहता हूँ वे ही युद्ध-भूमिमें मरनेके लिए तैयार होकर आये हैं। जब ये ही मर जायेंगे तो मैं राजा होकर क्या करूँगा? जब जनता ही नहीं रहेगी तो मैं जनेश्वर किस कामका?

अर्जुनका दृष्टिकोण यह है कि मैं भले राजा न होऊँ, मुझे भिक्षा माँगकर भी जीवन व्यतीत करना पड़े, परन्तु प्रजाका कल्याण हो, जनताको राज्य मिले, भोग मिले, सुख मिले। मैं सबका त्याग करनेके लिए उद्यत हूँ। सोलहवें अध्यायमें दैवी सम्पदा और आसुरी सम्पदाका जो वर्णन है, उसका सारा ही अर्थ गीताके पहले अध्यायमें आगया है। जो दैवी सम्पदाके गुण हैं, वे अर्जुनमें मिलेंगे और जो आसुरी सम्पदाके दोष हैं, वे दुर्योधनमें मिलेंगे। सोलहवें अध्यायमें तो केवल गुण-दोषोंका उल्लेख है, उनकी गिनती करायी गयी है, परन्तु उनका उदाहरण गीताके पहले अध्यायमें ही प्राप्त होता है।

अब विषादकी बात लीजिये। दुर्योधनको तो विषाद नहीं, वह तो बहुत हर्षमें है कि हमारे पास बड़ी सेना है, श्रीकृष्णकी भी सारी सेना हमारे पक्षमें आगयी है, हम पाण्डवोंपर विजय प्राप्त करेंगे और राजा बनेंगे। परन्तु अर्जुनके हृदयमें प्रसाद नहीं, विषाद है।

एक बात ध्यान देने योग्य है। विषादको योग माना गया—'विषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः'। गांधीजीने अनासक्ति योगकी चर्चा की, तिलकने कर्मयोगकी चर्चा की, रामानुज, मध्वने भक्तियोगकी चर्चा, शङ्कराचार्यने ज्ञानयोगकी चर्चा की, पर यह गीताका पहला अध्याय जिस विषाद-योगको लेकर आया है उसकी तो किसीने व्याख्या ही नहीं की। विषाद भी योग है। जिसको अपनी स्थितिसे, गतिसे, मतिसे, असन्तोष नहीं होगा, वह उससे निकलनेका प्रयास ही नहीं करेगा। इसीसे पहले वैराग्य होता है, फिर जिज्ञासा होती है। ज्ञान होता है—वैराग्यके लिए भी, राग-द्वेषसे मुक्त होनेके लिए भी। जिस स्थितिमें हम पड़े हैं यह सम्पूर्ण नहीं यह ज्ञात होना आवश्यक है। अर्जुनको अपनी स्थितिका बोध है और इतना प्रबल वेग है बोधका, इतना प्रबल संवेदन है कि वह विचलित हो उठा है।

मनुष्यके मनमें जब उद्वेग होता है तब वह शरीरमें भी प्रकट होता है। क्रोध आनेपर आँखे लाल होती हैं। काम आनेपर शरीरमें उत्तेजना होती है। भोजनकी लिप्सा होनेपर जीभमें पानी आता है। प्रत्येक भाव जो

पहले मनमें आता है, वह स्थूल होकर शरीरमें प्रकट होता है। इसलिए हमारे महात्माओंका कहना है कि कोई भी अपनेको छिपाकर, गुप्त नहीं रख सकता। उसके मनोभावमें जब तीव्र संवेदनकी उत्पत्ति होगी तब वह किसी-न-किसी रूपमें प्रकट हो जायगी। जोरसे हँसना, आँखमें आँसू आना, हाथ-पाँवका काँपना, आँखका लाल होना, ये सब मनोभावोंकी ही तो अभिव्यक्ति है।

तो अर्जुनकी जो विवेक-शक्ति थी, उसने इतने तीव्र सम्वेगका रूप ग्रहण किया कि उसका शरीर फटने लगा और वह कह उठा :

सीदन्ति मम गात्राणि : मेरा शरीर (फट) रहा है।

मुखं च परिशुष्यति : (1.18) मेरा मुँह सूख रहा है।

वेपथुश्च शरीरे मे : मेरे शरीरमें कम्पन हो रहा है।

रोमहर्षश्च जायते (1.29) : मेरे रोयें खड़े हो गये हैं।

ये सब ज्वरके लक्षण हैं। अर्जुनका जो विषाद है, वह तीव्र विषाद है, मृदु विषाद नहीं। उसकी विवेक-शक्ति जाग्रत् हो गयी है कि जो काम वह करने जा रहा है उसका परिणाम क्या होगा? जो लोग परिणामको समझे बिना ही कोई काम करनेके लिए उद्यत हो जाते हैं, उन्हें अर्जुनकी स्थितिपर ध्यान देना चाहिए। परिणामका ज्ञान मनुष्यको धैर्य भी देता है, विवेक भी देता है।

परिणामजन्य स्थिति क्या होगी, यह देखनेकी बात है। अर्जुनकी दृष्टि जो परिणामपर गयी, वह यह सूचित करती है कि कोई भी काम केवल प्राप्त होनेसे ही नहीं कर लेना चाहिए उसके परिणामपर भी दृष्टि रखनी चाहिए। यहाँ प्रश्न उठता है कि जब अर्जुनका विवेक जाग्रत् हो गया तब विषाद-योग क्यों? यदि हम संसारमें रो-धोकर किसीके पास जाते हैं तो हमारे जैसे ही हाथ-पाँव, हमारे जैसे दिल-दिमाग, हमारे जैसी ही अवल-शवलवाले ऐसे मनुष्यके पास जानेसे विषाद-योग नहीं होता। विषाद-योग तब होता है—जब हम सम्पूर्ण विश्व-सृष्टिके अन्तर्यामीके सामने उपस्थित होते हैं—अपने मनको उनकी ओर आकृष्ट कर लेते हैं।

वास्तवमें ईश्वर कहीं दूर नहीं। आप बैठे हैं और आपकी बुद्धि विवेक कर रही है। बुद्धिके पीछे बैठकर उसका संचालन कर रहा है परमेश्वर।

अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्।

आप ईश्वरको देखिये, ईश्वरको पहचानिये। आप साँस ले रहे हैं पर साँसको शक्ति देनेवाला जो वायु-तत्त्व है, वह बाहर और भीतर परिपूर्ण है। समष्टिके साथ सम्बन्ध रखे बिना व्यक्तिका जीवन ही नहीं रहता। हम, जो बुद्धिके सामने हैं, उसको तो देखते हैं परन्तु जो बुद्धिके पीछे हैं उसको नहीं देख पाते :

मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च

जिससे स्मृति होती है, जिससे ज्ञान होता है, जिससे अपोहन होता है; उसे हम नहीं देख पाते—यद्यपि वह है हमारे और हमारी बुद्धिके बीचमें ही, वह अन्तर्यामी बनकर बैठा है :

धियो यो नः प्रचोदयात्। (ऋग्वेद. 3.62.10)

यह गायत्रीका मन्त्र रोज जप करनेवाले भी इस बातपर ध्यान नहीं देते कि हमारी बुद्धि-वृत्तिकी प्रेरणा वही दे रहा है। अतः अपनी बुद्धिको जरा उसके प्रेरककी ओर उन्मुख कर दीजिये। तब आप और प्रेरक दोनों एक हो जायेंगे। जबतक बुद्धि विषयोंको देखती है तबतक वह विषयाकार होती रहती है और जहाँ बुद्धिका मुँह ईश्वरकी ओर हुआ, वहाँ ईश्वरकी गोदमें बुद्धि हो गयी और हमारी गोदमें ईश्वर और बुद्धि दोनों हो गये। ईश्वरको आप नहीं भी मान सकते, और मान भी सकते हैं। परन्तु अपने आपको न माननेका कोई कारण आपके पास नहीं, किसी भी अवस्थामें आप आत्म-सत्ताको अस्वीकार नहीं कर सकते।

ईश्वरने कहा : भाई मुझे मानो चाहे न मानो। कोई भी ऐसा दबाव भला क्यों डालेगा, कि हमको तो मानना ही पड़ेगा। ईश्वरने भी अपनी तरफसे कोई दबाव नहीं डाला कि हमको मानो। परन्तु जब आप एकबार अपनी बुद्धिका मुँह अपनी ओर मोड़ लेंगे तब वह आपकी ओर देखने लगेगी और आपको यह बोध प्रदान करेगी कि ईश्वर ही बुद्धि-योग देता है : **ददामि बुद्धियोगम्।**

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥ (गीता 10.11)

जब बुद्धिका मुँह ईश्वरकी ओर होता है तब ईश्वर अज्ञानको मिटा देता है और जब अज्ञान मिट जाता है तब ज्ञानस्वरूप आत्मा और ज्ञानस्वरूप ईश्वरमें किसी प्रकारके भेदकी उपलब्धि नहीं होती। वह विषाद भी योग है जो संसारमें बिखरनेवाले और जन-जनकी शरणमें जानेवाले हमारे मनको भगवान्‌में संलग्न करता है। कितना पराधीन है वह जीवन जो सोचता है कि अमुक वस्तुके बिना मैं नहीं रह सकता। एक जड़ वस्तु— उसका नाम कुछ भी रख लो। आपलोग मुझसे बहुत ज्यादा जानते हैं कि वे कौन-सी वस्तुएँ हैं, जिनके बारेमें आप सोचते हैं कि हम उनके बिना नहीं रह सकते। हम एक-एक वस्तु, एक-एक कणके पास तो जायें कि हम तुम्हारे बिना नहीं रह सकते।

कालके टुकड़े, क्षण-क्षणके पास जायें कि तुम्हारे बिना हम नहीं रह सकते। धरतीके चप्पे-चप्पेके पास जायें कि हम तुम्हारे बिना नहीं रह सकते। एक-एक व्यक्तिके पास जायें, हाथ जोड़ें शरण-ग्रहण करें, किन्तु सम्पूर्ण विश्व-सृष्टिका जो संचालक है, उसपर हमारा ध्यान न जाये, हम उसकी शरण न लें—यह तो हमारे अभिमानकी पराकाष्ठा है। इस दुनियामें जितनी चोटें लगती हैं, जितने भी चपत लगते हैं, वे आत्माको नहीं लगते, ईश्वरको भी नहीं लगते, बल्कि वह सब हमारे अभिमानको ही लगते हैं। भगवान्‌ने चोट और चपत खानेके लिए अभिमानको ही बनाया है।

वह विषाद भी योग है, जिसके द्वारा हम कण-कणकी, क्षण-क्षणकी, जन-जनकी और मन-मनकी शरण लेना छोड़कर एक सर्वशक्ति-सम्पन्न सर्वज्ञ परमेश्वरकी ओर देखने लगते हैं और अन्तमें कह देते हैं :

शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्

शिष्यका अर्थ शिक्षा देने योग्य नहीं होता, संस्कृत भाषामें शिष्यका अर्थ होता है शासन करने योग्य। जिस धातुसे शिष्य शब्द बनता है उसके अनुसार जो शिष्य है वह ईश्वरसे कहता है कि 'आप हमको शिक्षा

मत दीजिये, आज्ञा दीजिये, हमारे ऊपर शासन कीजिये। क्योंकि मैं अहंभाव छोड़कर आपकी शरणमें आया हूँ।'

प्रपन्न और शरणागतमें थोड़ा अन्तर होता है। श्रीवैष्णव धर्ममें प्रपत्ति और शरणागति दो वस्तु मानी जाती है। गीताके आरम्भमें प्रपत्ति है और अन्तमें शरणागति। प्रपन्नका अर्थ इस प्रकार होता है कि जैसे हमारे पाँवके दो हिस्से होते हैं। ऊपरके हिस्सेको बोलते हैं प्रपद—पंजा और जो निचला हिस्सा है, उसको तलवा बोलते हैं। प्रपत्तिका अर्थ होता है कि मैंने आपके पाँवका पंजा—प्रपद पकड़ लिया। प्रपत्तिमें अपनी पकड़ है, वैसे ही जैसे वानरका बच्चा अपनी माँकी छाती पकड़ लेता है। पकड़ उसकी अपनी होती है, नहीं पकड़ेगा तो गिर जायेगा। शरणागति होती है बिल्लीके उस बच्चेकी तरह जिसको वह अपने मुँहमें ले लेती है। श्रीवैष्णव लोगोंने प्रपत्ति और शरणागतिके ये दो दृष्टान्त दिये हैं। शरणागतिमें सम्पूर्ण निर्भरता होती है और प्रपत्तिमें अपनी ओरसे भगवान्‌की पकड़ होती है।

'शिष्यस्तेऽहं'—यह विषाद अर्जुनके जीवनमें कितनी उच्च-कोटिकी वस्तु है, जिसने उसको भीष्म अथवा द्रोण जैसे गुरुजनोंकी शरणमें नहीं जाने दिया। उन्होंने अपने महाराजा और बड़े भाई युधिष्ठिर जैसे धर्मात्मासे भी सलाह नहीं ली। वे गये अपने जीवन रथपर, शरीर-रथपर आरूढ़ अपनी बुद्धिकी बागडोर पकड़े हुए और हाथमें चाबुक लिये हुए सारथि स्वरूप भगवान्‌की शरणमें। सारथिका अर्थ चलानेवाला होता है—'सारयति अश्वान् इति सारथि:'। जो संचालन करे, उसका नाम सारथि। वास्तवमें भगवान् ही हमारी बुद्धिमें बैठकर अन्तर्यामी रूपसे हमारा संचालन करनेके कारण हमारे सच्चे सारथि हैं। यह आता है—**'बुद्धिं तु सारथिं विद्धि'** (क० 1.3.3) बुद्धिमें बैठे हुए अन्तर्यामी जो ब्रह्म हैं वे ही सारथि हैं। **'इन्द्रियाणि हयान्याहुः'** (1.2.4) इन्द्रियाँ हय हैं। **शरीरथंरथमेव तु** शरीर रथ है और **धनुर्गृहीत्वा** (मुण्डक 2.2.3) इस धनुषपर अपने आपको ही बाणके रूपमें चढ़ाना पड़ता है, आत्मबलि करनी पड़ती है। यह आत्मबलि ही शरणागति है। तब मनुष्य स्वयं लक्ष्यका वेध नहीं करता, उसके द्वारा स्वयं भगवान् ही लक्ष्यभेद करते हैं। अतः जो प्रभु सम्पूर्ण विश्वकी बुद्धिके सञ्चालक हैं उनको अपना सच्चा हितैषी मानकर अभिमान छोड़कर उनकी सहायता प्राप्त करनेके लिए अपने जीवन-रथका सारथि स्वीकार कर लिया जाये और अपने जीवनकी बागडोर उनके हाथोंमें दे दी जाये तो हमारे लिए भी—

शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्। (2.7)

की सार्थकता सिद्ध हो जायेगी।

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेधव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥ (मुण्डक 2.24)

●

प्रवचन : 2

(17-11-1974)

भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके रथपर सारथि-रूपसे एक हाथमें घोड़ोंकी बागडोर और चाबुक पकड़ ली। इसका अर्थ है कि उनके एक हाथमें पूरा शासन है और उनका दूसरा हाथ ज्ञान-मुद्रामें है। तात्पर्य यह कि ज्ञान और शासन ये दोनों तो हैं भगवान्‌के हाथोंमें और स्वयं भगवान् हैं प्रपन्न-पारिजात, उदारशिरोमणि। किसी प्रकारका कार्पण्य उनमें नहीं। यह ईश्वरका लक्षण है कि वह परम उदार है, ज्ञान दे रहा है और शासनकी बागडोर उसके हाथमें है। उसने इस गीता-रूपी अमृतका दोहन किया है। जरा ध्यान कीजिये पार्थसारथि, प्रपन्न-पारिजात, तोत्रवेत्रैकपाणि भगवान्‌का, जिनके एक हाथमें तोत्र—घोड़ोंकी बागडोर और वेत्र—चाबुक है तथा दूसरे हाथमें ज्ञानकी मुद्रा है।

अब तीन बात गीतामें आनी चाहिए। शरणागतवत्सल भगवान् हैं प्रपन्न-पारिजात। अर्जुन प्रपन्न हैं और भगवान् पारिजात अर्थात् कल्पवृक्ष हैं—अर्जुनरूप प्रपन्नके लिए। उनसे जो चाहो सो मिलेगा। मनका नियन्त्रण-इन्द्रियोंका शासन उनके हाथमें है और वे ज्ञान-दाता हैं। इस प्रकार गीता-अमृतमें ये तीनों बातें आयीं।

भारतीय संस्कृति या वैदिक संस्कृतिमें ज्ञान दो तरहका माना गया है—एक अनुभव-स्वरूप ज्ञान और दूसरा अनुभवजन्य ज्ञान। ये वेद, उपनिषद् आदि जो ग्रन्थ हैं—इनमें मन्त्र हैं, श्लोक हैं, परन्तु ज्ञानका जो स्वरूप ये मानते हैं वह स्वयं अनुभव है, ब्रह्म है, आत्मा है, परमात्मा है। इस संसारमें इस ज्ञानस्वरूपको ध्यानमें रखकर कोई धर्म-ग्रन्थ नहीं बना। इसका अर्थ यह है कि पुरुषने अपने अनुभवसे ज्ञानको इकट्ठा करके फिर उसका वर्णन नहीं किया। संसारका अनुभव होनेसे पहले जो ज्ञान-स्वरूप आत्मा था वह ज्यों-का-त्यों ज्ञान ही था। अनुभव—अखण्ड ज्ञान ही था जगत्‌के मूलमें। ज्ञान सब-का-सब दिया हुआ है कि देनेके पहले भी कुछ था? बड़ी अद्भुत बात है कि ज्ञानका स्रष्टा ईश्वर भी नहीं होता। यदि हम मानें कि ईश्वरने ज्ञान बनाया है, तो प्रश्न उठता है कि ईश्वरने ज्ञान कैसे बनाया? ज्ञान बनानेसे पहले ईश्वर ज्ञानी था कि अज्ञानी? यदि ज्ञान बनानेसे पहले ईश्वर ज्ञानी था तो ज्ञान था ही। यदि ज्ञान बनानेसे पहले ईश्वर अज्ञानी था तो वह ज्ञान कैसे बनायेगा? इसलिए एक ज्ञान ऐसा है, जो ईश्वरका बनाया हुआ नहीं। उसी ज्ञानसे ईश्वरका पता चलता है। इसको हम लोग अपनी भाषामें अपौरुषेय ज्ञान बोलते हैं। वेद क्या है? यह पुरुष बनाया हुआ ज्ञान नहीं। जिस ज्ञानसे पुरुष बना है—वह ज्ञान है। इस ज्ञानमें जीव और ईश्वर दोनों प्रकट होते हैं।

एक उपनिषद्-ज्ञान है और एक गीता-ज्ञान है। गीता-ज्ञान श्रुति नहीं, स्मृति है। यह बात सब आचार्योंको मान्य है। शङ्कर, रामानुज, निम्बार्क, मध्व, शैव, शाक्त सब मानते हैं कि गीता स्मृति-ज्ञान है, श्रुति-ज्ञान नहीं। श्रुति-ज्ञानके अनुसार होनेपर भी यह है स्मृति। 'ब्रह्मसूत्र'में कोई छह-आठ बार स्मृतिके नामसे गीताका उल्लेख है। स्मृति कहनेका अभिप्राय क्या है? भगवान् श्रीकृष्ण बड़े अनुभवी पुरुष हैं। मनुष्यको सुख-दुःखमें जीवन कैसे व्यतीत करना चाहिए, यह उन्होंने अपने अनुभवसे हमें समझाया। आप लोग व्रजके रसिया गीतोंको

सुनकर यह न समझें कि गाने-नाचनेमें ही उनका जीवन व्यतीत हुआ। संघर्षोंका बड़ा तगड़ा अनुभव है श्रीकृष्णको। पैदा होनेके पहले उनके माँ-बाप जेलखानेमें थे। छह भाई मर चुके थे। पैदा होते ही उन्हें पराये घरमें जाना पड़ा। सम्पन्न घरानेका बालक होनेपर भी उन्होंने गाय चरा-चराकर अपना जीवन व्यतीत किया। उन्हें जहर खाना पड़ा—पीना पड़ा। छकड़ेके नीचे दबना पड़ा। तूफानका सामना करना पड़ा। पानीमें डूबना पड़ा। अजगरके मुँहमें जाना पड़ा। बड़ी भारी बाढ़का, बड़ी-बड़ी आपित्तयोंका, विपत्तियोंका सामना किया श्रीकृष्णने। मथुरा लौटे तो पहले मामाको ही मारना पड़ा। मामाको मारनेके बाद सत्रह बार दुर्गका युद्ध करना पड़ा। उनके गाँवपर, नगरपर दुश्मनसे चढ़ाई की और किलेमें रहकर उन्होंने सामना किया। यह नहीं कि हमेशा जीतते ही रहे हों, शत्रुके सामने उनको भागना भी पड़ा, गुफामें जाकर छिपना भी पड़ा। आप लोगोंने तो श्रीकृष्णका चरित्र पढ़ा ही है। वे भगवान् हैं यह दूसरी बात है। जरा दूसरी दिशासे भी देखिये—जिसको हम भगवान् कहते हैं वह कितनी मुश्किलोंमें-से गुजरता है।

महाभारतमें वर्णन आता है कि जब जरासन्धने मथुरापर अट्ठारहवीं बार चढ़ाई की तब श्रीकृष्ण मथुरा छोड़कर भागे। जीवनमें कभी-कभी ऐसा भी अवसर आता है कि आदमीको अपनी जन्मभूमि छोड़नी पड़ती है; गाँव छोड़ना पड़ता है। वर्णन है कि भागते समय श्रीकृष्ण और बलरामके पैरोंमें जूते नहीं थे, खड़ाऊँ नहीं थी। दोनों एक-एक धोती पहने हुए भागे थे। वे भागते हुए ऋषियोंके आश्रममें जा-जाकर सत्सङ्ग करते और प्रसाद पाते। एक पहाड़पर चढ़े तो वहाँ भी उन्हें घेरकर आग लगा दी थी। किसी तरह आगकी लपटोंसे बचकर निकले तो समुद्रमें जाकर अपना नगर बसाया। बुआके पाँच बच्चे घरसे निकाल दिये गये। राजा थे तो क्या हुआ उन्हें अपनी बहन सुभद्राका अपहरण करवाना पड़ा। बाल-बच्चे सब-के-सब उनके सामने लड़ मरे। यदि आप उनके जीवनको एक साधारण मनुष्यका जीवन मानें तो ऐसा मालूम पड़ेगा कि इस आदमीकी जिन्दगी तो रोते-रोते ही गुजरी होगी। सचमुच श्रीकृष्णके जीवनमें दु:खके निमित्तोंकी कमी नहीं, वे दिन-रात विलाप कर सकते थे कि हाय-हाय हमारा तो सब-का-सब चौपट हो गया। परन्तु उनके जीवनकी विशेषता है कि उन्होंने कभी शोक नहीं किया।

अब आप जरा यह अनुभव करें कि श्रीकृष्णने हम लोगोंको क्या दिया है? स्मृतिका अर्थ होता है अनुभवजन्य ज्ञान—यह स्मरण कि पहले जब ऐसी घटना घटी तब मैंने उसका सामना कैसे किया? जिस प्रकार कोई यह रजिस्टर बना ले कि अमुक रोग आनेपर मैंने अमुक दवा ली और अमुक समस्या आनेपर अमुक समाधान किया, उसी प्रकार गीता भगवान् श्रीकृष्णके जीवनकी पोथी है, रजिस्टर है। इसमें इन्होंने जो संसारके सब धर्मोंसे विचित्र बात कही है, मैं केवल उसीकी तरफ आपका ध्यान आकृष्ट करता हूँ। किसी भी मजबही किताबमें बुद्धिके लिए कोई स्थान नहीं, वह होती है विश्वास करनेके लिए। उदाहरणके लिए मनुस्मृति लीजिये। धर्मात्मा लोग कहते हैं चूँकि मनुस्मृतिमें लिखा हुआ है इसलिए आपको ऐसा करना चाहिए। एकादशीको ही व्रत क्यों रखा जाता है दशमीको क्यों नहीं रखा जाता? यह पूछनेपर बताते हैं कि भाई! हमारे धर्म-ग्रन्थकी ऐसी ही मर्यादा है, आज्ञा है। इस प्रकारके विश्वासका प्रतिपादन अन्य धर्मग्रन्थोंमें भी है,

चाहे कुरानशरीफ हो या बाइबिल हो। यह बात मैं जानबूझकर बड़ी जिम्मेदारीसे कह रहा हूँ। मैंने कुरानशरीफ पढ़ी है, बाइबिल भी बाँच ली है। गुरुग्रन्थ-साहब भी देख लिया है। अपने जो भारतीय संस्कृतिके ग्रन्थ हैं उनका तो गिनना ही कठिन है।

गीताका कहना है कि तुम्हारे जीवनमें कैसी भी परिस्थिति क्यों न आजाये, अपनी बुद्धिको डाँवाडोल मत होने दो। बुद्धिका जितना आदर गीतामें है उतना आदर संसारके किसी भी धर्म-ग्रन्थमें नहीं। तुम अपनी बुद्धि मत खोओ। अपनी बुद्धिकी शरण लो। अगर काममें, क्रोधमें, लोभमें तुम्हारी बुद्धि बिगड़ती है तो उसे सँभालो। जहर खानेसे शरीर बिगड़ता है; पर कुछ चीजें ऐसी होती हैं, जिनके खाने-पीनेसे बुद्धि बिगड़ती है। हम खाने-पीनेकी चीजोंका नाम तो नहीं गिनाते क्योंकि हम धर्मशास्त्री नहीं और न धर्मशास्त्रकी ओरसे आपको उपदेश कर रहे हैं। जिस वस्तुसे आपकी बुद्धिमें कोई त्रुटि आती हो, उसे आप अपने खाने-पीनेसे दूर रखें। शरीरको जहर खाता है और बुद्धिको नशा। तो थोड़ा-सा सँभलके रहना चाहिए। **न शं यया**—जिससे कभी शान्ति नहीं मिलती उसका नाम नशा है। 'शा' माने शान्ति और 'न' माने नहीं। नशा-शान्तिका साधन नहीं।

अब कीजिये गीतामें श्रीकृष्णका अनुस्मरण। अर्जुन हो गये दुःखी और सो भी साधारण नहीं—

विसृज्यं सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः। (1.47)

उनका मानस, उनकी सारी मनोवृत्तियाँ, मनके सारे आकार-प्रकार, संस्कार-विकार शोकसे संविग्न हो गये—उनमें शोककी लहरें उठने लगीं। उन्होंने धनुष-बाण फेंक दिया, अपने प्राप्त कर्त्तव्यसे विमुख होकर बैठ गये—**रथोपस्थ उपाविशत्।**

श्रीकृष्णने कहा—भाई! दुःख तो सबके जीवनमें आता है, उद्वेग भी आता है। सृष्टिमें ऐसा कोई मनुष्य नहीं, जिसके सामने दुःखके प्रसङ्ग न आये हों। यहाँ तक कि भगवान् रामके घरमें भी दुःख आगया। तो उसके लिए तैयारी चाहिए। जन्म होता है, वियोग होता है, मृत्यु होती है, सम्पदा आती-जाती रहती है। इन परिस्थितियोंमें यदि हम ठीक हों तो सब ठीक रहेगा।

रक्षत रक्षत कोषानाम् अपि कोषं हृदयम्।
यस्मिन् सुरक्षिते सर्वं हि सुरक्षितं भवति॥

खजानोंका खजाना है अपना दिल। अगर इसको आपने बचाकर रखा है तो सब बचा रहेगा, भगवान् श्रीकृष्णने कहा—भाई अर्जुन! तुम्हारी निराशा है वह बेमौकेकी है। दुःख आनेसे मनुष्य निराश हो जाता है और उसका उत्साह ठण्डा पड़ जाता है। जब वह चलेगा नहीं तो अपने लक्ष्यपर पहुँचेगा कैसे? इसीसे हमारे महात्माओंने कहा कि जो मार्गमें चलता है उसका पाँव फिसल सकता है। गिरनेमें उसका अपराध नहीं, गिरकर न उठना अपराध है और उठकर न चलना अपराध है। अपराध तो वहाँ होता है जहाँ सिद्धि न हो। राधा माने सिद्धि और अपराध माने राधारहित—सिद्धिरहित।

अपगता राधा यस्मात् असौ अपराधः।

संस्कृत भाषामें एक श्लोक बहुत ही प्रसिद्ध है—

क्रिया-सिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे।

महापुरुषोंके जीवनमें जो कर्मकी सफलता है वह उनके सत्त्वमें निवास करती है, सामग्रीमें नहीं। उनके पास कितना उपकरण है, कितनी पूँजी है, कितने साथी हैं, इससे सफलता नहीं मिलती। सफलता इससे मिलती है कि उसका सत्त्व कैसा है? जब इस श्लोकके अर्थका विचार हुआ तब हमारे गुरुके गुरु—परमगुरु श्री शिवकुमारजी शास्त्रीने बताया कि सत्त्वका अर्थ अन्तःकरण नहीं होता कि उसमें सिद्धि है। सत्त्वका मतलब धैर्य या सहनशीलता भी नहीं कि सहते जाओ सिद्धि मिलेगी। सत्त्व माने सत्त्वगुण भी नहीं कि सत्त्वगुणी बन जाओ सिद्धि मिलेगी। तब सत्त्व माने क्या है? सत्त्व माने उत्साह। यह अर्थ उनको अपने गुरुओंसे प्राप्त था। उत्साह वीररसका स्थायी भाव है। साहित्यिक लोग इस बातको जानते हैं कि हमारे जीवनमें वीररस कैसे आ सकता है। जब उत्साह होगा तभी हम शत्रुको मार सकते हैं, मैदान फतहकर सकते हैं, सफलता प्राप्तकर सकते हैं। जीवनमें यदि उत्साह ही भंग हो गया तब मर्द कहाँ रहे—नपुंसक हो गये। इसीलिए श्रीकृष्णने कहा—

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैवत्त्वय्युपपद्यते। (2.3)

नपुंसक मत बनो। जिसके जीवनमें काम करनेकी ढिठाई नहीं, धृष्टता नहीं, उसको संस्कृत भाषामें क्लीब बोलते हैं। क्लीब माने नपुंसक। इसलिए श्रीकृष्णने संकेत दिया—केवल भगवान्‌के नाते ही नहीं, सालेके नाते भी कि 'अर्जुन! नपुंसक मत बनो।' तुम्हारे जीवनमें यह हृदयकी जो क्षुद्र दुर्बलता है, वह तुम्हारी कमजोरी है। यह कमजोरी भी कोई मामूली नहीं, क्षुद्र है, स्वीकार करने योग्य नहीं—

क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं।

यहां क्षुद्रं विशेषण है दौर्बल्यंका। अतः भगवान् कहते हैं कि इस क्षुद्र दौर्बल्यका परित्याग करो और उठो। अब आप बुद्धिमानीकी बातपर फिर ध्यान दें—

बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणा फलहेतवः। (2.49)

भगवान् कहते हैं कि यह प्रथम वचन है, बुद्धिकी शरणमें जाओ। गीतामें शरण शब्दका चार बार प्रयोग हुआ है, एक तो **बुद्धौ शरणमन्विच्छ।**

दूसरे स्वयं भगवान्‌ने अपना नाम शरण बताया है—**गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्** (9.18)। इस एक ही श्लोकमें भगवान्‌ने अपने बारह नाम बताये हैं।

तीसरे **तमेव शरणं गच्छ**—ईश्वरकी शरणमें जाओ।

चौथे **मामेकं शरणं व्रज** केवल मेरी शरण ग्रहण करो। इस प्रकार गीतामें शरण शब्दका चार बार प्रयोग हुआ है। यदि इन चारोंमें कोई अन्तर नहीं; तो—

बुद्धौ शरणमन्विच्छ यद्यपि यहाँ भगवान् अपना नाम लेकर अपनी शरणमें आनेके लिए नहीं कहते तथापि बुद्धिमें बैठे हुए हैं भगवान् वासुदेव। आपकी बुद्धि जब निष्पक्ष होती है, राग-द्वेषसे विनिर्मुक्त होती है, शुद्ध होती है तब वासुदेव अपनी बुद्धिमें ही प्रकट होकर अपना ज्ञान प्रदान करते हैं। इसलिए **बुद्धौ**

शरणमन्विच्छका तात्पर्य भी बुद्धि-प्रदाता भगवान्‌की शरणमें जाना ही है। क्या कोई धर्म-ग्रन्थ आपको यह छुट्टी दे सकता है कि आप बुद्धिकी शरणमें आओ? वह तो कहेगा—

धम्मं शरणं गच्छामि।
संघं शरणं गच्छामि।
बुद्धं शरणं गच्छामि।

धर्मकी शरणमें जाओ। समाजकी शरणमें जाओ। आचार्यकी शरणमें जाओ।

ईश्वरको जाने बिना जो मर जाता है वह कृपण है—

एतदक्षरं अविदित्वा..........स कृपणः। (वृहदा० 3.8.10) यह उपनिषद्‌में कृपणकी परिभाषा है।

यदि यह कहो कि भगवान्‌ने मामूली तरहसे बुद्धिकी प्रशंसाकर दी होगी तो ऐसी बात नहीं। इतनी प्रशंसा सारी गीतामें किसी दूसरी वस्तुकी है ही नहीं। एक प्रश्न यह उठ सकता है कि बुद्धिकी शरण लेनेसे फायदा क्या है? इसका उत्तर यह है कि बुद्धिकी शरण ग्रहण करनेसे पाप और पुण्यका झगड़ा मिट जाता है जो आपके सामने बहुत बार आता है।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते। (2.50)

गीता बोलती है कि सुकृत माने पुण्य और दुष्कृत माने पाप। यदि आप बुद्धिमान् होंगे तो पाप और पुण्यको यहीं छोड़ देंगे और उसे अपने आत्माके साथ नहीं जोड़ेंगे। यही परिभाषा पाप और पुण्यसे मुक्त होनेकी है और यही सुख-दुःखसे छूटेनेकी युक्ति है—**कर्मजं बुद्धियुक्ता हि**। यदि आप बुद्धियोगी होंगे, बुद्धियुक्त होंगे, मनीषी होंगे तो कर्मके जो सुख-दुःखात्मक फल आते हैं उनमें बचकर निकल जायँगे। सुख आनेपर सुखी नहीं होंगे और दुःख आनेपर दुःखी नहीं होंगे। यहाँ मालूम पड़ता है कि श्रीकृष्णको इसका पूरा अनुभव है। **दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः**—दुःख चाहे आयें चाहे जायें अपने मनको उद्विग्न मत होने दो, और **सुखेषु विगतस्पृहः**—सुखमें मनको फँसने मत दो। अपने मार्गपर चलते-चले, चरैवेति-चरैवेति। अगर सुख दाहिने छूटता है तो दुःखको बायें छोड़ो और बिलकुल सीधे तीरकी तरह चलो। तुम्हारे सुख-दुःख पीछे रह जायें और तुम आगे बढ़ जाओ। पीछे छूटे हुए सुख-दुःखकी याद करनेकी कोई जरूरत नहीं। प्रकृतिका यह नियम है कि उनकी याद रहती भी नहीं। पहली चोट बड़ी भयंकर लगती है और वही दो दिन, तीन दिन, चार दिनके बाद उतनी भयंकर नहीं लगती। प्लेगके दिनोंमें मैंने देखा था कि पहला मुर्दा जितना भारी पड़ा बादमें वह सामान्य हो गया। रोज-रोज पाँच, दस, तीस मुर्दे सामने पड़े रहते और लोग कहते कि पहले कुछ खा लें तब ले चलेंगे।

तो सारा दुःख पहली चोटका ही होता है। यदि हम उसे सह लें तो वह साधारण हो जाता है। इसीलिए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

शीतोष्णसुख-दुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः। (12.18)

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःख-सुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥ (2.15)

यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते—तात्पर्य यह है कि गीता अमृत है और हम उससे अमृतत्वकी प्राप्ति करके बुद्धिका आश्रय लेनेपर सुख-दुःखसे, पाप-पुण्यसे छुटकारा पा सकते हैं। बुद्धिमान् पुरुषको उसके कान तकलीफ नहीं देते—यह भी गीतामें है—

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥ (2.53)

कानोंने हमें बहुत तकलीफ दी है। हम कर्णजीवी-श्रुतिजीवी हो गये हैं और हमारी बुद्धि श्रुतिविप्रतिपन्ना हो गयी; तो मैं बुद्धिकी चर्चा कर रहा हूँ—

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति। (2.52)

—ऐसे और भी कई प्रसङ्ग हैं। भगवान् श्रीकृष्णने बुद्धि शब्दका प्रयोग एक प्रसङ्गमें पाँच बारसे भी अधिक किया है।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥ (2.52)

तो तुम सुनी हुई बातोंमें फँस गये हो और आगे भी न जाने क्या-क्या सुननेको मिलेगा—**श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च**। अभी तो यह सुनना बाकी है, वह सुनना बाकी है। यह सुना है, वह सुना है। इसमें तुम्हें मोह हो गया है। आगे ऐसी खबर सुननेको मिले, इसका भी मोह है और ऐसी-ऐसी खबरें पहले सुनी हैं, उनका भी मोह है। यह मोह दलदल है। तुम्हारी बुद्धि मोहके इस दलदलमें न फँसे। संस्कृतमें 'मोह' शब्दका अर्थ है चित्तका विपरीत हो जाना। जब अपना मन ही अपनेको दुःख देने लगे तो समझ लो वह मोहका परिणाम है। एक आर्यसमाजी सज्जन हैं। वे लोग ज्योतिषको नहीं मानते; मुहूर्त नहीं मानते। फिर भी उन्होंने यह निश्चित किया कि उनके बेटेका विवाह नौ बजे वैदिक रीतिसे होगा, सात बजे बारात निकलेगी, आठ बजे पहुँचेगी और द्वारचार होगा। किन्तु बाजेवाले समयसे नहीं आये, बारात नहीं निकली। आठ बजते-बजते वे सज्जन बिल्कुल व्याकुल हो गये, पाँव पीटने लगे और बोले कि मुहूर्त बिगड़ा जा रहा है, नौ बजे कैसे शादी होगी। सबके ऊपर बरसे। उनकी बुद्धि व्याकुल हो गयी, चित्त विपरीत हो गया। व्याहके उछाहका दिन और शोक आगया—दुःख आगया। हमारे एक मित्रने कहा—'भाई! मुहूर्त कौन वसिष्ठजीने लिखकर भेजा है। अरे नौ बजे नहीं होगा तो दस बजे व्याह हो जायेगा। मुहूर्त तो तुम्हारा ही बनाया हुआ है न?'

तो हम अपने मनसे ही कल्पना करके उसमें उलझ जाते हैं। पहले सोच लेते हैं इस काममें इतनी आमदनी होगी और उतनी न हुई तो आधी हुई तो दुःखी हो जाते हैं। क्या ईश्वरके पाससे दस्तावेज आया था कि इस काममें इतनी आमदनी होगी? तुम्हींने तो उतनी आमदनीकी कल्पना की थी। नहीं हुई तो न हुई। अबकी बार नहीं हुई आगे हो जायेगी। नैराश्य तो जीवनमें आता है वह अपनी कल्पनाका ही आता है। इसीको मोह बोलते हैं। **मुह् वैचित्त्ये**—चित्तका विपरीत हो जाना ही मोह है—

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति। (2.52)

हम श्रुतिको—सुनी हुई बातोंको अधिक पकड़ते हैं। एक महात्माने हमको बताया था कि हम लोग जिनको अपराधी मान बैठते हैं, उनके अस्सी-नब्बे प्रतिशत अपराध आँखसे देखे हुए नहीं होते, कानसे सुने हुए होते हैं। तो—

तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च। (2.52)

कही-सुनी बातका क्या ठिकाना? वह गलत भी हो सकती है, सही भी हो सकती है। कहनेवालेने अपनी दृष्टिसे सच कहा हो तो भी सबको समझनेमें, धारण करनेमें गलती हो सकती है।

तो भगवान् श्रीकृष्ण यह कहते हैं कि अपनी बुद्धिको श्रुतिविप्रतिपन्न मत करो। उसने यह सुना दिया, वह सुना दिया, पर विश्वास न करके तुम्हें जज बनकर निर्णय करना चाहिए कि क्या गलत है, क्या ठीक है। सुने-सुनायेपर नहीं दौड़ना चाहिए। ऐसा तो गाँवोंमें होता है। सुसंस्कृत लोग ऐसा नहीं करते। मेरा जन्म ब्राह्मणोंके सात-आठ घरवाले एक छोटेसे गाँवमें हुआ है। मैंने देखा कि वहाँ एक दूसरेसे लड़ाई करनी होती तो कोई किसी स्त्रीसे कहता कि तुम्हें कुछ मालूम भी है कि अमुक तुम्हारे बारेमें ऐसा कह रहे थे कि वह तो मेरे पीछे पड़ी है। घूमती है मेरे पीछे-पीछे। इसपर वह स्त्री बोलती कि—अच्छा! मुँहजलेने ऐसा कहा? और पहुँच जाती उस अमुक व्यक्तिके पास, चार गाली सुना आती। वह हाथ जोड़ा कि नहीं, तुम हमारी माँ हो, तुम्हारे लिए मैंने कुछ नहीं कहा। बड़ा आदर है तुम्हारे प्रति। किन्तु वह नहीं मानती, गाली देती जाती और कहती कि नहीं, नहीं तुमने जरूर कहा होगा।

तो यह सुने-सुनायेपर दौड़ जाना है। किसीने कहा कि 'अरे, तुम्हारा कान तो कौआ ले गया।' अब वह कान तो देखता नहीं, डण्डा लेकर पीछे दौड़ता है कौवेको मारनेके लिए। तो—

तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्त श्रुतस्य च।

हम एक महात्माके पास जाते थे तो वे हमें गाली देते थे। खूब देहाती प्रोग्राम होता था। एक दिन वे बहुत खुश थे तो मैंने उनसे पूछा कि 'आप गाली क्यों देते हैं?' इसपर वे और भी नाराज हो गये। कुछ देर बाद शान्त हुए तो बोले—हमारी गाली तुमको बुरी लगती है? अरे! गाली सहनेकी आदत डालो, यह जीवनमें काम देगी। अभी न जाने कितनी गालियाँ तुमको सुननेको मिलेंगी। ससुरालकी गाली प्यारी लगती है और हमारी गाली बुरी लगती है। ससुरालसे जितना प्रेम है उतना तो महात्मासे होना चाहिए भाई!

जैसा कि मैंने आपको पहले बताया कि भगवान् श्रीकृष्णके जीवनको एक पहलूसे देखें तो दुःखके इतने निमित्त हैं, इतने निमित्त हैं कि वे उनपर ध्यान दें तो हमेशा दुःखी रह सकते हैं। परन्तु वे उनपर ध्यान ही नहीं देते और नाचते हैं, गाते हैं, बजाते हैं, हँसते हैं, मुस्कुराते हैं। जो उनका ध्यान करे उसका भी दुःख दूर कर देते हैं। यही कहते हैं कि हमारी याद करो और देखो कि मैं दुःखमें कैसे रहता हूँ, सुखमें कैसे रहता हूँ। याद करनेका यह मतलब हुआ कि उनसे सीखो कि वे सुखमें, दुःखमें कैसे रहते हैं? व्रजवासियोंने, गोपियोंने उनको कितना सुख दिया, परन्तु जब वहाँसे निकले तो ऐसे निःस्पृह होकर निकले जैसे कुछ हुआ ही नहीं। यह सीखनेकी बात है। यदि हम उन्हें गोपियोंको सुख देनेवाला न मानें तो उनके चित्तमें निःस्पृहता थी, वैराग्य

था, त्यागकी भावना थी और वे मोहमें नहीं फँसते थे। यह कैसे मालूम पड़े? उनके इन वचनोंका महत्त्व किस प्रकार ज्ञात हो—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥ (2.14)
यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥ (2.15)

अब आपको एक दूसरी बात सुनाते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण सांख्यको सांख्य, कर्मको कर्म और ज्ञानको ज्ञान नहीं मानते। इन सबको बुद्धियोगकी संज्ञा देते हैं—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगेत्विमां शृणु। (2.39)

सांख्यमें भी बुद्धि है और योगमें भी बुद्धि है। जहाँ बुद्धि नहीं होगी वहाँ ज्ञानयोग कहाँसे होगा? सांख्ययोगकी बुद्धि अलग, कर्मयोगकी बुद्धि अलग; परन्तु बुद्धि व्यापक है। वह दोनोंमें है, इसलिए बड़ी भारी हो गयी। बुद्धिमत्तासे ही ज्ञानयोग योग होता है और बुद्धिमत्तासे ही कर्मयोग योग होता है।

अब देखो इसमें जीवनका समन्वय हो गया। जीवन क्या है, एक बुद्धि है। बुद्धि क्या है, तत्त्वके सम्बन्धमें अपनी समझको ठीक रखना है। जैसे आपके घरमें कोई मशीन बनती है, यह समझना और किस साँचेमें, किस डिजाइनकी, किस कामके लिए बनती है, यह भी समझना। कर्मयोग डिजाइन है, आकृति है, बनावट है। कर्मके द्वारा कुछ बनाया जाता है, यह वेदान्तका सिद्धान्त है और सच्चा है। ज्ञान जाननेका साधन है, बनानेका नहीं। वस्तुको पहचानना ज्ञान है और उससे कुछ बनाना कर्म है। बुद्धि दोनोंमें है, इसलिए इसका अर्थ है—आपका जीवन एक बुद्धि है। आप उस मसालेको भी पहचानिये जिससे अल्म्युनियम निकलती है, कागज निकलता है और उन चीजोंको बनाना भी सीखिये-समझिये।

सांख्य बुद्धिका नाम है तत्त्वबुद्धि। तत्त्व उसे कहते हैं जिसमें आकार आरोपित होते हैं। आकार आरोपणके पूर्व वस्तुकी जो स्थिति है, उसको तत्त्व बोलते हैं—**अनारोपिताकारं तत्त्वम्** कंगन, कुण्डल अथवा हार—कुछ भी बननेसे पहले जो स्वर्णका स्वरूप है वह तत्त्व है। घड़ा बननेके पहले, घड़ा बन जानेपर, घड़ा फूट जानेपर, उसमें घड़ेके आरोपसे विनिर्मुक्त जो मृत्तिका है, उसका नाम तत्त्व है तों तत्त्वज्ञान होना चाहिए। देखो जो लोग मोटरकी मशीनकी जानकारी रक्खे बिना मोटर चलाते हैं उन्हें कहीं मोटर रुक जानेपर खड़ा होना पड़ता है; क्योंकि उन्हें मोटर सुधारना नहीं आता। उनके पास चलानेका लाइसेंस होता है, फिर भी उनको खड़ा होकर यह देखना पड़ता है कि कोई ड्राइवर आजाये उनकी मोटर खोलकर सुधार दे। तो जानकारी भी होनी चाहिए और स्वयं करनेका ज्ञान भी होना चाहिए।

सांख्यबुद्धि और कर्मबुद्धिको ही सांख्ययोग और कर्मयोग बोलते हैं और ये दोनों ही बुद्धि हैं। सांख्ययोगमें मुख्य रूपसे दो बातें समझायी गयी हैं। एक तो आत्मा शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-अविनाशी है। इनको अनुभवके क्षेत्रमें समझना आसान नहीं है। ऐसा कोई माईका लाल न पैदा हुआ है, न है और न होगा, जो यह अनुभव कर ले कि

मैं मर गया। कितनी सीधी बात है कि वह मर गया कह सकते हैं। वह मर जायगा कह सकते हैं, मैं मर जाऊँगा ऐसा भी आप कह सकते हैं, लेकिन मैं मर गया, यह अनुभव कभी किसीको हो ही नहीं सकता। यदि कोई कहे कि हमको अनुभव हो रहा है कि मैं मर गया तो अनुभव करनेवाला जिन्दा है कि नहीं? माने आत्माको कभी यह अनुभव नहीं हो सकता कि मैं मर गया। यदि कोई कहे कि आत्मा अनुभव कर सकता है कि मैं अज्ञानी हूँ तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि मैं अज्ञानी हूँ, यह अनुभव करना भी ज्ञान है फिर अज्ञान कहाँ हुआ?

तो आत्मामें न कभी मृत्यु आ सकती है न कभी अज्ञान आ सकता है। आपलोग जिस प्रकार सहजभावसे व्यापारपर विचार करते हैं उसी प्रकार उससे कम बुद्धि लगाकर आत्माका चिन्तन करें और यह देखें कि मैं कौन हूँ तो मौत आपके पास नहीं आयेगी और आप यह अनुभव करेंगे—

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥ (2.13)

यह मत देखो कि मैं कहाँसे आया, कैसे पैदा हुआ? पैदा हो चुके। इसका भी ज्यादा ख्याल रखनेकी जरूरत नहीं कि आगे क्या होगा? जो होना होगा, सो होगा। यह जो आपका लवाजमा है वह कभी साथ रहेगा, कभी नहीं रहेगा। जब अनासक्त भावसे रहोगे तो लवाजमा न रहनेपर भी, सामग्री न रहनेपर भी सुखी रहोगे और आसक्त रहोगे तो इसके छूटनेका डर रहेगा।

शोक कहते हैं बीती हुई बातमें फँसावको, भूतवृत्तिको, हमारे पास इतना वैभव था, हमारा यह खो गया—पिछले वैभवकी स्मृति और पिछली विपत्तियोंकी स्मृति। बीती हुई घटनाओंके द्वारा प्रभावित होना—इसका नाम शोक है। आगे दु:ख आ जायेगा, इसके लिए भविष्यद्वृत्ति भय होता है। वर्तमानवृत्ति, कि हमारे सामने बना रहे मोह होता है। तो भगवान् कहते हैं—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥ (2.11)

संस्कृत भाषामें पण्डित शब्दका अर्थ होता है—**पण्डा सञ्जाता अस्य इति पण्डितः**। सदसद्विवेकिनी बुद्धिका नाम है पण्डा और वह जिसके जीवनमें पैदा हो गयी उसका नाम है पण्डित। **नानुशोचन्ति पण्डिताः**—पण्डितकी पहली पहचान यह है कि पण्डितको शोक नहीं होता—

ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः। (4.19)

पण्डितको पाप-पुण्य चिपकते नहीं, बुद्धिमान् पुरुष पाप-पुण्यको नहीं पकड़ता और न शोक करता है। वह गये-आये अथवा जिन्दा-मुर्देके लिए भी शोक नहीं करता। जो हो रहा है उसके लिए पण्डित समदर्शी होता है—**पण्डिताः समदर्शिनः**। गीताके पण्डितका अर्थ बुद्धिमान् ही है। मैं समझता हूँ आप सब लोगोंने गीता पढ़ी है। सुनते हैं हमारे देशके एक विद्वान जर्मनी जानेपर वहाँके किसी विद्वानसे मिले तो उसने सर्वप्रथम गीताकी चर्चा की। इनको गीताके विषयमें कुछ मालूम नहीं था। उस विद्वान्‌ने बताया कि मैंने नब्बे बार गीता पढ़ी है। तुम कैसे भारतीय हो कि गीताका नाम भी नहीं सुना है?

तो गीता न पढ़ना एक अपमानकी बात हो जाती है। आप सबलोग तो गीताके बड़े-बड़े जानकार हैं, जीवन भर गीताका पाठ करनेवाले हैं। महात्मा गांधीने, लोकमान्य तिलकने, हमारे गीताप्रेसवालोंने गीताको बहुत सुलभ कर दिया है। तो गीता पढ़नी चाहिए। बुद्धिमानी इसीमें है कि हमारे जीवनमें शोक, मोह और भयका प्रवेश न हो, ऐसा होनेपर ही हमें समझना चाहिए कि हम गीताका ज्ञान प्राप्त कर रहे हैं। तो तत्त्वके सम्बन्धमें दो बातपर केवल ध्यान रखें—

एक तो यह आत्मा अविनाशी है, अप्रमेय है—**अनाशिनोऽप्रमेयस्य।** कभी भी अपने अनुभवमें इसकी मृत्यु नहीं आ सकती। न अबतक आयी है और न आगे आयेगी। आप कभी मरे नहीं। अगर मर गये होते तो आज होते कहाँसे? तो आज हैं—यह इस बातका प्रमाण है कि आप अबतक कभी मरे नहीं।

दूसरी बात यह है कि संसारकी सब वस्तुएँ अदलती-बदलती रहती हैं किन्तु आत्मामें कोई परिवर्तन नहीं होता। आत्मा कभी मरता नहीं और संसार कभी रहनेवाला नहीं—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। (2.16)

न जायते म्रियते वा कदाचित्। (2.20)

यह तो हुई आत्माकी बात। अब जो यह बुद्धि डाँवाडोल हो जाती है, टिकती नहीं, यह प्रश्न मनुष्यके जीवनमें अवश्य आता है। भगवान् श्रीकृष्ण इसकी भी युक्ति बताते हैं कि हमारी बुद्धि किस प्रकार स्थिर हो? इसके लिए भगवान्‌ने बहुत-सी युक्तियाँ बतायी हैं—

प्रजहाति यदा कामान् (2.55) **यः सर्वत्रानभिस्नेहः** (2.57) **दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः** (2.56)—एक तो हम कामनाके वशमें न हों। हम रामकी प्रेरणासे चल रहे हैं कि कामकी प्रेरणासे? रामकी प्रेरणा माने वासना-विनिर्मुक्त प्रेरणा। और **नाभिनन्दति न द्वेष्टि** (2.57) हम अभिनन्दन करने अथवा द्वेष करनेमें लग जायेंगे तो हमारी बुद्धि डाँवाडोल, पक्षपाती, पार्टीबन्दीवाली हो जायेगी। पार्टीका सबसे बड़ा अभिशाप है कि वह स्वयंको दूधका धुला, बिलकुल स्वच्छ, शुद्ध मानती है और दूसरी पार्टी चाहे कितनी भी बढ़िया हो उसे बुरा मानती है। दूसरी पार्टीका अच्छा भी बुरा और हमारी पार्टीका बुरा भी अच्छा है। इसमें लगता है पाप, अपराध और इस अपराधके कारण बादमें पार्टियाँ भ्रष्ट हो जाती हैं, टूट जाती हैं। तो अभिनन्दन और द्वेषसे, राग और द्वेषसे बचना चाहिए।

उसके बाद आता है—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः। (2.56)

•

प्रवचन : 3

(18-11-1974)

या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता।

गीता भगवान्‌का हृदय है, ऐसा उसके माहात्म्यमें कहा गया है—**गीता मे हृदयं पार्थ**—अर्जुन, गीता मेरा हृदय है। भगवान्‌ने इसको बहुत प्रेमसे सँजोकर रखा था। पर जब अर्जुनको शोकग्रस्त—**शोकसंविग्नमानसः** देखा तो भगवान्‌के भीतर बड़े प्रेमसे सँजोयी हुई गीता स्वयं छलक पड़ी। भगवान्‌ने स्वयं गीताको अपने हृदयसे बाहर नहीं निकाला, वह भगवान्‌के काबूमें नहीं रही। भगवान्‌के वशमें सारी सृष्टि है, परन्तु उनकी करुणा उनके वशमें नहीं। यह परमेश्वरकी एक लीला है। **मुखपद्माद्विनिःसृता**का अर्थ ही है कि वेदकी अपेक्षा भी गीतामें कुछ सौन्दर्य है। वह क्या है? भगवान्‌की नाभिसे निकला एक कमल, कमलपर हुए ब्रह्मा, ब्रह्माके मुखसे निकले वेद। तो नाभि एक तो मुखसे नीचे है। दूसरे गीता स्वयं भगवान्‌के मुखकमलसे साक्षात् निकली। तो वह ब्रह्मा और वेद दोनोंकी अपेक्षा अपने सौन्दर्यको अधिक प्रकट करती है। हृदयकी वस्तु नाभिमें गयी, नाभिसे कमलमें और कमलसे ब्रह्मामें प्रकट हुई—यह वेदकी परम्परा है। वेद भी भगवान्‌के हृदयसे ही प्रकट हुआ, परन्तु उसके पहले कई लोग आगये। गीता हृदयसे मुखमें आकर प्रकट हुई। ज्ञानका स्थान मुख ही है। आप जानते हैं कि विराट्-भगवान्‌के मुखसे ब्राह्मणोंकी उत्पत्ति हुई! तो कान मुखमें, हाथ मुखमें, नासिका मुखमें, रसना मुखमें, त्वक् मुखमें—ये सब ज्ञानके साधन हैं। ज्ञान प्रधान विराट्‌का अंग है मुख। ज्ञानके अधिकांश साधन शरीरके उर्ध्वभागमें ही निवास करते हैं। इसलिए उसका प्राकट्य भगवान्‌के मुखकमलसे ही होना चाहिए। तो गीता विशेष हो गयी। जैसे हिन्दीमें विशेषता बोलते हैं वैसे संस्कृतमें विशेष बोलते हैं।

अर्जुन और श्रीकृष्णका जो सम्बन्ध है वह बहुत मधुर है। महाभारतमें कहा है--

नारायणो नरश्चैव सत्त्वमेकं द्विधा कृतम्।

एक तत्त्व है, एक सत्ता है, और नर-नारायण अर्जुन-कृष्ण दोनोंके रूपमें प्रकट हुई है। नर और नारायण माने जीव और ईश्वर। अर्जुन जीव है तो श्रीकृष्ण ईश्वर हैं। जीव-ईश्वर दोनों एकही तत्त्व हैं। एक बार संजय धृतराष्ट्रके पास गये और निवेदन किया कि आप अपने पुत्रोंको समझाओ कि कृष्ण तथा अर्जुन दो नहीं—

कृष्णो धनञ्जयस्यात्मा कृष्णस्यात्मा धनञ्जयः।

अर्जुनकी आत्मा कृष्ण है, कृष्णकी आत्मा अर्जुन है। महाभारतके उद्योग पर्वमें यह प्रसङ्ग है। **उभयो अन्तरं नास्ति** दोनोंमें कोई अन्तर नहीं। अर्जुन; जो तुमसे द्वेष करता है वह मुझसे द्वेष करता है और जो तुमसे प्रेम करता है वह मुझसे प्रेम करता है। श्रीकृष्णने अर्जुनसे स्पष्ट कहा—

यस्त्वां द्वेष्टि स माम् द्वेष्टि यस्त्वामनु स माम् अनु।

खाण्डव वनदाहके प्रसङ्गमें इन्द्रने श्रीकृष्णसे कहा कि 'वर माँग लो। तुम मनुष्य रूपमें हो, हम देवरूपमें हैं। हम तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हैं। हमसे वर माँगो।' श्रीकृष्णने यह नहीं कहा कि मैं परमेश्वर हूँ, वर नहीं माँगता। बल्कि वे बोले कि देवराज, आपकी कृपा है, मुझे यह वरदान दीजिये कि मेरी और अर्जुनकी मैत्री सर्वदा बनी रहे। इसमें कभी व्यवधान न पड़े, अन्तर न आवे। इतना घनिष्ठ सम्बन्ध श्रीकृष्ण और अर्जुनका। आप अर्जुनकी वाणी देखिये—

ज्यायसी चेत् कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत् किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥ (3.1)
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे। (3.2)

'श्रीकृष्ण, तुम हमारी बुद्धिको मोहित करते हो? मिली-जुली बात करते हो? स्पष्ट क्यों नहीं बोलते?'

इसमें भी बुद्धिकी ही बात है। अर्जुनने श्रीकृष्णको उलाहना दिया कि तुम मेरी बुद्धि बिगाड़ रहे हो। कैसे मित्र हो? यहाँ बुद्धि शब्दका अर्थ है कि हम अपने जीवनके जो कर्त्तव्याकर्त्तव्य हैं, उनका ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करें और ज्ञान प्राप्त करनेके बाद उनको अपने जीवनमें क्रियान्वित करें। बुद्धि बाँझ नहीं होनी चाहिए, निष्क्रिय नहीं होनी चाहिए। बुद्धि फलप्रद होनी चाहिए—समझें और करें।

तो सांख्यबुद्धि भी बुद्धि है, योगबुद्धि भी बुद्धि है। इसलिए गीतामें बुद्धिकी बहुत भारी महिमा है। पहले मैं कह चुका हूँ कि संसारमें जितने भी धर्मग्रन्थ हैं उनमें बुद्धिकी महिमा नहीं, श्रद्धाकी महिमा है। धर्म श्रद्धा-प्रधान होता है, बुद्धि-प्रधान नहीं। लेकिन गीता बुद्धि-प्रधान है। वह धर्मग्रन्थ नहीं, दर्शनग्रन्थ है। दर्शन भी केवल आत्माका नहीं, कर्मवादी दर्शन है। हमारे भोगका भी दर्शन है, जीवनका भी दर्शन है। हमारी बुद्धि जिन कारणोंसे डाँवाडोल होती है उनमें पहला कारण हीनभाव है। जब हम अपनेको हीन समझते हैं, हमारे मनमें हीनताका भाव बैठ जाता है—हमारे पास यह नहीं, वह नहीं, तब हम अपनी कमियोंको देखने लगते हैं और यह समझने लगते हैं कि हमको अमुक वस्तुसे सुख-शान्ति मिलेगी। अपना मूल्यांकन कम हो जाता है, दूसरेका मूल्यांकन बढ़ जाता है। तो जीवनमें जिसको अपनी विद्यापर, अपनी बुद्धिपर, अपने कर्मपर आस्था नहीं; दूसरेकी विद्या, दूसरेकी बुद्धि, दूसरेके कर्म, दूसरेका धन जिसके लिए आदर्श है वह अपनेमें हीनताका अनुभव करता है। जब हीनताका अनुभव करता है तब असन्तुष्ट हो जाता है। इतना रूखा, सूखा, भूखा हो जाता है कि यहाँसे यह लें, वहाँसे वह लें की प्रवृत्ति हो जाती है उसकी। ऐसी स्थितिमें वह ज्ञानकी भी चोरी करता है, बुद्धिकी भी चोरी करता है, धनकी भी चोरी करता है और दूसरोंके पराधीन हो जाता है। हीनताके अनुभवका परिणाम ही यह है कि मनुष्य पराधीन जीवन व्यतीत करने लगता है और आप जानते हैं—

पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं।

हमने एक चुटकुला पढ़ा था। कहीं मोरका बच्चा रो रहा था। उसकी माँने पूछा क्यों रोते हो? उसने बताया कि सामनेवाले पेड़पर जो मैना रहती है उसका बच्चा कितना मधुर-मधुर बोलता है। वैसी मीठी बोली मेरे पास नहीं, इसलिए मैं रो रहा हूँ। उसकी माँ उसे लेकर दूसरे पेड़पर चली गयी तो वहाँ मैनाका बच्चा भी

रो रहा था और उसकी माँ पूछ रही थी कि तुम रोते क्यों हो? वह जवाब दे रहा था कि हमार पड़ोसी मोरके बच्चेका शरीर कितना सुन्दर है उतना मेरा नहीं। तो मैनाके बच्चेको अपनी आवाजकी मिठास मालूम नहीं और मोरके बच्चेको अपने शरीरके सौन्दर्यका बोध नहीं।

जब हम दूसरेको महान् और अपनेको हीन समझने लगते हैं तब हमारी बुद्धि दूसरेकी वस्तु प्राप्त करनेके लिए व्याकुल हो जाती है। आप जानते हैं कि जो व्यापारी व्यापारमें घबरा जाता है वह घाटेका काम जरूर करता है। घबरानेपर व्यापारी कोई-न-कोई ऐसा सौदा जरूर कर बैठता है जिसमें उसे हानि-ही-हानि उठानी पड़ती है।

तो श्रीकृष्णने बुद्धिके सम्बन्धमें पहली बात बतायी—

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥ (2.55)

अपनी कामना ही आपको दूसरेके पास ले जाती है। कामना कहती है कि यह विषय महत्त्वपूर्ण है, इसको प्राप्त करो। कामना आपको आपके अपने दिलसे उठाकर दूसरी वस्तुके पास बैठा देती है। यह कामनाका स्वभाव है। तो इससे बचिये। प्रजहातिका अर्थ मिटाना नहीं होता बचना होता है। गीतामें 'जहि' और 'प्रजहि' दो शब्द आये हैं और दोनों कामनाके सम्बन्धमें ही हैं—

तस्मात् त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥ (3.41)
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥ (3.43)

तो 'जहि'का अर्थ है मार डालो और 'प्रजहि'का अर्थ है छोड़ो! दोनोंकी साधनाका अन्तर है। एकमें इन्द्रियोंके निरोधसे कामनाका परित्याग और दूसरेमें आत्मज्ञानसे कामनाका हनन। एकमें आत्मज्ञानसे शत्रुका नाश और दूसरेमें इन्द्रिय-निरोधसे पाप्माका प्रहान है। तो अब यह विवेक हो गया, बुद्धियोगीके लिए कामनाका नाश आवश्यक नहीं, कामनासे बचकर चलना आवश्यक है। बचकर चलनेका अर्थ ऐसी सावधानी है कि वह हमको अपने हाथमें लेकर ऐसे विषयमें न डाल दे, जहाँ हम पराधीन हो जायँ। आत्माके लिए मृत्यु, दुःख, अज्ञान और पराधीनता—ये चारों एक ही वस्तुके नाम हैं। बृहदारण्यक-उपनिषद् (१.६.२८) जहाँ अभ्यारोहका वर्णन है वहाँ इन चारोंको एक बताया गया है। जो असत् वह तम है। जो तम है वह असत् है। जो असत् है वह मृत्यु है, जो मृत्यु है वह असत् है। इसलिए कामना हमें कहीं ऐसे घरमें न डाल दे, जहाँ हम पकड़े जायँ, बाँधे जायँ।

कामना-वशवर्ती यह नहीं देखता कि हम अमुक घरमें घुस जायेंगे तो निकलनेका रास्ता मिलेगा या नहीं? तो बन्धनका हेतु है काम।

आत्मतुष्टिका अर्थ है अपने आपमें अपने आपसे सन्तुष्ट रहना **आत्मन्येवात्मना तुष्टः**। आप सब काम कीजिए पर ध्यान रखिए कि जिस काममें हाथ लगायेंगे वह काम बढ़िया हो जायेगा। आप जो कर्म करेंगे उस

कर्मको अपने हाथकी कला देंगे, अपने नेत्रका सौन्दर्य देंगे, हृदयका सौन्दर्य देंगे, अपने बुद्धिसे सँवारेंगे। **आत्मन्येवात्मना तुष्टः**का अर्थ है कि जो भी काम कीजिए अपनेमें सन्तुष्ट रहकर कीजिए। इसमें आपकी बुद्धि बिगड़ेगी नहीं, डाँवाडोल नहीं होगी, स्थित हो जायेगी। जिसकी बुद्धि डाँवाडोल है, उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित नहीं हो सकती। एक आदमी कभी कुछ कहे और कभी कुछ कहे, अपने कहे हुएसे बदल जाय, नाना रूप धारण करे तो क्या समाजमें उसकी प्रतिष्ठा रहेगी? इसलिए बुद्धि स्थिर रहनी चाहिए। **तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता**का अर्थ है कि प्रज्ञा प्रतिष्ठित है—अर्थात् अपने लिए भी विश्वासभाजन है और दूसरेके लिए भी विश्वासभाजन है। यदि आपकी बुद्धि डाँवाडोल नहीं होगी, एक निश्चयपर स्थिर होगी तभी आप बिलकुल ठीक काम कर सकेंगे। अतः आप अपने भीतर हीनताका भाव न ले आयें और सन्तुष्ट रहकर सारा काम करें अन्यथा असन्तोषमें बुद्धि विपरीत हो जायेगी।

अब दूसरी बात यह बताते हैं कि आपके सामने प्रिय-अप्रिय घटनायें घटित होती हैं, कभी प्रिय आता है, कभी अप्रिय आता है। ऐसा संसारमें कोई नहीं हुआ, जिसके घरमें, जिसके जीवनमें, जिसके मनमें प्रतिकूल घटनायें न घटी हों। आप दिन भरमें दस बार यह सोचते हैं कि इसने ऐसा क्यों किया? आप जो दूसरेकी बुद्धिका ठेका ले लेते हैं उसके कारण आपको बहुत दुःख होता है। आप थोड़ा इसपर ध्यान दें कि हर शरीरमें अलग-अलग मन होता है, अलग-अलग संस्कार होते हैं। आप जब दूसरेसे यह अपेक्षा रखते हैं कि यह मेरे ही मनके अनुसार काम करे तो आप उसको मनुष्य नहीं समझते, खिलौना समझते हैं। बड़ा भारी तिरस्कार उस व्यक्तिका होता है जिससे आप यह अपेक्षा रखते हैं कि यह अपनी प्रियताके अनुसार काम न करे, बल्कि हमारी ही बुद्धिके अनुसार काम करे, हमारी ही प्रियताके अनुसार काम करे। हम ऐसे सैकड़ों पति-पत्नियों, बाप-बेटोंको जानते हैं जो यह कहते हैं कि हमारे ही मनके अनुसार काम होना चाहिए और इसीलिए उनमें झगड़ा होता है। तो सामनेवालेका मन क्या कोई खिलौना है? अतः काम मिल-जुलकर करना चाहिए। दोनोंका मन एक हो, दोनोंकी बुद्धि एक हो तभी मिलकर काम हो सकता है। तो ज्ञान सबका एक हो, मन सबका एक हो, संवाद—भाषण सबका एक हो। संवाद माने मतभेद नहीं, मतमेल है। चलनेमें भी संगति हो, पाँव उठानेमें भी संगति हो, बोलनेमें भी संगति हो, संकल्पमें भी संगति हो और ज्ञानमें भी संगति हो :

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।

दुःख आता ही वहाँ है, जहाँ हम यह प्रयत्न करते हैं कि दूसरे लोग हमारे मन, हमारी बुद्धिके अनुसार ही चलें। इसलिए दुःखसे बचनेका उपाय यह है कि हमें दूसरेकी बुद्धि और दूसरेके मनका आदर करना सीखना चाहिए—

दुःखेष्वनुद्विग्नमना सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥ (2.56)

आपका विचार पक्का हो जाये, दुःख आनेपर आपको उद्वेग न हो, आपके भीतर जो शक्ति है, वह

दुःखका सामना करनेके लिए है, दुःखसे हारनेके लिए नहीं। यह जो ईश्वरपर विश्वास रखना है वह बड़े आत्मबलकी वस्तु है। उसको लोग जवानीमें नहीं समझ पाते।

जैसे एक सैनिक युद्धिभूमिमें अकेला रह जाये और उसको यह विश्वास हो कि हमारे पीछे सेनापति है, सेना है, राष्ट्र है तो वह अकेला भी अपने मनको गिरने नहीं देगा, उत्साहके साथ लड़ेगा। जिसको यह विश्वास रहता है कि ईश्वर हमारे पीछे है, हमको शक्ति दे रहा है वह अकेला पड़ जानेपर भी अपना विश्वास नहीं खोता।

अब मैं आत्म-बलकी बातको व्यावहारिक रूपसे बताता हूँ। एकबार ईश्वर-विश्वासको अलग रख दीजिये। दर्शन केवल एक पक्षकी बात नहीं करता, सब पक्षोंकी बात करता है। जहाँ हमारी बुद्धि और कर्म दोनों साथ-साथ काम करते हैं, वहाँ हमारा आत्मबल बढ़ जाता है। जहाँ विचारोंमें कुछ है और क्रियामें कुछ हो रहा है, वहाँ आत्मबल घट जाता है। ज्ञान और कर्म दोनोंके समुच्चयका नाम ही आत्मबल है।

हमारी बुद्धि जैसा सोचती है, शरीरसे हम वैसा ही काम करते हैं। जहाँ हम यह सोचते हैं कि हमारे जैसा बलवान् सृष्टिमें और कोई नहीं, वहाँ आत्मबल होता है।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः आप यह मत सोचें कि हमारे आस-पाससे तूफान गुजर रहा है। यह सोचें कि हम किस प्रकार तूफ़ानके बीचमें-से चीरकर निकल सकेंगे। ऐसा सोचनेपर तूफानकी परवाह करनेकी कोई जरूरत नहीं होगी।

दुःखेषु बहुवचन है। इसका अर्थ है बहुत सारे दुःख आते हैं। दुःख माने हमारे हृदयाकाशकी दूषित मूर्ति। जब हमारे हृदयमें वासनाका तूफान बहता है और हम यह मानने लगते हैं कि ऐसा हमारे मनके अनुसार नहीं हुआ तब हमको दुःख होता है। दुनियामें गर्मी-सर्दी संयोग-वियोग आदि तो प्रकृतिके नियमानुसार आते ही हैं। हम व्यर्थ ही कहते हैं कि यह क्यों आगया? भक्त भी, जिसके हृदयको हम बहुत कोमल समझते हैं यह सोचता है कि इस दुःखमें हम हार न जायँ। श्रीयामुनाचार्यजीका वचन है :

अभूतपूर्वं मम भावि किं वा
सर्वं सहे मे सहजं हि दुःखम्।

हमारे लिए अभूतपूर्व अर्थात् नयी बात क्या होगी? हमारे लिए तो दुःख सहज है। हमने तो अबतक हजारों दुःख देखे हैं, हजारों जन्म देखे हैं, हजारों लोग मिले हैं और बिछुड़े हैं। परन्तु नाथ! हम आपके शरणागत हैं। हम दुःखसे हार न जायँ :

किन्तु त्वदग्रे शरणागतानाम् पराभवो नाथ न तेऽनुरूपः।

यदि दुःख आनेपर हम उद्विग्न हो जाते हैं और बहादुरीके साथ सामना नहीं करते तो उसमें हमारी हार नहीं, हम जिसके सैनिक हैं उस राजाकी हार है। सैनिक़की हार राजाकी हार होती है। परमेश्वरके सैनिक यदि हार मान लेंगे तो परमेश्वरकी हार हो जायेगी। **दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः**—ये दुःख आगमापायी हैं—आते हैं और जाते हैं। हमने अपने जीवनमें कितने दुःख देखे होंगे, लेकिन अब उनकी याद नहीं आती। ये तो विस्मरणशील हैं। अभी जो दुःख मालूम पड़ता है वह तीन घण्टेके बाद कम होगा, तीन दिनके बाद और कम होगा, तीन

महीने बाद और कम होगा, तीन वर्ष बाद तो याद दिलानेपर ही उसकी याद आयेगी। यदि कहीं दस-पाँच वर्ष बीत गये तो याद दिलानेवाले भी नहीं रहेंगे। तो ऐसे तुच्छ दुःखके लिए, क्षुद्र दुःखके लिए—जो क्षणमें आते और क्षणमें चले जाते हैं अपने मानसको उद्विग्न क्यों करना?

उद्विग्न होनेवालेकी बुद्धि डाँवाडोल हो जोती है। मन है क्षणिक। जैसे क्षण-क्षण होता है, वैसे कण-कण होता है। क्षणके साथ ही कण बदलते हैं और कणके साथ ही क्षण बदलते हैं।

यह जो मन है वह कण और क्षण—विषयोंके कण और कालका क्षण—दोनोंको मिलाकर बदलता रहता है। यह आवश्यक नहीं कि मनपर सब बातोंका संस्कार पड़े। दुनियामें हम जितना देखते हैं सबका संस्कार नहीं पड़ता। हमने कालवादेवी रोडमें हजारोंकी भीड़ देखी है, परन्तु उनमें-से किसीकी याद आती है? परन्तु जब हम मनके साथ बुद्धि लगाकर देखते हैं, हमारे मनके साथ जब उपेक्षा नहीं रहती, अपेक्षा आ जाती है तब उसका संस्कार पड़ता है। उपेक्षाका अर्थ तटस्थ होकर देखना और अपेक्षाका अर्थ अपनी नजरको खो बैठना है।

अप माने अपगत। जब हम अपनेको नहीं, अन्य वस्तुओंको देखने लगते हैं तब अपेक्षा हो जाती है। अपनेको भूलकर दूसरेको देखना अपेक्षा है। संस्कार केवल मनसे अथवा कर्ममात्रसे नहीं पड़ता। जब हम किसी वस्तुको इस अपेक्षा बुद्धिसे देखते हैं कि यह हमारे सामने न आये अथवा यह हमारे सामने हमेशाके लिए बनी रहे तब उस वस्तुका संस्कार पड़ता है। इसलिए यदि बुद्धि ठीक हो तो मनमें आयी हुई बातोंका, संकल्पोंका संस्कार नहीं पड़ता। वे आते हैं और चले जाते हैं :

सुखेषु विगतस्पृहः—इस संसारमें सुख-दुःखकी धारा बह रही है। कितने सुख-दुःख आये और चले गये। हम बनारस जाते हैं तो गंगाजीके तटपर घूमने जाते हैं। वहाँ लोग दोनोंमें दीपक जला-जलाकर छोड़ते हैं। हजारों दीपक जलते हुए निकल जाते हैं। उनकी न गिनती याद है, न शक्ल-सूरत याद है। कितने मुर्दे निकल जाते हैं। मरी हुई गाय भी निकलती है। हम लोग नाममें आनन्द लेते रहते हैं। जिस प्रकार फुलझड़ियोंमें-से चिनगारियाँ निकली हैं उसी प्रकार जीवनमें सुख-दुःख आते हैं। फुलझड़ीकी चिनगारी बनी रहे यह सोचोगे तब दुःख हो जायेगा और बुद्धि डाँवाडोल हो जायेगी। धुँआ इधरसे न उड़े, उधरसे उड़े इतना सोचनेपर भी दुःख हो जायेगा। इसलिए अपनी बुद्धिको बिलकुल ठीक रखना चाहिए।

वीतरागभयक्रोधः—राग और क्रोध ये दोनों ही बुद्धिको डाँवाडोल करते हैं। रागमें एक दोष है, आवरण है, पर्दा है। रागमें अपने रागास्पदसे बुद्धि इतनी रँग जाती है कि हम उसके दोष नहीं देख पाते। रागमें पर्दा है, परन्तु वह पर्दा है दोषपर। द्वेषमें भी पर्दा है, परन्तु वह पर्दा है गुणपर। सामनेवाले दोषपर पर्दा डाल देता है राग। जब सामने पर्दा आगया तो बुद्धि वस्तुको ठीक-ठीक समझती नहीं। जब ठीक-ठीक नहीं समझती तो विपरीत हो जाती है। यह दुनियामें जो भाई-भतीजावाद चलता है वह डाँवाडोल बुद्धिका, राग-द्वेषसे दूषित बुद्धिका ही काम है। महाराष्ट्रमें एक रामायण है। उसमें यह प्रसंग है कि समर्थ रामदासने एक राम-चरित्र लिख़कर हनुमानजीको सुनाया। हनुमानजी सुनते-सुनते एक जगह टोक बैठे। रामदासजीने वर्णन किया था कि

सीताजी अशोक-वनमें जहाँ बैठी थीं, वहाँ उनके सामने एक सरोवर था और उसमें श्वेत कमल खिले हुए थे। हनुमानजीने बताया कि श्वेत कमल नहीं रक्त कमल थे। रामदासजीने स्वीकार नहीं किया और कहा कि निश्चितरूपसे श्वेत कमल थे। अब दोनों माँ जानकीके पास निर्णयके लिए गये। माताजीने कहा कि श्वेत कमल थे। हनुमानजीने कहा कि मैंने तो लाल कमल देखे थे। माता जानकीने उत्तर दिया कि 'उस समय तुम्हें राक्षसोंपर, निशाचरोंपर बड़ा भारी क्रोध आगया था। उनसे द्वेष हो गया था। इसलिए तुम्हारी आँख लाल होनेके कारण सफेद कमल लाल दीखने लगे।'

तो आप जानते ही हैं कि गुस्सेमें किससे क्या बोलना चाहिए—यह नहीं सूझता। क्रोधी मनुष्य अपना पाँव धमाधम पटकते हुए चलता है। जोरसे बोलता है। संस्कृत भाषामें बुद्धचर्या नामक एक पुस्तक है। उसमें तृष्णाचर्या, क्रोधचर्या, कामचर्या आदिका वर्णन है। जब मनुष्य विस्तर लेकर आवे और चारपाईपर पटक दे तो समझना कि वह कहींसे खीझकर आया है। वह इस प्रकार धम्मसे बैठे कि उसे चारपाई टूटनेका भी ख्याल न रहे तो समझना कि उसका मन दूसरी जगह है। प्रत्येक भाव अपनी-अपनी चर्या देता है, भावके अनुसार क्रिया होती है और इस प्रकार हमारा जीव चलता रहा है।

अब 'वीतरागभयक्रोध:'-के भयको लीजिये। हम जिस जगहपर डरते हैं वहाँसे भाग खड़े होते हैं। कोई भयंकर वस्तु सामने आनेपर हमारे मुँहसे 'भी भी भी' शब्द निकलता है। इसलिए संस्कृतमें 'भी' धातु है। जब मनमें भय आता है कि यह भूत है, प्रेत है, चोर है, तब हम चिल्लाने लगते हैं, भाग जाते हैं, डण्डा मार देते हैं और फिर जब सोचते हैं कि यह तो हमारा दोस्त है तब भय दूर हो जाता है। भय भी बुद्धिको बिगाड़ देता है। हमारी बुद्धि रागसे, क्रोधसे, भयसे, विकृत न हो तब यह स्थित रहेगी, प्रामाणिक रहेगी, **स्थितधीर्मुनिरुच्यते।**

अब मौन या मित भाषणकी बात लें। यदि हम बोलनेमें सावधानी रखें तो हमारी वाणीका नियन्त्रण बुद्धिके नियन्त्रणमें भी सहायक होगा। हमने एक घरमें देखा, नौकरसे छलनी गिर पड़ी। उसमें कुछ सामान रखा हुआ था वह बिखर गया। घरकी मालकिन ऐसी नाराज हुई कि चिल्लाने लगी। आवाजका पता ऐसे ही अवसर पर लगता है। लोग वैसे तो बहुत मीठा बोलते हैं, लेकिन जब किसीपर गुस्सा आता है, बच्चेपर या नौकरपर चीखते हैं तब मालूम पड़ता है कि आवाज कैसी है। मैंने दूसरे दिन उसी घरमें देखा मालकिनके होनेवाले जमाई आये और जब वे चाय बनाने लगे तब उनके हाथसे प्याला गिर गया। प्याला तो टूटा ही नीचेकी कालीन भी खराब हो गयी। किन्तु मालकिनने उनके ऊपर कोई नाराजगी जाहिर नहीं की, बल्कि यह देखने लगी कि कहीं जमाईजी जल तो नहीं गये। उनके कपड़े तो नहीं खराब हो गये। इस प्रकार एक आदमीके रागकी चर्या दूसरी हो गयी और तिरस्कारकी चर्या दूसरी हो गयी। अपनी बुद्धिको अच्छे ढंगसे रखना चाहिए। व्यवस्थित बुद्धि ही प्रतिष्ठित होती है।

अब देखो, एक है श्रेयके प्रति आसक्ति। यह श्रेयासक्ति क्या है?

तत्तत् प्राप्य शुभाशुभम्। नाभिनन्दति न द्वेष्टि।

आप अपने भगवान् अथवा देवी-देवताओंकी पूजा करते हैं तो बहुत बढ़िया काम करते हैं। परन्तु जब कोई मुसलमान नमाज पढ़ता है तो क्या वह कोई घटिया काम करता है? अरे भाई वह भी अपने मजहबके अनुसार खुदाकी इबादत ही तो करता है। फिर आप अपनी पूजाको शुभ और उसकी पूजाको अशुभ क्यों मानते हैं? आप झाँझ, करताल और ढोलक बजाकर जोर-जोरसे संकीर्तन करते हैं लेकिन एक मुसलमान मस्जिदमें सबेरे अल्ला हो-अकबर पुकारता है तो आपको क्रोध क्यों आता है, आपकी बुद्धि क्यों बिगड़ती है? तो अच्छी बातोंमें भी इतनी आसक्ति नहीं होनी चाहिए कि उससे हम दूसरेकी अच्छाईका आदर न करें!

यः सर्वत्रानभिस्नेहः—आपके द्वारा श्रेयस्कर कार्य सम्पन्न हों; परन्तु उनमें भी आपकी इतनी आसक्ति न हो कि आपका कर्म श्रेष्ठ है और दूसरेके हृदयमें बैठे हुए भगवान्का अनादर करके आप यदि अपने कर्मका आदर करते हैं तो वहाँ चेतनका अनादर होता है और जड़ कर्मका आदर होता है। इसलिए बुद्धिमें जड़ता नहीं आनी चाहिए। **तत्तत् प्राप्य शुभाशुभम् नाभिनन्दति न द्वेष्टि**—यह श्रीमद्भागवद्गीताका अथवा श्रीमती भगवती गीताका अथवा श्रीमता भगवता गीताका कहना है कि आप अपनी बुद्धिको किसी भी प्रकार भ्रष्ट मत होने दीजिये। इसको ठीक रास्तेपर व्यवस्थित ही प्रतिष्ठित रखिये। इसे स्नेह अथवा शुभाशुभके प्रसंगोंमें भी विषम मत होने दीजिये। समताका, कर्मकी समताका, कर्ताकी समताका, भावकी समताका जैसा वर्णन गीतामें है वैसा किसी दूसरे ग्रन्थमें है ही नहीं। **साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते**। बड़े-बड़े स्रष्टा, बड़े-बड़े आचार्य भी भगवान्से अपने सम्प्रदायकी ही सिफारिश करते हैं और दूसरे मजहबवालोंकी सिफारिश नहीं करते। परन्तु गीता कहती है—

'न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
तत्तत् प्राप्य शुभाशुभम्। नाभिनन्दति न द्वेष्टि।'

कुशलमें आसक्ति नहीं और अकुशलसे द्वेष नहीं। शुभाशुभकी प्राप्तिमें न प्रसन्नता है, न द्वेष। ऐसी लोकोपकारी संस्था आपको कहाँ मिलेगी?

अब आगे देखो। एक तो यह हुआ कि अपनेमें हीनताकी भावना न हो, दूसरी बात यह हुई कि राग-द्वेष न हो और तीसरी बात यह हुई कि अच्छाइयोंमें भी अन्धासक्ति नहीं होनी चाहिए। अब चौथी बात यह आयी कि थोड़ा विश्राम भी लेना चाहिए। आप अपनी-अपनी जीवनचर्यामें जागना और सोना दोनों रखते हैं। शरीरके आरामके लिए जागना भी आवश्यक है और सोना भी। वैसे आपका मन तो निरन्तर काम करता रहता है। मुझे एक डॉक्टरने बताया कि यह जो धड़कन है, यह मनुष्यके गर्भमें आनेका समयसे लेकर मृत्यु-पर्यन्त चलती रहती है, कभी विश्राम नहीं लेती। हम ज्यादा खा लेते हैं तो बेचारीको पचानेमें ज्यादा परिश्रम करना पड़ता है। घी पचानेमें ज्यादा परिश्रम करना पड़ता है। वैसे जो खेतिहर हैं, श्रमिक हैं, शारीरिक श्रम करनेवाले हैं उनको तो सब पच जाता है। गरीब आदमी लकड़ी भी खा लेता है तो वह उसको पच जाती है—**काष्ठान्यपि सुजीर्यन्ते द्ररिद्राणां च सर्वशः**। पर, ज्यादा परिश्रम करनेसे—ज्यादा भोग करनेसे धड़कनकी गति निर्बल हो जाती है। इसलिए उसको भी, मनको भी विश्राम मिलना चहिए! जान-बूझकर थोड़ी-थोड़ी देरके लिए मनको

सुलाते रहना चाहिए। पचास वर्ष पहले जब मालवीयजी महाराजने अछूतोद्धारका आन्दोलन प्रारम्भ किया था उस समय मैंने नींदसे उठते ही एक लेख लिखा था। मेरा यह अनुभव है कि जब मैं एक नींद लेकर उठता हूँ तब कुछ लिखनेकी स्थितिमें होता हूँ। श्रीदेवधरजी तो हमारे साथ बहुत रहे हैं। ये जानते हैं कि श्रीमद्भागवतकी टीका कैसे लिखी गयी? बड़े-बड़े लेख कैसे लिखे गये? जब हम सोकर उठते हैं तो विश्राम बाद जाग्रत बुद्धि बिलकुल ठीक-ठीक सोचती है और उसका एक सिलसिला बन जाता है। भीतर जो संस्कार भरे हुए हैं वे एक क्रमसे निकलने लगते हैं और क्रमबद्ध हो जाते हैं। अत: विश्राम आवश्यक है। जीवनमें विश्राम चाहिए :

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ (2.58)

दिनभर आइसक्रीम चाटते रहना या जीभ चलाते रहना बुद्धि-विकासका साधन नहीं, समयपर भोजन ले लेना चाहिए। समयपर जिह्वाको आराम देना चाहिए। विश्राममें-से ही श्रम करनेकी शक्तिका जागरण होता है। श्रमका मूल विश्राममें है। जब सोकर उठते हैं तो जागरणकी शक्ति बढ़ती है। इसलिए जान-बूझकर विश्राम लेना चाहिए। यदि हम लोग अभ्यास करें तो हम जो नींद लेते हैं वह समाधि हो सकती है। नींदमें और समाधिमें कोई फर्क नहीं; परन्तु अभ्यासपूर्वक बनायी हुई नींद ही समाधिका काम देती है। प्रकृतिसे लगी हुई समाधि निद्रा हो जाती है। उसमें जड़ताकी प्रधानता होती है और अभ्याससे बुलायी हुई नींद समाधि हो जाती है। जहाँ हमारा पौरुष निद्राका निर्माणकर सकता है वहाँ हम निद्रासे भी ऊपर उठकर समाधिस्थ हो सकते हैं। हमको बचपनमें किसी महात्माने एक मन्त्र बताया था। वह मंत्र चार अक्षरका था और हिन्दीमें था—'हाथ खींचो'। उसका तात्पर्य है ऐसी जगह हाथ मत डालो, जहाँसे तुम अपने हाथको खींच नहीं सकते। हमारी इन्द्रियाँ, हमारा मन जहाँ काम कर रहा है वहाँ उसे हमेशाके लिए फँसने मत दो। आँखसे, मनसे वंचित मत होओ। दिलका स्वभाव है कि वह कभी लगता-हटता है। संसारकी किसी भी वस्तुमें, विषयमें, भोगमें यदि आप अपने मनको निष्ठावान बना देंगे तो आपका मन उसीमें रम जायेगा, आपके हाथसे निकल जायेगा, आपकी बुद्धि भी वहीं चली जायेगी। इसलिए मन-बुद्धिको अपने वशमें रखिये, अपने भीतर लौटाइये। **यदा संहरते चायं**—यह अपनी बुद्धिको प्रतिष्ठित करनेका ही उपाय है। दिन-रात पराये घरमें रहोगे, रोज-रोज वहीं खाओगे तो घरजमाई बन जाओगे। बिहारीका दोहा है कि—

घरेहिं जमाई लौं घट्यो खरो पूस दिन मान।

जब अपना जमाई बनकर ससुरालमें रह जाता है तब उसका वह आदर नहीं होता। ससुरालवाले समझने लगते हैं कि ये अपने घरके ही तो हैं, पीछे खा लेंगे तो क्या होगा? आज दूसरे मेहमान आये हैं और थोड़े दिनके लिए आये हैं, इनका आदर अधिक होना चाहिए। यह संसारकी रीति है। अत: अशान्तिसे बचनेके लिए विश्राम आवश्यक है, अनिवार्य है।

अब इसके बाद आता है इन्द्रियोंपर विषयोंके संयोगका प्रसंग। हमें व्यवहार करते समय इस सम्बन्धमें सावधान रहना चाहिए—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥ 2.59
यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥ 2.60
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ 2.61

प्रज्ञा तभी प्रतिष्ठित होती है जब इन्द्रियाँ वशमें होती हैं। आपकी आँख, आपकी नाक, आपकी जीभ, आपके हाथ, आपके पाँव आदि आपकी बुद्धिका आदेश मानते हैं कि नहीं? आपकी बुद्धिको बड़ा करके रखते हैं कि नहीं? हमारे इस शरीर-ग्राममें जो सेवक हैं वे हमारे आदेशका पालन करते हैं कि नहीं? गाँवका अर्थ केवल ग्राम नहीं होता, शरीरका ग्राम भी होता है। हमारी अकलकी इज्जत करते हैं कि नहीं? हमारे समझदारीका सम्मान करते हैं कि नहीं?

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।

बुद्धिके लिए यह आवश्यक है कि इन्द्रियोंका संयमन है। संयमन माने मारण नहीं होता। जैसे सवार घोड़ेकी बागडोर अपने हाथमें रखते हैं वैसे ही इन्द्रियोंकी लगाम हाथमें होनी चाहिए। **युक्त आसीत मत्परः** युक्त होकर बैठो। इसका अर्थ है कि जीवनमें एक प्रकारकी युक्तता होनी चाहिए। गीता इसे बहुत महत्त्व देती है।

युक्ताहारविहारस्य—भोजन भी युक्त करें, विहार भी युक्त करें—समयसे, मर्यादासे। गीताको युक्त होना बहुत प्रिय है। यहाँ तक कि दुःख सहनेमें भी मनुष्यको युक्त होना चाहिए। सहनका सामर्थ्य होना चाहिए—

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥ 5.23

युक्त होनेके लिए युक्ति कर लेनी चाहिए। जिसको युक्ति आती है वही युक्त होता है। 'युक्तिरस्यास्ति इति युक्तः।' तो युक्ति आनी चाहिए। आपको कभी क्रोध आये तो चुप हो जाइये, पाँच-दस मिनट मत बोलिये, वहाँ से हट जाइये, थोड़ा खाने-पीने लगिये, कोई दूसरी चर्चा छेड़ दीजिए। पानी या शर्बत लेकर पीजिए। जीभपर एक बूँद शहद डाल दीजिए। शीशेके सामने जाकर देखिये कि क्रोधमें आपका चेहरा कैसा लगता है? मुस्कराते समय आपने शीशा बहुत देखा है, क्रोध आनेपर भी देखिए। यह क्रोध-निवारणकी युक्ति है, इससे गुस्सा ठंडा हो जाता है। अतः मनुष्यको युक्त रहना चाहिए।

एक युक्ति और सुनाते हैं। आपको खानेमें कुछ-न-कुछ तो प्यारा लगता ही है। दूध, चाय या काफी कुछ-न-कुछ अच्छी लगती होगी। आप एक मर्यादा बना लीजिए कि जब हमको क्रोध आयेगा तो हम तीन दिनतक कोई भी प्रिय या स्वादिष्ट वस्तु नहीं ग्रहण करेंगे। आपकी यह मर्यादा जब क्रोध आयेगा तो आपके सामने आकर खड़ी हो जायगी। आपकी मीठी-मीठी चाय अथवा मीठा-मीठा दूध कहेगा कि तुम तीन दिनके

लिए हमको छोड़ रहे हो? आपका मन कहेगा कि भाई, क्रोध भले ही छोड़ दो, चाय दूध मत छोड़ो। तात्पर्य यह है कि आपको जो भी प्रिय लगता हो उसके बारेमें एक नियम बना लो। कहीं ऐसा न हो कि दूसरेको क्रोध आये और आप उसे भोजन छोड़नेकी सलाह दें और शीशा दिखाने लगें। फिर तो उसका क्रोध और भी बढ़ जायेगा और पता नहीं वह क्या कर बैठेगा?

तो, अपने विकारोंको काबूमें रखनेके लिए थोड़ी-थोड़ी युक्ति करनी पड़ती है। भगवान्‌का नाम लेने लग जाओ, अपने ऊपर जुर्माना कर लो। क्या जुर्माना करो कि एक बार क्रोध आयेगा तो इतना दान करेंगे। आप लोग श्रीमन्त हैं। दो, चार, दस रुपयेका दान मत रखना। लाखोंकी संख्यामें रखना। फिर देखना कि तुम्हें क्रोधपर क्रोध आयेगा और तुम सोचोगे कि इतने परिश्रमसे कमाये हुए धनको केवल क्रोधके कारण दे देना पड़ेगा या हानि उठानी पड़े तो कौन उसे सहेगा? **युक्त आसीत मत्परः** युक्तियुक्त जीवन व्यतीत करना चाहिए और उसे भगवान्‌के साथ जोड़कर रखना चाहिए—**वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता** (२.६१)। यह गीताका एक विशेष प्रसंग है और महात्मा गांधीने इसको बहुत महत्त्व दिया है। उनके प्रभावसे जो लोग पहले गीता नहीं पढ़ते थे वे रोज पाठ करने लगे। प्रार्थना करने लगे। यह जीवनके लिए बहुत उपयोगी है—**बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च** (18.51)। यह साधना जिसका वर्णन अठारहवें अध्यायमें है, दूसरी है। वह ब्रह्मसाक्षात्कारके लिए है। यहाँ जिसकी चर्चा की गयी है वह बुद्धिको प्रतिष्ठित करनेके लिए है। व्यवहारमें बुद्धिको प्रतिष्ठित किया जाता है। व्यवहारके लिए यह प्रसंग बड़ा उपयोगी है।

●

प्रवचन : 4

(19-11-74)

जैसा कि पहले कहा गया, हमारी बुद्धि डावाँडोल न हो स्थिर हो, प्रतिष्ठित हो, निष्ठावती हो—इसके लिए भगवान्‌ने छह बातोंपर बल दिया। अपनेमें हीनताका भाव न हो, आत्मतुष्टि हो—**आत्मन्येव च संतुष्टः**। हम इसके बिना नहीं रह सकते, उसके बिना नहीं रह सकते। हमारा जीवन पराधीन है। हम दीन-हीन हैं। इस प्रकारकी कल्पना मनसे निकल जाये। यह पहली बात है। जीवनके प्रवाहमें प्रिय-अप्रिय आते-जाते रहते हैं। उनसे उद्विग्न नहीं होना और उनकी आकांक्षा भी नहीं करना—यह दूसरी बात है। तीसरी बात यह हुई कि जिसको हम अपने जीवनमें शुभ या अशुभ मानते हैं उनमें हमारी आसक्ति इतनी प्रबल नहीं हो जानी चाहिए कि हम एक शुभके लिए दूसरे शुभका बलिदान करने लग जायें। जो श्रौत-साधन हैं वे भी दूसरोंको दुःख पहुँचाये बिना ही होने चाहिए। जो धर्म दूसरे धर्मको बाधा पहुँचाकर सम्पन्न होता है वह धर्म नहीं कुधर्म है। अविरोधी धर्म है, वही सच्चा धर्म है—

धर्मं यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुधर्म तत्।
अविरोधात्तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रम॥

(व० पर्व० 131.11)

चौथी बात यह बतायी कि अपने जीवनमें संयम होना चाहिए। जीवनमें जैसे निद्रा आवश्यक है वैसे ही विश्राम भी आवश्यक है। हममें यह शक्ति होनी चाहिए कि हम जब चाहें तब अपनी इन्द्रियोंको वशमें कर सकें। इससे बुद्धि अपने आप स्थिर हो जायेगी। पाँचवीं बात यह बतायी कि हमारी जो ऐन्द्रिक शक्तियाँ हैं वे व्यवहारमें भी विषयोंके पराधीन न हों—**युक्त आसीत मत्परः**। मनुष्य सावधान होकर रहे, विषय-भोगके पराधीन न हो जाय। इसके बाद यह प्रश्न उठाया कि क्या केवल विषय-त्यागसे ही मनुष्यकी बुद्धि स्थिर हो सकती है? इस सम्बन्धमें गीताका निर्णय है कि केवल त्यागसे बुद्धि स्थिर नहीं हो सकती--

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥ (गी० 2.59)

त्यागसे केवल विषय अलग हो जायेंगे, इन्द्रियाँ अलग हो जायेंगी; परन्तु रागकी निवृत्ति नहीं होगी। एकादशीके दिन भोजन न करनेपर भी द्वादशीके दिन क्या-क्या पारण होना चाहिए—यह कल्पना होती रहती

है। एक सज्जनने बारह महीनोंतक मौन रखा। फिर एक मास पूर्व यह कल्पना करने लगे कि जब मौन तोड़ेगे तो सबसे पहले क्या बोलेंगे? अतः केवल त्याग बुद्धिको स्थिर रखनेके लिए पर्याप्त नहीं, उसके लिए परमात्माका साक्षात्कार आवश्यक है। रागकी निवृत्तिके लिए रागास्पदके अन्तरङ्ग तत्त्वका दर्शन होना चाहिए। रागास्पद बाहरी है जो मुझमें है वही रागास्पदमें है। वह एक है और वही सबमें है। उसका दर्शन हो जाय तो न तो राग या मुहब्बत हमारी बुद्धिको बिगाड़ सकती है और न द्वेष, नफरत या दुश्मनी हमारी बुद्धिको बिगाड़ सकती है।

हमारे गीतावक्ता भगवान्‌का कहना है कि बुद्धिको ठीक रखनेमें आठ प्रकारके विघ्न आते हैं—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद् भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

(गी० 2.62-63)

एक तो अपेक्षा-बुद्धिसे विषयका चिन्तन। संस्कृत भाषामें विषय शब्दका अर्थ होता है 'विसिनोति'—जो हमें बाँध लेता है वह विषय है। षिञ् बन्धने धातुसे विषय शब्द बनता है। आँख हमारे शरीरमें रहते हुए भी किसी दूसरे रूपके साथ बँध जाती है। मन हमारे भीतर रहता हुआ भी किसीके प्रति राग अथवा द्वेषसे बँध जाता है। कैसे बँधता है? बताया कि—**ध्यायतो विषयान्**। जब हम प्रेम या द्वेषसे किसी वस्तुका ध्यान करते हैं। द्वेष तब होता है जब हमारे मनमें किसीके लिए जलन होने लगे। द्वेष माने ज्वलनाकार वृत्ति। किसीकी याद आते ही, नाम लेते ही, शकल देखते ही दिलमें आग लग जाये उसे द्वेष कहते हैं। द्वेष दूसरेका बादमें, पहले अपना घर जलाता है। संस्कृत भाषामें इसका नाम है आश्रयाश—आश्रयम् अश्नाति। आग जिस लकड़ीमें लगती है पहले उसको जलाती है। बादमें उसकी चिनगारी दूसरेके घरमें जाती है। इसलिए उसका नाम होता है द्वेष। हम रंग दूसरेके ऊपर डालना चाहते हैं, परन्तु पहले अपना ही दिल रंग जाता है। इसका नाम है राग—रञ्जनात् रागः। जैनधर्मकी एक पुस्तकमें बढ़िया उदाहरण दिया गया है। एक आदमीके मनमें क्रोध आया। उसने एक जलता हुआ लोहेका टुकड़ा उठा लिया और अपने दुश्मनपर फेंका। दुश्मन तो बच गया उठानेवालेका हाथ जल गया।

जब हम किसीसे दुश्मनी करते हैं तो दुश्मन जले या न जले, हमारा दिल जरूर जल जाता है। जब हम जानबूझकर संसारके विषयोंका चिन्तन करते हैं तब आसक्ति होती है। आसक्ति होनेपर यह कामना होती है कि वह और बढ़े। कामनामें बाधा पड़नेपर क्रोध होता है। क्रोधसे कर्तव्याकर्तव्यका ज्ञान उलटा हो जाता है। फिर हमने जो कुछ पढ़ा-लिखा है, सीखा-सुना है उसे भूल जाते हैं। हमारा स्मृति-विभ्रम हो जाता है और स्मृति-विभ्रमसे बुद्धिनाश हो जाता है। गीताकारका कहना है कि यदि बुद्धिका नाश हो गया तो आपके जीवनका नाश हो गया—**बुद्धिनाशात् प्रणश्यति**। इसलिए बुद्धिको हर समय सावधान रहना चाहिए। ऐसी कोई भी वस्तु

जिससे हमारी बुद्धि अपने स्थानसे विचलित हो जाये, हमारे जीवनमें नहीं आनी चाहिए। मैंने पहले कहा था कि सृष्टिमें ऐसा कोई धर्मग्रन्थ नहीं जिसमें बुद्धिको इतना आदर दिया गया हो—

बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव। (18.57)

हमारा मन भगवान्‌में कैसे लगेगा? बुद्धियोगसे। भगवान् प्रसन्न होंगे तो हमें क्या देंगे? बुद्धियोग देंगे **ददामि बुद्धियोगं तम्।** अतः बुद्धियोगसे भगवान् मिलते हैं और भगवान् मिलनेपर बुद्धियोग देते हैं। लोगोंका ध्यान इस ओर कम जाता है। भगवान् जहाँ **बुद्धिनाशात् प्रणश्यति** कहते हैं वहाँ '**न प्रणश्यति**' भी कहते हैं—

कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।

यदि मनुष्यकी दृष्टि भगवान्‌पर रहे और वह अनुभव करे कि भगवान् ही सर्वात्मा हैं, सर्व हैं, उनके अतिरिक्त दूसरा कोई है ही नहीं तो उसका कभी नाश नहीं हो सकता—**न मद्भक्तः प्रणश्यति।**

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥ (6.30)

भगवान् हमारी आँखोंके सामने बने रहें और भगवान्‌की आँखोंके सामने हम बने रहें तो नाशका कोई प्रसंग ही नहीं उपस्थित हो सकता । परन्तु यदि बुद्धिका ही नाश हो गया—**बुद्धिनाशात् प्रणश्यति** तो मनुष्यका नाश अवश्यम्भावी है। इससे सामधान कैसे हो जाये यह प्रश्न है।

इन्द्रियाणां हि चरितां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥ (2.67)

इसमें 'चरतां'का अर्थ चलना भी है और चरना भी है। जैसे पशु घास चरते चलते हैं वैसे ही इन्द्रियाँ विषय-रूप घासको चरती हुई चलती हैं। यदि इन्द्रियोंके पीछे-पीछे हमारा मन और मनके पीछे-पीछे हमारी प्रज्ञा चली जाये तो यह अवस्था ठीक नहीं। इसे इस प्रकार समझो कि हम रास्तेमें चल रहे हैं। हमने देखा कि एक आदमी बहुत बढ़िया वस्त्र धारण किये हुए जा रहा है अथवा सामनेवाली स्त्रीकी साड़ी बहुत सुन्दर है। यहाँ हमारी आँखने बताया कि यह सुन्दर है। मनने कहा कि यह हमारे भी होनी चाहिए। बुद्धिने कहा कि जिस दुकानपर कपड़े मिलते हैं वहाँ जाकर खरीद लो। इस प्रकार आगे-आगे आँख चली, पीछे-पीछे मन चला और उसके पीछे लग गयी बुद्धि। यहाँ बुद्धिका अनादर हो गया। अब पहले आपकी बुद्धि चलेगी—घरमें यह आवे, वह आवे, यह उचित है, यह आवश्यक है, हितकारी है। इस तरह पहले बुद्धि किसी पदार्थका विचार करेगी, फिर उसको प्राप्त करनेका संकल्प होगा और तब उस वस्तुको जाकर आँखसे देखेंगे। अर्थात् पहले बुद्धि, बुद्धिके पीछे मन, मनके पीछे इन्द्रिय। अगर आपके जीवनकी गति ऐसी है तब आप आवश्यक वस्तुओंका संग्रह करेंगे, उनसे सम्पर्क करेंगे और उनके लिए कर्म करेंगे। यदि आप इन्द्रियोंके पीछे-पीछे चलने लगे—वे जहाँ ले जायँ; जाने लगेंगे तो पता नहीं वे आपको किस गर्तमें डाल देंगी। अतः उपनिषद्‌का कहना है कि आप कामके वशमें न हों, रामके वशमें हों—

कामान् यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र (मु. 3.2.2)

मैं आपके सामने गीताको वैसे ही प्रस्तुत कर रहा हूँ जैसे सूची-पत्र पढ़ा जाता है। आप समूची गीतापर एक दृष्टि डालिये। यह भगवान्‌की वाणी है। भगवद्-वाणीकी एक पहचान यह है कि वह तमोगुणी, रजोगुणी, सत्त्वगुणी और निर्गुणी सबका हित करती है। भगवान् जो कुछ भी बोलते हैं सबके हितके लिए बोलते हैं। भगवान्‌की प्रत्येक वाणीमें हमारे जीवनके लिए आधारभूत सत्ता और आत्मधारणानुकूल व्यापार विद्यमान होता है। हम भी ठीक रहें, हमारी जानकारी भी ठीक रहे, और हमको पराधीनताके बिना आनन्द भी मिलता रहे। इन तीनों बातोंको ध्यानमें रखकर सबके लिए जो वचन होता है, वह भगवान्‌का वचन होता है।

भगवान् श्रीकृष्णने हमारे जीवनके लिए जो रहनी बतायी है इसपर आप ध्यान दें—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥ (2.64)
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥ (2.65)
नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥ (2.66)

भगवान् कहते हैं कि हमें अपने व्यवहारमें तीन बातोंपर ध्यान रखना चाहिए। एक तो हमारी इन्द्रियाँ, हमारा मन और हमारा शरीर दूसरेकी आज्ञा भले ही न माने, अपनी आज्ञा अवश्य माने। कभी-कभी तो हम जो नहीं चाहते, हमारी जीभ बोल देती है और हमारा हाथ कर बैठता है। तीसरे अध्यायमें तो इसका स्वतन्त्र प्रसंग ही है। हमारे न चाहनेपर भी कुछ हो जाता है। देखना यह है कि हम विधेयात्मा हैं कि नहीं। एक होता है अकृतात्मा, जिसका शरीर, इन्द्रिय, मन कुछ भी वशमें नहीं। दूसरा होता है कृतात्मा—जिसके वशमें सब होते हैं। और तीसरा होता है विधेयात्मा—जो सोच-विचारकर आज्ञा देता है। भगवान् श्रीकृष्ण बोलनेकी विद्या भी बताते हैं और यह भी सिखाते हैं कि कब, क्या और कैसे बोलना चाहिए।

आप भोजन करें परन्तु आपकी जीभका राग या द्वेष भोजनसे न हो जाय। इन्द्रियाँ अपने वशमें हों। उन्हें हम जब चाहें तब रोक सकें—यह सामर्थ्य हमारा बना रहना चाहिए। वह व्यक्ति कितना पराधीन हो गया, जो अपने पावोंको कहीं जानेसे, हाथको कोई काम करनेसे और जीभको कुछ बोलनेसे रोक नहीं सकता। यदि आप मोटर चलाते हैं और स्टीयरिंग आपके वशमें न हो, आप मोटरको रोक न सकते हों, मोड़ न सकते हों, रफ्तारको कम-बेश न कर सकते हों तो यह खतरेका ही काम है। इसी प्रकार हमारा शरीर एक रथ है और इसमें जो इन्द्रियाँ हैं वे उपकरण हैं। इन्द्रिय शब्दका अर्थ है—इन्द्रसृष्ट, इन्द्रदत्त, इन्द्रजुष्ट। इन्द्रने जिसको बनाया वह इन्द्रिय है। इन्द्र अर्थात् कर्मके देवता। जिस प्रकार हमारे कर्मके अनुसार हमें भोग मिलते हैं उसी प्रकार भावके अनुसार कर्म करनेके लिए औजार मिलते हैं। पशु-पक्षियोंके हाथ नहीं होते। उनको हाथके कामकी भी आवश्यकता नहीं पड़ती। जब उन्हें होम आदि कर्म करने नहीं तब हाथ किसलिए? हम लोग मुखमें जो भोजन करते हैं वह भी होम ही होता है। तो पक्षियोंको आकाशमें उड़ते समय, सन्तुलन बनानेके लिए चार

पाँवकी जरूरत नहीं, उनका काम दो पावोंसे ही चल जाता है। जहाँ जैसी आवश्यकता होती है वहाँ भाव वैसा ही रूप धारण कर लेता है। हमें हमारे कर्मके अनुसार कर्म करनेके लिए इन्द्रिय प्राप्त होती हैं। अथवा भोगके अनुसार भोग भोगनेके लिए इन्द्रियोंकी प्राप्ति होती है। इसलिए इनको इन्द्रिय बोलते हैं। इन्द्रियाँ हमारे हाथमें होनी चाहिए, हमें इनके हाथमें नहीं होना चाहिए। एक मालिक थे, वे पागलपनकी बात करते थे। जब अपने नौकरके सामने कोई पागलपनकी बात कर देते और बादमें होश आता तो उससे हाथ जोड़कर अनुरोध करते कि किसीसे कहना मत। फिर उसे कुछ इनाम भी दे देते। नौकर इनाम भी ले लेता और दूसरोंसे कह भी देता। जो इन्द्रियाँ हैं वे हमारी नौकर हैं। हमारे काम करनेके औजार हैं। इनको हमारे वशमें होना चाहिए **आत्मवश्यैः** और **रागद्वेषवियुक्तैः**। बाहरके किसी पदार्थसे राग-द्वेष न हो, इन्द्रियाँ हमारे अधीन हों और हम स्वयं अपने अनुशासनके अन्तर्गत काम करें। इस तरहसे यदि हम स्वयं जीवन व्यतीत करेंगे तो हमें एक प्रसादकी प्राप्ति होगी। प्रसादका तात्पर्य निर्मलता है—**प्रसादस्तु प्रसन्नता**। श्रीमद्भागवतमें भगवान्‌के प्राकट्यके समय दिशाएँ प्रसन्न हो गयीं अर्थात् निर्मल हो गयीं। तात्पर्य यह कि दिशाओंमें तूफान नहीं, गर्दा नहीं, धूल नहीं, वे स्वच्छ हो गयीं—**दिशः प्रसेदुः** (10.3.2)। जब हम कहते हैं कि सरोवर प्रसन्न है तो इसका अर्थ यह होता है कि उसमें न गन्दापन है और न तूफान है। इसी प्रकार हमारा हृदय प्रसन्न होना चाहिए। प्रसन्नता तब मिलती है जब हम इन्द्रियोंके पराधीन नहीं होते। किसीसे राग-द्वेष करनेमें संलग्न नहीं होते और स्वयंके अनुशासनके अनुसार चलते हैं। ये तीन बातें जीवनमें हों तो हमारा अन्तःकरण प्रसन्न होगा।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥ (2.65)

जब आपका मन निर्मल होगा, तो बात घूम-फिरकर वहीं पहुँच जायेगी कि आपकी बुद्धि प्रतिष्ठित है या नहीं, परिनिष्ठित है या नहीं, आपकी बुद्धिपर लोग विश्वास करें या नहीं? जब आपकी बुद्धि बदलती रहेगी, आज कुछ और कल कुछ, तब लोग आपकी सलाह कैसे मानेंगे? यदि आपको स्वयं भी अपनी बुद्धिपर विश्वास नहीं होगा तो आप अपने जीवनमें कोई योजना कैसे बना सकेंगे? इसलिए बार-बार इस बातपर ध्यान देना चाहिए कि बुद्धिका प्रतिष्ठित होना आवश्यक है। बुद्धि प्रतिष्ठित तभी होती है जब आपका ज्ञान निर्मल हो, प्रसन्न हो, उसमें किसी प्रकारका मैल न हो।

एक साधारण प्रसादकी बात भी आपको सुनाता हूँ। हम फल-फूल लेकर भगवान् रामचन्द्रके मन्दिरमें गये और उनके सामने रखकर खड़े हो गये। हमारे मनमें यह विचार हुआ कि यदि इसको पुजारीने हमें दे दिया और हमने ले लिया तो यह प्रसाद कैसे हो गया? तुरन्त भीतरसे आवाज आयी कि तुमने जब भगवान्‌के सामने फल-फूल रख दिये और अपना 'मैं' पना भी छोड़ दिया तो संशय कैसा? जब कोई वस्तु ममताशून्य होती है तब उसका नाम प्रसाद हो जाता है। ममता ही अपना हक जमाकर किसी वस्तुको प्रसादसे पृथक् करती है और ममत्व छूटते ही वह वस्तु भगवान्‌की हो जाती है। जब हम किसी चीजका त्याग करते हैं तब केवल अपनी ममता हटाते हैं। जब दान करते हैं तब अपनी ममता हटाकर दूसरेकी ममता बैठाते हैं। जब हम किसी वस्तुको

भगवान्‌के प्रति अर्पित करते हैं तब अपनी इस भूलका परिमार्जन करते हैं कि हमने उसे अपना समझ रखा था। यह अन्तर है समर्पण, दान और त्यागमें। तो प्रसाद तभी प्राप्त होगा जब हमारे ध्यानमें यह बात आजायेगी कि सभी पदार्थ भगवान्‌के हैं : **प्रसादमधिगच्छति** और फिर सारे दु:ख दूर हो जायेंगे। बुद्धि प्रतिष्ठित हो जायेगी। वास्तवमें इस संसारके भोगोंके पीछे भाग-दौड़ करनेकी कोई बात नहीं। इसलिए भाई, ध्यानसे देखो। जिसमें संसारी लोग संलग्न हैं वह एक दूसरी वस्तु है। तत्त्वज्ञानी उसमें नहीं लगते, और जहाँ तत्त्वज्ञानी परिनिष्ठित हैं उसे संसारी लोग नहीं जानते। योगवासिष्ठमें एक श्लोक है:

काकोलूक निशेवायं संसारोऽध्यात्मवेदिनः।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥ (2.69)

संसारका स्वरूप अज्ञानीके लिए एक और ज्ञानीके लिए दूसरा है। देखते हैं दोनों संसारको, किन्तु एक उसे सच मानता है, दूसरा असत् समझता है। जैसे सिनेमाके पर्देपर खेल हो रहा है। उसे बच्चा भी देख रहा है और समझदार भी देख रहा है। पर बच्चा उसको सच समझकर जब पर्देपर आग लगती है तब रोने लगता है और कोई डाकू दिखायी देता है तो डर जाता है। किन्तु समझदार उसको देखकर आनन्द लेता है। सिनेमाका पर्दा एक, दृश्य एक, परन्तु बच्चा जहाँ डरता है वहाँ समझदार आनन्दित होता है। यही भेद है बुद्धिका। बुद्धिकी इतनी महिमा है कि जहाँ संसार डरता है, वहाँ आत्मज्ञानी निर्भय होता है और जहाँ आत्मज्ञानी निर्भय होता है वहाँ संसारको उसका पता ही नहीं। मूल बात इसमें-से यह निकलती है कि हम संसारके पीछे दौड़ें नहीं, अपनी जगहपर बैठ जायें। अपनी स्थिति, अपनी प्रतिष्ठाका परित्याग न करें। अपने केन्द्रबिन्दुपर अडिग हो जायें।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥ (2.70)

एक होता है शान्तिका आनन्द और दूसरा होता है विषय-भोगका आनन्द। विषय-भोगका आनन्द हर्षोल्लासका आनन्द है, उसको विषयानन्द बोलते हैं और परमात्माका जो आनन्द है वह शन्त्यानन्द है—शान्तिमें आनन्द। तो जिसको शान्तिमें आनन्द लेनेका अभ्यास हो जाता है, उसे हर्षोल्लासके आनन्दके लिए भाग-दौड़ नहीं करनी पड़ती।

समुद्रमापः—आपः सब समुद्र हैं। जिसके पास मुद्रा हो उसे समुद्र कहते हैं। मुद्रा माने द्रव्य, जो लक्ष्मीका प्रतिनिधि है। जिससे लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है अथवा लक्ष्मी जिसकी बेटी है उसका नाम समुद्र है। जिसमें समुद्रेक हो वह समद्र है; जिसमें समय-समयपर ज्वार आता है, उसको भी समुद्र बोलते हैं। समुद्र मुद्रायुक्त होता है। वह कभी-कभी उद्दप्त भी होता है। उसमें उच्छलन भी होता है। तरंगायित भी होता है। इसलिए भी उसको समुद्र बोलते हैं। उसमें दो मुद्राएँ हैं, एक शान्त मुद्रा दूसरी विक्षिप्त मुद्रा। वह कभी विक्षिप्त हो जाता है, कभी शान्त हो जाता है। समुद्रमें सब-सब नदियाँ स्वयं जाकर मिलती हैं। वह यह नहीं कहता

कि : 'एहि गङ्गे, एहि ब्रह्म-ह्रद, एहि तुङ्ग' मेरे पास आओ। वह कृष्णा, रेवा, विपाशा किसी भी नदीको नहीं बुलाता। वह नदियोंके जलसे, वर्षाके जलसे सदा-सर्वदा भरता रहनेपर भी अपनी प्रतिष्ठाको नहीं छोड़ता—**आपूर्य्यमाणमचलप्रतिष्ठं**। आपके पास बहुत सारी सम्पत्ति आजाय और आप उसको अपनी समझकर मर्यादा छोड़ दें तो यह जीवनके लिए कुछ अच्छा लक्षण नहीं होगा। एक दिन मैं गंगा-किनारे बैठा था। एक बालक गंगाजीकी पूजा करने आया। उसके साथ उसका नौकर चाँदीके थालमें चन्दन, अक्षत आदि पूजाकी सामग्री लेकर आया और बालकसे बोला—बाबू, गंगाजीको यह चन्दन चढ़ा दो, अक्षत चढ़ा दो, फूल चढ़ा दो, नैवेद्य चढ़ा दो। बालकने पूरी सामग्रीके साथ चाँदीकी वह थाली गंगाजीमें फेंक दी। नौकर कहने लगा बाबू, यह क्या किया तुमने? बालक बोला—चुप रह हम ऐसी दस थालियाँ मँगाकर तुमको दे देंगे। यह प्रतिष्ठा टूट गयी और अहंभावका प्राकट्य हो गया—**हृष्टो दृप्यति दृप्तो धर्मम् अतिक्रामति**—वेद भगवान्‌का कहना है कि संसारके विषयोंको पाकर जिसको बहुत हर्ष होता है उसे दर्प हो जाता है। दर्पसे ही दर्पण बनता है। धातु वही है। शीशेके सामने चाहे तुम मूँछ ऐंठ लो या और कुछ कर लो। पहले मूँछें होती थीं। अब वह गायब हो गयीं। शीशेमें अपने चेहरेकी चिकनाई देखते ही हैं। यदि वह दिखती है तब उससे दर्प होता है—**दृप्यति अनेन इति दर्पणः**—जिसको देखनेसे मनुष्यके मनमें दर्पका भाव आये उसका नाम दर्पण होता है। जब मनुष्यके मनमें दर्प आजाता है तब वह अपनी मर्यादाका, धर्मका उल्लंघन करता है—**दृप्तो धर्मम् अतिक्रामति**। भाई बाहरसे चाहे जितना आये आने दो, किन्तु अपनी प्रतिष्ठा मत छोड़ो। बल्कि जो कुछ भी आये उसे आत्मसात् कर लो। यह जीवनकी एक शैली है।

तद्वत्कामा यं प्रतिशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी। (2.70)

जीवनमें भोगोंको आने दो, विसंगतियोंको आने दो, संसारको आने दो, परन्तु तुम अपनी जगह अविचल बने रहो। अपनी स्थितिसे विचलित मत होओ। अपना मन, अपनी बुद्धि मत बिगाड़ो। ऐसा होनेसे तुम्हें शान्ति मिलेगी। यदि तुम विषयोंके पीछे दौड़ोगे तो क्या होगा? बहुत बढ़िया उदाहरण है। जैसे कोई सूर्यकी ओर पीठ करके खड़ा हो तो उसे क्या दिखेगा? उसकी अपनी परछाईं दीखेगी। उस परछाईंको यदि वह हृदयसे लगाना चाहे, उसका आलिंगन करना चाहे, उसको पकड़नेके लिए दौड़े तो जितना ही दौड़ेगा उतनी ही परछाईं दूर होती जायेगी। किन्तु वही व्यक्ति यदि सूर्यकी ओर मुँह करके खड़ा हो जाये और उधर ही चले तो परछाईं उसके पीछे-पीछे चलेगी। जो भोगोंकी कामनासे इधर-उधर दौड़ता-फिरता है, उसको शान्ति नहीं मिलती। शान्ति तो उसको मिलती है जो अपनी जगहपर अडिग खड़ा रहता है। भगवान् श्रीकृष्णने शान्ति-प्राप्तिके चार उपाय बताये हैं—

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥ (2.71)
एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥ (2.72)

गीतामें यह स्थितप्रज्ञका प्रकरण है और बहुत महत्त्वपूर्ण है। जो कर्म करते हुए सिद्ध होते हैं उनकी पहचान होती है स्थित-प्रज्ञता। जो भक्ति करते हुए सिद्ध होते हैं उनकी पहचान बारहवें अध्यायमें वर्णित है—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च। (12.13)

जो विवेकसे सिद्ध होते हैं, पूर्णताको प्राप्त होते हैं उनकी पहचानका वर्णन चौदहवें अध्यायके गुणातीत प्रसंगमें है। गीतामें कर्म-प्रधान, भक्ति-प्रधान और गुणातीत-प्रधान सिद्धोंका वर्णन तो है किन्तु भभूत या कुमकुम बरसानेवाले कलियुगी सिद्धोंका वर्णन नहीं। ये सब तो स्वयंभू सिद्ध हैं, जादूगरीके सिद्ध हैं, मानसिक शक्तिके सिद्ध हैं, यक्षिणी, भूत, प्रेत, पिशाच आदिके सिद्ध हैं। परमेश्वरसे इन सिद्धियोंका कोई सम्बन्ध नहीं। इन सिद्धियोंसे मन हटाये बिना कोई परमेश्वरकी ओर जा ही नहीं सकता।

श्रीकृष्णने शान्ति-प्राप्तिके लिए जो चार बातें बतायीं उनपर ध्यान दीजिये। जिस वस्तुका आपको अभाव मालूम पड़ता है, उसकी कामनासे व्याकुल होकर दौड़िये मत। आपको उसका अभाव जो खटक रहा है उस खटकको ही छोड़ दीजिये। बचपनमें जब मेरे बाबा कहते थे कि यह पेड़ा तुमको नहीं दूँगा तो मैं कहता कि जाओ मुझे पेड़ा चाहिए ही नहीं। मैं आँख बन्द करके बैठ जाता, तब बाबा बुलाते कि अच्छा लो। यद्यपि यह बचपनकी मस्तीकी बात है तथापि सिद्धान्ततः ठीक है। आपके हृदयमें अप्राप्त वस्तुके लिए जो व्याकुलता है उसको आप अपने भीतर स्थान न दें और स्वभावतः जो वस्तु आजाये उसके प्रति आसक्त न हों। आप नोटको, गिन्नीको और हीरोंको भी पहचानते हैं। पहचानते ही नहीं, उनको अपना समझते हैं और कहते हैं कि ये मेरे हैं। इनपर हमारा हक है। परन्तु वे ऐसे बेवफा हैं कि आपको बिलकुल नहीं पहचानते और न आपके काबूमें रह पाते हैं। वे आपके हाथसे निकलकर दूसरे हाथमें चले जाते हैं। वे सोचते हैं कि हमको मेरा कहनेवाला और हमारे प्रति इतना ममत्व दिखानेवाला यह महापुरुष कौन है? अतः उनसे हम लोगोंकी एकांगी प्रीति है। हम कहते हैं तुम हमारे ही घरमें रहो। हमको छोड़कर कहीं मत जाओ। परन्तु वे हमारी नहीं सुनते। एक देहाती कहावत है, जिससे आपको थोड़ी हँसी आजायेगी। एक गाँवमें एक (बूढ़ा) कंजूस आदमी था। उसने एक चाँदीका रुपया बड़े प्रेमसे रख छोड़ा था। एक दिन बहुत आवश्यकता पड़नेपर वह उस रुपयेको हाथमें लेकर निकला और सामान खरीदने बाजार गया। गरमीके दिन थे। उसके हाथमें पसीना आगया। उसने देखा और बोला—ओहो तुम रोते हो। तुम्हें मुझसे इतना प्रेम है कि मेरे हाथसे जानेमें तुमको रोना आता है! अच्छा, लो—***मैं मर जैहों पै तोहें न भजैहों, तोहराके देखि देखि जियरा बुझैहों।*** हमारी जो धनासक्ति है वह ऐसी ही है। बचपनमें हम दो आने पैसेके लिए रो चुके हैं। मेला देखनेके लिए पैसा माँगनेपर उत्तर मिला कि तुम्हारे हाथमें नहीं देंगे। फिर दो रुपये आये, दो सौ आये, दो हजार आये फिर दो लाख आये। रुपये तो बढ़ते गये परन्तु हमारा बचकाना रोना जारी रहा। जो हमको पहचानता तक नहीं उसके प्रति हमारा इतना प्रेम है।

हमारे पास वस्तु आती है, जाती है। हमारा घर उसका एक पड़ाव है। वह हमारी दुकानमें-से होकर

निकल जाता है और फिर उस दुकानको पहचानता तक नहीं—**पुमांश्चरति निःस्पृहः।** आप भी उसकी तरह निःस्पृह हो जाओ और वह आये अथवा जाये, उसके लिए हीनताका अनुभव करके दुःखी मत होओ। यदि आयी हुई वस्तु ठहर जाये तो उसे अपनी मत समझो। न ठहरे तो उसके लिए व्याकुल मत हो जाओ। वह हमेशा हमारे पास बनी रहे, यह स्पृहा मत करो, क्योंकि—***सम्पति सब रघुपति कै आही।*** इस संसारमें चल और अचल जितनी भी सम्पत्ति है सब परमेश्वरकी है। गीताका यही सिद्धान्त है। जब हम उसका पन्द्रहवाँ अध्याय पढ़ते हैं तब बोध होता है कि क्षर और अक्षर दोनों ही पुरुषोत्तमके हैं। वास्तवमें इनके उपभोगका अधिकार असुरों अथवा असज्जनोंको नहीं, ये पुरुषोत्तम-तन्त्र पदार्थ हैं। इन्हें उत्तम पुरुषके हाथमें रहना चाहिए और उन्हींके द्वारा इनका उत्पादन, वितरण, विनिमय होना चाहिए। यदि हम अपनेको निर्मम मानें और कहें कि हम किसी वस्तुको महत्व नहीं देते, उसे जब चाहें उठाकर फेंक सकते हैं तो यह भी अहंकारकी बात है। हमारे एक मित्र थे। कभी-कभी कहा करते थे कि हमको डबल एम. ए.का प्रमाण-पत्र मिला था किन्तु हमने उसे गंगाजीमें फेंक दिया। उन्हें अपना प्रमाण-पत्र गंगाजीमें फेंकनेका अहंकार हो गया था। वह प्रमाण-पत्र उनके पास किसी आलमारी या सन्दूकमें पड़ा रहता तो कोई दोष नहीं था। परन्तु उसे फाड़कर गंगाजीमें फेंकनेका अहंकार उनके सिरपर ऐसा सवार हुआ कि जब एक दिन उनको यह सुननेको मिला कि तुम्हारे अन्दर एम. ए. होनेकी कोई योग्यता नहीं, तुमको झूठ-मूठ प्रमाण-पत्र मिल गया होगा, तब वे तिलमिला उठे। फिर श्री लक्ष्मण नारायणजी गर्देने उनको बहुत समझाया और कहा कि आपने अपना प्रमाण-पत्र भले ही फाड़कर फेंक दिया हो, किन्तु उसका अहंकार आपके अन्दर बना हुआ है। तब वे शान्त हुए।

वास्तवमें अहंकार अवश्य छूटना चाहिए। अप्राप्तके प्रति कामना, प्राप्तके प्रति स्पृहा, विद्यमानके प्रति ममता और ममताके त्यागका अहंकार—इन चारों बातोंसे जो मुक्त हो जाता है उसको शान्तिकी प्राप्ति होती है—

स शान्तिमधिगच्छति।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥ (2.72)

इस श्लोकमें ऐसी कोई भी बात नहीं, जिसको हम और आप न कर सकते हों। क्योंकि अपना आत्मा अपने सहज स्वभावसे ही परमात्माका स्वरूप है। अच्छा, देखो आपके मुँहके भीतर जो पोल है—आकाश है और बाहर जो पोल है—आकाश है—वे क्या दो हैं? आपकी चहारदीवारीके भीतरकी भूमि और बाहरकी भूमिमें क्या कोई अन्तर है? हम लोग जो साँस लेते हैं वह नाकके भीतर जानेपर हमारी है तो बाहर निकलनेपर किसकी है? वह बाहर जिसकी है उसीकी भीतर जानेपर भी है। साँस एक ही है। इसी प्रकार यह जो चेतन तत्त्व है वह चाहे आपके शरीरमें बल्बकी तरह जगमग-जगमग जल रहा हो, पंखेकी तरह घूम रहा हो, हीटरकी तरह गर्म हो रहा हो, रेफ्रीजरेटरकी तरह ठण्डा हो रहा हो, मोटरकी तरह चल रहा हो, परन्तु चीज एक ही है। उसी एक पदार्थके कारण ही इतनी सारी प्रक्रियाएँ हो रही हैं। वास्तवमें जब आप दोष-विनिर्मुक्त

होकर—कामना, स्पृहा, ममता, अहंकार-इन चारोंसे छूटकर बैठते हैं तब ब्राह्मी स्थितिमें होते हैं। वह आपकी कोई परिच्छिन्न स्थिति नहीं, बल्कि स्वयं भगवान्के शब्दोंमें—**एषा ब्राह्मी स्थितिः** है।

लोग हमारे पास शिकायत करते रहते हैं कि हम ध्यानमें बैठते हैं तो ध्यान नहीं लगता। इसका कारण क्या है? एक दिन मैंने अपना जूता सड़ककी तरफ निकाल दिया और किनारे बैठकर ध्यान करने लगा। जब-जब आँख खुले तब-तब यह देखलें कि जूता है कि नहीं। तो जूता अथवा उससे भी बड़ी-बड़ी वस्तुओंको बाहर रखकर ध्यानमें बैठनेपर हमारा मन यह झाँकने जायेगा ही कि हमारी सब चीजें ठीक-ठीक अपनी जगहपर हैं या नहीं। हमारे ध्यानमें जो चंचलता है इसका कारण बाहरकी वस्तुएँ हैं। एकबार आप यह अनुभव करें कि सम्पूर्ण आकाशमें आपके भगवान् ही भगवान् और आप ही आप व्याप्त हैं—भरपूर हैं। गीता भगवान् तथा आपमें कोई अन्तर नहीं बताती। आप ध्यानसे देखिये।

सर्वभूतस्थमात्मानम्—हमारा मैं सबमें है।

सर्वभूतानि चात्मनि—सब मुझमें हैं।

ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः। (6.29)

ऐसी सच्ची दृष्टि जिसे प्राप्त हो गयी है, उसको ऐसा दिखता है कि मुझमें सब हैं और सबमें मैं हूँ।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति। (6.30)

मुझमें सब, सबमें मैं, मुझमें-सबमें परमात्मा और परमात्मामें मैं तथा सब, जो पहचान मेरी वही पहचान परमात्माकी। इसलिए—

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥ (6.31)

गीताका कहना है कि जिसको मेरी और परमात्माकी एकता ध्यानमें आजाती है वह योगी है।

यो मां पश्यति सर्वत्र—यह तत् है।

सर्वभूतेषु चात्मानं—यह त्वम् है।

भजत्येकत्वमास्थितः—यह असि है।

इस प्रकार बनता है—तत्त्वमसि। **एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ**—आपकी स्थिति ब्राह्मी है का अर्थ है कि जो स्थिति ब्रह्मकी है वही स्थिति आपकी है। जब आप ऐसी स्थितिमें आजायेंगे तो कभी मोहके दलदलमें नहीं फँसेंगे। इसलिए हे पार्थ! तुम इस स्थितिको प्राप्त करो। पार्थका अर्थ है पृथाका पुत्र। पृथा कुन्तीको कहते हैं। कुन्ती भगवान्की बुआ है। भगवान्का आशय है कि तुम मेरी बुआके पुत्र हो, भाई हो। अपने भाईसे ठीक-ठीक बात बता देनी चाहिए। देखो, पार्थमें जो 'प' है उसका अर्थ है परमेश्वर। **पातीति पः परमात्मा**—जो सबको रक्षा करे उसका नाम है 'प'। तात्पर्य यह है कि जिसके जीवनका अर्थ केवल परमेश्वर ही है उसका नाम पार्थ है। जो परमेश्वरको ही चाहता है, परमेश्वरको ही प्रयोजनीय मानता है अर्थात् अपने जीवनमें सच्चाईको, सच्चे ज्ञानको धारण करना चाहता है वह पार्थ है। परमेश्वरको चाहना सच्चाईको चाहना है,

परमेश्वरको चाहना सच्चे ज्ञानको चाहना है और परमेश्वरको चाहना सच्चे आनन्दको चाहना है। परमेश्वरका अर्थ है जो सबके भीतर एक है और जिसमें राग-द्वेषकी गन्ध भी नहीं, ऐसे परमेश्वरको प्राप्त करना ही ब्राह्मी स्थिति है और इसको प्राप्त करके किसीको विमोह नहीं होता—**नैनां प्राप्य विमुह्यति।**

संस्कृत भाषामें मोह शब्दका अर्थ होता है जिसमें सोचने-विचारनेकी शक्ति न रहे। मा, ऊहा=जिसमें ऊहा नहीं—उहापोहकी शक्ति नहीं, उसका नाम मोह। अथवा **मुह् वैचित्त्ये** अपने चित्तका विपरीत हो जाना मोह है। वास्तवमें महत्त्व है तुम्हारा। उसको तो तुम देखते नहीं, संसारके महत्त्वको देखते हो। तुम अपना स्वरूप भूलकर दूसरेके स्वरूपमें तन्मय हो गये हो। ब्राह्मी स्थिति प्राप्त हो जानेपर मोह नहीं होता। ब्राह्मी स्थितिकी ऐसी महिमा है कि यदि वह जीवनभर किसीको प्राप्त न हो, किन्तु मरते समय क्षण भरके लिए भी उसकी प्राप्ति हो जाय तो मङ्गल हो जाता है। संसारके राग-द्वेष जीवात्माको घसीटकर कहीं-का-कहीं ले जाते हैं। उसके अन्त:करणको दूषित कर देते हैं। मनुष्यका अन्त:करण मोटरकी तरह है। उसमें जो कामनाएँ हैं, संकल्प हैं, वे ड्राइवरकी तरह हैं। मनुष्यकी कामनाएँ और संकल्प ही उसके अन्त:करणको जहाँ-तहाँ घसीटते फिरते हैं। यदि किसीको ब्राह्मी स्थिति प्राप्त हो जाये, एक क्षणके लिए भी प्राप्त हो जाये, अन्तिम समयमें भी प्राप्त हो जाये, तो उसकी स्थिति ब्रह्मनिर्वाणकी हो जाती है। वास्तवमें ब्राह्मीस्थिति मरनेके समय ही नहीं, जीवनमें ही प्राप्त करनेकी वस्तु है। जिसके जीवनमें ब्राह्मीस्थिति आजायेगी वह साक्षात् परमेश्वरकी तरह ही जीवित रहेगी। उसके जीवनका स्वरूप पूर्ण हो जायेगा। वहाँ न मृत्युका भय रहेगा, न अज्ञानका, न संयोगका, न वियोगका। पूर्ण केवल पूर्ण होता है, उसमें किसी प्रकारकी अपूर्णता नहीं रहती।

अब निर्वाण शब्दका अर्थ केवल उत्प्रेक्षाकी दृष्टिसे आपको सुनाते हैं। आप 'वाण'को लीजिये। ब और व में कोई भेद मत कीजिये। जब किसीको बाण लगता है तो पहले उसे दु:ख होता है, दर्द होता है। बादमें वह बेहोश हो जाता है और मर भी जाता है। दु:ख होना आनन्दके विरुद्ध है, बेहोश होना ज्ञानके विरुद्ध और मरना सत्के विरुद्ध है। इसलिए निर्वाणका अर्थ वह स्थिति है जिसको प्राप्त कर लेनेपर न आपको दु:ख होगा, न बेहोशी होगी और न आप मृत्युको प्राप्त होंगे। आपका जीवन परिपूर्ण हो जायेगा।

●

प्रवचन : 5

(20-11-74)

भगवान् श्रीकृष्णने गीताके दूसरे अध्यायमें बुद्धिपर बहुत बल दिया। कर्म-बुद्धिको भी बुद्धि कहा, सांख्य-बुद्धिको भी बुद्धि कहा। हमारे दार्शनिकोंने यह अनुसंधान किया है कि मनुष्य कर्ममें तभी प्रवृत्त होता है जब उसके मनमें कोई-न-कोई इच्छा होती है। सभीको ठीक तरहसे सञ्चालित करनेवाली शक्तिका नाम इच्छा है। इच्छा होती है ज्ञानके अनुसार। जानाति, इच्छति, करोति—मनुष्य पहले समझता है, फिर छोड़ने या ग्रहण करनेकी इच्छा करता है तत्पश्चात् उस इच्छाके अनुसार प्रयत्नशील होता है। निष्कामताका अर्थ जड़ता नहीं, निष्फलता भी नहीं। यदि कोई कर्म बिना प्रयोजन किया जायेगा तो पानी पीटनेके ('जलताडन' बोलते हैं संस्कृतमें) समान निष्फल जायेगा, शक्तिका अपव्यय होगा। इसलिए कोई भी कर्म प्रारम्भ करनेके पूर्व यह विचार कर लेना चाहिए कि उससे किस प्रयोजनकी सिद्धि होगी, उसमें क्या-क्या विघ्न पड़ेंगे और उन विघ्नोंको हम कैसे पार करेंगे? वे लोग अधकचरे होते हैं जो निष्कामका नाम सुनकर चौंक जाते हैं।

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते॥ (18.25)

प्रत्येक क्रियाका एक परिणाम होता है। दूधका मन्थन करनेपर क्रीम निकलती है। दहीके मन्थनसे नवनीत निकलता है। मन्थन एक कर्म है। यदि आपको यह ज्ञात नहीं कि दूध-दहीके मन्थनका परिणाम क्या होगा तो मन्थन-क्रिया निष्फल हो जायेगी। इसलिए कोई कर्म करना हो तो पहले उसका अनुबन्धन समझना चाहिए। अनुबन्धमें चार बातें विचारणीय हैं। पहली बात यह कि हम कर्मके अधिकारी हैं कि नहीं? हमें अमुक कर्म करना चाहिए कि नहीं? अर्थात् उस कर्ममें हमारा अधिकार होना चाहिए। दूसरे, कर्मको स्वरूपसे जानना चाहिए। कर्म कैसे करना है यह यदि आपको ठीक-ठीक करना नहीं आता, तो उसमें लगकर आप उसको बिगाड़ देंगे। तीसरे, कर्मके प्रयोजनका विचार करना चाहिए। चौथे यह देखना चाहिए कि उस कर्मके साथ हमारा क्या सम्बन्ध है। इस प्रकार अधिकार, विषय, प्रयोजन और सम्बन्ध इन चारोंके ज्ञानका नाम अनुबन्ध है। शास्त्रकारोंने इन चारों बातोंपर विचार किया है और चेतावनी दी है कि कोई भी काम प्रारम्भ करनेके पूर्व इन चारों बातोंपर विचार करलो। क्षयका अर्थ हानि। अर्थात् यह काम करनेमें हमें अथवा दूसरोंको कितनी हानि पहुँचेगी? पौरुषम्का अर्थ है पुरुषार्थ। अर्थात् इस कामको पूरा करनेकी शक्ति हममें है कि नहीं। जो लोग इन बातोंका विचार किये बिना केवल मोहवश कर्म प्रारम्भ कर देते हैं, उनका कर्म तमोगुणी हो जाता है। तात्पर्य यह कि उनको अन्तमें निष्फलता प्राप्त होती है और कर्म करनेका आनन्द भी नहीं मिलता। अब आप इन चारों बातोंकी कसौटीपर विचार कीजिये। आप कोई कर्म कर लेनेके बाद थकानका अनुभव करते

हैं या प्रसन्नताका? यदि आपको प्रसन्नता हो तो समझिये आपने अच्छा काम किया। ग्लानि हो तो समझिये आपका वह काम अच्छा नहीं। मनुस्मृतिमें कर्मके सम्बन्धमें यह कहा गया है—

यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात्परितोषो चान्तरात्मनः।
तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत्॥

(मनुस्मृति 4.161)

कर्मके साथ आत्मतुष्टि अवश्य होनी चाहिए। कर्म करते समय यदि अन्तरात्माको सन्तुष्टिका अनुभव हो तो उसे प्रयत्नपूर्वक करना चाहिए। जिस कर्मसे आत्मग्लानि या पश्चात्ताप होता हो वह नहीं करना चाहिए।

काशीमें एक महात्मा थे। उनसे किसीने कर्मके सम्बन्धमें उपदेश करनेकी प्रार्थना की तो उन्होंने उत्तर दिया कि तुम अपने कर्मके जज स्वयं हो। कोई काम करनेके बाद जब तुम्हारी अन्तरात्मा स्वीकार करती है कि तुमने बुरा काम किया तो वह काम संस्कार बनकर तुम्हारे साथ जुड़ जाता है। यदि तुम किसी कृत कर्मको अन्तरात्मासे नहीं, बलात् अस्वीकार करोगे तो समष्टि भावना तुमसे स्वीकृतिका हस्ताक्षर ले लेगी। इसलिए यह ध्यान रखो कि कर्म करते समय तुम्हारी अन्तरात्मा सन्तुष्ट हो रही है, प्रसन्न हो रही है, अथवा ग्लानिका अनुभव कर रही है। मनुस्मृतिमें यह श्लोक भी आता है—

यमो वैवस्वतो देवो यस्तवैष हृदि स्थितः।
तेन चेदविवादस्ते मा गङ्गां मा कुरून् गमः॥

(मनुस्मृति 8.92)

आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम्।
आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम्॥

(मनुस्मृति 12.119)

हमारे हृदयमें भगवान् आत्माके रूपमें रहते हैं। यदि उनसे तुम्हारा कोई मतभेद नहीं तो न गङ्गा नहानेकी आवश्यकता है और न किसी तीर्थकी यात्रा करनेकी। अपने आत्मदेवसे कोई विवाद नहीं होना चाहिए। यदि हम अपने ज्ञान और आकांक्षाके अनुसार काम करते हैं तथा हमारे जीवनके साथ जुड़ जाता है तो हमारी बुद्धि श्रेष्ठ हो जाती है। अर्जुनने भगवान्से प्रश्न किया कि आप बुद्धि एवं कर्मकी तुलनामें बुद्धिको ही श्रेष्ठ और कर्मको कनिष्ठ मानते हैं। फिर मुझे ऐसे घोर कर्मोंमें क्यों लगाते हैं जिनमें हिंसा होती है। आपके मिले-जुले अस्पष्ट वचनोंसे मेरी बुद्धि मोह-ग्रस्त हो जाती है। कोई निर्णय नहीं कर पाती—

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे। (गीता० 3.2)

यह प्रसंग पहले भी आ चुका है। आपको बताया जा चुका है कि अर्जुनके इन वचनोंसे उनका श्रीकृष्णके प्रति अत्यन्त प्रेम प्रकट होता है। सचमुच एक मित्र जैसे अपने मित्रसे बात करता है वैसे ही अर्जुन श्रीकृष्णसे बात कर रहे हैं। बहुत ममता और प्रियता भरी है उनकी बातोंमें। उत्तरमें भगवान्ने अर्जुनको दो प्रकारकी निष्ठा बतायी। निष्ठा उसे कहते हैं जहाँ हम स्थिर हो जायँ। 'नि'का अर्थ है नितरां और 'ष्ठा'का अर्थ है

डाँवाडोल न होना। स्थान और स्थितिमें जो स्थ है वही निष्ठामें भी है। हमारी निष्ठा हो गयी अर्थात् हम पक्के हो गये। अब तो यही करेंगे, इसी ढंगसे जीवनका निर्वाह करेंगे। इसी कर्ममें अपना पौरुष लगायेंगे और इसीसे हमारे प्रयोजनकी सिद्धि होगी। पहले भी कहा जा चुका है कि प्रयोजनपर दृष्टि रखे बिना कोई कर्म नहीं करना चाहिए। निष्कामता और निष्प्रयोजनतामें बहुत अन्तर है। प्रयोजनका अर्थ होता है—**अवगतं तद् आत्मनि इष्यते**—जिसका अनुभव होनेपर हम चाहें कि यह हमेशा हमारे साथ जुड़ा रहे। प्रयोजनका अर्थ प्रकृष्ट योजना भी है। अत: प्रयोजनको ध्यानमें रखकर ही कर्म करना चाहिए, निष्प्रयोजन नहीं।

तो भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको दो प्रकारकी निष्ठा बतायी, वह यह है—

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ। (3.3)

यहाँ अर्जुनके लिए अनघ सम्बोधन है। 'अनघ' कहनेका अभिप्राय यह है कि तुम जो मुझे यह कह रहे हो कि मैं ठीक-ठीक बात न करके तुम्हें भ्रममें डाल रहा हूँ, इसमें तुम्हारा भाव शुद्ध है और जहाँ शुद्ध भाव है वहाँ शब्दावलीपर ध्यान नहीं दिया जाता। तुम्हारे शब्द कुछ भी हों, तुम्हारा तात्पर्य यह है कि तुम अपने कर्तव्यको तत्त्वत: जानना चाहते हो। इसलिए तुम निष्पाप हो।

इसके बाद श्रीकृष्ण बताते हैं कि निष्ठाके स्वरूपमें अन्तर क्यों पड़ता है? एक तो सांख्ययोगकी दृष्टिसे, दूसरा कर्मयोगकी दृष्टिसे। सांख्यशास्त्रमें जगत्के पदार्थोंकी गणना की जाती है। पण्डितगण जगत्के पदार्थोंकी संख्या करते हैं। संख्याका अर्थ है सम्यक्-ख्याति। कोई भी पदार्थ कितने रूपोंमें ख्यात हो रहा है इसका आकलन। वेदान्ती लोग ख्याति शब्दका अर्थ भ्रम करते हैं। उनके सत्ख्याति, असत्ख्याति, अन्यथाख्याति, आत्मख्याति, अनिर्वचनीयख्याति आदि पारिभाषिक शब्दोंका तात्पर्य यह है कि वस्तु वस्तुत: है एक रूपमें और प्रकट हो रही है दूसरे रूपोंमें। सांख्य शब्दका अर्थ संसारके पदार्थोंका सम्यक् आख्यान है और उसके परिणाम-स्वरूप विवेक द्वारा अपने आत्माको अकर्ता एवं असंग जानना सांख्यका सिद्धान्त है। जो लोग बुद्धिमान् हैं उनके लिए विवेक द्वारा आत्मज्ञान प्राप्त करनेका मार्ग सांख्ययोग है और जो लोग प्रयत्न करके, प्रयास करके किसी वस्तुका निर्माण करना चाहते हैं, उनके लिए कर्मयोगका मार्ग है। निर्माण-विभाग है कर्मयोग और प्रमाण-विभाग है सांख्ययोग।

हमारे शास्त्रोंमें तीन विभाग माने जाते हैं—तत्त्वमीमांसा, प्रमाण-मीमांसा और कर्ममीमांसा। सत्यवस्तु क्या है? यह तत्त्वमीमांसा है, उसको सिद्ध करनेके लिए प्रमाण क्या है? यह प्रमाणमीमांसा है और हमको जिस ढंगमें वर्तना चाहिए यह आचार अथवा कर्म-मीमांसा है। कर्मकी शैली बताना एक चीज है और उसको समझना दूसरी चीज है। कर्मयोग निर्माण करता है और सांख्ययोग जो वस्तु जैसी है उसको वैसी दिखाता है। अब प्रश्न यह उठता है कि जब अन्तमें समझना ही है, ज्ञान ही प्राप्त करना है तो कर्म क्यों किया जाये? यह एक शास्त्रीय प्रसंग है कि जबतक हमारे साथ कर्म लगा रहेगा तबतक वह कुछ बनायेगा कछ बिगाड़ेगा और हम उसके कर्ता बने रहेंगे, उसके साथ हमारा सम्बन्ध जुड़ा रहेगा और हम उसके कर्ता बने रहेंगे तो उसका फल उत्पन्न होगा और जब फल उत्पन्न होगा तो उसके अनुसार हमें भिन्न-भिन्न

योनियोंमें जाना पड़ेगा, भिन्न-भिन्न रूप ग्रहण करने पड़ेगें, यह काम कैसे होगा, वह काम कैसे होगा और उसका फल कैसे भोगेंगे, यह प्रसंग सामने आता जायेगा। जब कर्मसे पूरी तरह छुटकारा मिलेगा तभी आत्मदेव अपने स्वरूपमें स्थित होंगे और ब्रह्म स्वरूप बनेंगे। यदि कर्मसे आत्माका पूर्णरूपसे छुटकारा नहीं होगा तो उसकी मुक्ति नहीं होगी और उसको ब्राह्मीस्थिति प्राप्त नहीं होगी। कर्म होगा तो सुख-दुःखका अनुभव अवश्यम्भावी है। जब कर्मके फल-स्वरूप सुख-दुःख भोगते जायेंगे तो मुक्ति किस बातकी हुई? इसलिए जीवनमें नैष्कर्म्यका आना आवश्यक है।

अब प्रश्न उठा कि जब नैष्कर्म्य ही अपेक्षित है तब पहलेसे ही कर्म क्यों न छोड़ दिया जाये? भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि यह बात ठीक नहीं। यदि तुम्हें नैष्कर्ष्य प्राप्त करना है तो जो आवश्यक कर्म है उन्हें पूरा करना होगा—

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते। (गी 3.4)

अब इस बातको समझनेके लिए कुछ उदाहरण लीजिये। कतिपय मित्र यात्रा करने गये। उनका जो मुखिया था उसने कहा कि भाई जंगलसे लकड़ी इकट्ठी करो गाँवसे चावल, दाल, हँडिया आदि ले आओ। फिर भोजन पकाकर खायेंगे और खानेके बाद आग बुझा देंगे। इसपर एकने कहा कि जब अन्तमें आग बुझानी ही है तो जलानेकी क्या आवश्यकता है? उसकी यह बात गलत थी। इसी प्रकार यदि कोई कहे कि जब हमें अन्तमें कर्म छोड़ना हैं तब पहले ही क्यों न छोड़ दें? तो वह कभी सफलता प्राप्त नहीं कर सकता।

इसी प्रकार यदि किसी बालकको कहा जाये कि पहली पोथी पढ़ लो कि दूसरी-तीसरी पढ़ना और वह बालक जवाब दे कि जब पहली पोथी पढ़कर छोड़नी ही है तो मैं उसे अथवा दूसरी-तीसरी पोथियोंको क्यों पढ़ूँ? मुझे तो वह पोथी पढ़नेके लिए दो जिसे पढ़कर कभी छोड़ना न पड़े। तो ऐसे बालकको कभी शिक्षा प्राप्त नहीं हो सकती।

अतः क्रम-क्रमसे ही सब कुछ करना पड़ता है। कोई भी व्यक्ति यदि कर्म करेगा ही नहीं तो उसके पौरुषका आविर्भाव कैसे होगा? पौरुषका आविर्भाव आवश्यक है। वह सभी मनुष्योंके लिए सम्भव है। क्योंकि सबके हृदयोंमें सर्वशक्तिमान परमेश्वरका निवास है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। (गी. 18.61)

भगवान्ने अपने लिए कोई बँगला न बनाकर समस्त प्राणियोंके हृदयोंको अपना निवास-स्थान बनाया। संसारके सच्चे साधु-सन्त भी ईश्वरकी सत्ता और महत्ताके प्रतीक हैं। वे अपने लिए कोई आश्रम न बनाकर समस्त संसारको अपना आवास समझते हैं। कुछ लोग समझते हैं कि वे मुफ्तका खाते हैं। परन्तु भिक्षा माँगनेमें और उसके लिए कहीं-कहीं अपमानित होनेमें जो श्रम पड़ता है इसे भुक्तभोगी साधु-सन्त ही जानते हैं। यह बात दूसरी है कि उन्हें सुख-दुःख और मानापमानका विशेष विचार नहीं होता। क्योंकि सुख-दुःख तथा मानापमानमें जीवन समान रहनेसे भी जीवनका निर्माण होता है। साधु-सन्तोंकी सहनशीलता तथा त्याग-वृत्ति एक ओर जहाँ गरीबोंको गरीबीमें भी जीवन व्यतीत कर सकनेका आश्वासन देती है वहाँ श्रीमन्तोंको भी

विलासितासे बचने तथा संयमित रहनेकी प्रेरणा प्रदान करती है। इस प्रकार सच्चे साधु-सन्त धनी और निर्धनके मध्य सेतु बनकर उसको समन्वित करनेका काम करते रहते हैं।

मनुष्यके भीतर ईश्वरके रूपमें एक महान् शक्ति विद्यमान है और आपका सम्बन्ध उस महाशक्तिसे है जो सारी सृष्टिका संचालन करती है। किन्तु उसका साक्षात्कार तभी होता है जब आप अपने भीतरके पौरुषको जगाते हैं। आप जानते हैं पावर-हाउसमें बिजली बहुत होती है; परन्तु आपको आपके बल्बके अनुसार ही प्रकाश मिल पाता है। यदि आपका बल्ब कमजोर होता है तो बहुत अधिक बिजली आनेपर फ्यूज उड़ जाता है। इसलिए ईश्वरीय शक्तिरूपी विद्युत्का भरपूर प्रकाश प्राप्त करनेके लिए अपने पौरुषरूपी बल्बको शक्तिशाली बनाना चाहिए। आपके जीवनमें जितना अधिक पौरुष प्रकट होगा, उतना ही अधिक ईश्वरीय शक्तिका उपयोग आप कर सकेंगे अथवा उन्हें छोड़ भी सकेंगे। बहुतसे लोगोंमें कर्म करनेकी तो शक्ति होती है पर उसे छोड़नेकी शक्ति नहीं होती। ऐसी शक्ति अधूरी है। जो मशीनको बन्द नहीं कर सकते उन्हें चलानेका कोई अधिकार नहीं। हममें भी हर कर्म कर सकनेकी तरह कर्म छोड़नेकी शक्तिका भी जागरण होना चाहिए। कर्मके साथ नैष्कर्म्य भी होना चाहिए। इसलिए कर्म प्रारम्भ करो और नैष्कर्म्यकी शक्तिका उपार्जन करो—

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च सन्न्यासनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥ (3.4)

यदि कोई कहे कि हम कर्मसे संन्यास ले लेंगे तो उससे किसी सिद्धिकी प्राप्ति नहीं होगी। मनमें यदि कामना होगी तो वह कभी आगे बढ़ने नहीं देगी। कामना अपनी दिशामें ले जाती है।

वासना तीन प्रकारकी होती है। एक होती है आगेकी वासना। हम चाहते हैं कि हमको यह फल मिले। दूसरी यह होती है कि हमारा कर्म पूरा हो जाये और तीसरी यह होती है कि हम हमेशा कर्म करते रहें। इनमें अन्तर होता है। एक मनुष्य ऐसा है जिसके भीतर वासना भी है और कर्म भी है; वह साधारण मनुष्यकी तरह काम कर रहा है। यदि कोई कहे कि हम कर्म तो नहीं करेंगे; परन्तु वासनाको पड़ी रहने देंगे तो वह भ्रष्ट और मिथ्याचारी हो जायेगा—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥ (3.6)

जिसके मनमें वासना भरी रहती है और जो बाहरसे हाथ-पाँव बाँधकर बैठे रहते हैं और सिद्ध बननेका स्वांग करते हैं वे मिथ्याचारी अथवा ढोंगी कहलाते हैं। यदि कोई ईमानदारीसे वासनाको मिटाना चाहता हो तो वह साधक है। एक मनुष्य कर्म तो करता है, परन्तु उसके भीतर वासना नहीं, वह बहुत श्रेष्ठ है, मुमुक्षु है। सिद्ध पुरुष वह है जिसमें न कर्म है, न वासना। उसमें यदि समाधि है तो वह समाधिस्थ है। यदि केवल तत्त्वज्ञानकी दृष्टि है तो वह तत्त्वज्ञानी है। इन सबका अपने-अपने स्तरके अनुसार अलग-अलग विभाग होता है। केवल वासना होना, कर्म न होना सबसे निम्नस्तर है। कर्म और वासना दोनोंका होना उससे श्रेष्ठ है। वासना न होकर केवल कर्मका होना उससे भी श्रेष्ठ है। उससे श्रेष्ठ है कर्म और वासना दोनोंसे मुक्त

होकर रहना तथा यथाप्राप्त व्यवहार करना जो तत्त्वज्ञानीका लक्षण है। कर्म एवं वासनाके भावसे रहित होकर समाधिस्थ हो जाना सर्वश्रेष्ठ है।

इस प्रकार सब अवस्थाओंकी एक कसौटी होती है। उसका विचार किये बिना जो विवेकहीन गतिविधियाँ होती हैं वे हमारे भगवान् श्रीकृष्णको मान्य नहीं। अबतक दो बातोंका स्पष्टीकरण हो गया। एक तो यह कि कर्म अवश्य होना चाहिए। दूसरा यह कि कर्मके संस्कार छुड़ानेके लिए नैष्कर्म्यकी प्राप्तिके लिए भी शोधक कर्म करना चाहिए। वास्तवमें कर्मकी तीन विधाएँ होती हैं—तीन प्रकार होते हैं। एक होता है दोषापनयन जो हमारे जीवनमें दोष लगे हैं उनको दूर करना। दूसरा होता है गुणाधान—अपने स्वभावको ही चमका देना और तीसरा होता है हीनांगपूर्ति—अपनेमें जो कमी है उसको पूरी कर देना। जैसे आपके शरीरमें कहीं कोई मस्सा हो और उसको निकाल दिया जाये तो यह दोषापनयन हो गया। शरीरको चमकानेके लिए कोई चिकनी चीज लगा दी तो वह गुणाधान हो गया। कहीं गड्ढा हो और उसे भर दिया तो हीनांगपूर्ति हो गया। शरीरकी गन्दगीको दूर करना, चमक जाहिर करना और कमी पूरी करना इसको संस्कृत भाषामें संस्कार कहते हैं। दोषापनयन, गुणाधान और हीनांगपूर्ति ये तीनों पारिभाषिक शब्द मीमांसाके हैं। यह हमलोग रोज-रोज करते हैं। साबुन लगाते हैं, क्रीम लगाते हैं और कंघी इस ढंगसे करते हैं कि जहाँके बाल उड़े हुए हों वह ढँक जाय। कहीं-कहीं तो बाहरसे खरीदकर भी बाल लगाये जाते हैं। जिस प्रकार शरीरका संस्कार होता है उसी प्रकार मनका भी संस्कार करना पड़ता है।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥ (3.5)

यदि कोई कहे कि हम कर्म छोड़कर निकम्मे बैठ जायेंगे तो ऐसा सम्भव नहीं। मैं ऐसे कई बाबाओंको जानता हूँ जो संसार छोड़कर जंगल अथवा हिमालयमें चले गये, परन्तु वहाँ भी वे किसी-न-किसी कर्ममें संलग्न हो गये। सोना-जागना, उठना-बैठना घूमना-फिरना आदि भी तो कर्म ही हैं। बिना काम किये शरीर रह ही नहीं सकता। इसलिए जब कर्म अनिवार्य हैं तब उन्हें व्यवस्थित, मर्यादित और प्रयोजनपूर्वक करना चाहिए। प्रयोजनमें भी चार बातें ध्यान करने लायक हैं। एक तो यह कि इससे लोकका भला होता है। दूसरे, इससे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है। तीसरे, इससे परमेश्वर प्रसन्न होते हैं। चौथे इसको पूरा करना हमारा कर्त्तव्य है, वैसे किसी कामको पूरा करना अपने वशकी बात नहीं। यह भी एक कामना ही है। यदि भगवती भागीरथी ब्रह्मलोकसे धरतीपर आ सकती हैं तो हमारी दूसरी, तीसरी पीढ़ी भी हमारे अधूरे कामको पूरा कर सकती है। अपनेसे जितना सम्भव हो सके उतना करते चलना चाहिए।

कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।

काम करनेका ढोंग बिलकुल नहीं करना चाहिए। ढोंग क्या है? यही कि हम चाहते तो हैं सब कुछ परन्तु बोलते हैं कि हमको कुछ नहीं चाहिए। ढोंगका पता कर्मसे भी चलता है। मैं निष्काम हूँ, कहने मात्रसे मनुष्य निष्काम नहीं होता। जब वह अपनी कामनाका सदुपयोग करता है तब निष्काम होता है। पहले शुभ-

कामना होना चाहिए फिर भगवत्प्राप्तिकी कामना होनी चाहिए और फिर भगवान् मिले-मिलाये हैं—यह ज्ञान हो जानेपर कामनाकी निवृत्ति करनी चाहिए। कामना अपने हाथमें नहीं कि जब हम चाहेंगे तब उसको उठाकर फेंक देंगे। क्रम-क्रमसे अभ्यास करनेपर ही निष्कामता आसकती है।

अब फिर यह प्रश्न उठा कि कार्य कैसे करना चाहिए? इसका उत्तर श्रीकृष्ण देते हैं कि मनसे इन्द्रियोंको वशमें करके कर्म करना चाहिए—

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥ (3.9)

भगवान्‌का कहना है कि विशिष्ट कर्ता अथवा अच्छा काम करनेवाला वही है जो किसी कर्ममें आसक्त नहीं होता। उसे इन्द्रियोंकी चर्चामें नहीं पड़ना चाहिए। खाने-पीनेकी व्यवस्था तो जीवनमें होनी ही चाहिए, अन्यथा अपने आपको ही मार डालेंगे। ऐसा भोग जो कर्म-शक्तिका ही लोप कर दे, वर्जित है। ऐसी दवा भी जिसको खानेसे दो-चार-दस दिन तो लाभ प्रतीत हो, अच्छा भोग मिले, बादमें भोग-शक्तिका ही लोप हो जाये, निषिद्ध है। हमें तो ऐसी खुराक चाहिए जिससे मेधा प्राप्त हो, बुद्धि प्राप्त हो।

ये छह बातें ध्यानमें रखने योग्य हैं—पहली, यदि आप सिद्धि चाहते हैं तो भी कार्य करना चाहिए। दूसरी, केवल कर्मत्यागसे कोई सिद्धि नहीं मिलती। तीसरी, बिना कर्म किये कोई रह नहीं सकता। चौथी, वासना रखकर कर्म छोड़ दोगे तो पतन हो जायेगा। पाँचवी, वासना मिटानेके लिए व्यवस्थित कर्म अपेक्षित है। छठी, कर्मके अभावमें मनुष्यका जीवन चल ही नहीं सकता। इसपर थोड़ा और विचार करें। यदि कर्म नहीं होगा तो शरीरकी यात्रा चल ही नहीं सकती—

शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥ (3.8)

शरीरमें कर्म-ही-कर्म हो रहे हैं। जिस प्रकार अपने आप पलक गिरती है, साँस चलती है उसी प्रकार शरीरके प्रत्येक अवयवमें कुछ-न-कुछ क्रिया होती रहती है। क्रियाके साथ विक्रिया भी होती है। विक्रियाका अर्थ है विकार। बच्चे जवान हो रहे हैं, जवान बूढ़े हो रहे हैं। काले बाल सफेद हो रहे हैं। ये सब क्या हैं? यही कि प्रकृतिके नियमानुसार इस शरीरमें स्वतः परिवर्तन हो रहे हैं। हम क्रियाके माध्यमसे जीवन धारण करते हैं। परन्तु विक्रिया निसर्गके नियमानुसार स्वयं होती है। क्रियाका कर्ता होता है और विक्रिया स्वाभाविक होती है। यदि हम स्वभावपर छोड़ देंगे तो जीवनमें सत्त्वगुणसे रजोगुण और रजोगुणसे तमोगुण आजायेगा।

हमारे एक मित्र हैं। उन्होंने देखा कि सड़कपर एक कोढ़ी आदमी है। उसकी साँस भी तेज चल रही है। वह दमेका रोगी है। उनके हृदयमें बहुत दया आयी और वे उसको उठाकर अपने घर ले आये। उसको स्नान कराया, वस्त्र पहनाया, बढ़िया भोजन खिलाया, आराम कराया। अब उसके मनमें आया कि आज मैंने बहुत बढ़िया काम किया। वास्तवमें उन्होंने अच्छा किया। दया सत्त्वगुण है। परन्तु उनका यह विचार कि उन्होंने इतना अच्छा काम किया कि जो दूसरे नहीं कर सकते। उनके कर्तृत्वाभिमानका कारण बन गया। दयाके बाद अभिमान आया जिससे उन्होंने अपने आपको बड़ा समझा। फिर उनकी दृष्टि उस कोढ़ीकी गन्दगीपर गयी कि

इसके शरीरसे तो पीब निकल रही है, हमारा घर गन्दा हो रहा है। अब उनके हृदयमें उस रोगीके प्रति घृणा हो गयी। उन्होंने उसको घरसे बाहर कर दिया। इस प्रकार घृणामें तमोगुण और अभिमानमें रजोगुण आगया।

मनुष्यका जो मन है, वह स्वभावसे ही सत्त्वसे रजमें और रजसे तममें जाता रहता है। किन्तु यदि हम इसमें भगवत्सेवाकी भावना जोड़ दें और यह समझें कि हमने उस रोगीका कोई उपकार नहीं किया; बल्कि भगवान्‌की सेवा की है और वह भी ऐसी सेवा नहीं की, जो दूसरे नहीं कर सकते, तो बात बदल जाती है। इस विशाल संसारमें कितने कोढ़ी हैं, कितने दमेके रोगी हैं, कितने विकलांग हैं, इसपर आपकी दृष्टि जायेगी तो आप अनुभव करेंगे कि आपने जो एक रोगीकी सेवा की वह कोई बहुत बड़ी सेवा नहीं, और न इसकी कोई कीमत है। यदि आप समग्रतापर, ईश्वरतापर ध्यान रखेंगे तो आपका सत्त्वगुण—रजोगुण और तमोगुणके रूपमें परिवर्तित नहीं होगा तथा आपकी दया घृणा न बन सकेगी। हमारा यही कर्म है, यही पौरुष है कि हम दयाको घृणा न बनने देंगे। दया आना स्वाभाविक है, घृणा आना भी स्वाभाविक है। परन्तु आपका पौरुष यह है कि आप अपने जीवनमें अभिमान न आने दें और अपने कर्तव्यको ठीक-ठीक पूरा करते चलें। भगवान्‌ने यह सृष्टि ऐसी बनायी है कि इसपर आपका ध्यान जाये और आप इससे प्रेरणा ग्रहण करें। सूर्य सबको निरन्तर रोशनी देता है। उसके रूपमें स्वयं ईश्वर प्रकट होकर कर्म-यज्ञका आदर्श उपस्थित करता है। यज्ञ माने यजन, पूजन। अत: हमें इस बातका ध्यान करना चाहिए कि हमारे कर्म, यज्ञके किस देवताका भजन-पूजन कर रहे हैं।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥ (3.10)

यज्ञके सम्बन्धमें एक वेदमन्त्र है—

स्वस्ति पन्थामनुचरेम सूर्याचन्द्रमसाविव
पुनर्ददता घ्नता जानता संगमेमहि।

(ऋ. 5.51.15)

इसका तात्पर्य है कि हम इस जीवनमें सूर्यके समान प्रकाश देते हुए और चन्द्रमाके समान चाँदनी बरसाते हुए निरन्तर चलते रहें। हम अपने मित्रोंको पहचानें, सत्पात्रको दान दें और किसीको दु:ख न पहुँचावें। यही यज्ञकी प्रणाली है। यह प्रकट हुआ है पृथिवीके रूपमें, यह सबको फूल देती है, पौधा देती है। हरे-हरे वृक्ष पृथिवीके वैभव हैं। ये हमारी आँखोंको शीतलता देते हैं, नासिकाको सुगन्ध देते हैं, प्राणोंको शक्ति देते हैं, हमारे हितके लिए आकाशमें फैली हुई अच्छाइयोंको आकृष्ट करके धरतीपर ले आते हैं और पानी बरसाते हैं। यज्ञ केवल अग्निमें आहुति देनेका नाम नहीं, वह भी यज्ञ है। पृथिवी जब गुलाब, चमेली, मालती, माधवी आदिके फूलोंको खिलाती है और उसके द्वारा सृष्टिमें जो सुगन्ध फैलती है वह क्या आपके हवनके धूएँसे कुछ कम है? जब हमारे हृदयोंको तर कर रहा है, आप्यायन दे रहा है। तेज हमें शक्ति दे रहा है। सूर्य-चन्द्रमा रोशनी दे रहे हैं। वायु सांस दे रहा है। आकाश अवकाश दे रहा है। इस प्रकार यह सारी सृष्टि हमारे लिए एक यज्ञ-क्रिया है।

हमारा जन्म ही यज्ञके साथ हुआ है। भगवान्ने कहा कि इस संसारको देखो और यहाँ प्रकृति द्वारा जो यज्ञ हो रहा है उससे प्रेरणा ग्रहण करके आगे बढ़ो। **प्रसविष्यध्वम्**का अर्थ है खूब बढ़िया-बढ़िया फल आपके जीवनमें प्रकट हों। प्रजापतिने आदेश दिया कि आप यज्ञ करेंगे तो आगे बढ़ेंगे, देंगे तब प्राप्त करेंगे, प्रेम करेंगे तो आपको प्रेम मिलेगा, सेवा करेंगे तो सेवा मिलेगी।

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥ (3.11)

इसका अर्थ है कि आप देवताओंको दीजिये तथा देवता आपको देंगे। एक अर्थ यह भी है कि आप भोजन ठीक कीजिये, पानी ठीक पीजिये और शयन ठीक कीजिये। देवता आपके शरीरमें भी हैं। कान देवता हैं, आँखें देवता हैं, त्वचा देवता हैं, पाँव देवता हैं, मन देवता है, बुद्धि देवता है। देवता माने एक प्रकारकी दिव्यता, एक प्रकारकी विलक्षण शक्ति। यदि आप अपनी इन इन्द्रियोंको ठीक-ठीक सँभालकर नहीं रखेंगे तो वे आपको कैसे सँभालेंगी? इसलिए पहले आप अपनी इन्द्रियोंको सँभालिये फिर वे आपको सँभालेंगी। इसको ऐसे भी समझिये कि किसान लोग अपने खेतोंमें खेती करते हैं और उन लोगोंको अन्न प्रदान करते हैं जो खेतीका काम न करके वस्त्रोत्पादन आदिका काम करते हैं। जो लोग वस्त्रोत्पादन करते हैं, उनको खानेके लिए अन्न चाहिए। जो किसानी करते हैं उनको पहननेके लिए कपड़े चाहिए। वस्त्रोत्पादन करनेवाले यदि यह चाहें कि उनको सस्ता अन्न मिले, तो अन्न पैदा करनेवालोंको भी सस्ता कपड़ा मिले, इसकी व्यवस्था उनको करनी चाहिए। परस्पर हितकी भावना जब छूट जायेगी, वर्गवाद आजायेगा। वर्गवाद संघर्षकी सृष्टि करता है। असलमें वर्ग शब्दका अर्थ ही है संवर्जन, अर्थात् तुम नहीं मैं। संवर्ग शब्द उपनिषदोंमें बहुत अधिक प्रसिद्ध है—'वर्जनम् वर्गः'। जहाँ भी वर्ग बना वहाँ संघर्ष हुआ। जब आप व्यवहारमें एक दूसरेके हितपर दृष्टि रखेंगे तभी आपको श्रेयकी प्राप्ति होगी।

एक और छोटी-सी बात आपको सुनाता हूँ। वृन्दावनमें ग्वारिया बाबा नामके एक प्रसिद्ध महात्मा रहते थे। उनके प्रति दतियाके राजाकी बड़ी श्रद्धा थी। वे उनको अपना गुरु मानते थे। एक बार वे उनको आग्रह पूर्वक दतिया ले गये। वहाँ राजाने पूछा—'महाराज! आपकी क्या सेवा करें?' बाबा बोले—'मुझे राजा बना दे।' राजाने कहा—'ब्रिटिश सरकारसे अनुमति लिये बिना मैं आपको राजा नहीं बना सकता।' किन्तु जब बाबापर कोई प्रभाव नहीं पड़ा और वे राजा बननेका आग्रह करते रहे, तब राजाने कहा—'अच्छा महाराज! मैं तीन दिनके लिए राज्यसे कहीं बाहर जा रहा हूँ और आप शासनकी बागडोर सम्भाल लीजिये।' बाबा बोले—'अच्छी बात है मेरे लिए तीन दिन बहुत हैं।' राजा जाते समय आदेश दे गये कि सब लोग बाबाकी आज्ञाका पालन करें। अब बाबाने पहले बुलाया दीवानको और आदेश दिया कि तुम आजसे चपरासीका काम करो, चपरासीसे कहा कि तुम दीवानका काम करो। रानीसे कहा कि तुम रानी नहीं हो दासीका काम करो। दासीको कहा कि रानीके आसनपर बैठ। राजकुमारको कोड़े लगवानेका अभ्यास था। बाबाने एक आदमीको बुलाकर कहा कि राजकुमारको कोड़ा लगाकर बताओ कि वह कैसा लगता है? मैंनेजर छुट्टी लेने आये तो कहा कि जो

पहले चपरासी था उससे छुट्टी लेकर जाओ। चपरासीने कहा, महाराज मुझसे मैंनेजरका काम नहीं सँभलेगा। बोले, जाओ मैंनेजरसे छुट्टी लो। इस प्रकार तीन दिनके शासनमें बाबाने ऐसी परिस्थिति पैदा कर दी कि सब हाय-हाय कर उठे। जब राजा लौटकर आये और उन्होंने पूछा कि महाराज आपने यह सब क्या किया? तो बाबाने उत्तर दिया कि तुम लोगोंको अपनी-अपनी सुख-सुविधाका अनुभव तो है; परन्तु सामनेवालोंकी कठिनाइयोंका कोई ज्ञान नहीं। रानीको ज्ञान नहीं कि दासीको क्या कष्ट है। दासीको मालूम नहीं कि रानीको क्या असुविधा है। मैंनेजरको मालूम नहीं कि चपरासीको क्या कष्ट है, चपरासीको मालूम नहीं मैंनेजरको क्या कष्ट है। यह एक उदाहरण है। आप 'परस्परं भावयन्तः'के अनुसार एक दूसरेकी तकलीफको समझिये। जैसे आपको ताप--कला होती है वैसे ही सामनेवालेको भी होती है। इसलिए आप उनको सहायता पहुँचाइये और वे आपको सहायता पहुँचायें। इससे श्रेयकी प्राप्ति हो जाती है, प्रेयमें तो रखा ही क्या है? जीवोंको खुश करनेके लिए थोड़ेसे पैसे चाहिए, थोड़ी-सी सुविधा चाहिए। सभी लोग अपने-अपने ढंगसे निर्वाह कर लेते हैं। कोई विलायतकी बहुत ऊँची शराब पीता है और कोई गाँवका बना हुआ ठर्रा पीता है। दोनों अपना गम गलफ कर लेते हैं। कोई बहुत अच्छा माल खाते हैं, कोई साग-सत्तूसे काम चलाते हैं। सबकी भूख मिटती है, सबको नींद आती है। सब जिन्दा रहते हैं। परन्तु जबतक परस्पर सुख पहुँचानेकी बुद्धि नहीं होगी तबतक शान्ति नहीं आयेगी।

कर्मयोगके इस प्रसंगमें सिद्धान्तकी जो बढ़िया बात बतायी गयी है, वह यह है कि यज्ञको सात भागोंमें बाँट दिया गया है। अन्न, भूत और पर्जन्य ये तीन हैं पहले। बीचमें यज्ञ, तत्पश्चात् कर्म, ब्रह्म एवं अक्षर ये तीन हैं। कुल सात हुए। जो लोग गीता पढ़ते हैं वे इस श्लोकमें देखें—

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥ (3.14)
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥ (3.15)

इन श्लोकोंका अर्थ हम बहुत थोड़ेमें समझाते हैं। बात प्राचीन पद्धतिसे कही गयी है और नयी पद्धतिसे हम उसको समझानेकी कोशिश करते हैं। एक शब्द है जो दो हजार वर्ष पहले बहुत अच्छे अर्थमें प्रयुक्त होता था किन्तु आज उसका बहुत बुरा अर्थ हो गया है। इसी प्रकार जो शब्द पहले बुरे अर्थमें प्रयुक्त होता था, अब अच्छे अर्थमें प्रयुक्त होने लगा है। मैं ऐसे कितने ही शब्दोंको जानता हूँ—जिन्होंने दो हजार वर्षमें अपना कलेवर, अपना अर्थ, अपना प्रयोग बदल दिया है। जो लोग पुरानी बातको पुरानी भाषामें नहीं समझते, नयी भाषामें समझनेकी कोशिश करते हैं, वे अपनी बात तो ठीक कह लेते हैं, लेकिन पुरानी बातमें क्या कहा गया है, यह पकड़ नहीं पाते और उसके साथ अन्याय हो जाता है। आपने 'जीव' शब्दपर ध्यान दिया होगा? इसका जो मूल रूप है उसको 'बीज' बोलते हैं। ज+ई+व मिलाकर जीव बनता है और ब+ई+ज मिलाकर बीज। एक ओरसे पढ़ते हैं तो 'बीज' और दूसरी ओरसे पढ़ते हैं तो 'जीव'। जहाँतक उच्चारणकी बात है 'व' अन्तःस्थ है

और 'ब' ओष्ठ्य। जब हम वृक्ष-वनस्पतियोंके बारेमें बताते हैं तब बीज शब्दका प्रयोग करते हैं और चेतनके बारेमें बताते हैं तब जीव शब्दका प्रयोग करते हैं। वृक्ष-वनस्पति भी प्राणी हैं, ये हवामें साँस लेते हैं और आपसमें बातचीत भी करते हैं। परस्पर सम्बन्ध रखते हैं। वसन्त ऋतुमें जब सरसों फूलती है तो उसका एक पौधा दूसरे पौधोंपर निशाना लगाकर पिचकारी मारता है। वृक्ष-वनस्पतियोंको गाली दी जाये तो वे उदास हो जाते हैं। संगीत सुनाया जाये तो सुखी हो जाते हैं। इनमें भी भाव होता है। वैज्ञानिकोंने यह सब देख लिया है। सभी प्राणी अन्नसे उत्पन्न होते हैं।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि—अन्न सम्पूर्ण विश्व-सृष्टिके लिए है। पृथिवी अन्न है, जल अन्न है, अग्नि अन्न है, वायु अन्न है, आकाश अन्न है, क्योंकि इन सबका भोजन करते हैं, 'जीव' और 'बीज'। यदि बीजको खानेके लिए मिट्टी न मिले, पीनेके लिए पानी न मिले, रोशनी न मिले तो क्या बीज अंकुरित होगा? आगे बढ़ेगा? बीजको भी भोजन चाहिए और जीवको भी। इसलिए चमकनेवाली सारी सृष्टि माया, प्रकृति, अविद्या, महत्तत्त्व, अहंकार, तन्मात्रा ये सब अन्न हैं। अन्नसे ही जीव प्रकट होते हैं। परन्तु अन्नका स्वभाव पर्जन्यसे प्रकट होता है। पर्जन्यका अर्थ है मेघ, मेहन करनेवाला परमात्मा परमेश्वर। एक जीव ही समष्टि जीव है, हिरण्यगर्भ है और वही पर्जन्य है। वह सबपर बरसता है। परन्तु उसमें विशेषता यज्ञसे आती है। जिसके जीवनमें जितना यज्ञ है, उसमें उतनी ही उत्कृष्ट विशेषता है। पहले यज्ञ है फिर पर्जन्य है। पर्जन्यसे अन्न है और अन्नसे प्राणी हैं। तीनके ऊपर जो यज्ञ है और यज्ञके ऊपर जो तीन हैं, इन सबको चक्र बोलते हैं। यज्ञ है चक्री और छह हैं उसके अरे। यदि संसारकी ओर देखें तो यज्ञ ही जीवको, अन्नको और प्राणियोंको पालन-पोषण दे रहा है। ऊपरकी ओर देखें तो यज्ञसे कर्म, कर्मसे ब्रह्म, ब्रह्मसे अक्षर—इनका साक्षात्कार होता है। इस प्रकार यज्ञ परमात्माके साक्षात्कारमें भी सहायक है और सृष्टिके सञ्चालनमें भी सहायक है। यज्ञ बीचमें धुरीके केन्द्रमें बैठा हुआ है। इसीसे परमात्मा मिलता है और इसीसे संसार बनता है। हमारे जीवनमें यज्ञका आविर्भाव होना चाहिए। यदि यज्ञ नहीं आयेगा तो संसारका न तो आध्यात्मिक कल्याण होगा और न भौतिक। जैसा कि यज्ञके बारेमें आपको कई बार बताया गया, एक ओर यज्ञ जहाँ ग्रहण करता है दूसरी ओर उसे लौटा देता है। आपके हाथ कमायें लेकिन जिससे कमाते हैं उनके ऊपर फिर बरस दें। ठीक वैसे ही जैसे मेघ समुद्रसे जल लेकर बरस देता है। जल मेघका जीवन भी है और दूसरोंका जीवन भी है। यह जो सृष्टि-यज्ञ हो रहा है इसके अनुसार हम अपनेको सूर्यके साथ, चन्द्रमाके साथ, वायुके साथ-अग्निके साथ जितना जोड़ देगें और इनके गुणोंको धारण करके जितना सबका भला करेंगे उतना ही हमारे जीवनमें यज्ञ आयेगा और उससे संसार भी बनेगा तथा भगवत्प्राप्ति भी होगी।

•

प्रवचन : 6

(21-11-74)

भगवान् श्रीकृष्णने यज्ञ रखा बीचमें। एक ओर परमार्थ तथा दूसरी ओर व्यवहारको प्रतिष्ठित किया। शरीर-निर्माणके निर्वाहक तत्त्व हैं भूत और उनका निर्वाहक तत्त्व है अन्न। मिट्टी, पानी, आगमें भोक्ताकी जो शक्ति है वह पर्जन्य है। सम्पूर्ण विश्वका भोक्ता एक होता है। जीव-दृष्टिसे आत्मा सबका भोक्ता है और सबके रूपमें है। विश्व-दृष्टिसे परमेश्वर सबका भोक्ता है। सबका भोग ईश्वर कर रहा—यह विश्वास है और सबका भोग आत्मदेव कर रहे हैं—यह अनुभूति है। ईश्वरके सम्बन्धमें हम जितना सोचते हैं—यदि विश्वास नहीं होगा तो उसका पूरा पड़ना कठिन हो जायेगा। अपने बारेमें हम जितना सोचते हैं, उतना सब-का-सब अनुभवारूढ़ होना चाहिए, केवल कल्पना नहीं। अनुभवकी दिशा है आत्मा और विश्वासका गन्तव्य है परमात्मा।

एक बात देखो। दृष्टिकोणका भी फर्क हो जाता है। दुनियाको यदि केवल मशीनोंसे नापा जाये तो जड़ता-ही-जड़ता मिलेगी, क्योंकि मशीनकी नोंकपर जड़ आता है, चेतन कभी आता ही नहीं। साइन्स सारा-का-सारा मशीनकी नोंकपर चलता है। इसलिए उसको जड़, मैटर—मृत्तिका आदिके सिवाय दूसरी कोई वस्तु मिलनेवाली नहीं। जब केवल बुद्धिसे सोचते हैं तब शून्यका बोध होता है, जब श्रद्धायुक्त बुद्धिसे सोचते हैं तब ईश्वर प्राप्त होता है और जब अनुभूतिके सम्मुख परमेश्वरको देखते हैं तब आत्मा एवं ब्रह्मकी एकता मिलती है। हम कहाँ बैठे हैं और किस दृष्टिकोणसे सृष्टिको तौल रहे हैं इसके कारण बहुत फर्क पड़ जाता है। आप किसी पत्थरके टुकड़ेको यहाँ बैठकर तौलिये और फिर उसीको भारमुक्त वातावरणमें तौलिये तो उसके वजनमें फर्क पड़ेगा। इस तरह हम वस्तुओंके सम्बन्धमें जो नाप-तौल करते हैं, वह हमारे स्तरके अनुरूप हो जाता है। अनुभवके क्षेत्रमें आत्माका बाध नहीं। यह बताया जा चुका है कि हम लोग जो कर्म अथवा यज्ञ करते हैं, उसमें पहले शरीर है। शरीरके बाद भूत हैं, भूतके बाद भोक्ता है और भोक्ताके बाद यज्ञ बैठा हुआ है। फिर यज्ञके बाद कर्म, कर्मके बाद ब्रह्म और ब्रह्मके बाद अक्षर है। तीन ऊपर और तीन नीचेके छह अरोंवाले चक्रको चलानेवाला है यज्ञ। यदि आप स्वार्थ चाहते हैं तो भी यज्ञ कीजिए और परमार्थ चाहते हैं तो भी यज्ञ कीजिये। यज्ञ एक ओर आपके अन्तःकरणको शुद्ध करेगा और दूसरी ओर आपको मनचाहे फल देगा। यज्ञको संसारकी ओर लगायें तो मनचाहे फल मिलेंगे और निष्काम होकर करें तो अन्तःकरण शुद्ध होकर परमार्थका साक्षात्कार होगा। भगवान्ने यज्ञका यह विज्ञान तीसरे अध्यायमें निरूपित किया। इसमें भी स्थिति-भेदसे कर्ताओंके दो विभाग कर दिये। एक कर्तव्य-बोधसे मुक्त होकर कर्म करनेवाले और दूसरे कर्तव्यके बन्धनमें रहकर कर्म करनेवाले। जबतक अज्ञान है तब-तक बन्धन अथवा मर्यादाको स्वीकार करना पड़ेगा—

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
आघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥ (3.16)

इसमें 'एवं प्रवर्तितं चक्रं'का तात्पर्य है कि यज्ञका चक्र चल रहा है। जैसे रथके चक्र (=पहिये)में अरे

लगते हैं, वैसे ही हमारे जीवनके रथको चलानेके लिए छह अरे हैं। जो इनका अनुवर्तन नहीं करता वह अघायु होता है—**अघायुरिन्द्रियारामो मोघम्।** यदि हम यज्ञका परित्याग कर दें, पृथिवीके समान सबको धारण न करें, जलके समान सबको तृप्ति न दें, सूर्य-चन्द्रमाके समान सबको प्रकाश और आह्लाद न दें, वायुके समान सबको प्राण न दें, आकाशके समान सबको अवकाश न दें; तात्पर्य यह कि यदि हमारा पाञ्चभौतिक जीवन, पञ्चभूतकी प्रकृतिके अनुसार न हो तो हम अघायु हो जायँगे, पाप करने लग जायँगे। 'अघ' शब्दका संस्कृत भाषामें अर्थ है कि जिसका फल अवश्य भोगना पड़े—**न हन्यते भोगं विना इति अघः।** पाप और पुण्यमें-से पुण्यका फल बिना भोगे भी चल सकता है। यदि आप अच्छा काम करें और सरकार आपको पुरस्कार दे तो आप अस्वीकार कर सकते हैं। कह सकते हैं कि इस पुरस्कारको देशके किसी अच्छे और आवश्यक काममें लगा दिया जाये। परन्तु यदि आप कोई गलत काम करें, आपको जुर्माना हो, सजा हो और कहें कि इसको हम नहीं भोगना चाहते तो उससे छुट्टी नहीं मिलेगी। 'अघ' शब्दका अर्थ ही यह है कि आप इसको भोगनेसे अस्वीकार नहीं कर सकते। अगर आप बुरा काम करेंगे तो उसका फल आपको भोगना ही पड़ेगा।

अच्छा; अब आप देखिये आपका जीवन कैसा व्यतीत हो रहा है? मनुष्यके जीवनमें अनजाने ही हिंसाका प्रवेश होता है। मैंने एक दिन सुनाया था कि भूल या बुराई सिखायी नहीं जाती वह अपने आप आ जाती है। जन्म-जन्मकी भूल हमारी ज्ञान-रश्मियोंको प्रकट होनेमें बाधा डाल रही है। पातञ्जल-योगदर्शनके अपरिग्रह-निरूपण प्रसंगमें व्यासजी महाराज कहते हैं—

नानुपहत्य भूतानि भोगः सम्भवति। (2.15 भाष्य)

अर्थात् कोई दूसरोंको तकलीफ पहुँचाये बिना, दूसरोंकी हिंसा किये बिना अधिक भोग कर ही नहीं सकता। प्राणियोंको कष्ट पहुँचाये बिना कोई भोगी हो नहीं सकता। जो भोगी होगा वह कहीं-न-कहीं, किसी-न-किसी प्रकारसे दूसरोंको कष्ट पहुँचाता होगा। आप जितना अधिक भोग करेंगे उसमें आपका राग उतना ही अधिक बढ़ेगा और आप भोग करनेमें भाँति-भाँतिके कौशल बढ़ानेमें लग जायेंगे। तब आप स्वयं सोचिये कि आपका जीवन कितना हिंसापूर्ण, कितना दुःखदायी और कितना अघायु हो जायेगा? 'अघ'की परिभाषा पहले भी बतायी जा चुकी है, वह बहुत सीधी है। जिससे आपकी और अन्यकी उन्नति-प्रगतिमें बाधा पड़ती हो वह अघ है। पतनीय कर्मका नाम पाप है और जिससे हमारा सर्वतोमुखी अभ्युदय हो, हम ऊपर उठें, आगे बढ़ें, उसका नाम पुण्य है। पुण्य हमारे हृदयको शुद्ध करता है। पुण्यका अर्थ है यज्ञ और यज्ञका अर्थ है आपको जो सामग्री प्राप्त है वह सबके हितमें प्रयुक्त हो—सबकी भलाईके काममें लगे। एक मन्त्र है, जिसका अर्थ यह है कि यह यज्ञ सूर्य कर रहे हैं, चन्द्रमा कर रहे हैं, पृथिवी कर रही है और वायु कर रहा है।

इस मन्त्रमें हम प्रार्थना करते हैं कि 'हे वायु देवता! हमारे लिए औषध लेकर आना। हे यज्ञ देवता! हमारे लिए कल्याणकारी होना।'

प्रकृतिके इन तत्त्वों द्वारा जो यज्ञ हो रहा है वह हमारे जीवनमें भी प्रकट होना चाहिए। यदि हम ऐसा नहीं करेंगे तो दूसरोंको कष्ट पहुँचायेंगे। हम अपनी इन्द्रियोंमें ही रमण करने लग जायेंगे : जो इन्द्रियाँ देखनेके लिए,

चलनेके लिए, काम करनेके लिए, दूसरोंको सुख पहुँचानेके लिए बनी हैं, वे अपने कर्तव्यसे विमुख होकर स्वार्थ-परायण हो जायेंगी। तब हमारे जीवनकी स्थिति क्या होगी? गीता कहती है कि वह एक तो अघायु, दूसरे इन्द्रियाराम और तीसरे बिलकुल व्यर्थ हो जायेगा—**मोघं पार्थ स जीवति।**

अब आपको यह बात बताते हैं कि कर्तव्यके ये सब भार उन लोगोंपर हैं जिनको अन्तर या बाह्य किसी भी दिशामें उन्नति करनी हो। परन्तु जिन लोगोंने आत्मदेवका साक्षात्कार कर लिया है, उनकी स्थिति दूसरी हो जाती है। उनके कर्म तो हैं, किन्तु कर्तव्यका बोध नहीं। कर्म करना दूसरी बात है और कर्तव्य-पालनकी अनिवार्यता रहना दूसरी बात है। संसारके साधारण लोगोंको अपने-अपने कर्तव्यके पालनकी अनिवार्यता है— नहीं करेंगे तो अघायु, इन्द्रियाराम और मोघ जीवन-व्यर्थ जीवन हो जायेंगे।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥ (3.17)

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥ (3.18)

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचार।

भगवान्‌ने कहा कि उन महात्माओंको कर्तव्यके बन्धनसे मुक्त कर दो जिनका रमण, जिनकी तृप्ति और तुष्टि-पुष्टि अपने आपमें है। यहाँ कर्मका निषेध नहीं, कर्तव्यका निषेध है। कर्मके साथ कार्यम्‌का विशेषण है (3.19)। कर्म दोनों हो सकता है, कार्य भी और अकार्य भी, जैसे गृहस्थ दम्पतीका रमण परस्पर होता है, वैसे ही आत्मज्ञानीका रमण स्वयंमें होता है। जो सुख-स्वाद पति-पत्नीको परस्परके समागममें है, वही आनन्द आत्मज्ञानीको अकेले अपने-आप बैठनेमें है। उसका सुख काम-जन्य नहीं—अन्यसे जन्य नहीं, निरपेक्ष है, अपने आपमें है—**यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।**

अच्छे-अच्छे सुस्वादु भोजनसे, अन्न-रसादिसे भी तृप्ति होती है। भर पेट भोजनके बाद डकार आती है। भीतरसे जो उद्‌गार आता है उसको डकार बोलते हैं। वैसे आजका सिद्धान्त यह है कि यदि डकार या उद्‌गार आये तो समझना चाहिए कि भोजन आवश्यकतासे कुछ अधिक हो गया है। इसलिए भूखसे कुछ कम ही भोजन करना चाहिए। भोजनका भी एक ढंग होता है। उसमें ऐसी सुगन्ध होनी चाहिए कि जब वह नाकमें घुसे तो क्षुधा, बुभुक्षा जाग्रत् हो जाये। जब उसको आँखसे देखें तो वह मन्त्र बन जाये। जब वह जीभपर जाये तो आत्मानन्द, ईश्वरीय आनन्दको जाग्रत् करे। जब वह शरीरके भीतर जाये तो एक-एक नसको एक-एक नाड़ीको, एक-एक कणको हितसे भर दे। भोजनमें चाहिए चार बातें—सौरभ्य, सौरस्य, सौरूप्य और सौहित्य। भोजनमें यह विवेक भी होना चाहिए कि अमुक वस्तु भोजन करने योग्य है कि नहीं। इसी प्रकार वह किस बर्तनमें रखा गया है, किसमें बनाया गया है, हमारे शरीरके अनुकूल है कि नहीं। हमारा भोजन जाति-दोष, आश्रय-दोष और निमित्त-दोषसे रहित तथा न्यायोपार्जित होना चाहिए। हमारे शास्त्रोंमें पवित्रताके जितने नियम

हैं उनमें धनकी पवित्रता सबसे बड़ो मानी गयी है। तो, धन पवित्र होना चाहिए। जो मिट्टीसे, पानीसे पवित्रता प्राप्त करता है वह सच्ची नहीं, उधार ली हुई पवित्रता है—

सर्वेषामेव शौचानाम् अर्थशौचं परं स्मृतम्।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिः न मृद्वारिशुचिः शुचिः॥ (मनुस्मृति ५.१०६)

पवित्र धन वह होता है जो किसीको दुःख पहुँचाये बिना किसीका हक छीने बिना अपने घरमें आता है।

तृप्तिके लिए बहिर्मुख व्यक्तियोंको चाहिए बाहरकी वस्तु। किन्तु जो अन्तर्मुख हैं—अपने स्वरूपमें स्थित हैं, उन्हें तृप्ति भीतरसे मिलती है। अपने हककी रूखी रोटी खाकर मनमें जिस तृप्तिका उदय होता है और उससे जो पवित्रता अन्तःकरणमें आती है वह बाहरसे उधार ली हुई नहीं होती। अन्न-रससे तृप्ति होती है, प्रेयससे रति होती है और धन आदि प्राप्त होनेसे तुष्टि होती है। इन तीनोंमें जहाँ हम पराधीन होते हैं वहाँ संसार होता है और जहाँ स्वाधीन—समष्टि भावपन्न होते हैं वहाँ आत्मतृप्ति, आत्मरति अथवा आत्मतुष्टिकी प्राप्ति होती है। आप अपने मनको टटोलिये और देखिये कि आपको प्रसन्नता कब होती है—संसारका भोग करते समय या त्याग करते समय? धन मिलनेपर आपको जो सुख होता है वह बहुत बढ़िया है और हम उसका आदर करते हैं, परन्तु जब वही धन किसीको देना पड़ता है तब आपको कैसा लगता है? उस समय सुख होता है कि नहीं? जितना सुख धन प्राप्त करनेमें होना चाहिए उतना ही सुख दूसरेको देनेमें भी होना चाहिए। क्योंकि आप जब किसीको देते हैं तो उसे भी सुख प्राप्त होता है। सच्चा सुख वही है जो दूसरोंको सुखी करके होता है—

आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते। (3.17)

जो संसारसे कुछ लेकर सुखी होता है, उसको संसारके प्रति अपने कर्तव्यका पालन करके सुखी होना चाहिए। किन्तु जो अपने आपसे सुखी होता है उसके ऊपर कर्तव्यका कोई भार नहीं, क्योंकि वह स्वार्थरहित है।

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥ (3.18)

वह करे तो भी ठीक, न करे तो भी ठीक। यह समतामें, समत्वमें स्थित होता है। उसकी स्थिति सर्वोपरि होती है। उसका किसीके साथ कोई स्वार्थ या लगाव नहीं होता। इसलिए यदि ऐसी स्थिति प्राप्त हो जाये तो अति उत्तम, अन्यथा—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर। (3.19)

अनासक्त भावसे अपने कर्तव्यका पालन करते जाना चाहिए। कर्म-फलकी प्राप्ति अथवा कर्मकी पूर्तिमें किसी प्रकारका आग्रह न होना चाहिए। तुम्हें जितना समय मिला है, जितनी शक्ति मिली है और तुम जितना कर सकते हो उतना करते चलो। कभी-कभी ऐसी आसक्ति हो जाती है कि हम इसको पूरा करते तथा इसका फल प्राप्त करके ही छोड़ेंगे। तब हमारे द्वारा अन्याय होने लगता है। कर्तामें आग्रह, अकर्तामें आग्रह, कर्ममें आग्रह, फलमें आग्रह—ये चारों मनुष्यको बन्धनमें डालनेवाले हैं। इसलिए अनासक्त चित्तसे कर्त्तव्यका पालन करना चाहिए।

हमने सुना था—बनारसमें एक सेवामुक्त सैनिक रहते थे। एक दिन वे बाजारसे दही खरीदकर हाथमें कुल्हड़ लिये अपने निवास-स्थानकी ओर चले जा रहे थे। किसी विद्यार्थीको शरारत सूझ। उसने उनके पीछेसे बड़े जोरसे अटैन्शन बोल दिया। सेवा-मुक्त सैनिकने तत्काल दही फेंक दी और तनकर खड़े हो गये।

मनुष्यका जीवन ईश्वरीय सैनिकके समान होना चाहिए। यदि कोई मालिक अपने मुनीमसे कहे कि यह दुकान छोड़कर दूसरी दुकानमें जाओ; परन्तु मुनीम जाना न चाहे तो इसका कारण यही हो सकता है कि उसका कोई-न-कोई स्वार्थ इस दुकानमें अटका होगा। काम तो मालिकका ही करना है, वह जहाँ चाहे भेजे और जो चाहे कराये। आपने सुना होगा; सिक्खोंके दस गुरुओंमें-से एक गुरु ऐसे थे जिनका एक शिष्य था और दूसरा पुत्र था। दोनों बड़े योग्य थे। उन्होंने दोनोंसे एक चबूतरा बनानेके लिए कहा। दोनोंने एक-एक चबूतरा बनाया। गुरुजीने कहा कि ये ठीक नहीं बने, इनको तोड़ दो और दूसरे चबूतरे बनाओ। दूसरे चबूतरे बने तो उन्होंने वे तुड़वा दिये। इसी प्रकार कई चबूतरे बनवाये तोड़वाये! इसपर गुरुजीके पुत्रने कहा कि आपकी पसन्दका चबूतरा तो कभी बननेवाला नहीं, इसलिए मैं यह काम छोड़ देता हूँ। परन्तु शिष्यने कहा कि महाराज मुझे तो जिन्दगी भर आपकी आज्ञाके अनुसार ही काम करना है। आप प्रतिदिन चबूतरा बनवायेंगे तो मैं बनाता जाऊँगा और तुड़वायेंगे तो तोड़ता जाऊँगा। अन्तमें गुरुजीने अपनी गद्दीका उत्तराधिकारी शिष्यको बनाया, पुत्रको नहीं।

हमलोगोंका कर्तव्य कर्म—कार्यक्रम यही होना चाहिए कि जहाँ भगवान् लगायें वहाँ लग जायें, जो छुड़ायें उसे छोड़ दें। जिसे बदलें उसे बदल दें, वे चुप कर दें तो चुप हो जायें। कहीं भी किसी भी परिस्थितिमें कोई आसक्ति न हो। **कार्यं कर्म समाचर।**

असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः। (3.19)

मनुष्य जब अनासक्त होकर काम करता है तब उसको परम सत्यकी उपलब्धि होती। परम सत्य क्या है? पहले हमलोग परम सत्यकी माँग करनेवालोंको उसकी प्राप्तिका प्रलोभन देकर मर्यादित जीवन प्रारम्भ करनेका परामर्श देते थे। अब तो कोई कहे कि अमुक काम करनेपर स्वर्गकी प्राप्ति होगी तो उत्तर मिलेगा कि हमको स्वर्ग चाहिए ही नहीं फिर हम यह काम क्यों करें! यदि मनुष्यके मनमें स्वर्गकी माँग हो तभी हम उनके मिलनेकी बात कहकर उससे यह काम करा सकते हैं। देखनेकी बात यह है कि हमलोग अपने जीवनमें परमेश्वरको कितना चाहते हैं। यदि हमारी चाह नहीं होगी तो परमेश्वरकी प्राप्तिके लिए जो साधन बताये जायेंगे उनको कोई क्यों करेगा? आजकल तो लोग पद, प्रतिष्ठा और धन-वैभवको ही अधिक महत्त्व देते हैं; इसलिए साधु-सन्तोंके पास भी वही चाह लेकर जाते हैं। जिस वस्तुकी अभिलाषा होती है उसीकी प्राप्तिके साधनमें मनुष्य प्रवृत्त होता है। इसलिए हमारे मनमें परमेश्वरकी कामना होगी तभी हम उसकी प्राप्तिके लिए प्रयत्न करेंगे। भगवान् श्रीकृष्णने एक बड़ी बढ़िया बात कही है—

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि॥ (3.20)

लोक-संग्रहका अर्थ है कि देशमें, विश्वमें सब तरहके लोग रहते हैं। सब मानव एक स्तरके हों, ऐसा

कभी नहीं हो सकता। संसारमें पापी भी रहेंगे, पुण्यात्मा भी रहेंगे, मूर्ख भी रहेंगे, विद्वान् भी रहेंगे। दुरात्मा भी रहेंगे, महात्मा भी रहेंगे। अत: लोक-संग्रहके लिए जब आप कोई काम करें तो केवल एक वर्गका भला न चाहें, बल्कि सबके हितमें सोचें। सबका संग्रह करना अर्थात् सबको अपना समझकर सम्यक् ग्रहण करना ही लोक-संग्रह है। भगवान् जो काम करते हैं, सबकी भलाईके लिए करते हैं। बाइबिलमें एक वचन आता है कि गड़ेरिया अपनी भेड़ोंकी देख भाल खासकर उस समय करता है जब भेड़ें भटकने लगती हैं। ईश्वर भी सब जीवोंका ध्यान रखता है। परन्तु विशेष ध्यान उन लोगोंका रखता है जो रास्तेसे भटक जाते हैं। एक सेठजीका नियम था कि वे प्रतिदिन एक महात्माको भोजन कराकर तब स्वयं भोजन करते थे। एक दिन समयपर कोई महात्मा नहीं मिला। एक बज गया, दो-तीन बज गये। अन्तमें एक सुन्दर, स्वस्थ, वयोवृद्ध विद्वान्को बुलाया गया। सेठजी उनके लिए भोजनकी व्यवस्था करनेका आदेश देकर बात करने लगे। भोज्य सामग्री आनेपर उस महात्माने ईश्वरको समर्पित किये बिना ही भोजन प्रारम्भ कर दिया। इसपर सेठजीने आपत्ति की, तो बोले कि मैं तो ईश्वरको मानता ही नहीं, फिर समर्पित किसको करूँ? अब सेठजी बहुत बिगड़े और कहा कि मैंने क्या पाप किया था कि आप जैसे नास्तिक मेरे घर भोजन करने आगये? महात्माने कहा कि मैं भी ऐसे लोगोंके घर भोजन नहीं करता जो प्रेमसे न खिलायें। इसलिए कहो तो मैं उठ जाऊँ? सेठजीने कहा कि 'उठ जाओ' और महात्मा उठकर चले गये। रातमें सेठजीको ईश्वरका दर्शन हुआ और वे बोले कि 'सेठ! तुम तो मेरे बड़े भक्त हो। जो साधु तुम्हारे घर आया था, उसकी उम्र कितनी थी?' सेठजीने कहा—'सत्तर वर्षकी होगी।' ईश्वरने कहा कि अरे भाई, मैंने उसको सत्तर वर्ष तक भोजन देकर पाला-पोसा और तुम मेरे भक्त होकर उसको एक समय भी भोजन नहीं दे सके? कैसे हो मेरे भक्त? परीक्षा लेकर भोजन देते हो? मैं स्वयं उसके रूपमें आया था। इस कहानीका सारांश यह है कि जब स्वयं ईश्वर ही भोजन करने गया था तब वह किस ईश्वरको भोग लगाता? सबसे बड़ा नास्तिक तो ईश्वर ही होता है, क्योंकि वह यदि अपनेसे बड़ा कोई दूसरा ईश्वर मानेगा तो वह सर्व शक्तिमान् ईश्वर रहेगा ही नहीं। अत: ईश्वरके नास्तिक्यको प्रकट करनेके लिए ही अवतारका अवतरण होता है। वह अपनेसे अतिरिक्त किसी अन्यको ईश्वर नहीं मानता। बुद्ध भी ईश्वर ही हैं। उनमें भी ईश्वरताका एक रूप प्रकट है और इसलिए वे दूसरे ईश्वरको नहीं मानते।

एक हँसीकी छोटी-सी बात और सुन लीजिए। एक महात्मा थे। वे अपने नामके साथ लोक-संग्रही शब्द लगाते थे। किसीने यह चर्चा चलायी कि ये क्या लोक-संग्रह करते हैं? हमारे एक मित्रने उत्तर दिया कि लोक-संग्रह शब्दका अर्थ तुम लोगोंको मालूम ही नहीं। उसकी व्युत्पत्ति यह है कि **लोकेभ्यो द्रव्यसंग्रहः लोकसंग्रहः** अर्थात् लोगोंसे चन्दा करनेका नाम लोक-संग्रह है। अब इस कसौटीपर कसकर देखो कि लोक-संग्रही बाबा खरे हैं कि नहीं? वे बिलकुल खरे हैं। इतने खरे है कि वे बड़े-बड़े कंजूसोंसे भी उनकी तारीफ करके चन्दा ले लेते हैं—**लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि।** (3.20)

सबका भला हो इस दृष्टिसे ही काम करना चाहिए। दो प्रकारके लोग होते हैं—एक अनुकरणप्रिय और दूसरे स्वाभाविक। बच्चोंका स्वभाव अनुकरणप्रिय होता है। हम रोज देखते हैं कि गृहस्थ लोग अपने बच्चोंको

लेकर आते हैं और उनसे कहते हैं कि स्वामीजीको प्रणाम करो। जब वह नहीं करता तब वे स्वयं प्रणाम करके दिखाते हैं और फिर वे बच्चे स्वयं दौड़कर प्रणाम करने लगते हैं। बच्चोंको उपदेशकी जरूरत नहीं होती। जो ज्ञान आपने बीस वर्षमें प्राप्त किया है उसे चार-पाँच वर्षका बच्चा कैसे सीख लेगा? उसे डाँटना या अपमानित नहीं करना चाहिए। उस बालकके रूपमें आपके घर कोई बहुत बड़ा देवता आया है। राम आये हैं, कृष्ण आये हैं, गांधी आये हैं, तिलक आये हैं, गोखले आये हैं। कोई बहुत बड़े महात्मा आये हैं। आप उसके अनुकरणके लिए कोई आदर्श रखिये। जो काम आप करेंगे, वह आपका बालक भी करेगा।

लोक-संग्रहके प्रसङ्गमें, स्वयं भगवान्‌ने कहा कि यदि मैं कर्म नहीं करूँ तो सारा संसार उजड़ जाये। कर्मके सम्बन्धमें एक होता है आदर्श और दूसरा होता है प्रमाण। श्रेष्ठ पुरुषके कर्म अनुकरण करने योग्य होते हैं और वह जिस वस्तुको प्रमाण मानता है, दूसरे लोग भी उसे प्रमाण मानने लगते हैं। प्रमाण होता है मनके लिए, बुद्धिके लिए और कर्म होता है शरीरके लिए, इन्द्रियोंके लिए। बड़े-बूढ़ोंके मार्ग-दर्शनके अनुसार शरीरसे कर्म करें और किस बातको प्रमाणिक मानकर हमें आगे बढ़ना चाहिए, इसके लिए बुद्धिमानोंसे प्रेरणा ग्रहण करें। हमें बड़ोंसे ही विश्वास प्राप्त होता है और हम अनुकरण भी बड़ोंका ही करते हैं। अतः यदि श्रेष्ठ पुरुष अच्छा कर्म नहीं करेंगे और अच्छी मान्यताओंका, अच्छी प्रामाणिकताका स्थापन नहीं करेंगे तो यह लोक अन्धकारमें पड़कर नष्ट-भ्रष्ट हो जायेगा।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥ (2.24)

बम्बईमें एक परिवार है। उसमें एक छोटा-सा बच्चा बीमार था। डाक्टरने उसको आराम और चावल खिलानेसे मना किया। अब घरके दूसरे सब लोग तो आम, चावल खायें किन्तु बच्चेको न दें। एक रात उन लोगोंने देखा कि उनका वह बच्चा, जो कमजोरीके कारण चल-फिर नहीं सकता था, वह खाटपरसे उतरकर घिसटते-घिसटते बर्तन माजनेकी जगहपर पहुँचा हुआ है और जूठे चावलके दानोंको बीन-बीनकर खा रहा है। आमके छिलकोंको चाट रहा है। फिर तो घरवालोंको बड़ा दुःख हुआ और उन्होंने प्रतिज्ञा की कि जबतक बालक अच्छा नहीं हो जायेगा तबतक वे घरमें आम, चावल नहीं खायेंगे। इसीका नाम लोक-संग्रह है। आप केवल अपने हितपर ही दृष्टि न रखें। इस संसारमें आपके बच्चे भी हैं, वे लोग भी हैं जिसका मस्तिष्क ठीक काम नहीं करता। अतः आपको ऐसा काम करना चाहिए जिससे सबकी भलाई हो।

इसके बाद भगवान् श्रीकृष्णने यह कहा कि राग-द्वेष नहीं करना चाहिए। क्योंकि प्रकृतिके जो गुण हैं वे स्वयं कर्मोंकी सृष्टि करते रहते हैं। इसको ऐसे समझिये—मानों एक दिन अंगूरने करेलेसे कहा कि तू बहुत कड़वा है, निकम्मा है, संसारमें लोगोंका स्वाद बिगाड़नेके लिए पैदा हुआ है। इसपर करेलेने उत्तर दिया कि यह सब तो ठीक है, पर तुम भी तो लोगोंको डायबिटिज देनेके लिए पैदा हुए हो। इसके विपरीत मैं डायबिटिज अच्छा करता हूँ। और भी अनेक रोगोंका निवारण मुझसे होता रहता है। इसका तात्पर्य यह है कि करेलेकी कड़वी प्रकृति भी गुणोंके अनुसार है और अंगूरकी मधुर प्रकृति भी गुणोंके अनुसार है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥ (3.27)
तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥ (3.28)

सृष्टिमें सबकी आवश्यकता होती है। आप किसीको भी अनावश्यक समझकर तिरस्कार न करें। सब-के-सब अपने-अपने गुणोंके अनुसार बर्तते हैं—बर्ताव करते हैं। मैंने अखबारमें पढ़ा था कि केरल सरकारने मेढ़कोंका इतना अधिक निर्यात कर दिया कि वहाँ मेढकोंकी कमी हो गयी। इसका नतीजा यह हुआ कि जिन कीड़ोंको वे खा जाया करते थे, वे बढ़ गये और उनसे धानकी फसल खराब हो गयी। संसारमें मेढकोंकी भी आवश्यकता होती है। ये जो बिच्छू, साँप, मच्छर आदि विषैले जीव हैं उनकी भी आवश्यकता इसलिए है कि वे वातावरणके विषका संग्रह करके हमें निर्दोष अन्न, निर्दोष पृथिवी और निर्दोष जल प्रदान करते हैं। जब उनका नाश हो जाता है तब धरतीपर कोई-न-कोई रोग बढ़ जाता है। इसलिए संसारमें जितने भी मनुष्य अथवा पशु-पक्षी और कीट-पतंग हैं सबमें प्रकृतिके किसी-न-किसी गुणका विकास हुआ है। कहीं तमोगुण है, कहीं रजोगुण है, कहीं सत्त्वगुण है। सब एक दूसरेसे सम्बनिधत होते हैं—चमकते हैं। इसलिए प्रकृतिके गुणोंको लेकर अहंकार नहीं करना चाहिए—

अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते। (3.27)

'विमूढ़' शब्द आयुर्वेदमें इस ढंगसे व्यवहृत होता है कि बच्चा माँके पेटमें गर्भ-विमूढ़ हो गया। उसको मूढ़गर्भा भी बोलते हैं। अर्थात् बच्चेको गर्भमें किधर जाना चाहिए, किधर खिसकना चाहिए, यह मालूम नहीं। तो **अहंकार-विमूढात्मा**का अर्थ यह हुआ कि मनुष्यकी आत्मा उसके अहंकारमें अटक गयी, भटक गयी, लटक गयी। अहंकारका यह स्वभाव है कि जहाँ-जहाँ उसको पुष्टि मिलती है, वहाँ-वहाँ हमें ले जाता है। श्रीकृष्णके मतमें अपने भीतर कर्तापनका जो आरोप है—हमने यह किया, हमने वह किया उससे एक दृष्टि मनमें बन जाती है और उससे हम बँध जाते हैं। उस घेरेसे बाहर निकलना ही नहीं चाहते। अतः भगवान् कहते हैं कि कैसे भी हो इस गढ्ढेसे निकलो। यह बात एक तरहसे नहीं, दस-बीस तरहसे समझायी गयी है कि मैंने ऐसा किया, मैंने वैसा कियाका अभिमान छोड़ो। उदारहणके लिए आप देखिये। एक जगह कहते हैं कि प्रकृति ही सबकुछ करती है—

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः। (13.29)

यहाँ कहते हैं सबकुछ प्रकृतिके गुण करते हैं—

प्रकृते क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। (3.27)

एक जगह कहते हैं कि जैसी आपकी आदत बन जाती है, स्वभाव बन जाता है वैसा होता रहता है—

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥ (18.60)

एक जगह आया है कि—

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥ (18.14)
शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥ (18.15)

आप अपनेको पाँच जनोंके किये हुए कामका कर्ता मान बैठते हैं और दिखाते हैं कि हमने किया है। ऐसी स्थितिमें पंचायतके कामको अपना व्यक्तिगत बनानेपर दोष लगेगा और आप दोषी हो जायेंगे। जरा सोचिये तो सही यदि आपको धरती खड़ा होनेकी जगह न दे, हवा साँस न लेने दे और सूर्य रोशनी न दे तो आप कोई काम कैसे कर सकेंगे? इसके अतिरिक्त देवता भी आपकी मदद करते हैं—

दैवं चैवात्र पञ्चमम् आपको शरीर मिला हुआ है, आपमें कर्तृत्वका भाव जागृत है, आपकी इन्द्रियाँ ठीक-ठीक हैं, तब कहीं जाकर कोई कार्य सम्पन्न होता है। यदि ईश्वरीय बुद्धि आपकी बुद्धिको थोड़ा सहयोग न दे तो वह क्या कर सकेगी। हम लोग अच्छे कामोंका श्रेय तो लेते हैं; किन्तु बुरे कामोंको भरसक जाहिर ही नहीं होने देते। यदि वह जाहिर हो भी जाये तो कहते हैं कि हमने नहीं किया। एक राजाका बाण शिकारके समय गायको लग गया और वह मर गयी। गोहत्याने कहा राजन्, हमें स्वीकार करो। राजाने उत्तर दिया कि बाणसे गाय मरी है, उसको लगो। वाणने भी मना कर दिया और कहा कि हाथने मारा है। हाथने कहा हमारा देवता इन्द्र है, उसीने मारा है। इन्द्रने उत्तर दिया कि विष्णु सर्वत्र व्याप्त हैं, अतः हत्याका उत्तरदायित्व उनपर है, उन्हींके पास जाओ। तब गोहत्या भगवान विष्णुके पास गयी और वे राजाके पास आये। उन्होंने पूछा 'राजा यह महल किसने बनवाया?' राजाने कहा 'मैंने।' इसी प्रकार भगवान् विष्णु मन्दिर, धर्मशाला, उद्यान आदिके निर्माताके सम्बन्धमें पूछते गये और राजा 'मैं-मैं' कहते गये। इसपर भगवान्ने कहा कि क्यों राजा अच्छे-अच्छे काम तो सब तुमने किये हैं, किन्तु गोहत्या मैंने की है? स्वीकार करो गोहत्याको। अभिमानकी जो यह रीति है वह सर्वथा अशुद्ध है। अतः हम-हमाराका अभिमान छोड़कर ही मनुष्यको कर्म करना चाहिए।

अब प्रसंग आता है राग-द्वेषका। मनुष्यके जीवनमें जो राग-द्वेष हैं, वे ही उसे गलत रास्तेपर ले जाते हैं। रागके कारण हम भटक जाते हैं और द्वेषके कारण फँस जाते हैं। सटते हैं रागसे और हटते हैं द्वेषसे—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत् तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥ (3.34)

तो आप काम भले कीजिये लेकिन यह ध्यान रखिये कि राग-द्वेषके वशीभूत न हों। इसी प्रसंगमें एक प्रश्न उठा कि आखिर मनुष्य बुरा काम करता क्यों है। कभी-कभी तो वह चाहता है कि बुरा काम न करे, फिर भी कर बैठता है। इसमें हेतु क्या है? गीतामें यह एक विशेष प्रसङ्ग है, इसकी चर्चा आगे करेंगे।

●

प्रवचन : 7

(22-11-74)

गीताके तीसरे अध्यायमें कर्मकी चर्चा चली। उसमें मुख्य प्रश्न उपस्थित हुआ कि कर्म कैसे होते हैं? और कर्म किस प्रकार करने चाहिए? भगवान्‌ने समाधान करते हुए कहा :

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः। (3.30)

इसमें कर्मानुष्ठानका सार-सार आ जाता है। प्रकृतिसे कर्म होते हैं, प्रकृतिके गुणोंसे कर्म होते हैं, पंचायतकी प्रेरणासे कर्म होते हैं, अहंकारसे कर्म होते हैं, ईश्वरकी प्रेरणासे कर्म होते हैं—इन अनेक मतोंका संग्रह गीतामें है। कर्मशास्त्रका तो कोष ही है गीता।

भगवान्‌ने कर्मानुष्ठानका जो सबसे महत्त्वपूर्ण मार्ग बताया, वह यह है कि मुझमें सब कर्मोंका संन्यास कर दो। यहाँ संन्यास शब्द सम्प्रदायविशेषका वाचक नहीं, सं = सम्यक्, न्यास = स्थापना, सम्यक् माने भलीभाँति और स्थापना माने पूर्णरूपसे निक्षेप। अर्थात् कर्मोंका सम्पूर्णरूपसे पूरा-का-पूरा भार भगवान्‌के ऊपर डाल दो; क्योंकि वे प्रेरक हैं, निर्वाहक हैं और फलदाता है। यह समर्पण कैसे होगा? संसारमें जैसे गोदान, भूदान होता है, वैसे नहीं होगा। **संन्यस्याध्यात्म-चेतसा**—अपने शरीरके भीतर जो क्रिया-प्रक्रिया हो रही है, उसका नाम है अध्यात्म। अतः भीतर दृष्टि ले जाओ और देखो कि इस यन्त्रका संचालन कैसे हो रहा है।

एक बारकी बात है, मैंने किसी महात्मासे कहा कि मैं कर्म करनेमें स्वतन्त्र हूँ। उन्होंने कहा कि अच्छा; बताओ तुम अगले क्षणें क्या करोगे? मैंने कहा कि जो चाहूँगा करूँगा। बोले कि ठीक है, यही बताओ क्या चाहोगे? मैं चुप हो गया। मनुष्य अगले क्षण कैसी इच्छा करेगा, क्या करेगा इसका ज्ञान नारायणके सिवाय और किसीको नहीं हो सकता। यदि हम इच्छा नहीं करेंगे तो कर्ममें स्वातन्त्र्यका प्रश्न ही नहीं उठता। हमारे जीवनमें जो प्रवृत्तियाँ हैं वे केवल ज्ञानकी किरणोंसे हो रही हैं, रसकी किरणोंसे हो रही हैं अथवा केवल सत्तामें आकृतियाँ बन रही हैं। सत्तामें आकार बनते हैं, ज्ञानमें प्रवृत्तियाँ होती हैं और रसमें तरंग उठती हैं। इस प्रकार पृथिवीका काम हो रहा है। इसमें ज्यादा कौन करता है, अपना कर्तापन और रागद्वेष—

अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते। (3.27)

विवेकका मार्ग क्या है? हम अपने यन्त्र-संचालनकी प्रक्रियाको ठीक-ठीक समझकर राग-द्वेषके अधीन न होने दें। सबका भार समष्टिके अन्तर्यामी परमेश्वरपर छोड़ दें। सैनिक कार्य कर रहे हैं, फलकी आशा नहीं, कर्ममें ममत्व नहीं और होने-न-होनेका ज्वर भी नहीं।

निराशीर्निर्ममो भूत्वा युद्धस्व विगतज्वरः। (3.30)

अर्जुनकी दशा विपरीत थी। उन्हें ज्वर चढ़ आया था—

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते॥ (1.29)

उनका शरीर तप रहा था, मुख सूख रहा था, चमड़ा जल रहा था, भगवान्ने कहा—विगतज्वरः—अब इस बुखारको उतारकर फेंक दो, ज्वरसे रहित हो जाओ, हृदयमें जलन मत होने दो, आशा-ममता छोड़ दो, और समस्त कर्मोंका भार मुझपर डाल दो—यही विवेकका मार्ग है। यही बात जब भक्तिमार्गकी रीतिसे कही जाती है तब इसकी प्रक्रिया दूसरी हो जाती है—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥ (12.6-7)

'सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य'—ज्ञानमार्गमें भी है और भक्तिमार्गमें भी। भक्तिमार्गकी विशेषता क्या है? भगवान्के प्रति परायणता, अनन्यता, उनका ध्यान और उनकी उपासना—**मत्पराः अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते** इसका परिणाम क्या होता है—भगवान् भवसागरसे पार कर देते हैं—**तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्** कोई जीव भवसागरमें डूब रहा है, भगवान् स्वयं आये, उसे भवसागरमें-से निकाला, अपनी नावपर बैठाया और पतवार चलाने लगे। जीवने कहा मैं भी पतवार चलाकर देखूँ? भगवान् बोले—नहीं; तुम चुपचाप बैठो, मेरी रूप-माधुरीका आस्वादन करो, इसे निहारो, नाव खेनेवाला तो मैं हूँ। यह कहकर वह साँवरा किशोर नाव चलाने लगा और जीव निश्चिन्त हो गया। यही भक्ति है।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः। (12.6)

गीताके तीसरे अध्यायमें विवेक है, ज्ञान है, और बारहवें अध्यायमें भक्ति है। ये दोनों कर्म करनेके दो मार्ग हैं, एक तो **संन्यस्याध्यात्मचेतसा** और दूसरा **निराशीर्निर्ममो भूत्वा।**

कर्ममें ममत्व मत रखो। यह देखो कि तुम अपना काम अपने लिए करते हो या देशके लिए करते हो? तुम कपड़ा पैदा करते हो सिर्फ इसलिए कि तुम्हें पैसा मिले अथवा इसलिए कि जो नङ्गे हैं, जिनको ठण्ड लगती है उनको कपड़ा मिले? यह केवल माननेकी ही बात है कि मनुष्य केवल अपने लिए ही पैदा करता है, क्योंकि वह उत्पन्न होकर सबके काम आता है। अपनी दृष्टिको संकीर्ण मत बनाओ। यह मत कहो कि मैं केवल अपने लिए वस्त्र उत्पादन करता हूँ बल्कि यह कहो कि मैं सबकी भलाईके लिए वस्त्र उत्पादन करता हूँ। इससे भी आगे बढ़कर यह मानो कि सर्वके रूपमें जो परमेश्वर है उसकी सेवा करनेके लिए, शृङ्गार करनेके लिए वस्त्रोत्पादन करता हूँ। परमेश्वरके शृङ्गारके लिए वस्त्र चाहिए, परमेश्वरको भोग लगानेके लिए अन्न चाहिए, परमेश्वरका मन्दिर बनवानेके लिए लोहा चाहिए। सीमेण्ट चाहिए। यह तभी होगा जब तुम अपने

उत्पादन कर्ममें-से ममता निकाल दोगे, निर्मम हो जाओगे। निर्ममका अर्थ यही है कि तुम अपने लिए काम नहीं कर रहे हो बल्कि सबके लिए कर रहे हो। यह विचार कोई कठिन नहीं, सच पूछो तो इसका निर्वाह होता चलता है—प्रतिदिन रोटी मिलती है, कपड़ा मिलता है। जो आज दे रहा है, वह आगे भी देगा। उसके लिए आशावान् होकर, फलकामी होकर हम अपने हृदयको मलिन क्यों बनायें? अत: आशा छोड़ो, फलाकांक्षा छोड़ो, ममता छोड़ो, दु:ख छोड़ो और अपना काम करते चलो।

अब विवेक और भक्तिके अतिरिक्त काम करनेका एक तीसरा मार्ग भी है, राग-द्वेषसे विनिर्मुक्त। राग-द्वेष हमारी सत्ताको, हमारे ज्ञानको, हमारे रसको, हमारे आनन्दको दूषित करता है। हमारे सारे कार्यक्रम ज्ञानांशुसे होते हैं। ये जब पापविद्ध हो जाते हैं, तब रंगीन हो जाते हैं। जैसे सूर्यकी किरणें आती रहती हैं। बीचमें मिल जाता है पानी। फिर आकाशमें इन्द्रधनुष दिखायी देने लगता है। सूर्यकी किरणोंको रँगनेवाला कौन है? जलकी बूँदोंमें-से जब सूर्यकी रश्मियाँ पार होती हैं तब वे लाल-पीली-हरी हो जाती हैं। अत: रस्मियाँ जलकी बूँदोंमें आसक्त नहीं होतीं परन्तु उनके सम्पर्कमें रंगीन दिखायी देने लगती हैं। आत्म-सूर्यकी जो किरणें हमारे अन्त:करणमें आती हैं वे बिलकुल ठीक-ठीक आती हैं—परमेश्वरसे आती हैं, परन्तु रागकी रक्तिमा तथा द्वेषकी कालिमा दोनों उसको काली और लाल बना देती है। निश्चय ही हमारे कर्मको रङ्गीन बनानेवाला हमारा राग-द्वेष है जिससे हम फँस जाते हैं। बच्चे लोग लाल रङ्गमें बहुत फँसते हैं। बचपनमें मुझे लाल रङ्गके सिवा और कोई रङ्ग पसन्द ही नहीं आता था। रागमें ऐसी रङ्गीनी है कि इसको देखकर ज्ञानांशु मानव अपना सच्चा मार्ग छोड़ देता है। इसी प्रकार जीवनमें द्वेषका प्रवेश होनेपर, निर्दयता, क्रूरताका समावेश हो जाता है। उससे किसीकी हानि होगी इस बातपर ध्यान नहीं जाता। अत: कर्ममें पहले यह बताया कि यन्त्रका विवेक करो और देखो कि वह ठीक-ठीक काम करता है या नहीं। दूसरी बात यह बतायी कि केवल भगवान्से प्रेम करो और तीसरी बात यह बतायी कि राग-द्वेष छोड़ दो। दूसरे अध्यायमें—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्। (2.64)

कहा था, अब यहाँ यह कहते हैं कि—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ। (3.34)

तात्पर्य यह कि प्रत्येक इन्द्रियका अपने-अपने विषयमें राग-द्वेष है। कान प्रशंसाके शब्द सुनना चाहते हैं या प्रेमकी मधुर-मधुर बात सुनना चाहते हैं। आँख भी अभीष्ट रूप देखना चाहती है। जैसे बच्चे साइकिल चलाते समय जब किसी खास वस्तुकी ओर देखने लगते हैं तो उनकी साइकिल बलात् वहीं पहुँच जाती है। जब किसीसे हमारा राग या द्वेष हो जाता है तो हमारे कर्मका मुँह मुड़ जाता है—किसीको बचानेके लिए या मारनेके लिए, या किसीको सुख पहुँचानेके लिए या किसीका सुख छीननेके लिए। कर्मको भ्रष्ट करनेवाली वस्तुका नाम है राग-द्वेष। इसलिए इन्द्रियाँ काम करें, संसारके विषयभोग रहें और राग-द्वेष भी रहते हैं तो रहें, परन्तु हम उनके अधीन न हों, उनके वशमें न हों **तयोर्नवशामागच्छेत्।** काम करते समय हमारा जीवन सर्वथा

निर्दोष एवं न्यायपूर्ण होना चाहिए। पुराणोंमें एक कथा आती है। प्रह्लादके पुत्र थे विरोचन और बृहस्पतिके पुत्र थे कच। दोनों बड़े सुन्दर, स्वस्थ और विद्वान् थे। दोनोंने केशिनी नामकी कुमारी कन्यासे प्रस्ताव किया कि हमारे साथ विवाह करो। उसने जवाब दिया कि तुममें जो श्रेष्ठ होगा उसके साथ मैं विवाह करूँगी। मुझे श्रेष्ठता चाहिए, केवल सौन्दर्य या विद्या नहीं। इसपर दोनों-में यह शर्त लगी कि जो श्रेष्ठ सिद्ध होगा वह विवाह करेगा, किन्तु जो कनिष्ठ सिद्धा होगा वह मारा जायेगा। अब न्याय कौन करे? प्रह्लाद न्याय-परायणतामें प्रसिद्ध राजा थे, उनके सामने दोनों गये। प्रह्लादने निर्णय दिया कि बृहस्पतिका पुत्र कच श्रेष्ठ है। विरोचनके मरनेकी नौबत आगयी। प्रह्लादने पिताकी हैसियतसे अपने पुत्रका हाथ पकड़ा और उसे कचके चरणोंमें गिरा दिया। फिर बोले, तुम इसका सिर काट सकते हो। किन्तु सिर काटकर क्या करोगे? मैं समूचा बेटा ही तुमको दिये देता हूँ, तुम चाहे जैसा करो। कचने कहा कि आप जैसे न्यायशील एवं धर्ममूर्ति पुरुषको यदि पुत्रशोक भोगना पड़ जाये तो भविष्यमें कोई न्याय नहीं करेगा। इसलिए न्याय-रक्षाके पक्षमें मैं आपका पुत्र आपको लौटाता हूँ।

हमलोग बहुत-सी कहानियाँ और उपन्यास पढ़ते हैं, परन्तु ऐसी कथा कहाँ मिलती है जिसमें कोई आदर्श हो। आदर्शहीन कहानियाँ तो समय काटती हैं।

राग-द्वेषसे विनिर्मुक्त होकर यदि हम कर्म करते हैं भले ही उसमें विवेक न हो, ईश्वरार्पण भी न हो, हमारे धर्मका पालन ठीक-ठीक हो जाता है—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥ (3.35)

हमलोग किसी वस्तुको बहुत अच्छी और किसी वस्तुको बहुत खराब कह देते हैं; किन्तु कभी-कभी खराब वस्तु यहाँ तक कि संखिया और अफीम भी औषधके काम आती है। जिसको हम जहर कहते हैं वह कभी-कभी हमारे शरीरके लिए अमृत हो जाता है। कोई वस्तु अपने-आपमें बुरी नहीं होती, उसका दुरुपयोग बुरा होता है। यह बात हम लोगोंने लघुकौमुदी पढ़ते समय अपने गुरुजीसे सीखी थी। उनका कहना था कि कोई शब्द अशुद्ध होता ही नहीं। अतः यह कहना चाहिए कि इसके स्थानपर अमुक शब्दका प्रयोग करना चाहिए—

अस्य शब्दस्य स्थाने अयं शब्दः प्रयुक्तव्यः रामो गच्छति—ठीक है **रामस्य गच्छति** भी ठीक है **रामस्य गृहं गच्छति**। अमुक स्थानपर **रामो** ठीक है और अमुक स्थानपर **रामस्य** ठीक है। '**रामो**'के स्थानपर '**रामस्य**' कहोगे तो तुम्हारा प्रयोग गलत होगा, रामस्य नहीं। तुम्हारी क्रिया और रचना अशुद्ध है, शब्दका प्रयोग करो, हम उसको ठीक जगहपर बैठा देंगे और वहाँ वह शुद्ध हो जायेगा। इसी तरह किसी वस्तुका प्रयोग कहीं, तो किसी वस्तुका प्रयोग कहीं होता है। हमारे तन्त्र शास्त्रमें एक श्लोक है—

नामन्त्रमक्षरं किंचित् नानौषधिर्वनस्पतिः।
अयोग्यः पुरुषो नास्ति प्रयोक्ता तत्र दुर्लभः॥

ऐसा कोई अक्षर नहीं जो मन्त्र न हो। ऐसी कोई घास नहीं जो दवा न हो। ऐसा कोई मनुष्य नहीं जिसमें

कोई-न-कोई योग्यता न हो। तुम उसका उपयोग नहीं कर सकते, यह तुम्हारी कमी है। वह तो कहीं-न-कहीं, किसी-न-किसी उपयोगके लिए पैदा हुआ है। उसका अस्तित्व व्यर्थ नहीं—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।

गीता कहती है कि तुम जिस काममें योग्य हो उसे अपनी योग्यताके अनुसार करो। किन्तु जिसमें तुम अयोग्य हो उसमें अपना बड़प्पन दिखानेके लिए हाथ मत डालो। प्रत्येक मनुष्यके साथ एक धर्म पैदा होता है। जिस प्रकार अग्निका धर्म दाह है, जलका धर्म आप्यायन है, पृथिवीका धर्म धारण है, सूर्यका धर्म प्रकाशन है, उसी प्रकार मनुष्यका धर्म मनुष्यत्व है।

जिस विशेषताके कारण मनुष्यको मनुष्य कहा जाता है, वही मनुष्यका धर्म है। जो मनुष्यत्व छोड़ देगा वह मनुष्य नहीं रहेगा, पशु हो जायेगा, पक्षी हो जायेगा—**स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः** (3.35)

इसके बाद यह प्रश्न उठा कि आखिर मनुष्य पाप क्यों करता है? केनोपनिषद्‌में यह प्रश्न आया है—

केनेषितं पतति प्रेषितं मनः

हमारे मनका साधारण प्रेरक कौन है? यहाँ अर्जुन यह प्रश्न करते हैं कि पापका प्रेरक कौन है—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥ (3.36)

यदि कोई बलपूर्वक प्रेरित करता है तो राग-द्वेषके मिश्रणके बिना प्रवृत्तिमें बलवत्ता नहीं आती। हम साधारणतः अपने समभावसे काम करते जा रहे हैं। दौड़ते इसलिए हैं कि कहीं जल्दी पहुँचना है। किसी काममें टालमटोल इसलिए करते हैं वह हमें पसन्द नहीं। जल्दबाजी इसलिए करते हैं कि हमें उसकी आवश्यकता है और यह आशंका है कि कोई दूसरा हाथ न मार ले जाये। रागके कारण ही त्वरा आती है। यह जो ज्यादा एक्सीडेण्ट होते हैं वे त्वराके कारण ही होते हैं। ट्रक (त्वरक) त्वराके कारण ही अधिक दुर्घटनाग्रस्त होते हैं। अभी हमलोग कारमें आ रहे थे। हमारे ड्राइवरने ट्रककी त्वरित गति देखकर कहा कि अच्छा भाई तुमको बहुत जल्दी है तो तुम पहले जाओ। बहुत बढ़िया बात थी जिसे जल्दी है उसे जाने दो। हम धीरे-धीरे चलेंगे। ये त्वरक हैं, ट्रक हैं।

अब आप देखो कि हमारी पाप-प्रेरणा कहाँसे आती है? पाप शब्दका अर्थ यह है कि यदि आप अपनी रक्षा करना चाहते हैं तो उससे बचिये—**पान्ति अस्मात् आत्मानम्।** पाप वह है जिसका परित्याग करके मनुष्य अपने आपको कृतकृत्य करता है—**एतत् परित्यज्य आत्मानं पान्ति।** यदि मनुष्य उसको अपने जीवनमें धारण करेगा तो वह—**बुद्धिनाशात् प्रणश्यति** नाशको प्राप्त हो जायेगा। जो करनेवालेको ही चूस ले, शोषण कर ले, भक्षण कर ले उसका नाम पाप है। जिससे हम गिरें, दूसरे गिरें, हमारी हानि हो, दूसरेकी हानि हो, उसका नाम पाप है। जिसके द्वारा हमारी तथा औरोंकी उन्नतिमें बाधा पड़े उसका नाम पाप है। मनुष्य ऐसा पाप क्यों करता है? इसके उत्तरमें भगवान् श्रीकृष्णने ऐसा नहीं कहा जैसा केनोपनिषद्‌में मनके सामान्य प्रेरकका नाम बताते हुए कहा गया है—

केनेषितं पतति प्रेषितं मनः।
केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः॥ (1.1)

इसमें परमात्माका नाम नहीं; काम-क्रोधका नाम है। उपनिषद्‌की प्रेरणामें और गीताकी प्रेरणामें क्या अन्तर है? देखो किसी घरमें बिजलीसे आग लग जाये तो दोष पावर-हाउसका होता है या बिजलीका? न पावर-हाउसका, न बिजलीका। दो तार आपसमें मिल गये और आग लग गयी। आपके घरमें पंखा चल रहा है और खड़-खड़ बोल रहा है। उसकी जो खड़खड़ाहट है वह बिजलीका दोष है या पावर-हाउस? उत्तर है कि पंखेकी मशीनका दोष है। परन्तु कोई पूछे कि यह खट्-खट् क्यों हो रहा है तो यह भी कह सकते हैं कि बिजलीकी वजहसे हो रहा है। परन्तु वास्तवमें बिजलीकी वजहसे नहीं हो रहा, पंखेकी खराबीसे हो रहा है। जो पापाचरण हो रहा है वह विश्वसृष्टिमें परिपूर्ण बुद्धि-तत्त्वके कारण नहीं हो रहा है, जो विद्युत्-केन्द्रमें सन्निहित है, उसके कारण भी नहीं हो रहा और जो विद्युत्-धारामें प्रवाहित है उसके कारण भी नहीं हो रहा है। यह तो इसलिए हो रहा है कि इसके यन्त्रमें अनियमितता आगयी है। यन्त्रकी अनियमितता क्या है—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः। (3.37)

ये सब दोष हैं जो ईश्वरीय यन्त्रको दूषित अथवा अनियमित करते रहते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

काम वात कफ लोभ अपारा।
क्रोध पित्त नित छाती जारा॥

काम वायु है, तूफान है जो मनुष्यको उड़ा ले जाता है। क्रोध आग है जो जला देती है और लोभ कफ है, कीचड़ है, दलदल है जिसमें आदमी फँस जाता है। भगवान् श्रीकृष्णने कहा कि ये सब रजोगुणसे उत्पन्न होते हैं—**रजोगुणसमुद्भवः**। रजोगुण क्रियाशील है, तमोगुण भारी है और सत्त्व प्रकाशात्मक है। तीनों गुण अनियमित हैं। प्रत्यक्षके द्वारा इनका अनुमान किया गया है। प्रत्यक्ष क्या है? यह हड्डी-मांसका शरीर। इसका मूल तामस प्रकृति, तमोगुण। शरीरमें जो क्रिया होती है उसका मूल है रजोगुण और जो ज्ञान होता है उसका मूल सत्त्वगुण है। प्रकृति सत्त्व-रजस्तमोमयी है और भगवान्‌का ही एक विलास है, उनकी ही एक चेष्टा है। रजोगुणसे उत्पत्ति होती है वह लक्षणोंसे ही पहचानी जाती है। सांख्य और योगदर्शन यह सिद्धान्त है कि प्रकृति और गुणोंका दर्शन नहीं होता, उनका अनुमान ही किया जाता है।

गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति। (४.१३ व्यासभाष्य)

पंचशिखाचार्यका वचन है, जो व्यासभाष्यमें उद्धृत है कि गुणोंको कोई देख नहीं सकता। जो दीख रहा है वह तो जादूका खेल है। गुण तो अनुमान-प्रधान सांख्यके द्वारा निश्चित किये गये हैं :

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ॥ (14.12)

जब जीवनमें लोभ ज्यादा हो और अपने सामर्थ्यसे बाहर बड़े-बड़े कर्मोंका आरम्भ कर दिया जाये तो

क्या होगा? यदि कहा जाये कि जो होना होगा हो जायेगा तो वह जुआ हो जायेगा। इसलिए पहले अपने सामर्थ्यका विवेक करके ही कर्म प्रारम्भ करना चाहिए। अन्यथा चित्तमें बेचैनी बनी रहेगी, मस्तिष्कमें तनाव बना रहेगा। हर समय यह रहे, वह रहे, यह बने वह बने—यह स्पृहा रहेगी। इसी स्पृहासे दो धाराएँ निकलती हैं—एक कामकी, दूसरी क्रोधकी—**काम एष क्रोध एष**—यहाँ 'एष' शब्दका दो बार प्रयोग करके यह बताया है कि—

यः कामः स क्रोधः यः क्रोधः स कामः।

वस्तुतः काम और क्रोधमें ज्यादा फर्क नहीं। जब मनमें कामना हो तो क्रोध बिलकुल नाकपर आकर बैठ जाता है। जरा-सा भी फर्क पड़े वह निकल पड़ता है—**महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्।**

महाशन उसे कहते हैं जिसका भोजन अधिक हो। नीति-शास्त्रका एकवचन है। है तो विनोदका, पर व्यवहारमें ध्यान देने योग्य है :

कुचैलिनं दन्तमलोपधारिणम्
बह्वाशिनं निष्ठुरभाषिणं च।
सूर्योदये चास्तमिते च शायिनं
विमुञ्चति श्रीरपि चक्रपाणिम्॥

यदि विष्णु भगवान् भी अधिक खाने लगें, गन्दे कपड़े पहनें, दाँत साफ न करें, निष्ठुर बचन बोलें, प्यारकी बात न करें, सोयें बहुत तो औरोंकी तो बात ही क्या स्वयं लक्ष्मीजी उनको तलाक दे देंगी।

इस विनोदको असली अर्थमें नहीं, लाक्षणिक अर्थमें लेना चाहिए। लक्ष्मीजी भगवान् विष्णुको कभी नहीं छोड़ेंगी। वे तो सँभाल लेती हैं। भगवान्‌के कपड़े भी वही साफ करवा देती है और बोलना भी सिखा देती है। भगवान् कठोर बोलते हैं तो लक्ष्मीजी मृदु बोलती हैं। खानेमें भी कह देती हैं बस-बस, ज्यादा खाओगे तो नुकसान करेगा। उनकी बात दूसरी है।

जो काम है, यह बह्वाशी है अर्थात् इसका पेट जितना भी भरो, भरता ही नहीं। एक श्लोक विष्णु-पुराण, पद्मपुराण और भागवतमें आता है—

पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
नालमेकस्य तृप्त्यर्थमिति मत्वा शमं व्रजेत्॥

एक आदमीको संसारकी सारी सम्पदा, सारा भोग दे दिया जाये तो भी उसका काम तृप्त नहीं होगा। मनुस्मृतिमें है—

ना जातु कामः कामानाम् उपभोगेन शाम्यति। (2.94)

उपभोगसे कामना शान्त नहीं होती, उसका भोजन बड़ा भारी है। यह अघासुर है। जो कभी तृप्त होनेवाला नहीं, उसको तृप्त करनेका प्रयास क्यों किया जाये? अतः अपने लिए जितना आवश्यक है, उतना ही स्वीकार करके बाकीके लिए पहलेसे ही मर्यादा बना ली जाये। क्योंकि यदि यह स्वयं तृप्त हो जाता तो हम

कहते कि अच्छा भाई, तुम तृप्त हो गये अब चले जाओ। परन्तु जब यह स्वयं कभी मानेगा ही नहीं तो जितनी जरूरत है उतना काम लेकर उसे कह दिया जाये कि बस भाई अब इसके आगे नहीं। कहीं तो सीमा होनी चाहिए, मर्यादा होनी चाहिए।

क्रोधको 'महापाप्मा' इसलिए कहा कि जब वह आता है तो कुछ मत पूछिये! भगवान् करे आपको कभी क्रोध न आये। जब आता है तो मनुष्य दाँत पीसने लगता है। उसकी जीभ लड़खड़ा जाती है, गला सूखने लगता है, मुँह तमतमा उठता है, आखें लाल हो जाती हैं, भौहें तन जाती हैं। उस समय न तो गुरुजनोंका ध्यान रहता है और न प्रियजनोंका, सारा आचरण अमर्यादित हो जाता है। इसलिए 'क्रोध पाप कर मूल' कहा गया है। यही हाल कामका है : काम भी आपको क्षुब्ध कर देता है—

कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाः (मेघदूत, पर्व 5)

अतः आप काम-क्रोधको अपना आत्मीय मानकर यह मत कहिए कि यह मेरा काम है, यह मेरा क्रोध है। यह आपका आत्मीय नहीं, शत्रु है। जो आपके घरमें आगया है, प्रविष्ट हो गया है। यह बाहर ही बाहर सड़कपरसे निकल जाये तो जाने दीजिये, परन्तु जब आपके घरमें घुसे तो सावधान हो जाइये।

विद्ध्येनमिहके भी तीन रूप बताये। एक ऐसा, जिसमें आत्माका ज्ञान ढँकता नहीं, मालूम पड़ता रहता है और ये आते-जाते रहते हैं। दूसरा ऐसा, जिसमें आत्माका ज्ञान नहीं-सरीखा होता है और तीसरा ऐसा, जिसमें आत्माका ज्ञान बिलकुल ढक जाता है। इसके लिए गीतामें तीन दृष्टान्त दिये गये हैं—

प्रथम **धूमेनाव्रियते वह्निः** आगमें धुँआ निकलता है। आग दीखती रहती है। धुँआ निकलता रहता है।

द्वितीय **यथादर्शो मलेन च** शीशेपर धूल पड़ गयी। उसमें अपना मुँह नहीं दिखेगा।

तृतीय **यथोल्बेनावृतो गर्भः** जैसे जेरसी गर्भ ढका हुआ होता है और उसका दर्शन ही नहीं होता।

इसमें पहला काम-क्रोध सात्त्विक है, दूसरा राजस है और तीसरा तामस है।

तेन कामेन क्रोधेन च

काम और क्रोध दोनोंके द्वारा ज्ञान आवृत होता है और उसपर पर्दा पड़ जाता है—

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥ (3.39)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि दूसरे लोग तो ज्ञानीसे दुश्मनी नहीं करते परन्तु काम, क्रोध ज्ञानीके दुश्मन हैं। क्योंकि ज्ञानी 'वीतरागभयक्रोध' होते हैं। स्थितप्रज्ञ पुरुषकी स्थिति भी ऐसी ही होती है—

वीतरागभयक्रोध मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः॥ (4.10)

यदि आप क्रोधमें आकर कोई व्यवहारिक काम करने लगेंगे तो वह बिगड़ जायेगा। हमारे एक ठाकुर साहब वैसे तो बहुत बड़े विद्वान् थे, पर उनकी कमजोरी यह थी कि उनको क्रोध बहुत जल्दी आता था। जब वे एक अदालतमें बयान देने गये तो प्रतिपक्षी वकीलने उनको ऐसा गुस्सा दिलाया कि देखकर अदालत भी

दंग रह गयी। बस; प्रतिपक्षीके वकीलका काम बन गया। उसने कहा कि इसी गुस्सेके वश होकर उन्होंने वह काम किया था। ठाकुर साहबकी बुद्धिमत्ता, विद्वत्ता और प्रभावत्ता काम नहीं आयी। उनके क्रोधके कारण अदालतमें बात बिगड़ गयी। उनका केस खराब हो गया।

काम-क्रोध ज्ञानियोंके नित्य वैरी हैं। अज्ञानी लोग उन्हें अपनाते हैं क्योंकि कम-से-कम कामोपभोगके समय उन्हें क्षणिक सुख मिल जाता है, बादमें वे पछता लेते हैं कि हमने गलत किया। परन्तु ज्ञानी लोग भोगते भी जाते हैं और दु:खी भी होते जाते हैं। वह उनको भोगके समय भी नहीं छोड़ता, उनका नित्य वैरी है। ज्ञानी पुरुष हमेशा ही समझते हैं कि काम-क्रोध स्वीकार करने योग्य नहीं।

कोई एक महात्माके पास गया और कहा कि महाराज हमारे मनमें कामवृत्ति है इसका निवारण कैसे हो? उनका आशय उस कामवृत्तिसे था जो संसारमें स्त्री-पुरुषके मिलन-प्रसंगमें प्रयुक्त होती है। महात्मा बोले कि किसी भी स्त्री या पुरुषके प्रति आकर्षण हो तो एकबार यह देखो कि उसका शरीर बिना चामका है। फिर रक्त-मांस-मज्जायुक्त बीभत्स शरीर दिखायी पड़नेपर कामनाकी कोई आवश्यकता ही नहीं रहेगी। यह वैराग्यवानोंकी, भक्तोंकी एक युक्ति है, कामवृत्तिसे बचनेकी।

श्री रंगक्षेत्रमें एक सज्जन किसी स्त्रीके ऊपर छाता लगाकर उसके आगे-आगे उसीकी ओर मुँह करके पीछेकी ओर चल रहे थे। श्री रामानुजाचार्य महाराजने देखा; उनको बुलवाया और पूछा कि तुमको क्या चाहिए? उस व्यक्तिने उत्तर दिया कि मुझे सौन्दर्य चाहिए। श्री आचार्यपादने अपनी आरती सजायी और जब वे आरती करने लगे तो भगवान्ने अपना वह दिव्य सौन्दर्य माधुर्य प्रकट किया कि उनका दर्शन करते ही वे सज्जन विभोर हो गये और बोले कि बस-बस, अब मैं तो इसी सुन्दरताको जीवनभर देखता रहूँगा।

भगवान्के सौन्दर्यका अनुसन्धान करनेसे कामवृत्ति शिथिल होती है। जो लोग साकार भगवान्को न मानते हों उनके लिए अभी यह बात नहीं कह सकता किन्तु आप हिमालयमें बर्फसे ढँके हुए और उसकी चोटीपर समाधिस्थ कर्पूर-गौर भगवान् शंकरका स्मरण तो कर ही सकते हैं। कामवृत्तिका उदय होनेपर आप उनका ध्यान उधर ले जाइये और फिर देखिये कि कामवृत्ति कितनी जल्दी काफूर हो जाती है। संस्कृतमें एक श्लोक है :—जिसका भाव यह है—भक्त कहता है कि 'अरे काम तू अपने हाथ क्यों गन्दे कर रहा है। देख-देख; हमारे हृदयकी ओर देख यह तो हमारे प्रियतम चन्द्रचूड़के चरणारविन्दका चुम्बन कर रहा है।'

श्वेतवर्ण भगवान् शंकर कामारि हैं उनका ध्यान करते ही काम भाग जाता है। स्त्री-पुरुष विषयक कामवृत्तिके निवारणके लिए साधु लोग और भी बहुत-सी युक्तियाँ जानते हैं। आपलोग मन एकाग्र करनेकी बात करते हैं। एक युक्ति उसके लिए भी सुनिये। आप केवल अपने नेत्रकी पुतलीको हिलने न दीजिये। जोर मत लगाइये। आपकी पुतली जहाँ है वहीं रहने दीजिये। ऊपर-नीचे दाहिने-बायें कहीं भी जाने मत दीजिये। अभी-अभी ऐसा करके देख सकते हैं कि आपका मन कितना एकाग्र हो गया है। यह प्रामाणिक वाक्य है, जिसमें कहा गया है कि—

'आप अपनी आँखकी पुतलीको स्तब्ध कर लीजिये, समाधि आपके हृदयमें निवास करने लगेगी।'

अब आइये पुन: काम-क्रोधकी ओर, यह देखिये कि कामका रूप क्या है? क्या शकल-सूरत देखकर हम कामको पहचान जायेंगे? नहीं, जो तुम चाहते हो वही उसका रूप है। हम तो निष्काम होना चाहते हैं। बस-बस, कामनाने रूप बदल लिया है, निष्काम होनेकी इच्छाके रूपमें। तुम्हारे हृदयमें अपना स्थान बना लिया है। जिस प्रकार कामरूप राक्षस जब चाहें जैसा रूप बना लेते हैं उसी प्रकार काम भी नानारूप ग्रहण करता रहता है। यहाँतक कि जब हम कहते हैं—हे काम! तुम जाओ, तब इस इच्छाके रूपमें भी वह तुम्हारे साथ सट जाता है। वह ऐसी आग है जो कभी बुझती नहीं, कभी पूरी होती नहीं, **दुष्पूरेणानलेन च**। आओ इसके किलेपर आक्रमण करें। इसका किला भी बहुत विचित्र है। उसका निवास तो हमारे इन्द्रियोंमें है, मनमें है, बुद्धिमें है—

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते। (3.40)

. एक राजा किसी दूसरे राजापर आक्रमण करनेके लिए चला तो सामनेवाले राजाने उसके सारथिसे मित्रता जोड़ ली। वह जिस रथपर जा रहा था उसका सारथि विपक्षी राजाका आदमी हो गया। उसकी बागडोर कमजोर और पकड़ ढीली हो गयी।

घोड़े भी खूब खा-पीकर दुश्मनके वशमें हो गये। अब राजा क्या करे! उसका दुश्मन घोड़ोंके रूपमें और कमजोर बागडोरके रूपमें उसके रथमें ही सम्मिलित हो गया। ऐसा शत्रु अगर आपके पीछे लग जाये तो आप क्या करेंगे? आपकी इन्द्रियाँ घोड़े हैं, मन बागडोर है और बुद्धि सारथि है। जब आपके जीवन-रथका सारिथ, घोड़े, बागडोर, ये तीनों दुश्मनके हाथमें चले जायें तो आप अपनी अभीष्ट यात्रा कैसे पूरी करेंगे?

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥ (3.40)

घोड़े हमारे ठीक चल रहे हों, सारथि हमारा विश्वस्त नौकर हो और बागडोर हमारी बहुत मजबूत हो तभी हम अपने जीवन-रथपर चलकर सफलता प्राप्त कर सकते हैं। काम-क्रोध हमारे ज्ञानको ढ़क देता है। उसे वशमें करनेकी दो रीतियाँ बतायी गयी हैं :

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्दौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥ (3.41)

पहली बात यह है कि इसका मार्ग नियमित हो, मर्यादित हो। आपके अन्दर जो इच्छाएँ हों, समाजके लिए हितकारी हों। आपकी इच्छाओंका प्रवाह उफनती नदीकी धाराके समान नहीं होना चाहिए, बल्कि नहरकी तरह नियन्त्रित होना चाहिए। नहर कैसे निकाली जाती है, आप जानते ही हैं। एक ओर उसको मार्ग देना चाहिए, दूसरी ओर रोक लगानी चाहिए। जब बाँध और मार्ग दोनों कामनाओंकी नदीके लिए तैयार होते हैं तभी वह नियन्त्रित होती है।

दूसरी रीति है कामसे सम्बन्धका त्याग। पहली रीतिके अनुसार इन्द्रियोंको मर्यादित करनेसे इस काम-पापका परित्याग हो जाता है। 'प्रजहि' में 'जहि' क्रियापद है और 'प्र' उपसर्ग है। उपसर्ग प्राय: निरर्थक होते

हैं। परन्तु धातुके साथ जुड़नेके बाद उनके अर्थको प्रदीप्त कर देते हैं। यह उपसर्गोंका नियम है। कामका परित्याग क्यों करें? इसलिए कि यह 'ज्ञान-विज्ञान नाशनम्' है, आपके ज्ञान-विज्ञानका विरोधी है। कठोपनिषद्में कहा है कि विषयोंको पुष्ट करनेवाली इन्द्रियाँ और इन्द्रियोंको पुष्ट करनेवाला है मन। विषयोंका पालन इन्द्रियाँ करती हैं और इन्द्रियोंका पालन मन करता है। मनका पालन बुद्धि करती है।

हम अपने लिए जिस वस्तुको सुखकारी समझते हैं, उसको चाहते हैं। हमारी बुद्धि समझती है, मन चाहता है और इन्द्रियाँ रहती हैं। यह तीन स्थितियाँ हैं। यदि आप इन्हीं तीनोंमें बैठकर काम-क्रोधका नियन्त्रण करेंगे तो नहीं होगा। अब इनसे अलग होकर इनका नियन्त्रण करेंगे तभी ये नियन्त्रित होंगे।

अतः जरा इन्द्रियोंसे, मनसे, बुद्धिसे परे होकर थोड़ी देर बैठिये। पाँच मिनट द्रष्टा और साक्षी होकर बैठ जाइये। इनसे अलगावका अनुभव कीजिये। अपनेको रागद्वेषयुक्त बुद्धिसे राग-द्वेषयुक्त मनसे, रागद्वेषयुक्त इन्द्रियोंसे अलग करके देखिये। फिर आप देखेंगे कि इनमें कितना रागद्वेष है और ये कितने त्याज्य हैं।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥ (3.43)

जहिका अर्थ होता है मार डालो और जहिहिका अर्थ होता है छोड़ दो; सम्बन्ध त्यागका भाव 'जहिहि'में है। इन्द्रियाँ नहीं मरती, मन नहीं मरता, बुद्धि नहीं मरती—इसमें जो शत्रुपन रह रहा है वही मरता है। अतः आप जिस शत्रुके वशवर्ती होकर अपना व्यवहार चला रहे हैं उसे आत्मज्ञानकी तलवारसे नष्ट कर दीजिए और अपने जीवनमें शुद्ध व्यवहारकी प्रतिष्ठा कीजिए।

अब इसके बाद आता है अवतारका प्रसंग। वह अद्भुत है। हमने सोचा कि अब एक ही बारमें सारी गीताको भागवत्के सप्ताहकी तरह क्या सुनना! आप सुनते रहो और हम सुनाते रहें। मैंने कहीं पढ़ा था, एक जवान आदमीने चर्चिलकी वर्षगाँठके दिन जब यह कहा कि ईश्वर करे हम आपकी सौवीं वर्षगाँठ मनावें, तो चर्चिलने मुस्कराकर उत्तर दिया—'हमको थोड़ी-थोड़ी उम्मीद तो है कि तुम तबतक रहोगे!' आप लोगोंकी सुननेकी इच्छा बनी रहे। आप लोग उम्मीद रखें कि हम सुनानेवाले भी बने रहेंगे।

●

प्रवचन : 8

(23-11-74)

चतुर्थ अध्यायके आरम्भमें स्वच्छन्द वाङ्मय अवतार प्रकट हुआ। अर्जुनने जैसा कि दूसरे-तीसरे अध्यायोंमें प्रश्न किया, चतुर्थ अध्यायके प्रारम्भमें पूछा कि भगवन्, आपकी यह जो कर्मयोग-साधना है, इसकी कोई परम्परा अथवा सम्प्रदाय है कि नहीं? आपके ये नवीन क्रान्तिकारी और प्रगतिशील विचार हैं अथवा प्राचीन परम्परा या सम्प्रदायके साथ भी इनका कोई सम्बन्ध है? अर्जुनके इन प्रश्नोंके सन्दर्भमें यह ध्यान देनेकी बात है कि प्रगति परम्पराको स्वीकार नहीं करती। जहाँ परम्परा प्रगतिपर हावी होना चाहती है, वहाँ संघर्ष होता है।

भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं अपने वचनोंकी अवतारणा की। देखो, अवतार हो रहा है भगवान्‌की वाणीका। वे बिना पूछे ही बोल रहे हैं। वैसे धर्मशास्त्रका नियम यह है कि पूछनेपर ही किसीको सलाह देनी चाहिए—

नापृष्टः कस्यचित् ब्रूयात्॥ (मनुस्मृति 2.110)

मनुजी कहते हैं कि बिना पूछे जन-जनको सलाह मत दो। अन्यथा तुम्हारी सलाहकी कोई कीमत नहीं रहेगी। यदि कोई अन्यायपूर्वक पूछ रहा हो तो उसको भी परामर्श मत देना। परामर्शके स्थानपर मौन रहना भी दोष है और आवश्यकतासे अधिक परामर्श देना भी दोष है; परन्तु कहीं-कहीं ऐसा नियम है कि यदि कोई अपना अत्यन्त वात्सल्य--भाजन हो तो उसे बिना पूछे भी सलाह दे देनी चाहिए।

ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत। (भाग० 1.1.8)

अनापृष्टमपि ब्रूयात् जब यह दिखायी दे कि कोई आदमी गलत काम कर रहा है और गड्ढेमें गिरनेवाला है तो उसे बिना पूछे सलाह देनी चाहिए।

एकबार हम नावमें कहीं जा रहे थे। लम्बी यात्रा थी, खूब आरामसे सो रहे थे। एकाएक किनारेके गाँवके लोग चिल्लये कि नावको बचाओ-बचाओ आगे झरना है, गड्ढा। हमारे मल्लाहको भी नहीं मालूम था। आगे नाव जाती तो गिरकर चकनाचूर हो जाती। गाँववालोंने बिना पूछे ही आवाज देकर हमें और हमारी नावको बचा लिया। ऐसे अवसरपर भी बिना पूछे सलाह देनी चाहिए।

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनको अपने आप ही बता रहे हैं कि मैं जो उपदेश कर रहा हूँ, उसमें एक परम्परा है। परन्तु इस परम्पराका प्रवर्तक कोई अन्य नहीं, स्वयं मैं ही हूँ। यहाँ उन्होंने केवल अपने वचनोंका ही नहीं किन्तु स्वयंके अवतारत्वका भी पोषण-समर्थन कर दिया। अवतारके प्रसंगमें एक छोटी-सी बात ध्यानमें रख लीजिए। जब हमारे कर्ममें भगवान्‌का समावेश अथवा अवतरण होता है तब उसका

नाम धर्म हो जाता है। पीछे भगवान्‌की प्रेरणा और सामने भगवान्‌की सेवा, इन दोनोंके बीचमें जो हमारा कर्म है उसमें स्वयं भगवान् विद्यमान रहते हैं। अच्छा, हमारे मनमें प्रेम है, किन्तु प्रेम तो जन-जनकी ओर जाता है—कभी इधर कभी उधर। क्योंकि वह अपने स्थिर विषयको ढूँढ़ता रहता है। परन्तु जब इस प्रेममें, आसक्तिमें भगवान् आ जाते हैं तो उस प्रेम अथवा आसक्तिका नाम भक्ति हो जाता है। प्रेमासक्तिके सामने भी भगवान् और उसके पीछे प्रेरणा देनेवाले भी भगवान्। कर्मका नाम धर्म और आसक्तिका नाम भक्ति। उसमें केवल भगवान्‌का समावेश होना चाहिए। प्रेरक भी भगवान् और विषय भी भगवान्। भगवान्‌का दिया हुआ प्रेम निष्काम होता है। भगवान्‌की दी हुई आसक्ति निष्काम होती है और वह विषय करती है सर्वात्माको। इसके द्वारा सबकी सेवा होती है।

जिस प्रकार भगवद्-विषयक आसक्तिका नाम भक्ति और कर्मका नाम धर्म है, उसी प्रकार यदि मनमें भगवान्‌के लिए एकाग्रता हो जाये तो उसका नाम योग है। बुद्धिमें ईश्वरका अवतार हो जाये तो उसका नाम ज्ञान है। ज्ञानयोग कहो, सांख्ययोग कहो, भक्तियोग कहो, कर्मयोग कहो, ये सब-के-सब भगवत्सम्बन्धसे ही योग बनाते हैं। अब भगवान्‌की वाणी सुनिये—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥ (4.1)
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप॥ (4.2)
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥ (4.3)

इसमें भगवान्‌ने एक तो यह बताया कि योग अनादि है और इसका पूरी तरह कभी नाश नहीं होता। मैंने यह योग पहले-पहल विवस्वान् सूर्यको बताया था। सूर्य भगवान्‌के सच्चे शिष्य हैं। आप कर्मयोगीका दृष्टान्त ढूँढ़ने जायें तो सूर्य जैसा सच्चा कर्मयोगी और कोई नहीं मिलेगा। आप प्रतिदिन प्रातःकाल सूर्यके दर्शन करें और सायंकाल विदा भी करें—

आगतं स्वागतं ब्रूयात् गच्छन्तं पृष्ठतो व्रजेत्।

सज्जनोंके आनेपर हाथ जोड़कर स्वागत करना चाहिए और जब वे जाने लगें तो कुछ दूर तक उनके पीछे चलकर विदा करना चाहिए।

सूर्यके आनेपर स्वागत और नमस्कार इसलिए कीजिए कि वे भगवान्‌के द्वारा कर्मयोगके प्रथम अधिकारी नियुक्त हुए हैं। उनसे सबको अनासक्ति मिलती है, सबको प्रकाश मिलता है। वे सबको समानरूपसे बिना किसी भेद-भावके ज्ञान देते हैं। एक कर्मयोगी सेवा करने जाये और कहे कि मैं चोरोंके मुहल्लेमें सेवा नहीं करूँगा तो उसका कर्मयोग अधूरा माना जायगा। चोरकी चोरी छुड़ाना एक बात है और यदि वह भूखों मर रहा हो, बीमार हो, वर्षासे भींग रहा हो तो उसको भोजन देना, उसकी दवा करना, उसे आश्रय

देना दूसरी बात है। कर्मयोगी चुन-चुनकर सेवा नहीं करता, प्रत्युत जहाँ भी सेवाकी आवश्यकता होती है वहाँ अपनी सेवाकी वर्षा कर देता है। यही सूर्यकी सेवा है : इसलिए वे सच्चे कर्मयोगी हैं और परमात्माके ही स्वरूप हैं। सबके शरीरमें मन बनकर भगवान् ही बैठे हैं। जैसे बाहर सूर्य भगवान्‌की विभूति है, वैसे सबके हृदयोंमें मन भी भगवान्‌की विभूति है—

इन्द्रियाणां मनश्चास्मि। (10.22)

अत: हमें मनका आदर नहीं करना चाहिए। हमारे जीवनमें मनका भी महत्त्व है। परन्तु जब वह पराधीन हो जाये तो उसका आदर इसीमें है कि उसको पराधीनतासे बचा लिया जाय। मनु क्या है? मननात्मक है विचार और प्रकाशात्मा है बुद्धि। मानवके उत्पत्तिके मूलमें मनु और श्रद्धा है। श्रद्धा पत्नी है और मनु पति। जहाँ विचार और श्रद्धा दोनोंका ठीक-ठीक मेल है वहीं मानवकी पूर्णता है। केवल तर्क-वितर्कसे कोई मनुष्य, मनुष्य नहीं होता। तार्किक व्यक्ति कर्तनी (कैंची) के समान हो जाता है। जैसे 'हिंस' शब्द उलटकर 'सिंह' हो जाता है इसी प्रकार 'कर्त' शब्दको उलटा कीजिये तो तर्क हो जाता है। कृती कर्तने धातुसे बने 'कर्त' शब्दको उलटा कीजिये तो तर्क हो जाता है। तर्क अर्थात् बुद्धि काटनेका औजार, उपकरण। केवल तर्क-वितर्क मनुष्यका जीवन नहीं, मनुष्यके जीवनमें श्रद्धा-सम्बलित विचार और विचार सम्बलित श्रद्धा दोनोंका समन्वय होना चाहिए। श्रद्धा और मनु दोनों मिलकर ही मनुष्यके पूर्वज है, आदि कारण हैं।

देखो, पहले सूर्यरूपमें केवल प्रकाश है। अन्तर्यामी भगवान्‌के द्वारा सर्वप्रथम प्रकाशको कर्मयोग प्राप्त हुआ। फिर प्रकाशने विचार और श्रद्धाको कर्मयोगकी प्राप्ति हुई। तत्पश्चात् विचार श्रद्धासे इक्ष्वाकुको। 'क्षु' धातुका अर्थ है छींकना। छींकते हैं तब 'इक्षु' की ध्वनि होती है। 'इक्षु' शब्द जिसके भीतर भरा हुआ है, उसका नाम होता है 'इक्ष्वाकु'। इक्ष्वाकु हमारे ऐन्द्रियक जीवन हैं। इनमें कर्मयोग रहना चाहिए। हम आँखसे सबको देखते हैं। आँखमें राग-द्वेष नहीं, जो सामने होता है उसे जाहिर कर देती है। नीचे-से-नीचा और ऊँचे-से-ऊँचा दिखा देती है। इसी प्रकार राग-द्वेषविनिर्मुक्त होकर हमारा हाथ भी सबकी सेवा करनेके लिए तैयार रहता है। अत: हमारे जीवनमें सेवाभावका निवास होना चाहिए। प्रकाश, विचार, श्रद्धा और सेवा—ये चारो जो हमारे आध्यात्मिक जीवनमें प्रकट हैं, इन्हींकी परम्परामें सूर्य, मनु, इक्ष्वाकु एवं अन्य राजर्षि हैं: भगवान्‌ने कहा कि मैंने इनको कर्मयोगका उपदेश किया है ये हमारे शिष्य हैं। कोई शिष्य भी तो तभी होता है जब वह उपदेष्टाके उपदेशके अनुरूप काम करता है। इसलिए भगवान्‌ने इनको अपना शिष्य स्वीकार किया है। पृथिवी शिष्य है, जल शिष्य है, अग्नि शिष्य है, मनु भी शिष्य है, परन्तु मनुष्य शिष्य नहीं। क्योंकि वह अपनी स्वच्छन्द प्रकृतिके द्वारा भगवान्‌के आदेशका उल्लङ्घन करता है। भगवान्‌ने कहा कि अर्जुन, मैं अपना वही उपदेश, जो अव्यय है, तुमको बता रहा हूँ।

अब प्रश्न होता है कि भगवान् अर्जुनको ही क्यों बता रहे हैं? उनमें ऐसी क्या विशेषता है? उन्हें उस उपदेशका कौन-सा अधिकार प्राप्त है? इसका उत्तर स्वयं भगवान् ही देते हैं और मुहर लगाते हुए कहते हैं कि 'अर्जुन, तुम मेरे भक्त हो, सखा हो'। इससे उत्तम अधिकार तथा वैशिष्ट्य और क्या हो सकता है—

भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्।

इसमें 'च' पद अन्वयाच्च है, अर्थात् तुम मेरे भक्त और सखा दोनों हो। परन्तु यहाँ भक्त मुख्य है, और सखा गौण। क्योंकि जब **भिक्षामट गामानय** कहेंगे तो उसका तात्पर्य होगा कि भिक्षा माँगकर लाओ और गौ मिले हाँककर उसे लेते आना। इस कथनमें भिक्षा माँगना जरूरी है। पहला काम है खानेके लिए रोटी लाना और साथ-साथ गौ भी लाना।

अर्जुन भगवान्के भक्त हैं और ऐसे भक्त हैं कि एकबार देवर्षि नारदजीके मनमें शंका हो गयी। उन्होंने सोचा कि अर्जुन कैसा भक्त है जिसके लिए भगवान् ड्राइवरका काम करते हैं। हमने देखा है कि जब कोई बड़ा मेहमान आता है तब बड़े लोग स्वयं कार ड्राइव करते हैं। नारदजीने सोचा कि अर्जुनमें ऐसी क्या विशेषता है जो भगवान् उसका इतना आदर करते हैं और उसके रथके सारथि बनते हैं। परीक्षाके लिए एक प्रसंग आ गया। कोई सभा हो रही थी, जिसमें अर्जुनको भी सम्मिलित होना था। उनके आनेमें बिलम्ब हो गया, तो भगवान्ने कहाकि अर्जुनकी प्रतीक्षा करो। नारदजीने कहा—आप सभा आरम्भ कीजिये। मैं अर्जुनको लेकर आता हूँ। अब ये अर्जुनके पास गये, तो देखते क्या हैं कि वे सो रहे हैं और उनके रोम-रोमसे 'कृष्ण'-'कृष्ण' की ध्वनि निकल रही है। नारदजी विभोर हो गये और उन्होंने भी अपनी वीणा बजाना शुरू कर दी। अर्जुनके रोम-रोमसे निकले 'कृष्ण'-'कृष्ण' और उसे स्वर दें नारद। बहुत देरके बाद कोई और गये, तो वे भी वहीं रम गये। फिर स्वयं श्रीकृष्ण गये और वहाँका दृश्य देखकर नाचने लग गये। नारदजीका भ्रम दूर हो गया। वास्तवमें यह भी प्रेमकी कला है जो संगीत और नृत्य सिखा देती है।

प्रेमगुरुणा गौरीगणः शिक्ष्यते।

प्रेम गुरु होता है। जिसके हृदयमें आता है उसकी बोलीमें संगीत और उसकी चालमें नृत्य भर देता है। प्रेमीको नृत्य या गाना सीखना नहीं पड़ता, उसकी वाणी स्वयं गुनगुनाने लगती है और पाँव थिरकने लगते हैं। यह प्रेमगुरुकी महिमा है।

अर्जुन भक्तके साथ-साथ सखा भी हैं। उन्होंने गीतामें स्वयं भगवान्के सामने स्वीकार किया है कि मैंने आपसे बहुत हँसी-मजाक किया है। हँसी-मजाकके माध्यमसे आपका तिरस्कार भी कर डाला है—

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु। (11.42)

अर्जुन और श्रीकृष्णमें इतनी घनिष्ठता थी कि वे अपनी-अपनी पत्नियों—द्रोपदी और सत्यभामाके साथ एक ही कमरेमें रहते थे। उनका खाना-पीना और सोना सब एक साथ चलता था। इस सम्बन्धकी आलोचनाओंका उत्तर कुमारिल्लभट्टने अपने तन्त्र-वार्तिकमें दिया है। कहा है कि महाभारतका यह प्रसंग बड़ा उत्तम है।

अर्जुन सखा होनेके कारण कभी-कभी विहार, शयन, आसन, भोजन आदिमें भगवान्का तिरस्कार तो कर देते हैं, किन्तु जब सम्बन्धकी चर्चा करते हैं तब कहते हैं—

पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्। (11.44)

अर्थात् जैसे पिता पुत्रका, मित्र मित्रका और पति-पत्नीका अपराध क्षमा करता है वैसे ही आप हमारे उपहासको क्षमा कर दीजिये। जब अर्जुनमें ऐश्वर्यकी बुद्धि आयी तो सख्यबुद्धि गौण पड़ गयी।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि तुम मेरे सखा हो इसलिए अब मैं तुमको उत्तम रहस्य बताता हूँ। 'सखा' शब्दका एक अर्थ 'सह खादति' और दूसरा 'सह ख्यायते' है। 'सह खादति' माने एक साथ खाये और 'सह ख्यायते' माने एक साथ नाम लिया जाये। जैसे श्रीकृष्णार्जुन। एकका नाम लेते ही दूसरा नाम आये—

ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यमाख्याति पृच्छति।
भुङ्क्ते भोजयते चैव षड्विधं प्रीतिलक्षणम्॥

अर्थात् सखा वह है जो देता है, लेता है, पूछता है, बताता है, खाता है, खिलाता है। इसीका नाम सख्य है जो भगवान् श्रीकृष्णका अर्जुनके साथ मुख्यरूपसे चलता है।

अच्छा; अब आगे बढ़ें। अर्जुनने जब रहस्यकी वात सुनी तब भगवान्से एक बात पूछ ली । वह बात अर्जुनको मालूम नहीं थी, ऐसा तो नहीं लगता, क्योंकि आगे चलकर उन्होंने कहा है—

असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे। (10.13)

असित, देवल, महर्षि नारद और व्यास इन सबने मुझको यह बताया है कि श्रीकृष्ण साक्षात् परब्रह्म हैं। आप स्वयं भी यही कह रहे हैं। अतः यह बताइये कि सूर्य बहुत पुराने हैं और आप बादमें पैदा हुए हैं। मनु भी आपसे पूर्वके हैं। उनके वंशज इक्ष्वाकुका काल भी दूसरा है फिर आपने अपने पूर्वके लोगोंको उपदेश कैसे किया? यह शंका अर्जुनने इसलिए प्रकट की कि लोगोंको श्रीकृष्णके स्वरूपका भान हो जाये। इसका उत्तर श्रीकृष्णने यह दिया कि योग अव्यय है और मैं भी अव्यय हूँ। गीतामें अव्यय शब्दका प्रयोग जीवके लिए भी है, जगत्के लिए भी—

अश्वत्थं प्राहुरव्ययम्। (15.1)

परमेश्वर भी अव्यय है और उसकी प्राप्तिका उपाय भी। इस प्रकार अव्ययका प्रयोग प्रायः सबके लिए है। जो ईश्वर सर्वथा निराकार होता है और जिसमें आकार ग्रहण करनेकी क्षमता नहीं होती, वह तो असमर्थ है—सामर्थ्य-हीन है।

हम नैनीतालमें एक राजाके यहाँ ठहरे हुए थे। एक दिन वे दाढ़ी मूँछ लगाकर आये और हमको बताया कि हमने फैन्सी ड्रेस शोके लिए (यह वेश) धारण किया है। वे थे राजा और उन्होंने साधुका वेश बना लिया था। हमारा कमण्डलु भी ले गये थे। पहचानमें नहीं आते थे। सर्वथा साधु लगते थे। एक लौकिक राजा साधुका वेश बना सकता है और साक्षात् परमेश्वर मनुष्यका वेश नहीं बना सकता? यह मान्यता तो ईश्वरका तिरस्कार है। वास्तवमें सभी तत्त्व यहाँतक कि पृथिवी भी निराकार है। क्योंकि पृथिवीका कारण है परमाणु और वह साकार नहीं। परमाणुसे कार्यरूप पृथिवी बन जाती है, किन्तु वे स्वयं निराकार होते हैं, निष्क्रिय होते हैं, अनगढ़ होते हैं। परमाणुओंमें आकार-विकार नहीं होता, परन्तु वे मिलकर संघात बनाते हैं, प्रसरण बनाते हैं और उनसे

सृष्टि बनती है। एक स्थूल उदाहरण लीजिये। आपके हाथमें जो शीशा है उसका आकार क्या है? वह कंगन है, कुण्डल है या सिल्ली है? सोनेका अवतार है सिल्ली, सोनेका अवतार है कंगन या कुण्डल। उसका जो गलाया हुआ रूप है वह भी उसका असली स्वरूप नहीं। सोनेका अपना कोई रूप नहीं। वह तत्त्व रूपसे निराकार है। उससे कंगन, कुण्डल, सिल्ली या द्रव कुछ भी बना लीजिये, ये सब रूप-स्वर्णके अवतार ही होते हैं। जब कोई भी मूल वस्तु अवतार लेती है तभी वह हमारी दृष्टिका विषय होती है। जो परमेश्वर केवल निराकार है वह हमारे हृदयमें कैसे आ सकता है? हमारा छोटा-सा हृदय किसी बड़े परमेश्वरको अपने भीतर ले नहीं सकता क्योंकि वह असमर्थ हैं, अक्षम है। जो अक्षम नहीं है, उसे संस्कृतमें क्षम कहते हैं—सक्षम नहीं, जैसा कि हिन्दीमें कहा जाता है। क्षमका अर्थ है—करनेमें समर्थ। सक्षमका अर्थ है—क्षमाके साथ=क्षमायुक्त। यह एक बात मैंने ऐसे ही आपको सुना दी।

अब, हमारे जो ईश्वर हैं वे संसार द्वारा स्वीकार किये गये अन्य ईश्वरोंसे कुछ विलक्षण हैं। हमारे वैदिक ईश्वरको समझना थोड़ा कठिन है, क्योंकि वे इस जगत्‌के अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। दुनियाको बनाया भी उन्होंने ही और दुनियाके रूपमें बने भी वही। वही सबको बनानेवाले हैं, वही सब हैं, और वही सबमें हैं। वह प्राज्ञके रूपमें सर्वकारण है, ईश्वरके रूपमें सबका बीज है, हिरण्यगर्भके रूपमें सबका अंकुर है और विराट्के रूपमें वृक्ष है। वह परमेश्वर ही सम्पूर्ण विश्व-सृष्टिके रूपमें प्रकट होता है। अन्यथा भगवान्‌का सर्वत्र और सब रूपोंमें दर्शन बिलकुल झूठी कल्पना हो जायेगी। परमेश्वर वह सोना है जिससे जगत्‌के आभूषण बनते हैं, वह मिट्टी है जिससे जगत्‌के घट-पटादि बनते हैं, वह लोहा है जिससे सब औजारोंका निर्माण होता है। दुनियाका मूल तत्त्व है परमेश्वर। उसके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं। चाहे जहाँ और चाहे जिस पदार्थमें हम परमेश्वरका दर्शन कर सकते हैं। आकार, मूल द्रव्यका अवतार होता है। जगत्‌की मूल-भूत वस्तु ही आकारके रूपमें परिवर्तित होती है। ईसाई धर्ममें परमेश्वर को जगत्‌का उपादान नहीं मानते, निमित्त मानते हैं। मुस्लिम धर्ममें भी परमेश्वरको जगत्‌का उपादान नहीं मानते, निमित्त मानते हैं। हमारे आर्यसमाजी लोग भी परमेश्वरको जगत्‌का निमित्त कारण ही मानते हैं, उपादान कारण नहीं। किन्तु हमारा जो सनातन वैदिक धर्म है वह परमेश्वरको जगत्‌का निमित्त कारण माननेके साथ-साथ उपादान कारण भी मानता है। उसकी मान्यताके अनुसार परमेश्वर ही वह मसाला या मैटर है जिससे यह जगत् बना है। अतः जगत्‌में परमेश्वरका अवतार भी होता है और मूर्ति भी होती है।

अब आप यह देखिये कि निराकार ईश्वर निष्प्राण अथवा हृदयहीन तत्त्व है क्या? यदि हृदयहीन नहीं तो भक्तोंकी प्रार्थना क्यों न सुने अथवा अपनी सृष्टिमें आवश्यकता समझकर क्यों नहीं अवतरित हो? आप इन श्लोकोंमें अवतारके मूल रूपका विवेचन, अवतारकी प्रक्रिया और अवतारका प्रयोजन देखें—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।

यह है अवतारका मूल स्वरूप;

प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया। (4.6)

यह है अवतारकी प्रक्रिया; और

> **यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।**
> **अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥** (4.6)
> **परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।**
> **धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥** (4.8)

यह है अवतारका प्रयोजन, अवतार लेनेपर भी ईश्वरमें कोई विकार नहीं आता, यह बात इस श्लोकमें बतायी गयी है—

> **जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।**
> **त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥** (4.9)

अब इन चार श्लोकोंसे प्रतिपादित अवतारके स्वरूप, प्रक्रिया प्रयोजन एवं निर्विकारताका फल हमारे जीवनमें कैसे आयेगा यह भी बता दिया—

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन।

आप लोग एक-एक श्लोक पर ध्यान दें। परमात्मा अजन्मा होते हुए भी जन्म लेता है। संसारमें दो तरहसे जन्म होता है, एक क्रियासे दूसरा विक्रिया से। क्रिया और विक्रियामें अन्तर होता है। जब हम बच्चे जवान और जवानसे बूढ़े होते हैं तब इसका नाम विक्रिया है। हमारा एक रूपसे दूसरे रूपमें बदलना स्वाभाविक एवं प्राकृत विकार है। प्रकृतिसे महत्, महत्से अहंकार और अहंकारसे तन्मात्राओंमें रूपान्तरण भी विक्रिया ही है। किन्तु जब सृष्टिकर्ता ब्रह्मा मनुष्य, पशु, पक्षी आदिका सृजन करते हैं तब वह क्रिया होती है। गढ़े हुए आकार दूसरे होते हैं और अपने आप बने हुए आकार दूसरे होते हैं। आप पहाड़में-से पत्थर उठा ले आइये, उसकी जो आकृति है, वह प्राकृत है किन्तु जब छेनी-हथौड़ेसे उसमें कोई आकृति बनाते हैं तब उसका रूप दूसरा हो जाता है। वैसे क्रियासे भी आकार बनता है और विक्रियासे—विकारसे भी आकार बनता है। किन्तु भगवान्‌का जो स्वरूप है एक तो अजन्मा है और दूसरे उसमें विकार नहीं होता, कोई परिवर्तन नहीं होता—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा! एक विशेषता यह भी है कि भगवान् सम्पूर्ण भूतोंके ईश्वर हैं—

ईश्वरोऽपि सन् वे जड़ तत्त्व नहीं, इसलिए चेतन और स्वाधीन तत्त्व होनेके कारण जब उस सहृदय परमेश्वरमें कोई संकल्प उठता है तब वे उसके अनुसार अपना रूप प्रकट कर लेते हैं।

आपने सुना होगा, अकबरने बीरबलसे पूछा—'तुम्हारे ईश्वरके पास कोई अच्छा आदमी नहीं है क्या? जब जरूरत पड़ती है तो खुद ही संसारमें आता है। अपने किसी आदमीको क्यों नहीं भेज देता?

बीरबल बोले कि इसका उत्तर हम आपको समयपर देंगे। उन्होंने अकबरके छोटे लड़केकी एक मूर्ति बनवायी, उसको कपड़ा पहिनाया और आयाको सिखा-समझा दिया। जब सब लोग नावपर जल क्रीड़ा करने गये तब आयाने सिखानेके अनुसार बनावटी बच्चेको इस प्रकार पानीमें गिरा दिया जैसे वह गफलतसे उसके

हाथसे छूट गया हो। नदीमें गिरते ही अकबरने आव देखा न ताव, न किसीसे इशारा किया, पकड़नेके लिए वही कूद पड़ा, जब लाये तो वह मोमका पुतला था, लड़का नहीं। अब तो अकबर बहुत नाराज हुए कि यह क्या बदतमीजी है? बीरबलने विनयपूर्वक कहा 'हुजूर यह आपके प्रश्नका उत्तर है। यहीं हम सब आपके कर्मचारी आपको आज्ञापर कूद पड़नेवाले—मर जानेवाले मौजूद हैं। लेकिन आपने हमलोगोंमें-से किसीको भी हुक्म नहीं दिया, और बच्चेको बचाने स्वयं कूद पड़े। हमारा ईश्वर भी तब वह अपने किसी आदमीको न भेजकर स्वयं कूद पड़ता है।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय

इसमें प्रकृति शब्दसे यह मत समझ लेना कि कोई जड़ प्रकृति है। भगवान्ने कहा—'स्वां प्रकृतिम्'—यह मेरी अपनी प्रकृति है और इसपर मेरा पूर्ण अधिकार है। यह मेरी प्रकृष्ट रचना है। प्र=प्रकृष्ट, और कृति=रचना अथवा प्र=प्रथम और कृति=कारीगरी! भगवान्की पहली कारीगरी यह है कि उन्होंने आत्म-मायया=अपनी मायासे अपने अपने आपमें ही जादूका खेल दिखाया और कहा कि देखो मैं मनुष्य बनाता हूँ, पशु-पक्षीके रूपमें प्रकट होता हूँ, मैं बूढ़ा हूँ, मैं जवान हूँ। वेदके मन्त्र बोलते हैं—

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्व जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः॥

(श्वेताश्व० उप० 4.3)

'प्रभो! तुम्ही स्त्री हो, तुम्हीं पुरुष हो, तुम्हीं कुमार हो, तुम्हीं कुमारी हो। तुम्हीं सबके रूपमें प्रकट होते हो। तुम्हीं बूढ़े बाबा बनकर लठिया टेकते हुए रास्तेपर चलते हो, मैं तुमको पहचान गया, पहचान गया।'

जब हम यह कहेंगे कि यह परमेश्वर नहीं, तो इसका अर्थ होगा कि देशमें, कालमें, इस रूपमें परमेश्वर नहीं और जो इस देशमें, इस कालमें, इस रूपमें नहीं होगा वह परिपूर्ण कैसे होगा?

यह भगवान्का जादूका खेल है कि वह अपनेको ही सब रूपोंमें दिखा रहे हैं और भक्त लोग उनको पहचानते हैं। श्रीहनुमानजी रावणके दरबारमें गये। सबको दीख रहा था रावण और हनुमानजीको रावणमें दीख रहे थे राम। आप गोस्वामी तुलसीदासजीका चित्रण देखिये—

जाके बल लवलेस ते जितेहु चराचर झारि।

रावणमें जो शक्ति है, वह उसकी अपनी नहीं, भगवान्की है। रावण भी प्रेमसे शून्य नहीं। उसमें कितनी श्रद्धा है, कितनी प्रीति है, इसका चित्रण रामचरितमानसमें पढ़िये। वे रावणको नितान्त दुष्ट नहीं कहते। क्योंकि वह कभी-कभी मन-ही-मन जानकीके चरणोंकी वन्दना भी करता है और ऐसा करके सुखी भी होता है—

मन महँ चरन बन्दि सुख माना।

हम रावणको गाली दे सकते हैं, पर उसमें भी जो अच्छाई है, उसे भक्तलोग देखते हैं। कपटी मारीचमें भी अन्त: प्रेम था, जिसे गोस्वामीजीके शब्दोंमें श्रीरामने पहचान लिया—

अन्तर प्रेम तासु पहिचाना।
मुनि दुर्लभ गति दीन्ह सुजाना॥

जहाँ हनुमानजीको भगवान् राम दीखते हैं, जहाँ रावणमें भी सद्भाव दीखता है, लोग कैकेयीको गाली देते हैं किन्तु; गोस्वामीजीके शब्दोंमें भगवान् राम यह कहते हैं—

जननी दोष देहिं जड़ तेई।
सपनेहुँ साधु सभा नहिं सेई॥

कैकेयीको वे मूर्ख लोग ही दोष लगाते हैं जिन्होंने साधुओंकी सभाका सेवन नहीं किया। कितना उत्कृष्ट चित्रण है यह, जिसमें राग-द्वेषके लिए कोई स्थान ही नहीं।

भगवान् सर्वरूपमें प्रकट हो रहे हैं। आप उनके अवतारको पहचानिये और देखिये उनकी आत्म-माया, जिसके कारण वे अपनी प्रकृतिकी अपने वशमें करके अर्थात् अपनी ईश्वरताको छिपाकर छोटा-सा, नन्हा-सा रूप ग्रहण करते हैं।

अब यह विचार आया कि अवतारका प्रयोजन क्या है? प्रयोजन दो प्रकारका है। भगवान् अवतार लेते हैं सारी विश्वसृष्टिके लिए भी और व्यक्ति विशेषके लिए भी। उनको इसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता क्योंकि 'सर्वस्मिन् सर्वम्'—सबमें सब है। व्यक्तिमें समष्टि है और समष्टिमें व्यक्ति है। व्यक्तमें अव्यक्त है और अव्यक्तमें व्यक्त है। ये दोनों कभी अलग-अलग नहीं होते।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।

इसमे 'धर्मस्य' का तात्पर्य है 'धर्मात्मन:'। अर्थात् जब-जब धर्मात्माओंको ग्लानि होने लगती है। इसी प्रकारका लाक्षणिक अर्थ करना पड़ेगा ग्लानि शब्दका, जिसका प्रयोग धर्मके लिए किया गया है, क्योंकि धर्मको कभी ग्लानि नहीं होती। अत: धर्मसे उपलक्षित धर्मात्माको ग्लानि हो सकती है। ग्लानि एक मनोवृत्ति है। मनुष्यके मनमें जो सुख है, हर्ष है उसका क्षय हो जाये तो उसको कहते हैं ग्लानि। ग्लानि एक संचारी भाव है। साहित्यमें रसके साक्षात्कारके लिए जो संचारी भाव उदित होता है, उसका नाम है ग्लानि। जब धर्मात्माओंके मनमें यह अनुभव होने लगता है कि देखो जो लोग अधर्म करते हैं, वे तो सुखी हो रहे हैं और हमने इतना धर्म किया तब भी हमें दु:ख मिला, असफलता मिली और कष्ट सहना पड़ा, तब उन्हें ग्लानि होती है। कोई कष्ट-सहनपूर्वक धर्म करे और उनके मनमें अपने कष्टको देखकर उदासीका भाव उत्पन्न हो तो भगवान् कहते हैं कि अब चलकर धर्मपरायण व्यक्तिके हृदयको उत्थान प्रदान करना चाहिए, ऊपर उठाना चाहिए। जब किसी रोगीकी आँखकी पुतली नीचे होने लगती है तब डाक्टर लोग उसे ऊपर उठा देते हैं। इसी प्रकार जब मनुष्यका हृदय नीचे गिरने लगता है तब भगवान् उसे पकड़कर ऊपर उठानेके लिए सामने आ जाते हैं और कहते हैं कि ऊपर मेरी ओर देखो। ऐसा तो इस

संसारमें मित्रगण भी करते हैं। यदि कोई उदास होकर मुँह लटका दे, नीचे देखने लगे, उसकी आँखोंमें आँसू आये तो उसका जो मित्र या प्रेमी होता है वह उसकी ठोड़ी पकड़कर उसके मुँहको ऊपर उठा देता है और कहता है कि मेरी ओर देखो। इतनेसे ही उस व्यक्तिकी उदासी दूर हो जाती है और वह मुस्करा देता है।

भगवान् कहते हैं कि जब-जब धर्मात्माओंको ग्लानि होती है और अधर्म सिर उठाकर खड़ा हो जाता है अर्थात् अधार्मिक लोग यह कहने लगते हैं कि ये ऐसा करूँगा, मेरा इतना बड़ा पद है, ओहदा है, मेरे इतने अनुयायी हैं, इतनी सम्पदा है, मैं जो चाहूँ कर सकता हूँ, तुम मेरा क्या कर लोगे और अपने जब लौकिक बलके आधारपर धार्मिकोंके ऊपर धावा बोल देते हैं तब-तब मैं प्रकट होता हूँ **अभ्युत्थानमधर्मस्य** में जो अभ्युत्थान है, उसका प्रयोग तब होता है, जब एक राजाकी सेना दूसरे राजाकी सेनापर धावा बोलती है। भगवान् कहते हैं कि ऐसे समयमें मैं अपने आपको भिन्न-भिन्न रूपोंमें प्रकट करता हूँ।

अब आप फिर देखो अवतारकी बात। शालिग्राम भी भगवान्का एक अवतार है। आप लोगोंने सुना होगा श्रीरामानुज-सम्प्रदायमें इसको अर्चावतार मानते हैं। सोचो अगर भगवान् सब न हों तो वे तुलसी कैसे बनेंगे, पीपल कैसे बनेंगे, गंगा कैसे बनेंगे? गंगाजी तो भगवान्का प्रत्यक्ष अवतार हैं, ब्रह्म-द्रव हैं। इसी प्रकार मछली, कछुआ, सिंह, घोड़ा, आदि सब रूपोंमें भगवान्की अभिव्यक्ति भी उनका अवतार है। अवतारका अर्थ है नीचे उतरकर किसीको ऊपर निकालना। हमने अपने गाँवमें देखा, एक स्त्री पानी भरने कुएँपर गयी। उसका पाँव फिसल गया और वह कुएँमें गिर गयी। जब उसके पतिको पता चला तो वह दौड़ा हुआ आया और बिना सोचे-विचारे कूद पड़ा। उसने अपनी पत्नीको पकड़ लिया और तब पुकारा कि रस्सी फेंको। रस्सी फेंकी गयी और तब दोनोंको ऊपर खींचा गया। अवतारमें जो 'अव' है उसका अर्थ संस्कृतमें नीचे और 'तरण' का अर्थ तैरना होता है। पानीमें डूबे हुओंको निकालनेके लिए भगवान् जलावतार लेते हैं। जब गजेन्द्र पानीमें डूब रहा था तो उसको उबारनेके लिए भगवान्ने पानीमें डुबकी लगायी, गजेन्द्रको दोनों हाथसे पकड़ा और ग्राहके साथ ऊपर उठाकर बाहर कर दिया। द्रौपदी जब नंगीकी जाने लगी तो उसकी लाज बचानेके लिए भगवान्ने वस्त्रावतार ग्रहण किया। वे ऐसे वस्त्र बने कि उनमें और द्रौपदीमें कोई भेद नहीं रह गया। कविको कहना पड़ता—

नारी मध्य सारी है कि सारी मध्य नारी है।
नारी ही की सारी है कि सारी ही की नारी है॥

वेदान्ती लोग अवतार शब्दका जो अर्थ लेते हैं वह बहुत विलक्षण है। सच पूछो तो अवतारके बिना वेदान्तियोंका काम ही नहीं चल सकता। मैं वेदान्त-सिद्धान्तका प्रामाणिक पण्डित हूँ। विशेषकर शांकर-सिद्धान्त मेरा अपना विषय है। आप मेरे इस अहंभावको अभिव्यक्तिको इस अर्थमें लें कि मैं आपके हृदयमें विश्वास पैदा करना चाहता हूँ। आपके विश्वासके लिए यदि मुझे अहंभाव भी प्रकट करना पड़े तो वह अनुचित

नहीं। आप देखें कि ब्रह्म आपको मुक्त कर सकता है? अथवा आपका बन्धन काट सकता है? यदि ब्रह्म ऐसा कर सकता तो अबसे बहुत पहले बन्धन काट देता और मुक्ति दे देता।

वास्तवमें जैसे भक्तोंके लिए वरदानके निमित्तसे भगवान्का अवतार होता है वैसे ही महावाक्यके निमित्तसे जब हमारी चित्त-वृत्तिमें परब्रह्म परमात्माका अवतार होता है तब वह अवतीर्ण परमात्मा ही अविद्याका नाश करता है। परमात्मा अपने स्वरूपमें रहता हुआ अविद्याका नाश नहीं करता। जब वह वृत्त्यारूढ़ चेतनके रूपमें अवतरित होता है तभी हमारी अविद्याको निवृत्त करता है। जिसको वेदान्तका संस्कार हो वह इस बातपर ध्यान दे। ब्रह्महृदमें उतरनेके लिए, ब्रह्मके महासमुद्रमें अवतरणके लिए जो सोपानका—सीढ़ीका काम देता है उसीको अवतार बोलते हैं। अवतार माने बड़ी भारी गहराईमें उतरनेका साधन। विषयोंसे गहरी इन्द्रियाँ, इन्द्रियोंसे गहरा अन्तःकरण, अन्तःकरणसे गहरा साक्षी और साक्षीसे गहरे अद्वितीय परब्रह्मके साक्षात्कारके लिए परमात्माके अवतारकी आवश्यकता होती है। जब परमात्मा कौशल्याके राम बनते हैं, देवकीके कृष्ण बनते हैं और हमारी वृत्तिमें आरूढ़ चेतन बनते हैं तब वे हमारे बन्धनको काटते हैं, अविद्याको निवृत्त करते हैं। अवतारके बिना तो अविद्याकी निवृत्ति हो ही नहीं सकती। इसी सिद्धान्तको प्रकट करनेके लिए उसको वेदान्तमें आरूढ़-चेतन और भक्तिमें अवतार बोलते हैं। अवतारकी मान्यताके बिना, भक्ति सिद्धान्तके द्वारा, वेदान्तकी व्याख्या नहीं हो सकेगी। अवतार ही उसकी मूल पृष्ठभूमि है। एक बात और है। आप लोग इससे डरें नहीं। जीव और ईश्वर दोनों भाई-भाई हैं। इनमें यह बँटवारा हुआ था कि रूप ईश्वरके पास रहेगा और नाम जीवके पास। ईश्वरने अपने रूपोंको अब नामके अधीन कर दिया और जीवसे कहा कि जब तुम नाम लेकर पुकारोगे तो रूप हाजिर हो जायेगा। यही है अवतारकी प्रक्रिया। जितने गुण जीवमें होते हैं उतने ही भगवान्में भी होते हैं। हाँ, उतने ही—न कम न ज्यादा, गिनतीमें बराबर-बराबर। क्योंकि दोनों एक ही तत्त्व हैं। जीव उसको कहते हैं जो गुण-दोषोंको मैं-मेरा मानकर स्वीकार कर लेता है और ईश्वर उसको कहते हैं जो इन गुण-दोषोंके प्रकट होनेपर भी अपने ज्ञानका बाध नहीं करता। गुण-दोष उसकी मायामें दीखते रहते हैं और वह सर्वज्ञ बना रहता है। इसलिए हम देखते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण अपनी मायाका दूध उसी प्रकार पीना चाहते हैं जैसे जीव पीना चाहता है। वे दूधके लिए वैसे ही रोते हैं जैसे जीव रोता है। जैसे जीव कभी गुस्सेमें आकर गड़बड़ी करता है तोड़-फोड़ कर देता है वैसे ही श्रीकृष्ण भी करते हैं। जैसे जीव भागता है वैसे ही ईश्वर भी भागता है। जैसे जीव पकड़ा जाता है वैसे ही ईश्वर भी पकड़ा जाता है। जैसे जीव बँधता है, भय खाता है, पलायन करता है वैसे ही ईश्वर भी करता है, जैसे उसका कोई बन्धन नहीं मैय्या बाँधती है तो बँध जाता है, खोलती है तो खुल जाता है, वैसे ही जीव भी निर्बन्ध है। जीव जो-जो करता है ईश्वर वही-वही करेगा तो उन दोनोंमें बराबरी नहीं होगी। यदि बराबरी नहीं होगी तो दोनों एक साथ कैसे रहेंगे? दोनोंकी एकता होनेके लिए बराबरी भी आवश्यक है। अन्तर केवल इतना है कि जीवमें गुण-दोष अविद्यासे हैं और ईश्वरमें मायासे हैं। जब माया और अविद्याका पर्दा अलग करके देखते हैं तो दोनों एक हैं। इसलिए जब हम जीवका जन्म उसके

कर्मानुसार मानते हैं तो भगवान्‌का जन्म भी उसकी स्वेच्छासे मानना पड़ेगा। ईश्वरकी तरह जीव भी निराकार है। उसको साकार सिद्ध करनेवाला सृष्टिमें कोई है नहीं। जिस प्रकार निराकार जीवका जन्म सिद्ध हो सकता है उसी प्रकार निराकार परमात्माका जन्म भी अवश्य हो सकता है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥ (4.9)

भगवान्‌का जन्म दिव्य है और जीवका जन्म कार्मिक है। भगवान्‌के जन्मकी दिव्यता जान लेनेपर जीव भी दिव्य हो जाता है। इसलिए क्यों न हम भगवान्‌के जन्म-कर्मकी दिव्यताका ज्ञान प्राप्त करें। उसके द्वारा स्वयं भी अपने जन्म, कर्मके बन्धनसे छूट जायें। गीता हमारा मार्ग-दर्शन करनेके लिए प्रस्तुत है। वह ऐसी विद्या है जो हमारी हीनता, घृणा, ग्लानि, पाप-ताप, अज्ञान और दुःखादिको ध्वस्त करके हमें परमेश्वरके साथ एकाकार कर सकती है।

●

प्रवचन : 9

(24-11-74)

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—**आत्मानं सृजाम्यहम्** मैं अपनी सृष्टि करता हूँ। यह सृष्टि किसी दूसरेको नहीं आत्माकी है। इसका अर्थ यह हुआ कि भगवान् श्रीकृष्णका शरीर प्रकृत नहीं, पञ्चभूतका बना हुआ नहीं। वे प्रकृतिसे करते हैं वशमें और आत्म-संकल्पसे करते हैं सृष्टि। माया शब्दका अर्थ आचार्य रामानुजने ज्ञान किया—**माया तु वयुनम् ज्ञानम्।** माया शब्दका अर्थ संकल्प भी है। **स्वां प्रकृतिम् अधिष्ठाय** में जो प्रकृति है वह सांख्यमें वर्णित जड़ प्रकृतिसे भिन्न है। सांख्यकी जड़ प्रकृति तो अनियन्त्रित है, ईश्वरके अधीन नहीं, किन्तु गीतामें जिस प्रकृतिका वर्णन है वह ईश्वराधीन है। **मया भूतं सचराचरम्**—भगवान्ने अपनी प्रकृतिको वशमें करके, स्वसंकल्पसे अपने आपको ही व्यक्तिके रूपमें प्रकट किया। इसलिए श्रीकृष्णका व्यक्तित्व सच्चिदानन्दघन है। सच्चिदानन्दघनका अर्थ है निर्विकार। श्रीकृष्ण निर्विकार हैं। भागवतमें इसका उल्लेख अनेक स्थानों पर है!

तमयं मन्यते लोको ह्यसङ्गमपि सङ्गिनम्।
आत्मौपम्येन मनुजं व्यापृण्वानं यतोऽबुधः॥ 1.11.37

मूर्ख लोग श्रीकृष्णको विकारी मानते हैं किन्तु विद्वान् निर्विकार मानते हैं—

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥

श्रीकृष्णके अव्यय भावको न जाननेके कारण ही लोग उनको व्यक्ति मानते हैं—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् (9.11)

मनुष्यके समान जूझते हुए भी भगवान् श्रीकृष्ण मनुष्य नहीं। यह बात **आत्मानं सृजाम्यहम्** से स्पष्ट हो जाती है। तात्पर्य यह कि श्रीकृष्णकी आत्माका जो स्वरूप है वही उनके शरीरका भी है। श्रीरामानुजाचार्यने यह प्रश्न उठाया **किमात्मिका भगवतोऽभिव्यक्तिः**—भगवान्की अभिव्यक्ति क्या होती है? जो भगवान् है वही भगवान्का व्यक्तित्व है। **किमात्मको भगवान्? यदात्मिका अभिव्यक्तिः** जैसी उनकी अभिव्यक्ति है वैसे ही भगवान् हैं और जैसे भगवान् हैं वैसी ही उनकी अभिव्यक्ति है। ऐसे श्रीकृष्णको आप पहचान लें तो परब्रह्मको पहचान लेंगे। निर्विकार तत्त्व ही श्रीकृष्णके रूपमें प्रकट हुआ है।

अब भक्त लोगोंने भगवान्‌के सम्बन्धमें जो भाव प्रकट किये हैं उनमें-से कुछको सुनाये बिना आगे बढ़ना कठिन है। वे कहते हैं कि साधु-परित्राणके लिए अर्थात् साधुओंकी रक्षाके लिए भगवान् अवतार ग्रहण करते हैं। रक्षा कौन-सा ऐसा काम है, जिसके लिए भगवान्‌को अवतार लेना पड़े। वे चाहें तो उनमें इतना सामर्थ्य है कि साधुओंको कष्ट पहुँचानेवालोंको पैदा ही न करें। यदि कष्ट पहुँचानेवाले पैदा भी हों तो भगवान् उनका मन मोड़कर उन्हें साधुसेवी बना सकते हैं। यदि मनको न मोड़े तो दुष्टोंकी दुष्टताका महाप्रलय कर सकते हैं। इसके लिए अवतार लेनेकी क्या आवश्यकता है? यह हुआ भक्तोंका भाव। वे भगवान्‌को अपने लिए तनिक भी कष्ट देना नहीं चाहते।

भगवान् साधुओंकी रक्षाके लिए अवतार लेते हैं। साधु माने सज्जन। गीतामें साधु शब्दका प्रयोग है—

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत् प्रयुज्यते। (17.26)

यहाँ साधु शब्दका प्रयोग किसी सम्प्रदाय, मजहब अथवा वेशभूषाके लिए नहीं। साधु तो गृहस्थ और वेशधारी सभी होते हैं। वेशधारी होकर साधुताका आचरण न रखते हों वे केवल वेशधारण करने मात्रसे साधु नहीं हो सकते। किन्तु वेशधारी न हों और उनके हृदयमें साधुता हो तो वे साधुओंसे भी बढ़कर हैं। वैयाकरणोंने साधु शब्दका अर्थ यह माना है कि जो परोपकारपरायण हो वह साधु है। उनकी व्युपत्तिके अनुसार तो जो दूसरोंका काम बना दें, सिद्ध कर दे, उसका नाम साधु है-**साध्नोति परकार्यम्** इति। साधुओंकी रक्षाके प्रसंगपर वैष्णवाचार्योंने बड़े सुन्दर--सुन्दर भाव व्यक्त किये हैं। वे कहते हैं कि साधु श्रीकृष्णके तृष्णातत्त्व हैं। साधुके रूपमें श्रीकृष्णको तृष्णा प्रकट हुई है। श्रीकृष्णके दर्शनकी प्यास साधु बनकर आयी है। श्रीकृष्ण अपने स्थानसे कंस, शिशुपाल और जरासन्ध आदिका नाश करा सकते हैं। यह काम वैकुण्ठ और गोलोकसे भी हो सकता है, उनके संकल्पसे भी हो सकता है। भीमसेन, अर्जुन, बलरामसे भी हो सकता है। परन्तु यशोदाके मनमें जो भगवान्‌की माता बननेकी लालसा है, यह लालसा लेकर जब वे परमेश्वरके सामने प्रार्थना करती हैं कि 'प्रभो! तुम आओ हमारी गोदमें, हमारे बच्चे बनो, हमारा दूध पीओ, मैं तुम्हें चूँमू, तुम्हारे शरीरमें ऊबटन लगाऊँ, तेल लगाऊँ तुम्हें बघनखा पहनाऊँ, माखन खिलाऊँ-इसको कौन निर्गुण-निराकार भगवान् पूरा करेगा? यह लालसा तभी पूरी होगी जब भगवान् बालक बनकर यशोदाकी गोदमें आयेंगे। नन्दबाबा जब बालक श्रीकृष्णको कन्धेपर लेकर नाचने लगते हैं और वे उनकी दाढ़ी पकड़कर खींचते हैं, उनकी नाकमें ऊँगली डालते हैं, तब यह लीला क्या वैकुण्ठनाथ अथवा गोलोकनाथसे सम्पन्न हो सकेगी? इसके लिए तो उन्हें नन्द, यशोदाकी गोदमें आना ही पड़ेगा। इसके बिना नन्द-यशोदाकी वात्सल्य-सुख सम्बन्धी आकांक्षाकी रक्षा हो नहीं सकती। यदि भगवान् अपने भक्तोंकी लालसाका रक्षण नहीं करते तो यही कहना पड़ेगा कि उनके जो कल्पवृक्ष, चिन्तामणि, कामधेनु आदि नाम हैं वे बिलकुल झूठे हैं। सचमुच भगवान्‌में गोपियोंका वर्णन है कि वे क्या हैं? श्रीकृष्ण-दर्शनकी लालसा ही मूर्त होकर गोपियोंके रूपमें प्रकट है। आप यह मत देखिये कि गोपी ग्वालिन है। प्रत्युत यह देखिये कि श्रीकृष्ण-दर्शनकी प्यास, व्याकुलता, उत्कण्ठा मूर्तिमान होकर गोपीके रूपमें प्रकट हुई। साधुओं और महात्माओंके रूपोंमें जो भगवत्प्राप्ति-तृष्णा मूर्तिमान होकर रहती है उसकी

रक्षाके लिए भगवान्‌को अवतार ग्रहण करना पड़ता है। यह ऐश्वर्यसे बड़ी वस्तु है। ऐश्वर्य तो यशोदा माताने श्रीकृष्णके मुखमें तब देखा था जब श्रीकृष्णने दूध अधिक पी लिया। पहले तो यशोदा माताके मनमें दूध पिलानेकी लालसा थी और जब श्रीकृष्ण अधिक पीने लगे तब यह आशंका हुई कि कहीं अपच न हो जाये-अजीर्ण न हो जाये। वास्तवमें स्त्रीकी पूर्णता, उसके जीवनका साफल्य केवल सौन्दर्य-सद्‌गुणवती पत्नी होनेमें नहीं, उसकी पूर्णता-उनके सौभाग्यकी परिणति तो मातृत्वमें है। स्त्रीका एक होता है रूप-सौन्दर्य और दूसरा होता है-सौभाग्य-सौन्दर्य। रूप-सौन्दर्य भोग्य है और सौभाग्य-सौन्दर्य प्रदाता है। जिस माताके शरीरका दूध पुत्रके पेटमें नहीं गया उसका सौभाग्य-सौन्दर्य अधूरा ही रहेगा। उसका रूप-सौन्दर्य सफल हुआ परन्तु सौभाग्य-सौन्दर्य सार्थक नहीं हुआ। देखो स्त्री-पुरुषकी अपनी एक परम्परा है जो उनके माता-पितासे प्राप्त होती आ रही है। वहाँसे एक संस्कार आ रहा है, एक बीज आ रहा है। यदि माता उसे अपने पुत्रके पेटमें नहीं डालेगी, बाहरका ही संस्कार पुत्रके पेटमें पड़ेगा और उसीसे उसका संवर्द्धन होगा तो वह बड़ा होने पर यदि आज्ञा पालन न करे और कह दे कि तुमने मुझे कौन-सा अपना दूध पिलाया है, तो इसका क्या जवाब है। अत: अपने रक्तसे, अपने बीजसे, अपने संस्कारसे पुत्रका जो संवर्द्धन है वही स्त्रीका सौभाग्य-सौन्दर्य है और वह मातृत्वमें ही पूर्ण होता है।

यशोदा माता जो अपना दूध श्रीकृष्णको पिलाती हैं वह भगवान्‌को अर्पित होता है। वह दूध बाहरका नहीं, गायका भी दूध नहीं, अपितु उनका अपना दूध है। यशोदा माता पिलाना जानती हैं और छुड़ाना भी जानती है। जब छुड़ाना चाहती हैं तब उनके रुचिर, स्मित मुखारबिन्दका अवलोकन करती हैं, चुम्बन करती हैं। वे स्वयं मुस्कराती है और श्रीकृष्ण भी मुस्कराते हैं। श्रीकृष्ण समझाते है कि मैया हितकी भावनासे अजीर्णकी आशंका करती है परन्तु; फिर भी भगवान्‌ने अपने मुखमें विश्वका दर्शन करा दिया-

विश्वं विभागिपयसो-न च केवलोऽहम्।

श्रीकृष्णका तात्पर्य मैयाको डराना नहीं अपितु; यह है कि मेरे रूपमें सारी सृष्टि दूध पी रही है। इसका अर्थ यह भी है कि माता जब अपने बच्चेको दूध पिलाती है तो केवल अपने बच्चेको ही नहीं बल्कि विश्वके एक नागरिकको दूध पिलाती है। उसके द्वारा केवल उसका बेटा नहीं बल्कि सम्पूर्ण विश्वसृष्टि ही सम्वर्द्धित होती है।

अब श्रीकृष्णने अपना ऐश्वर्य दिखाकर जब दूसरी बार माताको आश्चर्यचकित करना चाहा तो उन्हें यह ध्यान आया कि मैया कहीं ईश्वर समझकर हाथ न जोड़ने लगे। अत: उन्होंने अपना ऐश्वर्य समेट लिया और फिर बालक बनकर माताका दूध पीने लगे। यह प्रसंग आता है कि ऐश्वर्य-दर्शन करनेके पश्चात् भगवान्‌ने पुत्र-स्नेहमयी यशोदा मैय्याको अपनी स्वजन-मोहिनी माया प्रदान की, और वे फिर श्रीकृष्णको पुत्र मानकर दूध पिलाने लगी। ईश्वरका रूप बड़ा है या पुत्रका? यशोदा माताको ईश्वरके रूपसे सन्तोष नहीं हुआ। वे श्रीकृष्णको पुत्रके रूपमें प्राप्त करके ही सन्तुष्ट हुईं। कभी-कभी ईश्वरका भी साधारणीकरण होना चाहिए। वह हमारा भाई, पुत्र, मित्र और प्रियतम हो। उसे अपनेसे बहुत दूर रखकर हम सन्तुष्ट नहीं हो सकते। जिन-जिन लोगोंने

ईश्वरको बहुत दूर रखा है उनके यहाँ भक्ति-भावनामें न्यूनता दिखायी पड़ती है। निराकारवादी ईश्वरका कितना भक्त होगा? कितना प्रेम करेगा? वहाँ तो प्रेम रसका उद्‌भव ही नहीं होगा।

भक्तजनोंके परित्राणके लिए भगवान्‌को बार-बार जन्म ग्रहण करना पड़ता है। तीन बार तो देवकी, अदिति और पृश्निके गर्भसे ही प्रकट हुए। न तो उनको माँ बनानेसे तृप्ति होती है और न माताओंको उन्हें पुत्र बनानेसे। यह अतृप्ति भी तो एक तत्त्व है। अर्जुन बड़े ज्ञानी, योद्धा और वीर थे। परन्तु उन्होंने गीता सुनते-सुनते कह दिया कि मुझे तृप्ति नहीं हो रही है-

भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्। (10.18)

मैं आपके वचनामृतको कानके प्यालेसे पीते-पीते तृप्त नहीं हो रहा। जैसे हम 'वन्स मोर' (Once More) कहते हैं वैसे ही अर्जुनने 'भूयः कथय' कहा, अर्थात् फिर कहो, फिर कहो। तात्पर्य यह कि भगवान बार-बार अवतार लें और हमारे मित्र, हमारे प्रियतम बनते रहें। एक भक्तने तो कहा-

हा हा कदानुभवितासि पदं दृशोर्मे।

हाय-हाय, हमारे जीवनमें वह समय कब आयेगा, जब, हम अपनी इन्हीं आँखोंसे तुम्हारे चरणोंके दर्शन करेंगे। भगवान् भी अपने भक्त महात्माओंके पेटमें रहने, दूध पीने, उनका प्यार पाने, उनके कन्धोंपर हाथ रखने ओर उनके वक्षःस्थलसे लगनेके लिए लालायित रहते हैं। साधु-महात्मा भी चाहते हैं कि भगवान् हमारे सजातीय होकर आयें, तभी उनसे हमारा अधिक प्रेम होगा। क्योंकि विजातीयसे प्रेम कुछ कम होता है, सजातीयसे अधिक होता है। अतः तुम मनुष्य बनकर आओ, तभी हम तुमसे प्रेम करेंगे। जब भगवान्‌को अपने प्रेमी साधुओंका मनोरथ पूरा करनेके लिए आना पड़ता है तब उनके जो प्रतिपक्षी है, विरोधी हैं उनको भगवान्‌का काम भी करना पड़ता है। आप जानते हैं गीतामें मौत नामकी कोई चीज है ही नहीं। मृत्युको दो कौड़ीकी कीमत भी दी हो ऐसा नहीं लगता। कहते हैं-

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि। (2.22)

मृत्यु क्या है? पुराने कपड़ोंको छोड़कर नये कपड़े पहन लेना है। इसलिए भगवान्‌ने जब साधु संत्रासक दुष्ट राक्षसों, दानवों और आसुरी सम्पदावालोंको देखा तो उन्होंने यह नहीं कहा कि ये बुरे हैं। कहा कि इन्होंने दुष्कर्मका चोला पहन रखा है, वह गन्दा है।

भगवान् जो दैत्योंको मारते हैं वह कोई हिंसा नहीं। केवल दैहिक दृष्टिसे हिंसा मालूम पड़ती है। जो लोग इस देहकी हड्डी, मांस, चामके अत्यन्त प्रेमी हो गये हैं उनके लिए मृत्यु बहुत बड़ी वस्तु मालूम पड़ती है। भगवान्‌के लिए उसका कोई मूल्य नहीं। इसलिए उनका मारना, कपड़े बदलवा देने जैसा ही है। भगवान् जीवात्माके संहारमें भी शृङ्गार करते हैं। उनकी दृष्टिमें देहकी नहीं जीवात्माकी कीमत है।

विनाशाय च दुष्कृताम्—संस्कृतमें विनाश शब्दका अर्थ—दृश्यको बदल देना होता है। णश्-अदर्शने धातु है जिसका अर्थ है जैसा दीख रहा है उसको परिवर्तित कर देना।

धर्मसंस्थापनार्थाय—मनुष्यमें मनुष्यता बनी रहे वह न देवता होना है और न दानव होना है। देवता

भोगी होता है और दानव क्रूर होता है। आपने कभी उपनिषदोंके प्रवचनोंमें सुना होगा एकबार मनुष्य, देवता और दानव तीनों प्रजापतिके पास गये और बोले कि उपदेश कीजिये (द्र० बृहदारण्यक ५.२) प्रजापतिने उपदेश किया—'द' और पूछा कि तुम लोगोंने क्या समझा? दैत्योंने कहा—समझ गये! हम लोग बहुत क्रूर है इसलिए आपने कहा कि दया करो। देवता बोले—हम लोग बहुत भोग करते हैं इसलिए आप कह रहे हैं—दमन करो। इन्द्रियोंको संयममें रखो। मनुष्योंने उत्तर दिया—आप कह रहे हैं कि तुम दान करो। क्योंकि हमलोग संग्रही हैं। इसमें संग्रह करनेका लोभ बहुत है। काम अधिक है देवतामें, क्रोध अधिक है दैत्यमें और लोभ अधिक है मनुष्योंमें। यह इन सबकी पहचान होती है।

मनुष्य देवता बनेगा तब भी धर्मच्युत होगा और दानव बनेगा तब भी धर्मच्युत होगा। इसलिए मनुष्यको मनुष्य होकर ही रहना चाहिए। मनुष्यकी रक्षा करनेवाली वस्तु है निर्लोभता। जो निर्लोभ रहेगा वही मनुष्यताकी रक्षा कर सकेगा!

भगवान्के अवतारका प्रयोजन क्या हुआ? **धर्मसंस्थापनार्थाय** मनुष्यको मनुष्यके धर्ममें स्थापित करना। जब हम ब्राह्मणको ब्राह्मणके धर्ममें, क्षत्रियको क्षत्रियके धर्ममें, वैश्यको वैश्यके धर्ममें और शूद्रको शूद्रके धर्ममें, स्थापित करें तभी धर्मका संस्थापन होता है। हमारा ऐसा बोलना भारतीय दृष्टिसे, वैदिक संस्कृतिकी दृष्टिसे बहुत ठीक है। इसमें कोई दोष नहीं। परन्तु भगवान्की वाणी, केवल भारतवर्षके लिए नहीं होती। भगवान्को केवल भारतवर्षका मानना उनको छोटा बनाना है। यह मानना कि भगवान् केवल वर्णाश्रम-धर्मानुयायियोंके लिए बोलते हैं, उचित नहीं। जो भारतवर्षके बाहरके हैं, और वर्णाश्रमी नहीं वे क्या भगवान्से वंचित हैं? वे भी भगवान्के हैं और उन सबके लिए भी भगवान् बोलते हैं। भगवान्की वाणीकी यही पहचान है कि उससे सत्त्वगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी सबका भला हो, सबके भीतर सद्भाव; चिद्भाव आनन्दभावकी प्रतिष्ठा हो। भगवान् सबको अपने आपका दान करते हैं। इसलिए धर्म-संस्थापनका अर्थ है पशुमें पशु-धर्म रहे, पक्षीमें पक्षीधर्म रहे और वृक्षमें वृक्ष-धर्म रहे, ये सब प्रसन्न रहें फूलें-फलें। भगवान् सबमें और सबके धर्मोंका संस्थापन करते हैं।

आपने देखा होगा श्रीमद्भागवतमें वृन्दावनके वृक्षोंकी कितनी प्रशंसा है—

अहो एषां वरं जन्म सर्वप्राण्युपजीवनम्।

(भा० 10-22-33)

कहते हैं कि इनके सामने चाहे अनजाने कोई भी आ जाये तो वह खाली हाथ नहीं लौटता। वृक्षमें यह धर्म है कि वह छाया देता है, सुगन्ध देता है, हवा देता है अपना फल-फूल देता है, यहाँ तक कि अपना सर्वस्व दे देता है। किसलिए? मनुष्योंके भलेके लिए। भगवान् कहते हैं कि इन वृक्षोंके सामने तो मनुष्योंकी सारी शान फीकी पड़ जाती है। वे अपना फल-फूल लेकर श्रीकृष्णके चरणोंमें झुक जाते हैं और सिद्ध करते हैं कि वे भी भगवान्के भक्त हैं। भगवान् इन वृक्ष-वनस्पतियोंके हृदयकी भक्ति जागृत करनेके लिए भी अवतार लेते हैं।

धर्मस्थापनका अर्थ पशु-पक्षियोंमें भी भक्तिभावनाकी स्थापना करना है। भागवतमें तो इसके इतने उदाहरण हैं कि मैं उनमें रमकर गीता सुनाना भूल गया हूँ।

पक्षी वृक्षोंपर बैठकर श्रीकृष्ण भगवान्‌का दर्शन करते हैं। मोर नाचता है, गाय घास चरना भूल जाती है, नदीका प्रवाह स्तम्भित हो जाता है, ये सब-के-सब समझते हैं कि हम भगवान्‌की सेवाके लिए हैं। क्योंकि इन सबमें भक्तिभाव जागृत करनेके लिए भगवान्‌का अवतार है। धर्म-संस्थापनका अभिप्राय इस कर्मकाण्डका उपदेश नहीं कि हमें दातुन कैसे करना चाहिए, हाथमें मिट्टी कैसे लगानी चाहिए और कपड़ा कैसे पहनना चाहिए? यदि यही सब बतानेके लिए भगवान्‌का अवतार होता हो तो वह संकीर्ण ही कहा जायेगा, इसके लिए ब्राह्मण लोग ही बहुत काफी हैं। भगवान् तो सम्पूर्ण प्रकृतिमें धर्मसंस्थापनके लिए प्रकट होते हैं।

धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।

इसमें जो 'युगे युगे' है इसका क्या तात्पर्य है? संस्कृतमें 'युग' शब्दका अर्थ होता है दो। युगमें दो क्या है? युग कालका एक अवयव है—कलियुग है,द्वापर है, त्रेता है,सत्ययुग है। युगमें एक तो काल होता है और दूसरे भगवान् होते हैं। जब सृष्टिमें कालकी प्रधानता हो जाती है और लोग भगवान्‌को भूल जाते हैं तब भगवान् अपनेको कालके साथ जोड़कर प्रकट होते हैं। जिससे कि लोग उन्हें कालमें देख सकें। युगे-युगेका अर्थ है कि वे समय पर भी प्रकट होते हैं और असमयमें भी प्रकट होते हैं। उस समय भी प्रकट होते हैं जिसका उल्लेख शास्त्रोंमें नहीं। उन्होंने जो मीरा, सूर, तुलसी आदि भक्तों को दर्शन दिया वह 'युगे-युगे' में कहाँ दिया वह तो सब-का-सब 'अयुगे' हुआ है। तो भगवान् अयुगमें भी अवतार लेते हैं और एक भक्तको सन्तुष्ट करने, सुख देनेके लिए भी प्रकट होते हैं। फिर उस अवतारको समेट भी लेते हैं। इसके 'भवामि' शब्दमें भी केवल भवामि नहीं, संभवामि है। भवामिका अर्थ है 'हो जाता हूँ'। यदि कोई कहे कि भगवान् अपना एक अंश फेंक देते होंगे तो ऐसी बात नहीं। भवामिके साथ 'सं' उपसर्ग लगा है जिसका अर्थ है 'सम्यक् भवामि' अर्थात् पूर्ण एवं पूर्णतम अवतार ग्रहण करता हूँ। साक्षात् परब्रह्म परमात्मा ही अवतार लेता है।

श्रीमद्भागवतमें श्रीकृष्णको **कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्** (1.3.28) और महारामायणमें श्रीरामको **रामस्तु भगवान् स्वयम्** कहा है। दोनों ही साक्षात् भगवान् हैं। असलमें भक्ति तब होगी, जब हमारे सामने व्यक्ति दीखे तो छोटा-सा, किन्तु उसको देखकर हमारी बुद्धि महान् हो जाये। उपासनाका रहस्य लोगोंके ध्यानमें नहीं आता। आप देखें तो पत्थरकी मूर्ति और आपके हृदयमें प्रकट हो जाये ज्योतिर्मय चेतन। देखे कुछ और, भाव बने कुछ और तब उपासना होती है। जैसा दिखायी पड़े, वैसा ही भाव बने—यह तो विज्ञान है, साइन्स है। भक्ति-भावना यह है कि दीखे तो माता, और मानो उसे जगज्जननी, दीखे पिता और मानो उसे परमेश्वर, दीखे मूर्ति और मानो उसे चेतन, इसीका नाम उपासना है। उपासनामें हमारे हृदयका भाव कैसे बन रहा है, उसका निमित्त क्या है, इसपर दृष्टि नहीं रहती। हम पीपलके पेड़ और तुलसीके पौधोंको देखते हैं, किन्तु ध्यान करते हैं पीपलके माध्यमसे भगवान् वासुदेवका और तुलसीके माध्यमसे साक्षात् जगज्जनी जगदम्बाका। तुलसी भगवत्प्रेयसी हैं, इतनी बड़ी प्रेयसी कि एक बार लक्ष्मीजीका उनसे सौतियाडाह हो गया। उन्होंने तुलसीजीको

शाप दे दिया कि 'जाओ तुम पौधा हो जाओ।' भगवान्‌ने सुना तो कहा कि 'अच्छा; तुलसी पौधा तो मैं पत्थर।' यह कहकर भगवान् स्वयं शालिग्राम बन गये। बोले—कि 'तुलसीके बिना मैं भोजन नहीं करूँगा।' तबसे तुलसी शालिग्रामपर चढ़ने लगी। एक कविको विनोद सूझा तो वह कह उठा—

आठों पहर चौंसठ घड़ी ठाकुर पर ठकुराइन चढ़ी।

भगवान्‌ने कहा—'लक्ष्मीजी साथ हों या न हों मैं सीताराम बनूँ या राधाकृष्ण, परन्तु जब मेरा भोग लगेगा तब मैं तुलसीके साथ ही खाऊँगा।' यह देखो भगवान्‌का दाम्पत्य-प्रेम—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥ (4.9)

भगवान् कहते हैं कि मेरा जन्म और कर्म दिव्य है। दिव्य कहनेका तात्पर्य यह है कि मेरा जन्म न तो कर्माधीन है और न किसी कर्मका फल है। जैसे हमारा शरीर पाञ्चभौतिक होता है और हम अपने वासनामय स्वरूपको स्वप्नमें प्रकट करके देखते हैं, भगवान्‌में नहीं। द्युति, स्तुति, मोद, मद, कान्ति, स्वप्न, गति—ये सारे ही अर्थ दिव्य शब्दमें भरे हुए हैं। दिव्य माने जगत्‌से विलक्षण। जगत्‌के पाप-पुण्य और सुख-दुःख आदिसे रहित। ईंट पत्थरका नाम संसार नहीं, मेरा-तेराका नाम ही संसार है। शङ्कराचार्यने भी संसारकी व्याख्या यही की है—

कर्तृत्व-भोक्तृत्व-लक्षणः-संसारः।

हमने यह किया है और हम यह भोग रहे हैं, इस भाव अथवा भ्रमका नाम ही संसार है। सांख्यवादी कहते हैं कि मेरा-तेरा मानना ही संसार है। भागवतमें आया कि 'मम' और 'न मम' में जो क्रमशः दो एवं तीन अक्षर हैं, इनमें दो अक्षर मौत है और तीन अक्षर अमृत है। यदि आपको अमृत पीना हो तो तीन अक्षर अपने साथ रखिये न मम—मेरा नहीं। यदि मौतके चक्करमें फँसना हो तो दो अक्षर अपने साथ रखिये, मम—मेरा।

एवं यो वेत्ति तत्त्वतः देहं पुनर्जन्म नैति।

केवल देहके अहम्-भावको छोड़ देनेसे ही जन्मकी प्राप्तिका निवारण हो जाता है। **त्यक्त्वा देहं** माने **देहाभिमानं त्यक्त्वा**—देहमें जो अभिमान है उसको छोड़ देना और फिर पुनर्जन्मसे छुटकारा पाना।

अब इसके बाद बताया कि ज्ञान, भक्ति और कर्म ये तीनों भगवान्‌की ओर ले जानेवाले हैं **वीतरागभयक्रोधाः**में ज्ञान है। **ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**में भक्ति है और **काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धि**में कर्म है। आप कर्म कीजिये, परन्तु कर्म किसके लिए हो रहा है इसका ध्यान रखिये। कर्ममें सारे दोष तभी हैं जब हम उसके फलको अपनी ओर खींचते हैं। जहाँ स्वार्थ आयेगा वहाँ कर्म बिगड़े बिना नहीं रहेगा। चाहे उसका स्वरूप कितना भी उत्कृष्ट क्यों न हो। आप बहुत बड़े हैं, आपमें बड़े-बड़े गुण हैं—**श्लाघ्या ये गुणीनां गुणाः**। आपमें बड़ा विनय है। आप बड़े विवेकी हैं। लोगोंके साथ बड़ा सद्व्यवहार करते हैं। इन सब गुणोंकी प्रशंसा तो करनी ही पड़ेगी। परन्तु प्रश्न हुआ कि इन सद्गुणोंका उद्देश्य क्या है? इनसे स्वार्थ सधता है, काम बनता है? बस, ये स्वार्थ एवं लाभ ही बड़े-बड़े सद्गुणोंको कलुषित बना देते हैं। जिस प्रकार श्वेत कुष्ट

एक सुन्दर एवं स्वस्थ शरीरको भी विकृत कर देता है, उसी प्रकार स्वार्थ एवं लोभकी प्रधानता आ जानेसे ऊँचे-से-ऊँचे सद्गुण भी मलिन एवं त्याज्य हो जाते हैं। तब कर्ममें विशेषता क्या है?

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः। (4.12)

मनुष्यका ज्ञान पवित्र तभी होता है जब उसका उपयोग सर्वात्मा और हृद्देशस्थ परमेश्वरके लिए हो। आप जब ईश्वरको दोनों ओर देखेंगे तब काम चलेगा। एक ओर देखा हुआ ईश्वर अधूरा है। जो ईश्वर केवल हृदयमें ही दीखता है बाहर नहीं दीखता, वह अधूरा है। ईश्वर किसी मन्दिर या हृदयकी गुहामें बन्द रखनेके लिए नहीं। इसी प्रकार जो ईश्वर केवल बाहर ही दीखता है भीतर नहीं दीखता, वह भी अधूरा है। बाहरका ईश्वर लेता है, पवित्र सेवा और भीतरका ईश्वर लेता हैं पवित्र भाव—**भोक्तारं यज्ञतपसाम्** यज्ञ और तपस्या दोनों ईश्वरको चाहिए। आप श्रम कीजिये और उसके द्वारा ईश्वरकी सेवा कीजिये। ईश्वरकी सेवाके लिए संयम रखिये और हमेशा यज्ञ कीजिये। आप अपने घरका भोजन जब दूसरोंको खिलायेंगे तब वह यज्ञ हो जायेगा। स्वयं थोड़ा खाकर रह जायेंगे तथा अपनी इन्द्रियोंको संयममें रखेंगे तो तपस्या हो जायेगी। भगवान् हमारे जीवनमें तपस्याका उपभोग भी करता है और दूसरोंके लिए किये हुए कर्ममें यज्ञका उपभोग भी करता है। वह बाहर बैठकर हमारे यज्ञको स्वीकार करता है और भीतर बैठकर हमारी तपस्याको स्वीकार करता है।

आपको एक छोटी-सी घटना सुनाता हूँ। हमारे गाँवके पास एक वयोवृद्ध राजपूत थे। उन्होंने कभी पञ्चम-जार्जसे हाथ मिलाया था। वे बुढ़ापेमें मसनद लगाकर बैठते और गुड़गुड़ी पीते रहते थे। पुराने जमानेके रईस थे; पर गरीब हो गये थे। स्वयं भूखे रह जाते पर दूसरोंको खिलाते। एक दिन वे मुझे भोजन करा रहे थे। मैंने उनसे कहा—बाबू साहब! दूसरेको खिलाकर खानेमें बहुत आनन्द है। वे बोले—नहीं पण्डितजी,दूसरेको खिलाकर खानेमें मजा नहीं, असली मजा तो है दूसरेको खिलाकर भूखे रह जानेमें। इसका मुझे अनुभव है। इसमें जो आनन्द आता है वह खिलाकर खानेमें कभी नहीं आता। उनकी बात बड़ी बढ़िया थी, माननी पड़ी और अबतक मुझे उसका स्मरण है।

योग-दर्शन भाष्यके विज्ञान भिक्षु टीकामें एक टिप्पणी है, लिखा है कि 'जीवको आनन्द आता है खानेमें और ईश्वरको आनन्द आता है खिलानेमें।' अतः यदि आप जीवका आनन्द लेना चाहते हैं तब तो खाइये और यदि इसी जीवनमें ईश्वरका आनन्द प्रकट करना चाहते हैं तो खिलाइये। ईश्वर सारी दुनियाको खिला-खिलाकर आनन्द दे रहा है। उपनिषद्में आता है—**अनश्नन् अन्योऽभिचाकशीति** जीव खाकर चमकता है और ईश्वर बिना खाये ही चमकता है। ऐश्वर्यका आनन्द है दूसरोंको खिलानेमें। हमारा ज्ञान कब सफल होता है और उपासना कब सिद्ध होती है?

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः॥ (4.10)
ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ (4.11)

कर्मोंमें एक तो निष्काम होता है दूसरा सकाम कर्म होता है। ज्ञानकी पहली शर्त यह है कि आप राग, भय और क्रोधको अपने जीवनमें स्थान न दें। प्रतिकूलके प्रति क्रोध आता है। पति-पत्नी, भाई-भाई, माँ-बाप आदिमें-से कोई ऐसे निकल आते हैं जो यह चाहने लगते हैं कि घरके सब लोग उनके मनके अनुसार ही काम करें। वे समझते हैं कि और सब तो खिलौना है, मशीन हैं। इन सबका सञ्चालक सिर्फ मैं हूँ। इससे दूसरोंका जो तिरस्कार होता है उसपर सबका ध्यान ही नहीं जाता। मेरी चलेगी तुम्हारी नहीं, इस बातपर घरोंमें बहुत झगड़ा हो जाता है। क्रोध आता ही इस बातसे है कि हमारे ही मनकी होनी चाहिए, तुम्हारे मनकी नहीं। यदि आप इस बातपर ध्यान रखेंगे कि दूसरोंका मन भी मन है और उनके मनसे मन मिलाकर ही हमको काम करना चाहिए तो कभी बाप-बेटेमें, भाई-भाईमें, पति-पत्नीमें झगड़ेका प्रसंग ही नहीं आयेगा।

प्रतिकूलके प्रति भी क्रोध नहीं होना चाहिए। क्रोध शब्दका अर्थ संस्कृतमें यह है—'क' माने सुख, 'रोध' माने अवरोध, रुकावट। सुखके रोधको ही क्रोध कहते हैं। सुखकी जो बूँदें हमारे हृदयमें गिरती रहती हैं और उसे मीठा बनाती रहती है उसमें अवरोध, रुकावट पैदा करनेका नाम क्रोध है। क्रोधी मनुष्य कभी सुखी नहीं रह सकता, यह आपको पहले बताया जा चुका है। आप क्रोधका परित्याग करनेके साथ-साथ अनुकूलके प्रति जो राग है उससे भी बचिये। क्योंकि जिससे राग होता है उसकी ओर हमारा जीवन झुक जाता है। तब हम अन्याय करने लगते हैं! तराजूका पलड़ा बराबर रहे तो ठीक अन्यथा एक ओर झुक जानेपर बड़ा भारी अन्याय हो जायेगा। रागमें पलड़ा झुक जाता है, क्रोधमें पलड़ा उठ जाता है।

भयमें हमारे जीवनकी न्यायतुला काँपने लगती है। भय भविष्यकी वृत्तिमें होता है, कि आगे क्या होगा? शोक बीती हुई बातोंको लेकर होता है। बीती बातोंमें जो अच्छी होती हैं उनके लिए भी रोना आता है, जो बुरी होती हैं उनके लिए भी। जो बीती बातोंके स्मरण-चिन्तनमें अपना जीवन व्यतीत करता है, उसका पिछला जीवन तो नष्ट हुआ ही, वर्तमान जीवन भी व्यर्थ हो रहा है। मोह वर्तमानमें होता है। वह प्रतिकूलके प्रति द्वेष, क्रोधके रूपमें और अनुकूलके प्रति रागके रूपमें प्रकट होता है। मोहका मतलब है दलदलमें पाँव गड़ गया। शोकका अर्थ है आपका पाँव पीछेकी ओर फिसल गया और आप मुँहके बल गिर पड़े। भयका अर्थ है आपका पाँव आगे फिसल गया और आप पीठके बल गिर पड़े। मोहके दलदलमें फँस गये तो आपकी गति रुक गयी, आप चल ही नहीं सकते। शोक, मोह और भयसे मुक्त जीवन ही ठीक-ठीक उन्नति या प्रगतिके मार्गपर चल सकता है। इस सम्बन्धमें श्रीकृष्ण सुझाव देते हैं कि—**वीतरागभयक्रोधाः** राग, भय और क्रोधसे मुक्त हो जाओ। मनुष्यको भय किस बातका? जिसने माँके पेटमें नौ मास तक पाला-पोसा, पैदा होनेपर माँकी छातीमें पहलेसे ही दूध तैयार कर दिया, जिसने भोजन दिया, कपड़ा दिया, आँख दी, कान और हाथ दिये वह क्या कहीं चला गया है? महात्मा लोग इस तथ्यको जानते हैं। उनके मनमें न भय है, न शोक और न मोहके दो पहलू राग एवं क्रोध हैं। तब ऐसे महात्मा रहते कहाँ और काम क्या करते हैं? बोले—**मन्मया मामुपाश्रिताः**-वे भगवान्‌के आश्रयमें रहते हैं और भगवान्‌का ही चिन्तन करते हैं। वे देखनेमें मनुष्य होते हैं

परन्तु भीतरसे भगवन्मय होते हैं। 'मन्मया' का अर्थ इसके भीतरका स्वरूप देखो, उसका हृदय देखो। आप कभी किसी महात्माके पास जाते हैं या नहीं? आपकी दृष्टिमें संसारका एक भी व्यक्ति निर्दोष है कि नहीं? यदि नहीं तो आप भी निर्दोष नहीं होंगे और यदि आपकी दृष्टिमें अबतक किसीको भगवान् नहीं मिले, तो आपको भी नहीं मिलेंगे—यह बात पक्की समझिये। परन्तु यदि कोई निर्दोष है तो आप भी निर्दोष हो जायेंगे और किसीको भगवान् मिले हैं तो आपको भी भगवान् मिल़ जायेंगे। आपका विश्वास आपके जीवनका निर्माण करेगा।

जब हम किसी महात्माकी ओर देखते हैं, तब बाहर उनकी चमड़ी ही दिखायी देती है, किन्तु भीतरसे लगता है कि भगवान् इसके हृदयमें प्रकट होता है। महात्मा वही है जिसके हृदयमें भगवान् प्रकट होता है। 'मन्मया' का उदाहरण ब्रजकी गोपियोंने प्रस्तुत किया। स्वयं श्रीकृष्ण कहते हैं—

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः।

(भा० 10-46-4)

और शुकदेवजीने भी कहा—

तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः ।
तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः॥

(भा० 10-30-44)

गोपियोंको शरीर विस्मृत हो गया, मकान भूल गया और वे भगवान्‌के ध्यानमें तन्मय हो गयीं। गीता भी कहती है कि जिसकी श्रद्धा जैसी होती है वह वैसा ही होता है—

यो यच्छ्रद्धः स एव सः। (17.3)

जिसकी वृत्ति भगवान्‌में लगी है वह भगवत्स्वरूप ही है। **मन्मया मामुपाश्रिताः**—वैसे तो भगवान् भी कभी-कभी आश्रय लेते हैं और भक्त लोग उसकी बड़ी व्याख्या करते हैं। वाल्मीकि रामायणमें यह वर्णन आता है कि भगवान् श्रीरामचन्द्र स्वयं सुग्रीवकी शरणमें गये—

सुग्रीवं शरणं गतः और जाकर हाथ मिलाया—

निपीड्य पाणिना पाणिं—निपीड्य शब्दका अर्थ है जोरसे दबाया, धीरेसे नहीं। इससे सुग्रीवको मालूम पड़ गया कि श्रीरामचन्द्रमें कितनी ताकत है और वे बालिको मार सकेंगे। भगवान्‌का अपने भक्तकी शरणमें जाना उनके वात्सल्यका सूचक है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, श्रीकृष्णके हृदयमें भी एक तृष्णा होती है और वह है भक्त जनोंको अपना आश्रय बनानेकी। भक्तजन कौन? 'कृष्णतृष्णा-तत्त्वमिवोत्थितम्'—जिन्होंने श्रीकृष्ण तृष्णाको अपने भीतर छिपा रखा है अथवा श्रीकृष्णकी है तृष्णा जिनमें—श्रीकृष्णस्य तृष्णा श्रीकृष्णतृष्णा, श्रीकृष्णकर्तृका तृष्णा—अथवा ऐसी तृष्णा जिसके कर्ता श्रीकृष्ण हैं। श्रीकृष्ण लालची हैं इस बातके कि भक्तकी गोद हमको मिल जाये, इसका दूध पीनेको मिल जाये और इसका प्यार हमको मिल जाये। जहाँ भक्त भगवान्‌में इतनी अभिन्नता है वहाँ वे एक दूसरेकी शरण लेंगे ही।

आपने एक कथा सुनी होगी। श्रीउदयनाचार्यजी महाराज जगन्नाथपुरीमें गये तो मन्दिरके कपाट बन्द थे। यह कपाट शब्द ही हेर-फेरसे फाटक बनता है। आचार्यजीने कपाट बन्द देखकर ललकारा जगन्नाथजीको—

ऐश्वर्यमदमत्तोसि माम् अवज्ञाय वर्तसे।

'तुम्हें ऐश्वर्यका मद हो गया है। मतवाले हो गये हो। मेरा तिरस्कार करते हो। मैं आया दरवाजेपर और मेरे लिए तुम्हारा कपाट बन्द। याद रखना--

उपस्थितेषु बौद्धेषु मदधीना तव स्थितिः।

जब बौद्ध तुम्हारा खण्डन करेंगे तब तुम्हारा अस्तित्व मेरे अधीन होगा। मेरे आश्रयसे ही तुम्हारी सिद्धि होगी।

वास्तवमें ईश्वरकी सिद्धि भक्तोंसे होती है। **मन्मया मामुपाश्रिताः**-महात्मालोग भगवान्‌की शरण लेते हैं। यही ज्ञान और तपस्याका स्वरूप है। इससे वे पवित्र हो जाते हैं और पवित्र होकर भगवद्भावको प्राप्त होते हैं। जो ज्ञान भगवान्‌के उन्मुख है, भगवान्‌की ओर मुँह करके खड़ा है वह भगवदाकार हो जाता है। हम हैं ज्ञानस्वरूप और हमारा ज्ञान होता है भगवदाकार। इसलिए हम भी भगवदाकार हो जाते हैं। हमें भगवद्भावकी प्राप्ति हो जाती है-**मद्भावमागताः**।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्

भक्तिकी इससे बढ़िया बात और क्या हो सकती है कि भक्त आया और उसने भगवान्‌के चरणोंका जो ऊपरी हिस्सा है उसे अपने प्रयाससे पकड़ लिया। 'प्रपद'को पकड़नेमें प्रपत्ति होती है और तलवेके नीचे हाथ रखनेमें शरणागति होती है। तलवेके नीचेका हाथ भगवान् दबा लेते हैं और शरणागति हो जाती है। एक स्वस्वीकृति होती है दूसरी पर-स्वीकृति, यह बात शरणागतिशास्त्रमें लिखी है। हमने स्वीकार किया कि भगवान् हमारे सर्वस्व हैं, रक्षक-यह हमारी स्वीकृति हुई और भगवान्‌ने स्वीकार किया कि यह हमारा रक्ष्य है, वात्सल्य-भाजन है, स्नेहपात्र है-यह पर-स्वीकृति है। इस 'पर-स्वीकृति' अर्थात् भगवत्-स्वीकृतिको शरणागतिमें सर्वश्रेष्ठ माना जाता है।

मनुजीने प्रणाम करनेकी ऐसी व्यवस्था रखी है कि दोनों हाथ उतान करके दाहिनेसे दायाँ पाँव और बायेंसे बायाँ पाँव छूना चाहिए। किन्तु प्रणामकी यह पद्धति चरणोंसे कोई आशीर्वाद या शक्ति लेनेके लिए है! यहाँ तो भक्तने अपने दोनों हाथ भगवान्‌के चरणोंके सामने किये और भगवान्‌ने अपने चरण उनपर रख दिये। बोले कि दबे रहो बेटे और भक्तने विनयपूर्वक अपना सिर झुका लिया, मन-ही-मन कहा कि जबतक तुम्हारी मर्जी हो दबाये रहो। जैसे चाहो वैसे रखो। इसीका नाम शरणागति है। प्रपत्तिका अर्थ होता है कि हमने दोनों हाथसे भगवान्‌के पञ्जे पकड़ लिये। प्रपद माने ऊपरी हिस्सा, पञ्जा। भगवान् कहते हैं-

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

इस विश्व-सृष्टिमें जितने भी मत-मजहब हैं उन सबमें ईश्वर भजनीय होता है, भजन-कर्त्ता नहीं होता।

किन्तु यहाँ भगवान् कहते हैं कि मैं तो भजन करता हूँ। ईश्वर जीवकी भक्ति करे यह बड़ी अद्भुत बात है। किन्तु हमारे यहाँ जब जीव भगवान्की ओर चलता है तब भगवान् उसका भजन करने लगते है-

ये यथा मां प्रपद्यन्ते वह जैसा भाव लेकर भगवान्के पास जाता है, भगवान् भी उसी भावसे उसको स्वीकार करते हैं। कहते हैं कि यदि तुम हमारे कन्धेपर हाथ रखने आये हो तो हम तुम्हारे कन्धेपर हाथ रखते हैं। यदि तुम हमारे हृदयसे लगने आये हो तो आओ-आओ हम भी तुम्हारे हृदयसे लगते हैं-**तांस्तथैव भजाम्यहम्।** यदि भगवान् इसमें, प्रीतिमें जीवसे पीछे हो जायें तो इसमें उनकी क्या महिमा है ? जीव भगवान्से जितना प्रेम करे, उससे भगवान्का प्रेम एक दो अंगुल आगे होना चाहिए।

मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।

यह अद्भुत बात है कि हमारे भगवान्को कोई अभक्त नहीं दीखता। संसारमें कितने प्रकारके लोग होते हैं और उनको भगवान् किस दृष्टिसे अपना भक्त देखते हैं-इसपर मैंने पहले एक-एक दृष्टिसे बहुत विचार किया है। आपके घरमें आपका एक नन्हा-सा बालक है जब वह घूँसा तानकर आपकी ओर चलता है कि हम तुमको मारेंगे तब आप क्या अनुभव करते हैं। माँकी दृष्टिमें तो अपना बालक-बालक ही होता है। वह यह नहीं समझती कि परायी स्त्रीको देखते ही भागकर गोदमें छिप जानेवाला बालक जब उसकी ओर घूँसा तानकर आता है तो उसे अपनी माँ नहीं समझता। बल्कि वह यह समझती है कि मुझे अपनी माँ समझकर ही घूँसा तान रहा है और उसे गोदमें उठा लेती है। यह माँका स्वभाव है। इसी प्रकार भगवान्को कोई बाण मारने आये तो भी वे माताकी तरह वात्सल्यवश उसे अपना बालक ही समझते हैं और उसको उठाकर अपनी गोदमें ले लेते हैं। कहते हैं कि-

मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।

अर्जुन! संसारके सब मनुष्य, सभी अवस्थाओंमें मेरी और आ रहे हैं। मैं देख रहा हूँ कि वे मेरे मार्गपर चल रहे हैं। मेरी दृष्टिमें मेरा कोई अभक्त नहीं होता, सब मेरे भक्त होते हैं।

●

प्रवचन : 10

(25-11-74)

बुद्धिके सामने भगवान् हों तो ज्ञान होता है, प्रीतिके सामने भगवान् हों तो भक्ति होती है और कर्मके सामने भगवान् हों तो यज्ञ होता है। गीतामें ज्ञानका वर्णन इस प्रकार है-

बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः। (4.10)

ज्ञान भी एक तपस्या है। उपनिषदोंमें तप शब्दका अर्थ ज्ञान है। जब-

तपसा चीयते ब्रह्म। (मुण्डक 1.1.8)

यस्य ज्ञानमयं तपः। (मुण्डक 1.1.9)

आता है, उसका अर्थ ज्ञान ही होता है। सारी सृष्टि ज्ञानसे होती है। जब हमारी प्रीति भगवान्की ओर बढ़ती है- **ये यथा मां प्रपद्यन्ते**-तब भक्ति हो जाती है। अगले श्लोकमें कहा-

कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा॥ (4.12)

इसमें जो 'मानुषे लोके' शब्द है इसपर आप थोड़ा ध्यान दें। मनुष्य लोकमें ही कर्मज सिद्धि है। तात्पर्य यह कि मानव-जातिमें ही कर्मकी सिद्धि है और सब परवश होकर प्रकृतिके राज्यमें विचरण करते हैं; किन्तु मनुष्यको प्रकृतिके राज्यसे मुक्त होनेका भी सामर्थ्य प्राप्त है। मनुष्यके शरीरमें भी इसकी कुछ सूचना मिलती है। देखो वृक्ष नीचेसे ऊपर जाता है। संस्कृतमें इसीलिए इसका नाम 'पादप' है कि वह पादसे पीता है, नीचेसे ऊपरकी ओर जा रहा है, उन्नति कर रहा है। पशु-पक्षी आगेसे खाते हैं और उनका खाया हुआ पीछेको जाता है। किन्तु मनुष्य इतना ऊपर चढ़ गया है कि दो पाँवपर खड़ा है। दो हाथ और मुँहसे खाता है तथा उसका खाया हुआ नीचे जाता है। इसका अर्थ है कि प्रकृति प्राणीको जहाँ तक ऊपर कर सकती थी वहाँ तक उन्नत करके मनुष्य-योनिमें ले आयी है। अब यदि यह चाहे तो यहाँ से एक छलांग लगाये और प्रकृतिके राज्यसे छुटकारा पाकर भगवान्को प्राप्त कर लें। अन्यथा फिर इसे कर्मानुसार नीचेकी योनियोंमें जाना पड़ेगा। मनुष्यके जीवनमें सच्चिदानन्दका आभिर्भाव पूर्ण है। आनन्द लेनेकी जितनी प्रक्रिया मनुष्यको आती है उतनी और किसी को नहीं आती। नाकके लिए तरह-तरहके इत्र बनाना, स्वादके लिए तरह-तरहके भोजन पकाना, मनुष्योंके सिवाय और किसीको नहीं आता। आग जलाकर और नमक, खटाई, मिर्च आदि मिलाकर भाँति-भाँतिके पक्वान्न बनाना केवल मनुष्योंके वशकी ही बात है। गन्धमें, रसमें, रूपमें आविष्कार करना मनुष्योंको ही आता है। स्पर्शकी नवीन-नवीन प्रकिया मनुष्योंको ही आती है। इसीप्रकार संगीत, व्यापार, प्रेम, ज्ञान आदिकी विद्या मनुष्य-जातिमें ही होती है। तात्पर्य यह कि सत्ताका आविर्भाव, ज्ञानका आविर्भाव और आनन्दका आविर्भाव- ये तीनों मनुष्य-योनिमें है। इसीसे गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं कि मनुष्य-जन्मको प्राप्त करके जिसने अपने जीवनका ठीक-ठीक निर्माण नहीं किया वह आत्मघाती गतिको प्राप्त करना है-

सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति पाई।

महाभारतमें भी एक छोटा-सा वचन है-**न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्** (शान्तिपर्व 299.20)-अर्थात् मनुष्यसे बढ़कर और कोई श्रेष्ठ नहीं। भगवान्ने **मानुषे लोके** कहकर याद दिलायी कि देखो ये पक्षी दस हजार वर्ष पहले जैसे नंगे रहते थे वैसे आज भी रहते हैं। गाय भी वैसी ही रहती है। घोड़ा भी वैसे ही रहता है। परन्तु मनुष्यकी गति कैसी बढ़ रही है!

बम्बईमें एक सज्जनका बहुत बढ़िया मकान समुद्रके किनारे था। मुझे तो वह स्वर्ग-जैसा लगता था। परन्तु कुछ दिन बाद देखा वह मकान तोड़कर नये डिजाइनका बन गया था। मैंने पूछा कि यह क्या हुआ? इतना बढ़िया मकान क्यों तोड़ दिया गया। उत्तर मिला कि बच्चोंको पसन्द नहीं आता था, इसलिए उनकी इच्छाके अनुसार नये डिजाइनका बनवाना पड़ा। यह हाल है मनुष्यके रुचि-परिवर्तनका। हम उसकी प्रशंसा करते हैं, मनुष्यकी बुद्धि नव-नवोन्मेषशालिनी है। वह नयी-नयी युक्ति और नयी-नयी रीति निकालती रहती है। इससे मनुष्यकी प्रतिभा चमकती है। उसके आनन्दका प्रसाद होता है। इसलिए भगवान्ने कहा कि मनुष्य-जीवनमें ही कर्मकी सिद्धि ठीक प्रकारसे होती है-

क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा। (4.12)

किन्तु मनुष्यके जीवनमें सहजा सिद्धि नहीं। पक्षी जन्मसे ही उड़ना जानता है, मछली जन्मसे ही तैरना जानती है। अत: उनमें स्वभावजा-सिद्धि है और मनुष्योंमें कर्मजा-सिद्धि है। वह कार्य करेगा तो उसे सिद्धि मिलेगी। सिद्धिके लिए बुद्धि लगानी पड़ेगी। मिले-मिलाये धनसे धनी होना कोई प्रंशसाकी बात नहीं। स्वयं अपनी कमाईके धनका जितना महत्त्व है, उतना महत्त्व दूसरेकी कमाईसे प्राप्त धनका नहीं। मनुष्य कर्म करके जो सिद्धि प्राप्त करता है उससे उसके जीवनका श्रृंगार होता है, वह सफल होता है। इसमें मनुष्य-योनिके साथ-साथ कर्मजन्य सिद्धिका भी महत्त्व है।

लोकमें मनुष्यकी श्रेष्ठता क्यों है इसका एक उदाहरण लें। मनुष्य उसे कहते हैं जो मनसे सी ले। वैयाकरणोंने व्युपत्ति की है **मनोरपत्यं मनुष्यः** मनुका बेटा मनुष्य है। नैरुक्तोंने व्युत्पत्ति की है **मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति** (निरुक्त 3.7) जो अपने मनसे सी लेता है वह मनुष्य है अर्थात् वह सम्बन्ध जोड़ता है कि इस साधनसे इस साध्यकी प्राप्ति होगी अथवा इस साध्यकी प्राप्तिके लिए यह साधन करना चाहिए। मनसे साधन और मनका विचार मनुष्य ही करता है। यह कारखाना खोलेंगे तो ऐसी-ऐसी चीजें बनेंगी और उसके लिए ऐसी-ऐसी मशीनका उपयोग करना होगा, यह भी मनुष्य ही सोचता है। अपने मनसे कार्य-कारणके सम्बन्धको जोड़नेमें समर्थ होनेके कारण ही इसका नाम मनुष्य है।

अब एक विशेषता यह बताते हैं कि चातुर्वर्ण्य मनुष्य जीवनमें ही है **चत्वारो वर्णाः इति चातुर्वर्ण्यम्**- उसमें चार वर्ण हैं और सर्वथा स्वाभाविक हैं। कुछ लोग उसको कर्मकी प्रधानतासे कार्मिक बोलते हैं कुछ जन्मकी प्रधानतासे स्वाभाविक मानते हैं। कोई-कोई उसे ब्राह्म अथवा ईश्वरीय भी मानते हैं। इस प्रकार इसकी मान्यताके तीन पक्ष हैं। आजके युगमें लोगोंको चातुर्वर्ण्यकी बात बेकार और निष्प्रयोजन लग सकती है। लेकिन इसका आधार बहुत ठोस है। इस विषयमें मन्त्र है-

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥

(ऋ 10.90.12)

वेदका यह मन्त्र चातुर्वर्ण्यका आधार बताता है। ज्ञानकी प्रधानतासे मुख ब्राह्मण, कर्मकी प्रधानतासे बाहु क्षत्रिय, वस्तुविनियम भार-वहनकी दृष्टिसे ऊरु वैश्य और पहुँचानेकी दृष्टिसे पाँव शूद्र। शरीरका कोई अङ्ग अनावश्यक नहीं होता। वह चारों अंगोंसे ही बनता है। पाँवके बिना लूला-लँगड़ा हो जायेगा, गति रुक जायेगी! हाथके बिना कर्म नहीं करेगा। ऊरुरहित-भारवाहनकी क्षमता नहीं रहेगी और मुखके बिना सब व्यर्थ। जैसे चारों अवयव होनेपर ही शरीर पूर्ण होता है वैसे ही किसी समाजमें भी ज्ञान, बल, वस्तु और कर्म इन चारोंकी अनिवार्य आवश्यकता होती है। समाजमें बुद्धि चाहिए, बल चाहिए, वस्तुओंका उत्पादन, विनिमय, वितरण चाहिए और उसके लिए भरपूर श्रम चाहिए। समाजके ये चार विभाग हैं। संस्कृतमें समाजका अर्थ है **यस्यां समम् अजन्ति**-जिसमें सबलोग साथ-साथ उन्नति करें, आगे बढ़ें। जहाँ सबको कर्म, द्रव्य, बल और विज्ञान इन सबमें उन्नति करनेकी सुविधा हो. वही चातुर्वर्ण्य समाज होता है। चातुर्वर्ण्यका नाम सुनकर चिढ़ने या नाक-भौं सिकोड़नेकी कोई आवश्यकता नहीं। कर्मसे चातुर्वर्ण्यकी व्याख्या स्थिर नहीं की जा सकती। क्योंकि एक ही व्यक्ति अपने प्रतिदिनके काममें कभी कर्म, कभी वस्तु-संग्रह, कभी बल-प्रयोग और कभी विचार करता है। सम्पूर्ण जीवनमें कभी कर्म-परायण होता है तो कभी अवकाश प्राप्त कर लेता है।

काशी-विद्यापीठमें एक बार महात्मा गाँधी आये हुए थे। डाक्टर भगवान्दासजीने सार्वजनिक समारोहमें स्वागत करते हुए कहा कि 'गाँधीजी ब्राह्मण हैं।' गाँधीजीने अपने उत्तरमें कहा कि बाबा! ब्राह्मण तुम्हीं रहो मुझे तो वैश्य ही रहने दो। मैं तो व्यापारी हूँ। यहाँ भी व्यापारके गरजसे आया हूँ। कुछ लिये बिना जानेवाला नहीं। कभी-कभी ऐसा ख्याल होता है कि हमारी जो परम्पराएँ है, इनके जो रहस्य हैं उनका लोप हो जायेगा और अगली पीढ़ी उन्हें निष्प्रयोजन समझकर भूल जायेगी।

सत्त्व, रज, तमका सब चार प्रकारसे प्रस्तार करते हैं तब चातुर्वर्ण्य बनता है। ऐसा वृक्षोंमें भी होता है। आप देखना। कुछ वृक्ष ज्ञान-दान करते हैं, कुछ वस्तु-दान करते हैं, कुछ शक्तिदान करते हैं और कुछ केवल काम करनेके ही काम आते हैं। आम और सेब इत्यादिके जो फलदार वृक्ष हैं, उनके वैश्य होनेमें क्या सन्देह हैं? इसी प्रकार बबूलका पेड़ हल या बेंट बनानेके काम आता है, फिर बबूलके शूद्र होनेमें क्या शंका है?

पशुओंमें भी हमारा गोमाता पीनेके लिए दूध देती है इसलिए वह वैश्य है। शास्त्रोंके अनुसार गायका वर्ण वैश्य है।

एक-एक वस्तुमें प्रकृति एवं कर्मोंके अनुसार चार-चार विभाग, चातुर्वर्ण्य हैं। जब हम विवेक करते हैं तो सच्चिदानन्दके अनुसार भी चातुर्वर्ण्य प्रतीत होता है। शूद्रके समान ब्रह्मचारीको भी अपने गुरुकी सेवा करनी पड़ती है। अत: ब्रह्मचारी और शूद्र सेवाप्रधान होनेसे विश्वात्मा हैं। वैश्य और गृहस्थ दोनों योजना-प्रधान होनेसे तैजस हैं, हिरण्यगर्भ हैं। क्षत्रिय और वानप्रस्थ अन्याय एवं विस्तारके निवारण द्वारा सृष्टिको समेटनेका काम

करते हैं। अतः प्राज्ञ हैं। कर्ममें विश्वात्मा, उपासनामें तैजस, योगमें प्राज्ञ और तत्त्वज्ञानमें तुरीय होता है। ब्राह्मण और संन्यासी तुरीय तत्त्वप्रधान होते हैं। क्षत्रिय और वानप्रस्थ प्राज्ञ तत्त्व-प्रधान होते हैं। वैश्य और गृहस्थ तैजस तत्त्व-प्रधान होते हैं तथा ब्रह्मचारी और शूद्र विश्व वैश्वानर तत्त्व-प्रधान होते हैं। विश्व-सृष्टिमें इनका बड़ा भारी उपयोग है।

जो लोग प्रकृतिसे सृष्टि मानते हैं वे सत्त्व-रज-तमके अनुसार वर्णका विभाग मानते हैं। जो सच्चिदानन्दघन ब्रह्मसे सृष्टि मानते हैं वे तुरीय एवं प्राज्ञ आदिके अनुसार मानते हैं। **चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्**-यह भगवान्‌का वाक्य है। कहते हैं कि चातुर्वर्ण्यकी सृष्टि मैंने की है। भगवान्‌ने जो यह कहा कि-

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

वह निराधार नहीं, साधार है। गुण-कर्ममें गुण-विभाग और कर्म-विभाग दो विभाग हैं। अब देखो, भगवान्‌ने चातुर्वर्ण्य उत्पन्न करनेके लिए पहले गुण-विभाग बनाया। अथवा गुण-विभागके बाद चातुर्वर्ण्य उत्पन्न किया? सत्त्व-रज-तम ये तीनों गुण चातुर्वर्ण्यके बननेके पहले प्रकृतिमें अथवा चातुर्वर्ण्य बन गया तब गुण-विभाग उत्पन्न हुए? इसका उत्तर वह श्लोक ही दे देगा आपको।

पहले गुण-कर्म-विभाग था। भगवान्‌ने गुण-विभागसे तो ली शरीरकी सामग्री और कर्म-विभागसे लीं उसकी विशेषताएँ दोनोंको लेकर ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व आदिकी सृष्टि की। इसमें शंकाकी कोई बात नहीं।

सिद्धि एक तो आधिभौतिक होती है, दूसरी आधिदैविक होती है और तीसरी आध्यात्मिक होती है। माता-पिताका जो रज-वीर्य है वह भौतिक है, उससे शरीर बनता है। गायत्री द्वारा जो उपासना है वह आधिदैविक है। भगवान्‌ने जो गीतामें शम-दम आदि संयम बताये हैं उनको बतानेमें भी बड़ी विचित्रता है। वे यह नहीं कहते कि जिसमें शम-दम आदि हों वह ब्राह्मण है अपितु यह कहते हैं कि-

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥ (18.41)

अर्थात् पहले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र हैं, बादमें उनके कर्मोंका विभाजन है। मूल बात यह है कि चातुर्वर्ण्यका आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक आधार है और उसमें श्रेष्ठताकी कई बातें है। व्याकरणके महाभाष्यमें इसका बड़ा सुन्दर वर्णन है-**त्रीणि यस्यावदातानि विद्या योनिश्च कर्म च** (4.1.48) जिसका जन्म, कर्म और ज्ञान तीनों ही पवित्र हों, शुद्ध हों तब समझना चाहिए कि यह श्रेष्ठ ब्राह्मण है। उसमें केवल जन्म, उपासना अथवा विद्यासे ब्राह्मणत्व नहीं आता, उसके श्रेष्ठत्वके लिए जन्म, कर्म और विद्या तीनोंकी ही अनिवार्यता है। यह सब हम आपको इसलिए सुना रहे हैं कि सनातन धर्मकी प्राचीन परम्पराओं पर आपकी अश्रद्धा न हो।

अब पूजाकी बात देखो, आप अपने पिता, पितामह आदि पितरोंकी पूजा करेंगे तो वंश-परम्पराकी संस्कृतिका स्मरण बना रहेगा और वह आपके वंशमें चलती भी रहेगी। सनातन धर्मके ग्रन्थोंमें लिखा है कि जो पितृ-पूजा करता है उसकी वंशपरम्पराका उच्छेद नहीं होता। उसके वंशमें बच्चे होते ही रहते हैं। जो पिण्डोदक

और तर्पण करते रहेंगे उनकी परम्परा चलती रहेगी। देवताकी पूजा करेंगे तो उनसे इन्द्रियोंको अनुग्रह प्राप्त होगा। जैसे आपकी आँख देखती है और बहुत तेज देखती है परन्तु सूर्यकी रोशनी न हो तो न पुस्तक दिखायी पड़ती है, न पढ़ी ही जाती है। पुस्तक है विषय, आँख है पढ़नेका साधन और उसमें अनुग्रह हो रहा है सूर्यका। इस प्रकर सूर्य अधिदैव हो गया, आँख अध्यात्म हो गयी और पुस्तक अधिभूत हो गयी। जब हम देवताकी आराधना करते हैं तो हमारी इन्द्रियोंकी शक्ति बढ़ती है। सूर्य भी देवताओंमें इन्द्रकी तरह देवता है। चन्द्रमा भी देवता है। पुरुषोंके लिए मुख्यरूपसे सूर्यकी और स्त्रियोंके लिए मुख्यरूपसे चन्द्रमाकी आराधनाका विधान है। स्त्रीके शरीरको मनस्तत्त्व प्रधान माना गया है। अतः चन्द्रमाकी आराधनासे उनमें कोमलता, आह्लाद और लालित्य आदिकी प्राप्ति होती है। हमारे सनातन धर्ममें स्त्रियोंका बड़ा महत्त्व है-बड़ी महिमा है, हम राजनीतिमें उनका समानाधिकार भी मानते हैं, लेकिन गर्भाधानमें उनका समानाधिकार नहीं। यदि वे यह कहें कि गर्भ स्त्रीके ही पेटमें क्यों, पुरुषके पेटमें क्यों नहीं? तो यह प्रकृतिके विरुद्ध बात है। वे तो स्नेह, प्रेम, रस, सौन्दर्य, वात्सल्य आदि दिव्य सद्गुणोंकी ही अधिकारिणी हैं। हमारे सनातन धर्मका यह दृष्टिकोण है कि उनके दिव्य सद्गुणोंका उच्छेद नहीं होना चाहिए। स्त्रियोंके लिए जो चन्द्रमाकी उपासनाका विधान है इससे आपको डरना नहीं चाहिए। भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्रवंशी हैं और भगवान् राम सूर्यवंशी होते हुए भी रामचन्द्र कहलाते हैं। शिवचन्द्र, विष्णुचन्द्र सुननेमें नहीं आता। प्रेमके, मर्यादाके जो देवता हैं उनकी उपासना सबके लिए आनन्ददायक है। स्त्रियोंके लिए चन्द्रमाकी उपासनापर इसलिए जोर दिया गया है कि उनके शरीरमें चान्द्र-तत्त्वकी प्रधानता है। पुरुष-शरीरमें सौर-तत्त्व अधिक है। अतः उसके लिए सूर्योपासनापर बल दिया गया है। यह सब हमारे सनातनधर्मकी विज्ञान-परम्पराएँ हैं।

यदि आपको अपना अन्तःकरण राग-द्वेषरहित करना हो तो केवल ईश्वरकी उपासना करनी चाहिए। अवतारोंको लेकर जो सम्प्रदाय-भेद हैं वे अन्तःकरणमें राग-द्वेषकी सृष्टि कर देते हैं। आप ईश्वरका आकार चाहे कुछ भी मानें; परन्तु ईश्वरको एक मानें। उसे सम्पूर्ण आकारोंसे निष्क्रान्त भी मानें। संस्कृतभाषामें निराकार शब्दका अर्थ होता है **अकारेभ्यो निष्क्रान्तः**। यदि अद्वैतका अनुभव करना हो तो शाङ्करीविद्याके बिना अद्वितीय तत्त्व, साक्षात् अपरोक्ष हो ही नहीं सकता। शाङ्करी विद्या माने औपनिषद्-विद्या। वह अभेदभाव और आत्यन्तिक मुक्तिके लिए है। समता और अभेदमें अन्तर होता है। समता दो वस्तुओंसे होती है, इसके समान वह और उसके समान यह। अभेद तात्त्विक दृष्टिसे होता है। इसमें तो द्वैत नामकी वस्तु ही नहीं।

भगवान्‌ने यह जो सृष्टि बनायी है इसमें गुणोंका उपादान है और कर्मका निमित्त है। भगवान्‌ने बताया, मैं कर्त्ता भी हूँ और अकर्त्ता भी हूँ। हमारे श्रीकृष्णको मिली-जुली बात बोलनेका अभ्यास बचपनसे ही है। आपको सुनाते हैं श्रीकृष्ण और रामकी प्रकृतिका अन्तर। परन्तु यह लीला त्रेता, द्वापरवाले अयोध्या, वृन्दावनकी नहीं, यह तो नित्य साकेत-धाम और नित्य गोलोक-धामकी है। दोनों नित्य धामोंमें कौशल्या भी रहती हैं, यशोदा भी रहती है। राम भी रहते हैं, कृष्ण भी रहते हैं। उनकी बाल-लीलाएँ भी होती रहती है। एक दिन कौशल्या माताके मनमें आया कि यशोदा मातासे मिलें। इसमें त्रेता, द्वापरका काल-भेद मत लाइये। किसी भी मानसिक

या आत्मिक तत्त्वमें कालका व्यवधान नहीं जोड़ा जाता। जब कौशल्या माता यशोदा माताके पास जाने लगीं तो रामचन्द्रजी भी साथ हो गये। उसी समय यशोदा माताके मनमें कौशल्या मातासे मिलनेकी आकांक्षा जागृत हो गयी और वे भी श्रीकृष्णको साथ लेकर चल पड़ीं। बीचमें कहीं दोनोंका मेल हो गया। वहाँ बहुत सुन्दर बाग-बगीचा था। दोनों बैठ गयीं और आपसमें बात करने लगीं। राम और कृष्ण आपसमें खेलने लगे। बातों-बातोंमें अन्धेरा हो गया। विदा होते समय जल्दीमें यशोदाने रामको और कौशल्याने कृष्णको पकड़ लिया। देखनेमें दोनों एक ही सरीखे हैं। दोनों माताएँ अपने-अपने लोकमें गयीं। रामचन्द्र गये नन्दबाबाके यहाँ। नन्दबाबाने कहा आओ भोजन करो। रामचन्द्रने पहले हाथ-पाँव धोये और देखने लगे कहाँ बैठें? उनके लिए आसन बिछाया गया। उन्होंने भगवान्‌को भोग लगाकर भोजन प्रारम्भ किया। इधर कृष्णचन्द्र भोजनके समय दशरथजीकी गोदमें बैठ गये और भगवान्‌को भोग लगाये बिना ही खाने लगे। एक ग्रास अपने मुँहमें डालें और दूसरा ग्रास दशरथके मुखमें। उनकी दाढ़ी खींचें और कभी-कभी उठकर नाच आयें, घूम आयें। भाई, यही राम और कृष्णकी प्रकृतिका अन्तर है। रामचन्द्र गम्भीर हैं इसलिए गम्भीर लोगोंको ज्यादा आकृष्ट करते हैं और श्रीकृष्ण अपनी चञ्चलतासे बालकोंके मनको भी आकृष्ट कर लेते हैं।

अब आप श्रीकृष्णकी मिली-जुली बातपर आइये-

तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्। (4.13)

(वे कहते हैं मैंने बनाया भी है, नहीं भी बनाया। अरे बाबा एक बात तो बोलो। किन्तु उन्हें तो जो बोलना था बोल चुके) समाधान प्रस्तुत करते हैं। श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं कि भगवान्‌ने योगमायाकी दृष्टिसे तो बनाया है किन्तु परमार्थकी दृष्टिसे नहीं बनाया। क्योंकि वे अकर्ता हैं। अब श्रीबल्लभाचार्यजी महाराजका कहना है कि भगवान् परस्पर-विरुद्ध धर्माश्रय हैं। उनके बनानेमें अहङ्कार नहीं, कृत्रिमता नहीं, उनके बनानेसे किसी फलकी उत्पत्ति नहीं होती। इसलिए जैसा काम जीव करते हैं, वैसा काम भगवान् नहीं करते। जीव करता है तो अहङ्कारसे करता है और एक कृत्रिम रचना है। उसके लिए स्वयं नवीन फलकी उत्पत्ति होती है। परन्तु जब भगवान् बनाते हैं तब उनकी लीला होती है, लीला-कैवल्य बोलते हैं। ब्रह्मसूत्रमें-**लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्** (2.1.33) कहा है। जैसे कोई मनुष्य मित्रोंमें बैठकर हँसी-खेल करता है। खेल शब्दका अर्थ है जिससे पापपुण्यकी उत्पत्ति न हो। जो कर्म आकाशमें उड़ जायें—**खे लीयते**-पाप-पुण्य पैदा न करें उनका नाम होता है खेल। लीलाका अर्थ होता है-**लीङ् आश्लेषणे**-जो परमात्मासे आश्लेष-दान करे, भगवान्‌को मिला दे। भगवान् खेल खेलते हैं। अज्ञानी मनुष्योंके समान काम नहीं करते। इसलिए वे कर्ता होनेपर भी अकर्ता हैं। इसके बाद आते हैं ये श्लोक जिन्हें हम पहले बार-बार उच्चारण करते रहते थे—

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥ (4.14)
एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्॥ (4.15)

भगवान् कहते हैं कि मैं कर्म तो करता हूँ किन्तु मुझमें कर्मका लेप नहीं होता। हँसीके सन्दर्भमें यह बात वैसी ही है, जैसे कोई व्यापारी बेहिसाब व्यापार फैला ले, उचित-अनुचित काम-धन्धा कर ले, लेकिन इतना चतुर हो कि सरकार उसकी गलती पकड़ न सके और वह कहता फिरे कि मैं कर्म करता तो हूँ, परन्तु उसकी जिम्मेदारी मुझपर नहीं। यद्यपि यह हँसीकी बात है परन्तु इसमें सच्चाई है।

भगवान् कर्म तो करते हैं, परन्तु कर्म अपना फल उनके साथ लिप्त नहीं कर पाते। उन्हें इस बातका अभिमान नहीं होता कि मैंने यह किया, मैंने वह किया। कर्मसे बचनेका उपाय भी यही है। किसीने पूछा तुमने यह काम किया? हमारे बुद्धिमान् मैंनेजरने किया है। कर्मचारियोंकी विशेषता है कि उन्होंने यह काम इतनी योग्यताके साथ किया है। अगर सारा श्रेय अपने ऊपर लेते जाओगे तो कर्मचारियोंका मन उदास हो जायेगा। भगवान् कहते हैं कि यह सृष्टि तो ब्रह्माने बनायी, इसका पालन विष्णु और संहार शिव करते हैं। मैं यह सब नहीं करता। मुझे इसका कोई अभिमान नहीं कि मैंने यह काम किया है **न मे कर्मफले स्पृहा**। अच्छा, इससे जो मुनाफा होगा वह तो तुम लोगे न? बोले, बिलकुल नहीं। मैं तो यह चाहता हूँ कि सारे काम पब्लिकके फायदेके लिए हों। हम तो लोगोंकी भलाईके लिए ही काम करते हैं। अपने लिए कुछ भी नहीं करते। इसीलिए मेरी स्पृहा नहीं कि किसी भी कर्मका फल मेरे पास आये। जिसकी आज्ञासे, जिसके हस्ताक्षरसे कर्म होगा और जो उसका लाभ लेगा वह तो पकड़ा जायेगा किन्तु जो कर्मके अनुष्ठानमें अपना अहङ्कार नहीं डालेगा और उसके फलका भोक्ता नहीं बनेगा, उसे कोई पकड़ नहीं सकता। कुछ लोग कर्म कर रहे हैं और कुछ उसका फल भोग रहे हैं। बुद्धिमान वैज्ञानिक कर्मचारी काम कर रहे हैं और जनता उसका लाभ उठा रही है। हम कामके साक्षी मात्र हैं। साक्षीको पाप नहीं लगता। काममें कर्तृत्व नहीं साक्षीत्व चाहिए और चाहिए यह कि उसका सारा-का-सारा लाभ दूसरे उठायें। आपने गीताका यह श्लोक देखा ही है-

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँलोकान्न हन्ति न निबध्यते॥ (18.19)

हमारे बड़े-बड़े महात्मा आचार्य बोलते हैं-

यत्कृतं यत्कारिष्यामि तत्सर्वं न मया कृतम्।
त्वया कृतं तु फलभुक् त्वमेव मधुसूदन॥

प्रभो, मैंने जो कुछ किया और आगे जो कुछ करूँगा वह सब मेरा किया हुआ नहीं, वह सब तुमने किया है और तुम्हीं उसका फल भोगो।

श्रीमधुसूदन सरस्वतीने अद्वैत-सिद्धि नामक ग्रन्थकी रचना की और उसके अन्तमें लिख दिया कि जिसने इसका निर्माण किया पाठक उसीकी स्तुति-निन्दा करें। मुझमें कर्तृत्व है ही नहीं-

मयि नास्त्येव कर्तृत्वम् अनन्यानुभवात्मनि।

गीताका जो यह मन्त्र है कि अपनेको कर्ताके रूपमें अनुभव मत करो, उपस्थित मत करो, जिसके द्वारा काम हो रहा है उसके कर्तृत्वको स्वीकार करो। यह बहुत अद्भुत है। भगवान् राम कहते हैं कि ये बन्दर-भालू

हैं, यही हमारे समरार्णवके पोत हैं। हमने इन्हींके सहारे समर-समुद्रको पार किया है। राम कभी नहीं कहते कि मैंने रावणको मारा। कौशल्याजीने पूछा कि बेटा, मैंने सुना है तुमने रावण-सरीखे राक्षसको मार दिया। भगवान् राम बोले- नहीं मैया, मैंने नहीं मारा। कौशल्याने कहा-सब कहते हैं कि तुमने ही मारा। तब बोले-हमारे गुरुदेव वसिष्ठजी ने आशीर्वाद दिया इसीसे हमारी जीत हो गयी और रावण मर गया। मैंने नहीं मारा। देखो, यह है हमारे मर्यादा-पुरुषोत्तम नीति-निपुण भगवान् रामकी वाणी।

कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों अवास्तविक हैं और परमार्थस्वरूप आत्माके साथ इनका कोई सम्बन्ध नहीं। एक बात और ध्यान देने लायक है कि यदि कोई भगवान्‌के सच्चे स्वरूपको जान जाये तो उसे भी कर्म-लेप नहीं होता-

इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते।

अच्छाजी, भगवान्‌का कर्म-फलसे लेप नहीं और कर्म-फलमें स्पृहा भी नहीं, इसको जान लेने मात्रसे हम कर्म-फल तथा कर्म-स्पृहासे कैसे छूट जायेंगे? इसकी कोई युक्ति तो होनी चाहिए। इसकी युक्ति यही है कि यदि आत्मा और परमात्मा एक नहीं होते तो परमात्माके ज्ञानसे आत्माकी मुक्ति नहीं होती। इसलिए जब हम यह जान लेते हैं कि परमात्मा कर्मके कर्तृत्व और भोक्तृत्वसे विनिर्मुक्त है, तब हमें यह यह अनुभव होता है कि जैसे परमात्मा सब कुछ करता हुआ भी अकर्ता एवं अभोक्ता है, वैसे ही हम सब कुछ करते-भोगते हुए भी अकर्ता और अभोक्ता हैं। परमात्मा-आत्मा दोनोंके अभेद-बोध द्वारा हम कर्म-लेपसे मुक्त हो जाते हैं।

कर्मसे छूटनेके लिए कर्म करनेकी जरूरत नहीं। इस प्रसंगमें तुलसीदासजी कहते हैं कि-**छूटे मल कि मलहि के धोये?** मलसे धोनेपर मल नहीं छूटता। साबुन लगानेसे मैल भले छूट जाती हो, पर साबुन अपना संस्कार छोड़ जाती है, उसकी गन्ध रहती है। गन्ध न भी हो तो उसका थोड़ा प्रभाव रहता है। जो कर्म परमात्म-ज्ञानसे छूटता है, वही वास्तवमें छूटता है।

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्॥ (4.15)

मुमुक्षु उन्हें कहते हैं जो संसारके बन्धनमें बँधना नहीं चाहते। इसको ऐसे समझो-एक आदमी काम तो गलत करना चाहता है पर जेलसे भी छूटना चाहता है। जेलमें न जायें और जेलमें हों तो उससे छूट जायें-ऐसी युक्ति की जा सकती है।

मुमुक्षुभिः-का तात्पर्य है कि हमको बन्दीगृहमें न जाना पड़े और बन्दी हों तो उससे मुक्त हो जायें। ऐसे लोग वैसे ही कर्म करते हैं जैसे कि भगवान् श्रीकृष्ण करते हैं। हमलोग सनातनी हैं। सनातनका तात्पर्य यह होता है जिसके आगेसे भी संगति हो पीछेसे भी। जो आगे है उसे आप पीछे छोड़ते जा रहे हैं। आपके आगे वह आयेगा। जिसके आगे आनेकी आप कल्पना कर रहे हैं वह पीछे आ चुका है। सनातन शब्दका अर्थ पिछला-पिछला नहीं होता। जो पीछे था आगे आयेगा और जो आगे आयेगा वह पीछे था।

पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्-का अर्थ है कि जब आपसे कोई कहे, भाई! पाँच मिनट भगवान्‌का स्मरण भजन कर लो, सन्ध्यावन्दन कर लो। आप यह मत पूछिये कि क्यों? यदि आपने कहा कि नहीं करेंगे तो हम आपसे पूछते हैं कि क्यों नहीं करेंगे? आप उस समय ताश खेलते होते हैं, व्यापारका काम करते होते हैं, क्लबमें होते हैं या सिनेमामें होते हैं? कहाँ होते है? क्यों नहीं आप पाँच मिनट के लिए इस कामको कर सकते? आपके पिताजी करते थे, आपके दादाजी करते थे, आपके परदादाजी करते थे किन्तु आप ऐसे कहाँसे आ गये कि उसे छोड़ रहे हैं। आप आखिर छोड़ क्यों रहे हैं? उसकी अपेक्षा कोई और महत्त्वपूर्ण काम आप कर रहे हैं क्या? कहीं ऐसा तो नहीं सोच रहे हैं कि पहले जो लोग करते थे उनको समझ नहीं थी। इस प्रकार उनका तिरस्कार करते हुए छोड़ रहे हैं अथवा आगे बढ़ते हुए छोड़ रहे हैं। यह एक अहम प्रश्न हैं। भाई मेरे, यदि हम सर्वात्मा परमात्माके नामपर अपना पाँच मिनटका समय भी नहीं दे सकते, यदि हम बिना प्रयोजन, बिना लाभ और बिना कामनाके पाँच मिनट भी ईश्वरके साथ नहीं जुड़ सकते तो सोचिये हमारा यह जीवन कितना विडम्बनामय हो जायेगा। इसलिए-**पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्**-परम्परासे जो चला आया है उसमें यदि आपकी कोई हानि हो तो आप वेशक मत कीजिये। परन्तु उससे यदि आपके अन्त:करणकी शुद्धि होती है, आपके अन्त:करणका निर्माण होता है, तो यह आपका सबसे अधिक लाभ है। आप बन्दूकको साफ नहीं करना चाहते और उसको चलाना चाहते हैं, गिलास साफ नहीं करना चाहते और उसमें दूध पीना चाहते हैं, हाथकी मैल धोना नहीं चाहते। आप गलतीपर हैं। अत: **पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्**-का अर्थ है पहले बन्दूककी नली साफ कर लीजिये, गिलास साफ कर लीजिये, हाथ धो लीजिये तब उनको उपयोगमें लाइये। इस प्रक्रियाको आप अवश्य स्वीकार करें। यह भगवान्‌की आज्ञा है।

अब इनके बाद प्रसङ्ग आता है कि मनुष्यको कर्मके सम्बन्धमें जानकारी प्राप्त करना चाहिए। कर्मके रहस्यको जानना बहुत आवश्यक है। भगवान्‌ने कर्मके तीन विभाग कर दिये-कर्म, अकर्म, विकर्म। व्याख्याकारोंने तरह-तरहसे इनकी व्याख्या की है। पूर्वाचार्योंकी व्याख्या भी है और नवीनाचार्योंकी व्याख्या भी है। श्रीरामानुज स्वामीने इसकी व्याख्या की है कि आप नित्य-कर्म कीजिये। उससे आपको बन्धन नहीं होगा, आप मुक्त होंगे। यदि आप नित्य-कर्म करना छोड़ देंगे तो वह छोड़ना भी एक कर्म होगा और अनुशासनके अनुसार प्राप्त कर्त्तव्यका परित्याग बन्धनका कारण बनेगा। कर्त्तव्यके उल्लंघनका कर्तृव्य भी अपने ऊपर आता है। अपने ऊपर जिम्मेवारी आती है कि तुम्हारा यह कर्त्तव्य था, तुमने क्यों छोड़ दिया। वैसे अभावसे फलकी उत्पत्ति नहीं होती, परन्तु एक सिपाहीको चौराहेपर इसलिए खड़ा किया गया है कि वह वाहनोंपर अथवा पैदल चलनेवालों पर नियन्त्रण करें। अब वह सिपाही यदि वहाँसे हट जाय, किसी दूकानपर जाकर चाय पीने लगे और अनियन्त्रणके कारण दुर्घटना हो जाय तो उसे दोषी माना जायेगा कि नहीं? उसका यह कहना कि मैंने कुछ किया नहीं, सिर्फ थोड़ी देरके लिए चाय पीने चला गया था, उसे दोषमुक्त नहीं कर सकता। काम छोड़नेमें भी दोष होता है। कर्त्तव्य कर्मको न करना भी एक कर्म है और उससे पाप लगता है। इसी प्रकार अपने कर्त्तव्यका पालन करना भी कर्म नहीं; क्योंकि यदि उसके पीछे निष्काम भाव है तो उससे किसी फलकी उत्पत्ति नहीं

होती। श्री रामानुजाचार्यने इसकी व्याख्या ऐसे की है कि अपने कर्त्तव्य कर्म करते चलो। यदि तुम कर्त्तव्य कर्म छोड़ दोगे तो भगवान्‌के सामने तुमसे पूछा जायेगा कि तुमने आखिर किस कारणसे अपना कर्त्तव्य छोड़ दिया? मालिक पूछेगा कि तुम उस समय कहाँ गये थे? तुमने अपना काम क्यों नहीं किया? सृष्टिका एक मालिक है, संचालक है जो इस बातपर दृष्टि रखता है।

श्रीशङ्कराचार्यका इस सम्बन्धमें दृष्टिकोण यह है कि वेदान्तकी पहली सीढ़ी देहमें 'मैं' न रखना है। इसलिए जो लोग अपने आपको देह-मात्रमें सीमित कर लेते हैं और कहते हैं कि मैं केवल इतना ही हूँ, वे श्रीकृष्णके उपदेशोंसे लाभ नहीं उठा सकते। अरे बाबा! केवल शरीरको ही क्यों मानते हो? कम-से-कम परिवार तो मानो अपनेको। फिर गाँव मानो, राष्ट्र मानो, सम्पूर्ण-मानवता मानो। व्यक्तिको समष्टिमें ले जानेकी जो प्रक्रिया है, वह विश्वात्मासे एक होनेका पहला कदम है। माण्डूक्योपनिषद्‌के अनुसार ईश्वरकी ओर चलनेका पहला कदम यह है कि हम अपनेको एक शरीर न समझकर सम्पूर्ण-विश्व समझें। आप तो जानते ही हैं कि हम एक-एक शब्द जो बोल रहे हैं वह यदि यन्त्रके सामने बोलें तो इसी समय अमेरिका, रूसमें सुनायी पड़ सकता है। शब्द व्यापक होता है। यदि यन्त्रों द्वारा प्रेषण और श्रवणकी व्यवस्था न हो तो भी बोला हुआ शब्द व्यापक हो जाता है। इस सिद्धान्तको लेकर बेतार-का-तार आविष्कृत हुआ है। जब हमारे शब्दकी यह स्थिति है कि वह बोलते ही सम्पूर्ण विश्वमें व्याप्त हो जाता है तो क्यों न हम शुभ बोलें? यदि आप अपने मुँहसे गाली निकालेंगे तो वह सारी दुनियामें फैल जायेगी, सबके हृदयोंमें, सबके सामने गाली दीखेगी और सबकी जबानसे गाली निकलेगी। एक-एक शब्द बोलनेमें सावधान रहना चाहिए। आप जो बोलेंगे वह सबके हृदयमें, सबके कानोंमें, प्रवेश करेगा। सबकी वाणीसे निकलेगा और सबके जीवनका निर्माण करेगा। आप केवल एक मनुष्य, एक शरीर नहीं सम्पूर्ण विश्व-सृष्टि हैं। स्वामी रामतीर्थका कहना था कि 'जब मैं चलता हूँ तो सारा भारत चलता है और जब मैं बोलता हूँ तो सारा भारत बोलता है।' भारत अर्थात् सम्पूर्ण विश्व। हमलोग भारतवर्षको इतना ही नहीं मानते कि उसके पूर्व, पश्चिम और दक्षिणमें समुद्र है और उत्तरमें हिमालय है। हम तो क्षार-समुद्रसे घिरी हुई सारी धरतीको भारतवर्ष मानते हैं। हमारे पुराणोंमें जिस भूगोलका वर्णन है उसके अनुसार खारे समुद्रसे घिरा हुआ सम्पूर्ण जम्बू-द्वीप भारतवर्ष है। उसमें केवल भारतवर्ष स्थूल सृष्टिके रूपमें है और बाकी सब-के-सब सूक्ष्म हैं। आज जितनी भी सृष्टि उपलब्ध है, वह सब किसी समय भारतके नामसे ही प्रसिद्ध थी। वह धीरे-धीरे कटती गयी, समुद्र धरतीके टुकड़ोंको अलग करता गया, जनताके संस्कार अलग-अलग होते गये और परम्पराएँ बदलती गयीं।

भाई, आप अपनेको एक शरीरके रूपमें मत मानिये। आपका शरीर भी पञ्चभूत ही है और बोली भी आपकी सब जगह पहुँचती है। अच्छा, जरा बताईये आपके शरीरका आकाश अलग है क्या? आप दुनियाके आकाशसे अपने भीतरके आकाशको अलग कर सकते हैं? इस संसारमें जो हवा चलती है उससे क्या आप अपनी साँसको अलग कर सकते हैं? फिर आप अपनेको देह-बद्ध क्यों करते हैं? भगवान् शङ्कराचार्यका कहना है कि देहमें जो मैं-पना है, यह अविचार-रमणीय है। जबतक हम वेदान्त-विचार नहीं करते, तत्त्व-

विचार नहीं करते तभीतक 'मैं' देहबद्ध मालूम पड़ता है, अन्यथा वह सम्पूर्ण विश्वात्मा है। विश्वात्मासे परे 'मैं' समग्र सूक्ष्म सृष्टि है। उससे भी परे कारण-सृष्टि है और उससे भी परे परब्रह्म तत्त्व जिसमें सब नहीं। सब माने तो समष्टि होता है। बहुतोंके जोड़का नाम सब होता है। उपनिषद्का जो तत्त्व है वह बहुतोंका जोड़ नहीं वह तो एकमेवाद्वितीय है।

इसलिए भगवान् कृष्ण कहते हैं-

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥ (4.18)

अर्थात् तुम स्वयंको सम्पूर्ण विश्वात्माके साथ, ईश्वरके साथ, परब्रह्म परमात्माके साथ एक करके देखो और इस शरीरसे जो कर्म हो रहा है, उसके होते हुए भी अपनेको अकर्म समझो। यदि तुम इस शरीरसे कर्मको छोड़कर हाथ-पाँव बाँधकर बैठोगे तो इसमें भी कर्म होगा। अतः योगी वह है, बुद्धिमान वह है जो सारे कर्म करते हुए भी उनसे मैं-मेराका सम्बन्ध छोड़कर परमात्माके साथ एकाकार हो जाता है। ऐसा होनेपर न तो कर्मका सम्बन्ध जुड़ता है, न पाप-पुण्य लगता है और न सुख-दुःख मिलता है। वह सुख-दुःख, पाप-पुण्य, लोक-परलोक और स्वर्ग-नरकसे मुक्त हो जाता है। उसके सामने न तो संसार रहता है न परिच्छिन्नता रहती है। वह सर्वथा अद्वितीय परमात्माके रूपमें विराजमान हो जाता है।

एक बात ध्यानमें रखनेकी है। संसारके जो अन्यान्य धर्म हैं, वे सब कहानी-किस्सोंके आधारपर टिकते हैं। पुराण-प्रधान धर्म पौराणिक धर्म है। किन्तु हमारा जो यह धर्म है, आध्यात्मिक है और हमारी गीता दार्शनिक दृष्टिकोणसे हमारे जीवनके रहस्यों, कर्मों और भोगोंका प्रतिपादन करती है। गीता दृष्टि देती है और आप उसके अनुसार चलकर स्वयं परमात्मासे एक हो जाते हैं।

●

प्रवचन : 11

(26-11-74)

सब परमेश्वरके स्वरूप हैं और परमेश्वर अपना ही स्वरूप है। परमेश्वरसे कभी वियोग नहीं होता। जिससे कभी वियोग होता है वह अपना ही स्वरूप नहीं। जिससे कभी वियोग नहीं होता वह अपना ही स्वरूप है। आप सब अपने ही स्वरूप हैं। वक्ता अपनी ओरसे कुछ नहीं बोलता। श्रोताके हृदयमें जो सुननेका संकल्प होता है, वही वक्ताके नि:संकल्प हृदयमें प्रतिबिम्बित होता है। उसीसे वाणी निकलती है। एकने पूछा कि ईश्वरको टेलीफोन करनेका नम्बर क्या है? उत्तर मिला कि तुम अपने हृदयको खाली कर लो और खाली हृदयमें ईश्वरसे बातचीत करो। वही हृदय ईश्वरके साथ जुड़ता है। मेरा हृदय आप लोगोंके हृदयसे जुड़ता है। मैं प्रवचन करनेके लिए कई स्थानोंपर जाता हूँ। जैसे श्रोता होते हैं, वैसी ही बात निकलती है। मालूम पड़ता है कि मैं जो कुछ बोलता हूँ, वह मेरा बोला हुआ नहीं, आपका ही बोला हुआ है। मैं भक्तोंमें जाता हूँ तो भक्तिकी बात आती है। वेदान्तियोंमें जाता हूँ तो वेदान्तकी बात आती है और गाँवोंमें जहाँ लुगायाँ-पतायाँ अधिक होती हैं-जाता हूँ तो दूसरे ही ढंगकी बात आती है। ये सब हमारी बात नहीं आपकी ही है। आप स्वयं बोलें और टेपरिकार्डको धन्यवाद दें, उसके प्रति आभार प्रकट करें तो कैसा लगेगा? उसमें जो ध्वनि भरी हुई है वह आपकी ही है। मैं सबका नाम तो नहीं ले सकता किन्तु श्रीमती सरला और वसन्त कुमारजी, देवधरजी, रमणलाल वित्रानी, सीतारामजी सेकसरिया, भगीरथजी कानोडिया, ईश्वरी प्रसाद गोयनका और जो लोग पीछे बैठे हैं वे सब; इतना समय निकालकर इतने प्रेमसे यहाँ एकत्रित होते हैं यह बहुत आनन्ददायक है। मुझे बम्बईमें एक सेठने कहा था कि 'महाराज हम आपके पास चौबीस घण्टे मोटर रख सकते हैं और आप कहें तो दस हजार रुपये भी भेज सकते हैं, लेकिन हमसे घण्टे भरका समय न माँगना। घण्टे भरमें तो हम उलट-पुलट कर देते हैं। व्यापारके क्षेत्रमें हमारा समय बहुत कीमती है। वही कीमती समय आप लोगोंने सत्सङ्गमें दिया है। इससे आपकी रुचि और प्रीति प्रकट होती है। ईश्वर करे यह बनी रहे और दिनों दिन बढ़ती रहे।

हमारा जो अध्यात्मतत्त्व है वह ब्रह्म, ईश्वर, माया, प्रकृति और पञ्चभूत सबमें ओत-प्रोत है। मैटर एक है और उसमें अलग-अलग शकलें बनी है। सब रूप कर्मसे बनते हैं। जैसे परमात्मा सोना है, उसीमें कंगन, कुण्डल और हार आदि बने हैं। सबकी डिजाइन अलग-अलग है पर है वह सब-का-सब परमात्मा।

गीताके उपदेशोंका तात्पर्य यही है कि आपको जो मनुष्यकी बहुत सुन्दर आकृति प्राप्त हुई है वह आपके शुभ कर्मोंसे ही प्राप्त हुई है। अब आप कुछ ऐसे कर्म करें कि या तो आपका रूप इससे भी अधिक सुन्दर, मधुर, आकर्षक और लोकोपयोगी हो जाये या आप कुछ ऐसा ज्ञान प्राप्त करें कि आपकी वासनाएँ शान्त हो

जायें, मिट जायें और आपके सारे कर्म भगवत्संकल्प एवं भगवतइच्छासे ही हों। यदि आप अपने ही पसन्दकी सुन्दर आकृतिका निर्माण करना चाहते हैं तो उसके लिए शुभ कर्म कीजिये और राम, कृष्ण, नारायण, शिव या अन्य अभीष्ट देवी-देवताओंकी आकृतियोंका ध्यान कीजिये। फिर आपकी आकृतिका जो चोला है इसकी जगहपर अपेक्षित आकृति आ जायेगी। आप स्वयं राममय, कृष्णमय, नारायणमय, शिवमय हो जायेंगे। आपके जीवनमें दिव्यता-पवित्रता बरस पड़ेगी। किन्तु यदि आप किसी भी आकृतिके निर्माणका सङ्कल्प छोड़ देंगे और जिस रूपमें भागवत-सत्ता प्रकट हो रही है, उस रूपमें उसे प्रकट होने देगें तो आप निर्वासन-निःसंकल्प होकर साक्षात् ब्रह्म-स्वरूप हो जायेंगे।

मनुष्य जब कर्म करने लगता है तब उससे गलती यह होती है कि वह छोटी-छोटी चीजोंको बहुत अधिक महत्त्व दे देता है। मुझे याद है, एकबार एक सज्जन पाँच हजार रुपयेके लिए किसी मनुष्यका तिरस्कार कर रहे थे। मैंने उनको समझाया कि 'भाई, रुपये तो आते-जाते ही रहते हैं परन्तु ऐसा मनुष्य तुम्हें फिर नहीं मिलेगा। संसारकी सम्पदासे मनुष्यकी कीमत बहुत अधिक है। सम्पदामें केवल जड़ता प्रकट होती है और मनुष्यमें जड़ता और चैतन्य दोनों प्रकट होते हैं। उनके विकासको अवरुद्ध करना मनुष्यके लिए उपयुक्त नहीं।' किन्तु उन्होंने मेरी बात नहीं मानी। वह मनुष्य उनके यहाँसे हटकर दूसरी जगह चला गया और वहाँ बहुत बड़ी सम्पदाके रूपमें प्रकट हुआ। उसके द्वारा बहुत बड़े-बड़े काम हुए।

जिन बालकोंको हम छोटा समझते हैं वे छोटे नहीं; उनमें राम हैं, कृष्ण हैं, बुद्ध हैं, ऋषि हैं, तिलक है, गांधी है। उनमें बड़े-बड़े सम्पत्तिशाली, बड़े-बड़े बुद्धिमान और विद्वान् हैं। वे हमें छोटे दिखायी देते हैं; किन्तु उनके भीतर तो बहुत बड़ी शक्ति है। हमसे उस समय बहुत बड़ी भूल होती है, जब हम चेतनकी प्रधानताका आदर न करके जड़ताकी प्रधानताका आदर करते हैं। हमें काम करते समय अपनी ओर तथा अपनी आत्माके निर्मल स्वरूपकी ओर देखना चाहिए।

मैं एकदिन किसीके घरमें भिक्षा कर रहा था। अचानक ही वे लोग बद्रीनाथके मार्गमें मिल गये थे। रसोइयेने हमें देखकर समझा कि कहींसे भिखमंगे आ गये। उसने मोटी-मोटी पूड़ियाँ बना दीं। जब लड़की परसनेके लिए चौकेमें गयी और उसने मोटी पूड़ियोंको देखा, तब उसने परसी हुई थाली धम्मसे पटक दी और गुस्सेमें बोली-'मैं स्वामीजीको ऐसी पूड़ियाँ खिलाऊँ?' इस घटनाके उल्लेखका आशय यही है कि हमें यह देखना चाहिए कि हम जो कुछ कर रहे हैं, वह हमारे स्वरूपके अनुरूप है या नहीं? आप परमात्माके अंश हैं, आपके भीतर सच्चिदानन्द हैं। आप सुख देनेके लिए हैं, ज्ञान देनेके लिए हैं, पवित्रता देनेके लिए हैं। अतः आपके जीवनसे इसीकी किरणें, इसीकी राशियाँ निकलनी चाहिए।

गीताका पहला सन्देश यही है कि हम स्वार्थ-वासनासे, अहङ्कारसे मुक्त होकर कर्म करें। कर्म करते हुए भी अपनेको कर्ताके रूपमें न देखें। अपितु परमात्माको ही कर्त्ताके रूपमें देखें अथवा परमात्माकी प्रकृतिको, उनके सङ्कल्पको और उनकी मायाको देखें।

कर्मण्यकर्म यः पश्येत्—हो रहे हैं कर्म और अपनेको देखें अकर्म। जो लोग हाथ-पाँव बाँधकर बैठ

जाते हैं और कहते हैं कि कुछ नहीं करेंगे, उन लोगोंने न तो हाथ बाँधे, न पाँव समेटे और न जीभ समेटी। जिसको वे अकर्म समझते हैं उसके साथ भी कर्म ही है और वह संसारमें फँसनेवाला है।

अकर्ममें आसक्त न होकर कर्म करते हुए यह प्रयास करना चाहिए कि बुद्धि बनी रहे और योग बना रहे। भगवान्के उपदेशकी यही विलक्षणता है कि **कृत्स्नकर्मकृत्** कर्म भी हों, **युक्तः** योग भी बना रहे और बुद्धि भी बनी रहे। बुद्धिको छोड़कर भगवान् किसी साधनका वर्णन नहीं करते। जिस साधनसे बुद्धिका नाश हो जाये वह साधन, साधन ही नहीं। जैसे शरीरको नष्ट करनेवाला विष आपके जीवनका हेतु नहीं, वैसे ही बुद्धिको नष्ट करनेवाली वासना आपके जीवनका अङ्ग नहीं। विष बाहरसे आता है, वासना भीतरसे आती है। इसलिए हमें सावधान रहना चाहिए कि न तो हम निकम्मे हों और न हमारी वासना हमारे कर्मोंको भीतर चिपकाकर हमें नीचे ले जाय।

यस्य सर्वे समारम्भाः आप खूब काम कीजिये। समारम्भका अर्थ है बड़े-बड़े काम कीजिये। ऐसा काम कीजिये। जिससे सारे विश्वको भोजन मिले, वस्त्र मिले, आवास मिले और वाहन मिले। कामसे भोगनेकी जरूरत नहीं। जरूरत है यह देखनेकी कि आप जो काम कर रहे हैं, उससे केवल आपको भोग मिले, यह वासना न हो जाये। **कामसङ्कल्पवर्जिताः**का यही अर्थ है कि आपमें काम अर्थात् भोगका संकल्प न रहे। आप अपने भोग-संकल्पसे बड़े-बड़े काम मत कीजिये, अपितु परमात्माकी प्रसन्नताके लिए, यज्ञके लिए कीजिये।

जब आप यह देखेंगे कि परमात्माके सिवाय और कुछ है ही नहीं तब ज्ञानकी अग्निसे कर्मका जो गिरानेवाला अंश है वह भस्म हो जायेगा-**ज्ञानाग्निदग्धकर्माणम्।** वह न उद्नीय अर्थात् ऊपर उठानेवाला होगा, न नीचे ले जायेगा। न आपको आगे ले जायेगा न पीछे। आप जहाँ हैं वहीं आपको कर्मके प्रभावसे मुक्त करके परमात्मामें स्थित कर देगा।

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः॥ (4.20)

इसके पहले श्लोकमें 'समारम्भ' है। इसमें 'अभिप्रवृत्त' है। अभिप्रवृत्तका अर्थ है आपके चारों ओर काम हो, सामने हो, पीछे हो, दाहिने हो, बायें हो, ऊपर हो, नीचे हो। अभितः माने सर्वत्र आपके जीवनमें केवल प्रवृत्ति ही प्रवृत्ति हो; परन्तु फलकी आसक्ति न हो।

पहले श्लोकमें बताया कि ज्ञानपूर्वक कर्म आपको नहीं बाँधेंगे और दूसरेमें बताया कि यदि आपके चित्तमें फलासक्ति नहीं होगी तो आप बन्धनमें नहीं पड़ेंगे। कर्म करना अपना काम है और फल देना परमात्माका। फल अपने हाथमें है ही नहीं। फलासक्ति छोड़ दो और काम करते रहो।

वृन्दावनमें जब जयपुरवाला बड़ा मन्दिर बन रहा था, जो आज करोड़ों रुपयोंमें भी नहीं बनेगा तब उसमें प्रसिद्ध सन्त बावा और रामकृष्णदासजी महाराज दिन भर काम करते और पत्थर ढोते, मसाला ढोते और मजदूरी लेनेके समय गायब हो जाते। उन्होंने राज-मजदूरोंके साथ काम किया। एक दिन जब पकड़े

गये और पूछा गया कि तुम लोग मजदूरी क्यों नहीं लेते, तो बोले कि : 'क्या भगवान् तुम्हीं लोगोंका है? तुम लोग धन लगाकर मन्दिर बनवाओ और हम शरीरसे काम भी न करें? हमने जो कुछ किया है और करते हैं वह सब भगवान्‌के लिए है।' हम जो कर्म करते हैं वह ईश्वरकी पूजा है और ईश्वर-पूजाके लिए ही कर्म होता है।

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥ (4.21)

आप कर्म कीजिये, लेकिन केवल शरीर-निर्वाहके लिए, परिग्रहके लिए नहीं। ऐसी स्थितिमें आपका वह कर्म आपके जीवनमें अपना दोष उत्पन्न नहीं करेगा।

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते॥ (4.22)

आप कर्म कीजिये, परन्तु ध्यान रखिये कि आप अपने कर्तव्यका ठीक-ठीक पालन कर रहे हैं; कर्मकी सिद्धि या असिद्धि आपके हाथमें नहीं। आप अपने काममें लगे रहें और अपना कर्तव्य पूरा करते रहें तो कर्म आपको बन्धनमें नहीं डालेगा। इसलिए न तो आप कर्म छोड़ें और न उनमें आसक्त हो जायें, कर्म ऐसे ढंगसे करें जो आपको बाँधे नहीं। भगवान्‌ने बादमें बताया—

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥ (4.23)

ये पाँचों श्लोक बताते हैं कि हम किस ढंगसे काम करें जिससे कर्म-बन्धनमें न पड़े। पाप न लगे, नरकमें न जायें। पुण्य न मिले, स्वर्गमें न जायें। पाप बाँधकर नरकमें ले जाता है अर्थात् दुःखमें ले जाता है और पुण्य बाँधकर स्वर्ग ले जाता है, अर्थात् सुखमें ले जाता है।

ये दोनों अपना फल बलात् देना चाहते हैं। परन्तु भगवती गीताने यह युक्ति निकाली कि कोई आपको न नीचे ले जा सके, और न ऊपर ले जा सके। आप अपने स्थानपर स्थिर हो जायें। कोई हमेशा हवाई जहापर नहीं रह सकता, वह आकाशमें कितना भी उड़े अन्तमें उसे धरतीपर एक जगह बैठना पड़ेगा। इसी प्रकार कोई कितना भी नीचे चला जाये अन्तमें उसको अपने स्थानपर आना पड़ेगा। जबतक जीवनमें स्थिरता नहीं आयेगी, तबतक कितना भी ऊपर-नीचे जाओ काम बनेगा नहीं। अतः यज्ञके लिए कर्म करो। हमारे सारे कर्मोंमें यज्ञ है। यज्ञमें कुछ तो लोगोंसे लेना पड़ता है; इकट्ठा करना पड़ता है। यज्ञके लिए शाकल्य चाहिए, घी चाहिए, ब्राह्मण चाहिए। इसी प्रकार कुछ देना भी होता है। यज्ञ द्वारा सृष्टिमें सुगन्ध देते हैं और ब्राह्मणको दक्षिणा देते हैं। इससे उनकी जीविका निर्वाह होता है और वे वैदिक-संस्कृतिकी रक्षा करते हैं। यदि उनके लिए कुछ करेंगे नहीं तो वे बेचारे क्यों यज्ञका काम करेंगे? जीवन-निर्वाहके लिए कोई दूसरी जीविका अपना लेंगे। यज्ञमें एक होता है आदान और दूसरा होता है प्रदान। प्रदानका अर्थ है वितरण, इसको यह दो, उसको वह दो। घरमें जो इकट्ठा हो जाता है उसके वितरणकी पद्धति है यज्ञ। यज्ञमें कुछ नियम भी लेने पड़ते हैं जिनसे जीवनमें संयम आता है, तपस्या आती है। कुछ लोग

मन्दिरोंमें अथवा बड़ोंके सामने भी हाथ जोड़नेसे कतराते हैं और पूछते हैं कि क्या फायदा? इससे अच्छी आदत पड़ती है, विनय आती है और आशीर्वाद प्राप्त होता है। परन्तु जिनकी भगवद्भावना होती है वे सबको परमेश्वर समझकर ही हाथ जोड़ते हैं।

यज्ञायाचरतः कर्मका तात्पर्य है कि सबके हृदयमें भगवान् विष्णु बैठे हुए हैं और हम सबकी प्रसन्नताके लिए यह यज्ञ कर्म कर रहे हैं। ऋग्वेदका मन्त्र कहता है कि जो केवल अपने खानेके लिए कर्म करता है वह पाप करता है-

केवलाघो भवति केवलादी (ऋग्वेद 10.117.6)

भोजन केवल अपने लिए नहीं पकाओ। पहले थोड़ा दूसरोंके उपयोगमें आये और बादमें जो बचे वह दूसरोंके उपयोगमें आये। बीचमें जो होता है; वही अपना हिस्सा है। रसोई पकाना और संसारके काम करना एक जैसा ही है। बड़े-बड़े कल-कारखाने और बड़े-बड़े उद्योग केवल अपने भोग-रागके लिए ही नहीं होते अपितु विश्वात्मा भगवान्‌की सेवाके लिए होते हैं। यदि इस दृष्टिसे यज्ञ-कर्म किया जाये तो **समग्रं प्रविलीयते** वह आपको बन्धनमें नहीं डालेगा, नीचे नहीं गिरायेगा।

इसके बाद भगवान् अर्जुनको इस विश्व सृष्टिमें तेरह प्रकारके यज्ञ बताये जो बहुत विलक्षण हैं। आजकल लोग यज्ञका नाम सुनकर घबरा जाते हैं। भगवान्‌ने एक ब्रह्मार्पण-यज्ञ बताया है जिसमें कर्मका लेशमात्र भी नहीं-

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना।। (2.24)

सभी कर्म ब्रह्मरूप हैं। इनका समर्पण भी ब्रह्मरूप है और फल भी ब्रह्मरूप ही है। ब्रह्मातिरिक्त और कोई वस्तु नहीं। इस दृष्टिका नाम है-ब्रह्मार्पण-दृष्टि और यह ब्रह्मार्पण यज्ञ है। इसी प्रकार एक ब्रह्माग्नि यज्ञ है और भी अनेक बढ़िया-बढ़िया यज्ञ हैं। देवताकी प्रसन्नताके लिए यज्ञ है। इन्द्रियोंके संयमनके उद्देश्यसे यज्ञ है। यहाँ तक कि भोगकी दृष्टिसे भी यज्ञ हैं। आप कभी इन यज्ञोंपर ध्यान दें।

शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति। (4.26)

हम जो आँखसे सुन्दर दृश्य देखते हैं, कानसे मधुर शब्द सुनते हैं, त्वचासे कोमल स्पर्श करते हैं और अपनी इन्द्रियोंकी आगमें पवित्र विषयोंका हवन करते हैं-यह भी एक यज्ञ है।

भारतीय संस्कृतिके यज्ञोंकी चर्चा कहाँ तक की जाये? छान्दोग्योपनिषद् और बृहदाण्यक उपनिषद्में तो पति-पत्नीके समागका भी यज्ञके रूपमें वर्णन है। कुछ लोग भले मर्यादाके नामपर उनकी उपेक्षा करें, किन्तु भगवान् शंकर-जैसे आचार्योंने भी उनका भाष्य किया है। आप अपनी भारतीय संस्कृतिकी उदारताका यह सिद्धान्त तो देखें कि वह हमारे जीवनमें आनेवाले सभी कर्मोंमें यज्ञ-बुद्धि उत्पन्न करके उन्हें किस प्रकार पवित्र कर देता है। क्रिया क्या है, वेदी क्या है, घृत क्या है, अग्नि क्या है, इसकी चिनगरियाँ क्या हैं, इसका वर्णन उपनिषदोंमें आता है। हमारे यहाँ दन्तधावन भी एक नित्यकर्म है, धर्म है। लघुशंका कैसे करना, शौच कैसे

जाना, स्नान कैसे करना आदि सभी कर्मोंका विधि-विधान है-हमारे शास्त्रोंमें, जिनसे पवित्र होकर हम यज्ञकर्म सम्पन्न करते हैं। ऐसी उदार है हमारी भारतीय संस्कृति, जिसमें उठना, बैठना, चलना, पढ़ना, लिखना, बोलना, विश्राम यहाँ तक कि पुत्रोत्पादन भी धर्म है। तो—

यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते। (4.23)

आप यज्ञकी दृष्टिसे इन्द्रियोंका विषय-भोग कीजिये अथवा इन्हें संयमित कीजिये-दोनों यज्ञ हो जाते हैं। इन यज्ञोंका वर्णन करके अन्तमें भगवान्‌ने यह कहा—

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥ (4.33)

द्रव्यसे जो यज्ञ होता है उसकी अपेक्षा ज्ञान-यज्ञ श्रेष्ठ है। जितने भी कर्म हैं वे एक अनुभव या ज्ञान देकर समाप्त हो जाते हैं। आप इसको लौकिक दृष्टिसे देखिये। आप प्रत्येक कर्मसे एक अनुभव या ज्ञान प्राप्त करते हैं। जब अनुभव या ज्ञान प्राप्त हो जाता है तब उसके लिए कर्म करनेकी कोई आवश्यकता नहीं होती। अब वे कर्म आपको न कहीं ले जायँगे, न बाँधेंगे, न पराधीन बनायेंगे और न आपको फल देंगे। क्योंकि वे कर्म सारी सृष्टिके लिए हो जायेंगे और सबका भला करेंगे।

आप जानते हैं कि ज्ञानके समान पवित्र पदार्थ अन्य कोई नहीं, यह बात स्वयं भगवान्‌ने कहीं है। **सर्वं कर्माखिलम्**का उद्देश्य है **ज्ञाने परिसमाप्यते** उस ज्ञानकी प्राप्तिके लिए भगवान्‌ने कुछ कर्तव्य बताये-

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया। (4.34)

ज्ञान प्राप्तिके तीन उपाय हैं—प्राणिपात, परिप्रश्न और सेवा। ज्ञान, गंगाकी धाराकी तरह है। जिस प्रकार गंगा हिमालयसे नीचे समतल भूमिपर आती है, उसी प्रकार ज्ञान भी विनयीकी ओर प्रवाहित होता है। वह अभिमानकी चोटीपर नहीं चढ़ता। अभिमानी लोग मार्गमें चलते-चलते कहते हैं, 'महाराज! कुछ ज्ञानका उपदेश कीजिये।' फिर बोलते हैं—'महाराज! दो शब्द चेतावनीके कहते जाइये।' 'अरे चेतावनी सुनते-सुनते तुम्हारी जिन्दगी बीत गयी। अब रास्तेमें चलते-चलते सुन लोगे तो क्या हो जायेगा?'

ज्ञान-प्राप्तिके लिए अपने अहंभावको विनयसे युक्त करना पड़ता है-'प्रणिपातेन।' ज्ञान चुरानेसे भी काम नहीं होता। कई लोग चलते-चलते या कहीं बैठे रहनेपर बातचीतकी बातें नोट करते रहते हैं और फिर कहीं अपनी बुद्धिका वैभव प्रकट करते हैं। यह ज्ञान-प्राप्तिका मार्ग नहीं। इसलिए मनोयोगपूर्वक 'परिप्रश्नेन'— पूछ-पूछकर उसको ग्रहण करना चाहिए। 'सेवया' सेवा करके भी ज्ञान प्राप्त करनेका विधान है।

कर्म जड़ औजारोंसे होता है। समाधि भी जड़ताकी ही एक स्थिति है। परन्तु ज्ञान चेतनके सबसे अधिक निकट है। इसलिए ज्ञानकी प्राप्तिके लिए मनुष्यको प्रयास करना चाहिए। ज्ञान केवल उपदेशसे ही नहीं मिलता उसके लिए पात्रताकी भी आवश्यकता है।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥ (4.39)

ज्ञानसे तत्काल शान्ति मिलती है। ज्ञान और शान्तिके बीचमें कोई व्यवधान नहीं। जहाँ ज्ञान है, वहाँ शान्ति है। जहाँ शान्ति है वहाँ ज्ञान अवश्य है। परन्तु जो वासनाएँ होती हैं वे ज्ञानकी रश्मियोंको कलुषित करती रहती हैं और उनके कारण शान्ति प्राप्त नहीं होती। यदि आपको ज्ञान प्राप्त हो जाय तो—

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥ (4.35)

इस श्लोकमें ज्ञानका स्वरूप बताया है। ज्ञान होनेपर फिर मोह नहीं होता। मोह माने भटकना **मुह् वैचित्ये** चित्तके वैपरीत्यका नाम मोह है। जब **अधर्मः धर्मरूपेण** अधर्म धर्मके समान और धर्म अधर्मके समान प्रतीत होने लगे, तमोगुण बढ़ जाय, सब कुछ विपरीत दिखायी देने लगे उसके निवारणका एक मात्र उपाय ज्ञान ही है। ज्ञान प्राप्त हो जाने पर मोह अथवा तामसी बुद्धि तकलीफ नहीं देती।

यहाँ ज्ञानकी बड़ी भारी महिमा बताते हुए यह भी बता दिया कि जो ज्ञान प्राप्त नहीं करेगा उसके लिए आगे खतरा है।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति। (4.40)

धर्म अज्ञानीके लिए भी है, मूर्खके लिए भी है, पागलके लिए भी है। पशु-पक्षी और पेड़-पौधोंकी रक्षाके लिए भी धर्म है। आपने पढ़ा होगा, हमारे महाराजा पृथुने साँपोंकी रक्षाके लिए उनके भोजनका बन्दोबस्त किया, पृथिवीसे दोहन किया। राज्यमें शेर भी बने रहें, साँप भी बने रहें, पक्षी भी बने रहें, पशु भी बने रहें। सबकी, सबके बीजकी रक्षा राजाका कर्त्तव्य है। क्योंकि वे ईश्वरके बनाये हुए हैं और सृष्टिमें उनकी आवश्यकता है।

पहली बात यह है कि ज्ञान प्राप्त किया जाये और यदि प्रयास करनेपर भी ज्ञान प्राप्त न हो तो फिर ज्ञानियोंके वचनपर, निर्देशपर श्रद्धा रखी जाये।

हमको किसीने सुनाया एक विद्यार्थी काशीमें पढ़ रहा था, वह रह गया काशीमें और गुरुजी पहुँच गये उसके घर। पिताने पूछा कि हमारा पुत्र कैसा अध्ययन कर रहा है। पण्डितजीने बताया कि आपका पुत्र बहुत अच्छा है। परन्तु स्वयं तो उसे समझ नहीं और हमलोगोंकी बतायी बात मानता नहीं। आपकी समझ हो तो समझिये और यदि समझ न सकें, क्योंकि सबकी समझ एक-सी नहीं होती, तो ज्ञानियोंकी बतायी हुई बातपर श्रद्धा कीजिये। श्रद्धाहीन जीवन बिलकुल रूखा-सूखा जीवन है, आप इसका अनुभव कर लीजिये। आप अपने माता-पिताको श्रद्धासे ही माता-पिता मानते हैं, क्योंकि उनके मातृत्व-पितृत्वका आपको साक्षात्कार नहीं। आप इस दुनियामें बिना श्रद्धा कैसे रह सकते हैं? आप श्रद्धासे ही यह मानते हैं कि डाक्टर जो दवा देगा और इन्जेक्शन लगायेगा उससे हमारे रोगका निवारण होगा। नाईसे बाल बनावते समय भी आप श्रद्धासे ही यह विश्वास करते हैं कि वह आपके गलेको काट नहीं देगा। स्त्रियोंको पतियोंपर, पुरुषोंको पत्नियोंपर और पति-पत्नीको बेटेपर विश्वास करना पड़ता है। अन्यथा घर-परिवार अविश्वास एवं दुःखोंका केन्द्र बन जाये। इसलिए भगवान् कहते हैं-**अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च**। एक तो अज्ञानी और दूसरे अश्रद्धालु। **एक तो करेला दूसरे नीम**

चढ़ा—जैसी बात है। है भगवान्! यह कैसी विडम्बना है कि लोगोंको दूसरेकी बुद्धिपर श्रद्धा करनेमें शर्म आती है; किन्तु अपनी बुद्धिको इतनी बड़ी समझते हैं कि उसीपर श्रद्धा बनाये रखते हैं। यही बुद्धिका सम्मोहन है। अज्ञानी स्वयं अपनी बुद्धिसे सम्मोहित हो जाते हैं। तत्त्वको ठीक-ठीक नहीं समझते। स्वयं जानते नहीं, दूसरोंपर श्रद्धा करते नहीं और हर बातमें होते हैं संशयात्मा। यहाँ भी संशय वहाँ भी संशय, सर्वत्र सबने संशय-**सर्वतोऽभिशङ्किनाम्**। भागवतमें कहा है कि कौवे सबपर शङ्का करते हैं। जो इनको चुग्गा डालने जाता है उससे भी डरते हैं। शङ्का वह, जो हमारे हृदयकी शान्तिको काट दे। शं=**शान्तिम् कृन्तति इति शङ्का**। अज्ञान, अश्रद्धा और संशय-ये तीनों मनुष्यके नाशका साधन हैं। इनसे उनकी मनुष्यता अदर्शनको प्राप्त हो जाती है। वे **नायं लोकोऽस्ति** न इस लोकमें सुखी होंगे और न परलोकमें सुखी होंगे। इसलिए हमें अपने जीवनसे संशयको दूर कर देना चाहिए।

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनाऽत्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमुतिष्ठोत्तिष्ठ भारत॥

संशय मनुष्यके बड़प्पनका लक्ष्य नहीं। यदि मनुष्य तरह-तरहकी शंका द्वारा अपने भीतर दुविधा पैदा कर लेते हैं तो यह उसकी चतुराई और बुद्धिमत्ता नहीं, अज्ञानकी पहचान है। **तस्मादज्ञानसम्भूतम्**—अज्ञानकी सन्तानका नाम है संशय और वह रहता है मनुष्यके हृदयमें। उससे मनुष्य इतने प्रभावित हैं कि उन्हें अपने स्वरूपके बारेमें ही शंका है। वह कर्त्ता है, भोक्ता है, संसारी है, परिच्छिन्न है अथवा क्या है—यह संशय उसे बना हुआ है। इससे छुटकारा पानेके साधनके सम्बन्धमें भी वह निश्चित नहीं कर पाता कि उसकी प्राप्ति ज्ञानसे होगी, भक्तिसे होगी अथवा कर्म करनेसे होगी। इस प्रकार साधनके सम्बन्धमें भी शंका और लक्ष्यके सम्बन्धमें भी शंका। कर्मके सम्बन्धमें भी अज्ञान, भावके सम्बन्धमें भी अज्ञान, अज्ञान ही अज्ञान। यह अज्ञान मनुष्यके लिए बहुत ही हानिकारक है। उसीको निकाल फेंकनेके लिए गीताका उपदेश है। इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण प्रकट होते हैं। यह देखिये उनका स्वरूप। अपार करुणाके सागर हैं, आनन्दके निधान हैं **अमङ्गलमुक्तवीथिसंचारसारथिम्**—अमंगलसे मुक्त विथीमें ले चलनेके लिए चतुर सारथि हैं। 'अपार-दयानिधानम्' है। 'विज्ञान-सार-रस-मानस-राजहंस'—विज्ञान-सार-रस मानसके राजहंस हैं। अब उनकी कृपासे हमारे अज्ञानका, संशयका निवारण हो जायेगा। वे हमे ऐसे मार्गपर ले जायेंगे जहाँ कोई डर नहीं।

अब अन्तमें एक बात और, भक्तोंको भगवान्के रूपकी, नामकी चर्चा बहुत प्यारी लगती है। परन्तु भगवान्के तत्त्वज्ञानमें उनकी रुचि कम हो जाती है। वेदान्ती लोग चाहते हैं कि भगवान्के तत्त्व-ज्ञानकी तो चर्चा हो परन्तु उनके रूपकी चर्चा न हो। वास्तवमें हमारे मनको संतुलित रखनेके लिए रूपकी आवश्यकता होती है और बुद्धिको संतुलित रखनेके लिए ज्ञानकी। इस जीवनमें प्यार और ज्ञान दोनोंकी आवश्यकता है। प्यारके लिए चाहिए भगवान्का रूप और ज्ञानके लिए चाहिए भगवान्का उपदेश, भगवान्की गीता। भागवतमें जो लीलाएँ हैं वे हमारे प्यारको सन्तुलित करनेके लिए है। जिसके प्रेम और ज्ञान दोनों सन्तुलित होंगे उनके

जीवनमें अच्छे-अच्छे कर्म होंगे। जो कर्म भगवान्‌के द्वारा सम्पन्न होते हैं वे सबके लिए होते हैं—जैसे भगवान् पृथिवी बनते हैं, पानीका बन्दोबस्त करते हैं, अन्न देते हैं और उससे समस्त प्राणियोंका पालन-पोषण एवं संरक्षण होता है, उसी प्रकार भगवद्भक्तोंका यह कर्तव्य है कि वे भी अपनी सामर्थ्य द्वारा जनताके लिए आवास, भोजन और वस्त्र आदिकी व्यवस्था करें। यह भगवान्‌का धर्म है। वे हमें ज्ञान देते हैं, आनन्द देते हैं, सृष्टिमें साँस लेनेके लिए हमें हवा देते हैं, वे चलनेके लिए आकाश देते हैं,देखनेके लिए सूर्यकी रोशनी देते हैं। उसी तरहसे जब भगवान्‌का ज्ञान हमारे जीवनमें प्रकट होगा, तो हमारी जीवन-शक्ति, सबकी जीवन-शक्ति और ज्ञान-शक्ति बन जायेगी। इसीके लिए भगवान् प्रकट होते हैं और हमें उपदेश करते हैं।

एक बात और—इससे भी सरल यह है कि यदि हम भगवान्‌के रूपको अपने प्यारसे और भगवान्‌के ज्ञानको अपनी बुद्धिमें लेना चाहते हैं तो दोनोंके साथ कड़ी जोड़नेके लिए हमारे जीवनमें भगवान्‌का नाम होना भी आवश्यक है। नाम छोटा-सा है उसके लिए बहुत पढ़ा-लिखा या बहुत सुशिक्षित, सुसंस्कृत होनेकी जरूरत नहीं। यदि आपको सबके सामने भगवान्‌का नाम लेनेमें संकोच होता हो तो उसे अपने मुँहके भीतर छिपा सकते हैं। जैसे भी आप भगवान्‌का नाम लेते रहेंगे तो धीरे-धीरे भगवान्‌के रूपके साथ भी आपका सम्बन्ध जुड़ जायगा और उनका ज्ञान भी आपके जीवनमें आ जायगा। इसलिए अन्तिम बात यही है कि भगवान्‌का नाम अपने जीवनमें आये, भगवान्‌के रूपसे हमें प्यार हो, भगवान्‌का तत्त्व-ज्ञान हमारे भीतर प्रकाशित हो और भगवान्‌के जो अनन्त, अचिन्त्य गुणगण हैं वे पूरे नहीं तो आंशिक रूपसे ही सही हमारे जीवनमें भी प्रकट हों। जिस प्रकार भगवान् सारी सृष्टिको सत्ता, चैतन्य और आनन्दका दान कर रहे हैं इसी प्रकार हम भी यथाशक्ति लोगों को ज्ञान एवं आनन्दका दान करते रहे। हम यदि गोवर्धन नहीं उठा सकते तो अपनी लठिया तो लगा ही सकते हैं। भगवान्‌के कर्ममें हमारा जो भी योग हो इसके लिए हमें हमेशा उद्यत और सचेष्ट रहना चाहिए।

आप लोगोंने बड़े प्रेमसे, शान्तिसे, अपना समय देकर और कभी कोई बात आपकी रुचिकी नहीं हुई होगी तो भी उसे सुनकर अपने-अपने मनको वशमें रखा है, छोटी-छोटी कुर्सियोंपर बैठकर कष्ट उठाया है। आप लोगोंने स्वयं तो आनन्द लिया ही है, मुझे भी आनन्द दिया है। क्योंकि आपके आनन्दको देखकर मुझे भी बहुत आनन्द हुआ है। आप लोगोंने जो आनन्द अलग-अलग लिया है, वह मुझे आप सबकी ओरसे अकेले ही मिल गया है। इसलिए मैं बहुत-बहुत आनन्दका अनुभव कर रहा हूँ।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।

26-11-'74

गीता-ज्ञान-यज्ञके समापन-समारोहके अवसर पर
पं० श्री देवधर शर्मा, पं० श्री विष्णुकान्त शास्त्री और
श्रीमती सरला बिरला (श्री बसन्त कुमार बिरला)के

भाषणों का सारंश :-

भक्तिमती देवियो और सज्जनो,

आज इस गीता-ज्ञान-यज्ञका समापन होने जा रहा है। आप जानते हैं, पिछले दस दिन किस प्रकार दस क्षणोंकी भाँति व्यतीत हुए। इन दस दिनोंमें हमें ऐसा अनिर्वचनीय आनन्द मिला, जिससे हमारे हृदय और प्राण प्रफुल्लित हैं और आभारी हैं श्री बसन्त कुमार जी बिरलाके और उनकी सहधर्मिणी सौजन्यमयी श्रीमती सरला बिरलाके, जिन्होंने इतना दिव्य आयोजन किया, जिनके अनुराग-भरे आमन्त्रणपर स्वामीजी महाराज साक्षात् यज्ञपुरुषके रूपमें यहाँ पधारे। वास्तवमें जब स्वामीजी महाराज-जैसे सन्तपुरुष हमारे जीवनमें आते हैं, उनका साक्षात्कार होता है, उनका सत्सङ्ग प्राप्त होता है तभी हमें विदित होता है कि मरण-धर्मा कहा जानेवाला यह मानव शरीर कितना मूल्यवान् है। इसके भीतर जो नित्य और शाश्वत चैतन्य है, आत्मतत्व है उसका कितना विकास और प्रकाश हो सकता है। इसका परमात्मासे कितना तादात्म्य हो सकता है और उसके द्वारा इस जगत्को कितना ज्ञान-दान दिया जा सकता है। जब हम लोग—

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।

की व्याख्याके संदर्भमें स्वामीजी महाराजके दर्शन करते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि स्वामीजी महाराज उन्हीं दुर्लभ महात्माओंमें-से हैं, जो न केवल दूसरोंको भगवत्स्वरूप समझते हैं बल्कि स्वयं भी भगवत्स्वरूप होते हैं और जिनके मन-वचन-कर्म सब कुछ विश्वात्मा भगवान्को समर्पित होते हैं। निस्सन्देह स्वामीजी-जैसे सन्तोंका इस संसारमें इसीलिए आना होता है कि मानव समाजके दुर्भावोंका, दुःखोंका अन्त हो। वे अपने सच्चे स्वरूपको पहचानें और कर्त्तव्य-कर्मका निर्वाह करते हुए शाश्वती शान्तिको प्राप्त हों। शाश्वती शान्ति कोई अलभ्य वस्तु नहीं, अनहोनी वस्तु नहीं बल्कि इससे हमारा नैसर्गिक नाता है और हम इसीके लिए बार-बार जन्म ग्रहण करते हैं।

स्वामीजीकी दृष्टिमें सभी प्राणी उनके आत्मस्वरूप हैं। कोई भी पराया नहीं। आप 'सर्वभूतहिते रताः'के अनुसार सबका भला चाहते हैं। इसीलिए स्वामीजीके सम्पर्कमें जो आता है, उसे उनके प्रति आत्मीयताका अनुभव होता है और वह उनके आनन्दमय व्यक्तित्वसे प्रभावित हो जाता है। हमारा यह परम सौभाग्य है कि स्वामीजी-जैसे विद्वान् महात्मा हमारे मध्यमें हैं और हम उनकी अमृतमयी वाणीका रसास्वादन कर रहे हैं। प्रभुसे प्रार्थना है कि हमने जो कुछ सुना है, वह हमारे जीवनमें उतरे, हम अपने कर्तव्य और अकर्तव्यको पहचानें। इसी जन्ममें अपने जीवनके चरम फलको प्राप्त करनेमें समर्थ बन सकें। इन्हीं शब्दोंके साथ मैं प्रार्थना करूँगा पण्डित श्रीविष्णुकान्तजी शास्त्रीसे कि वे हम सबकी ओरसे स्वामीजीके चरणोंमें श्रद्धा निवेदित करें। स्वामीजीने हम सबकी जीवन-यात्राके लिए अपने प्रवचनोंके माध्यमसे जो पाथेय प्रदान किया है, उसके लिए हम केवल श्रद्धा ही निवेदित कर सकते हैं और अपनी आस्था ही व्यक्त कर सकते हैं। यह सब कुछ हमारी ओरसे पण्डित विष्णुकान्तजी शास्त्री ही करेंगे।

मैं समझता हूँ पं० विष्णुकान्तजी शास्त्री[1]का परिचय आपको देनेकी आवश्यकता नहीं। वे कलकत्ता विश्वविद्यालयके हिन्दीके प्रोफ़ेसर हैं और बहुत बड़े विद्वान् पिताके विद्वान् पुत्र हैं। इनके पिताका नाम पण्डित गांगेय नरोत्तम शास्त्री है जिनसे सारा विद्वान् समाज परिचित है। विष्णुकान्तजी भी आजकलके नये लेखकोंकी पीढ़ीमें हैं और उनके लेख 'धर्मयुग'में, साप्ताहिक 'हिन्दुस्तान'में प्रकाशित होते रहते हैं। सारा हिन्दी-जगत् इन्हें जानता है। इन्होंने प्रारम्भसे ही महाराजश्रीका प्रवचन सुना है, गुना है, अनुभव किया है इसलिए ये जो कुछ भी कहेंगे अधिकारपूर्वक कहेंगे।

—देवधर शर्मा

•

1. कालान्तरमें पं० विष्णुकान्तजी सांसद हुए तथा हिमाचल एवं उत्तर-प्रदेशके राज्यपाल भी।

मित्रो!

पूज्य स्वामीजीकी अमृतवाणी आपने-हमने सुनी। हम लोग कितना उसे गुन पाये इसे तो भीतरका परमात्मा ही जानता है। सुनते समय मुझे बराबर लगता रहा, एक प्रश्न उभरता रहा, यह मनुके मुखसे निकला था—

कौन हो तुम खींचते यूं मुझे अपनी ओर।
और ललचाके स्वयं हटते उधरकी ओर।।

आखिर यह कैसा आकर्षण, कैसी आत्मीयता है जो हम सबको अपने दैनन्दिन जीवनके कर्मसे खींच ले आती है, ले आती रही है और बराबर इस बातका आभास देती रहती है कि—

है अभी कुछ और है जो कहा नहीं गया।

जो सुना वह बढ़े और बढ़े तथा वाणीके सहारे चला आये। स्वामीजी महाराज जो विवेचन कर रहे थे तो उन्होंने कहा कि इन्द्रियोंसे गहरे मन है, मनसे गहरे बुद्धि है, बुद्धिसे भी गहरे परमबोधस्वरूप आत्मा है। उसके निकट स्वामीजीकी वाणीका अवलम्बन लेकर हम आप जा सकते हैं। मुझे प्रतीत होता रहा कि यह बोध-स्वरूप सर्वत्र व्याप्त है, दीखता नहीं, अनुभूत नहीं होता। आखिर जब भगवान्ने अर्जुनसे कहा कि 'मेरा दिव्यस्वरूप देखनेके लिए तुम्हें दिव्य चक्षुओंकी आवश्यकता होगी' तो भगवान्का दिव्यस्वरूप तो था ही वहाँ केवल अर्जुन देख नहीं सकता था—

दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्।

इसी तरह परमबोधस्वरूप तो विद्यमान ही है, हम आप समझ नहीं पाते, हम आप जिन चर्मचक्षुओंसे, जिस व्यवहारकी वासनासे आवृत हैं, उसमें यह स्वरूप आता रहता है, हमारी दृष्टि वहाँतक नहीं जा सकती। दिव्यचक्षु परमात्मा ही देते हैं ऐसी बात नहीं। गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है सद्‌गुरु दे सकते हैं—

उघरहिं विमल विमोचन ही के। मिटहिं दोष दुख भव रजनी के।।
सूझहिं रामचरित मनिमानिक। गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक।।

हृदयके विमल विलोचन खुल सकते हैं। महाराजश्रीकी यह वाणी हमारे हृदयके विमल विलोचन खोल सकती है, अंशतः जितनी हमारी आपकी पात्रता थी। पात्रता ही नहीं है इसलिए ज्ञान नहीं। पात्र अगर एक सेरका है तो एक ही सेर हमें मिला, भले अमृतमय वर्षा होती रही। लेकिन यह है एक सेर जल किसी गन्दले नालेका तो नहीं है, यह गंगाका है, महाराजश्रीकी अमृतमयी वाणीका है, हमारी पात्रताको वही जल और आगे बढ़ा देगा ऐसा मेरा विश्वास है। बार-बार महाराजश्रीका प्रवचन सुननेका आग्रह आपके और हमारे मनमें बना रहे, हम और आप बार-बार यह प्रार्थना करते रहें कि महाराजश्री यहाँ पधारें। आयोजकोंका यह धर्म बना रहे जिसके कारण हमें, आपको यह अवसर मिला। हम प्रार्थना करते हैं कि भागवतका जो पाक्षिक प्रवचन महाराजश्री करते हैं उसके श्रवणका अवसर हमें मिले। अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णसे कहा था, वह हम आपसे कह सकते हैं कि बार-बार आपकी वाणी सुनते हुए इस अमृत रससे हमें तृप्ति नहीं होती। आप पुनः इसे—

भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्।

—विष्णुकान्त शास्त्री

पूज्य स्वामीजी महाराजके पूज्य चरणोंमें प्रणाम!

भगवान् श्रीकृष्णकी असीम कृपासे यह एकादश दिवसीय अद्भुत अनुष्ठान सफल समङ्गल सम्पूर्ण हो रहा है। पूज्य स्वामी अखण्डानन्दजी महाराजने अपनी दिव्यवाणी तथा अनुपम शैलीसे भगवद्गीताके इन अमृत-सन्देश तथा उपदेशका वितरणकर हम सबको कृतकृत्य किया है। मैं अपनी ओरसे तथा आप सबकी ओरसे पूज्य स्वामीजीको अनेक-अनेक धन्यवाद देती हूँ, आभार प्रदर्शित करती हूँ। जैसे अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णसे कहा-

भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ।

वैसे ही हमने स्वामीजीसे प्रार्थना की कि हमें आपका प्रवचन सुनकर तृप्ति नहीं हुई है और मुझे यह सूचित करते हुए प्रसन्नता हो रही है कि नूतन वर्षमें इन्हीं दिनों इसी जगह वे हमें इस गीतामृतका पान करायेंगे। आप सब महानुभावोंने नियमित रूपसे यहाँ पधारकर अमृतवाणी शान्ति तथा भक्तिपूर्वक सुनी, इसलिए आप सबको हार्दिक धन्यवाद है और आशा है कि भविष्यमें भी आप सबका प्रेमपूर्ण सहयोग प्राप्त होता रहेगा।

पं० देवधरजी शर्मा हमारे अनुरोधपर इसी उद्देश्यसे यहाँ आये हैं उन्हें अनेक धन्यवाद!

पूज्य महाराजश्रीका सहयोग हमेशा हमारे साथ तो रहता ही है और उनकी प्रेरणा इन सब कार्मोंके पीछे बराबर रहती है; उन्हें अनेक धन्यवाद! स्वामी प्रबुद्धानन्दजी तथा श्रीराधेश्यामजीको धन्यवाद देते हुए मैं आप सबको नमस्कार करती हूँ।

—सरला बिरला

गीता-दर्शन

(2)

गीता अध्याय-5

स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

संकलनकर्त्री

श्रीमती सरला बसन्तकुमार बिरला

आशीर्वाद

श्रीमती सरला एवं बसन्तकुमार बिरलाने कलकत्तामें गीता-प्रवचनके जो आयोजन किये थे, उनमें-से प्रथम वर्षका प्रवचन पहले प्रकाशित हो चुका है। अब द्वितीय वर्षका प्रवचन प्रकाशित होकर आपके हाथोंमें आ रहा है। लोगोंने गीता-दर्शनके प्रथम भागको बहुत पसन्द किया है। द्वितीय भागके लिए बड़ी माँग थी। उसके अनुसार यह प्रकाशन किया गया है। तृतीय भाग इसके बाद शीघ्र ही प्रकाशित होगा। चतुर्थ भाग भी लिखकर तैयार है। चतुर्थ भाग तो स्वयं श्रीमती सरला बिरलाने ही लिखकर तैयार किया है। ईश्वर उनकी आध्यात्मिक रुचिको दिनों-दिन बढ़ावे। उनका परिवार और वे मङ्गलमय एवं सुखी रहें।

प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय भागके प्रवचनोंको श्रीमती सतीशबाला महेन्द्रलाल जेठीने अत्यन्त परिश्रम एवं मनोयोगके साथ तैयार किया है। एक घण्टेका प्रवचन तैयार करनेमें 10-12 घण्टे लग जाते हैं। रिकार्डसे सुनकर लिखना, संशोधन करना, दुबारा लिखना यह बहुत बड़ा काम है। इसमें प्रेम, लगन एवं परिश्रमकी बहुत बड़ी आवश्यकता पड़ती है। बड़ी सूझ-बूझ, सावधानी और मनोयोगसे संशोधन एवं सम्पादनका कार्य करना पड़ता है। सतीशबाला जेठी और डा० महेन्द्रलाल जेठीसे इतनी आत्मीयता हो गयी है कि उनकी प्रशंसा करना या धन्यवाद देना अपनी ही प्रशंसाके समान है। अतएव मैं हृदयसे आयोजक, संशोधक एवं सम्पादकको आशीर्वाद देता हूँ कि भगवत्कृपासे उनकी सर्वविध उन्नति हो एवं दिनों-दिन भगवद्भक्तिकी वृद्धि-समृद्धि हो।

इसके परिष्कार-संस्कारमें श्रीदेवधर शर्माजीका प्रारम्भसे अन्ततक सहयोग एवं दृष्टिकोण रहा है, यह बात कभी भुलानेकी नहीं है।

अखण्डानन्द सरस्वती

श्रीघनश्यामदासजी बिरलाका

समापन-भाषण

दिनांक 19-11-1975 ई०

पूज्यश्री स्वामीजी महाराज! मैं अपने परिवारकी ओरसे और जो श्रोता लोग आये हैं, उनकी ओरसे आपको अनेक-अनेक धन्यवाद देता हूँ। आप संन्यासी होकर भी लोक-कल्याणके लिए, लोक-संग्रहके लिए, सब भूतोंके हितके लिए, कर्मयोगका जो अनुष्ठान कर रहे हैं, इससे संसारका मंगल हो रहा है। आजकलके समय, जबकि लोग बड़े उद्विग्न रहते हैं, एक अमृतकी बूँद, प्रवचनके रूपमें मिल जाती है तो उससे शान्ति होती है, अपने कर्तव्यका ज्ञान होता है। आपने अनेक गूढ़ बातें श्रोताओंको बतायी है। यहाँ भी, बम्बईमें भी, जहाँ-जहाँ आप जाते हैं वहाँ-वहाँ प्रवचनोंके द्वारा लोगोंको लाभान्वित करते हैं।

मैंने जो कुछ सुना है, उसका सार-सार अगर मैं कहूँ तो एक ही है। आपने श्रोताओंसे यह कहा है कि अपना जो कर्तव्य है, उसको आप निष्काम भावसे करते जाओ। उसका फल क्या होगा, उसकी चिन्ता मत करो। अन्तमें ईश्वर आपको सहायता देगा। यह बात बुद्धिसे भी समझी जा सकती है कि फल आपके हाथमें नहीं है। गीताकार जब यह कहते हैं कि फलकी आसक्तिको त्यागकर अपना कर्म करो तो उसका मतलब यह नहीं कि आप उसका फल क्या होगा—यह मत सोचो। किन्तु आप यह भी सोचो कि फल आपके हाथमें है ही नहीं। क्योंकि अन्तमें कार्यका पूरा होना-न-होना बहुत सारी घटनाओं पर निर्भर होता है, जो आपके काबूमें नहीं है, आपके नियन्त्रणमें नहीं है। इसलिए समझदार व्यक्ति बुद्धिसे भी सोच सकता है कि उसका काम केवल कर्म करना है और वह कर्म लोभके साथ नहीं किया जाना चाहिए। कर्म तो निष्काम होकर ही करना चाहिए, क्योंकि कर्मयोग केवल कर्मका नाम नहीं, कर्मयोग उसीका नाम है जो सबकी सेवाके लिए, सर्वभूतोंके हितके लिए, कामनाओंको छोड़कर शुद्ध बुद्धिसे किया जाता है। इसी कर्मयोगको स्वामीजी महाराजने, अच्छी तरह समझाया है। एक बात आप ध्यानमें रखिये, जब श्रीकृष्णने अर्जुनके सामने गीता कही तो किस स्थानपर कही? युद्ध भूमिमें कही। चारों तरफ जोरसे नगाड़े बज रहे थे, तलवारोंकी खनखनाहट हो रही थी, सब लोग उद्विग्न थे। उस समय अर्जुनने श्रीकृष्णसे यह कहा कि मेरी तबियत तो ढीली होती जाती है। मुझे कुछ सूझता नहीं कि मैं क्या करूँ? ऐसे स्थानपर, ऐसे भीड़-भड़क्केमें, ऐसे शोरशराबेमें भगवान्‌ने जब अर्जुनको उपदेश दिया तब उसके बाद अन्तमें अर्जुनने यह कहा कि 'अब मेरा मोह नष्ट हो गया है। अब मुझे स्मृति आगयी है, अब मैं—'स्थितोस्मि' स्वस्थ हूँ, मेरी तबियत ठीक हो गयी है, आपने जो कहा उसे मैं करूँगा।' इससे आप यह समझिये कि शान्ति हिमालयकी कन्दराओंमें मिले—ऐसी बात नहीं। शान्ति तो कलकत्तेके भीड़-भड़क्केमें, बाजारोंमें

भी मिल सकती है। वही शान्ति कायम रहेगी। हिमालयकी कन्दराओंमें किसीको जो शान्ति मिलती है, उसमें तो कलकत्ता आनेपर विघ्न आ जाता है।

तो स्वामीजी महाराजने कलकत्तेमें उपदेश देकर आपको यह बताया कि भाइयों, अपना कर्तव्य-कर्म करते जाओ-शुद्ध भावसे, लोगोंकी सेवाके लिए, लोगोंके हितके लिए और कामनाको छोड़कर। क्योंकि गीतामें जो सबसे बड़े दुश्मन बतलाये गये है, वे काम, क्रोध है—'काम एष क्रोध एष।' तो काम और क्रोध-ये दो आपके दुश्मन हैं। कामना पूरी नहीं होती तब क्रोध आता है। इनको छोड़ो। यह जान लो कि ये तुम्हारे दुश्मन हैं। स्वामीजी महाराजने आपको कहीं विस्तारपूर्वक और कहीं संक्षेपमें यह बताया है कि आप अपना काम करते जाओ। कलकत्तेके भीड़-भड़क्केमें भी करते जाओ। यहीं आपको शान्ति मिलेगी। इसीको सन्तोंने सीधी भाषामें कहा है कि-'काहे रे बन खोजन जाये।' भगवान्‌को खोजने वनमें क्यों जाते हो? वह तुम्हारे भीतर ही तो है। उसे भीतर ही खोजो। यह बात सही है। आप जब कोई काम करते हो तथा जब काममें लवलीन हो जाते हो और आपके पास आकर कोई आदमी खड़ा हो जाता है तो आपको पता भी नहीं चलता कि कोई आया है। इसी तरह जो भगवान्‌में लग्न होकर काम करता है उसको इस बातकी विस्मृति हो जाती है कि कलकत्तेमें अशान्ति भी है। यही सब स्वामीजी महाराजने बताया है। हम इनके बड़े अनुगृहीत हैं। मेरा ख्याल है कि जैसे रोगीको दवाकी जरूरत होती है वैसे ही जो व्यवसायी-समाज कलकत्तेमें रहता है, उसको ऐसे प्रवचनोंकी अत्यन्त आवश्यकता है। और, जैसा कि स्वामीजीने आज कहा, केवल गीता पढ़नेमात्रसे आपकी समाधि नहीं लग सकती, गीता तो आचरणके लिए है। गीतामें पुनरुक्तियाँ काफी हैं और वह जान-बूझकर की गयी है। क्योंकि बार-बार घिस-घिसकर यह बताना है कि भाई, कर्म करो-कामना छोड़कर कर्म करो और वह भगवान्‌को अर्पण कर दो। इन्हीं बातोंको कई जगह अलग-अलग तरहसे बताया गया है। उसका हेतु यही है कि आप उसको पूरी तरहसे समझो और समझकर उसपर अमल करो। तभी आपको लाभ होगा, नहीं तो लाभ नहीं होगा।

अन्तमें मैं फिर अपने परिवार और श्रोताओंकी तरफसे स्वामीजी महाराजके प्रति अनेक कृतज्ञताएँ प्रकट करता हूँ कि उन्होंने यहाँ आकर हम सब लोगोंका कल्याण किया और प्रवचन देकर हमारा उपकार किया।

●

गीता अध्याय-5

प्रवचन : 1

प्रपन्नपारिजाताय तोत्रवेत्रैकपाणये।
ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीताऽमृतदुहे नमः॥

भगवान् श्रीकृष्ण प्रपन्नपारिजात हैं। जो उनके चरण पकड़ ले, उनकी शरणमें आजाये; उसके लिए कल्पवृक्ष हैं। स्वभक्त-पक्षपाती हैं। ब्रह्मका जो वर्णन वेदान्ती करते हैं, वह निष्पक्ष होता है, उसमें भक्ति-सम्प्रदाय चलानेकी आवश्यकता नहीं होती। परन्तु जहाँ सगुण-साकार परमेश्वरका वर्णन होता है, न करनेसे हानि होती है। भगवान् अपनी शरणमें आये हुए की रक्षा करते हैं और उसके सारे मनोरथ भी पूरे करते हैं। यदि शरणमें जानेपर भी समानताका ही व्यवहार मिले, न्याय ही मिले तो कोई शरणमें क्यों जायेगा? शरणागति न्याय-प्राप्तिके लिए नहीं, सहायताके लिए सुरक्षाके लिए होती है। अस्तु; प्रपन्न-पारिजात हैं भगवान् श्रीकृष्ण। वे संयम और प्रशासन-स्वरूप तोत्र और वेत्रको अर्थात् घोड़ेकी लगाम और उसके बेकाबू होनेपर उसे दण्डित करनेके लिए चाबुकको अपने हाथमें रखते हैं। तात्पर्य यह है कि इन्द्रियाँ स्वच्छन्द नहीं हैं और उनके उच्छृङ्खल होनेपर उनको दण्ड देनेकी सामर्थ्य भी है। भगवान्‌के हाथमें तोत्र-वेत्र तो है ही वे ज्ञानमुद्रासे भी सुशोभित हैं। उनकी मुद्रासे ही ज्ञानकी वर्षा होती है। वे सार्वजनिक हितकी दृष्टिसे ही गीताऽमृतका दोहन कर रहे हैं। ये सब शरण्यके लक्षण हैं। इसलिए आइये हम नमस्कार करें भगवान् श्रीकृष्णको, जो समस्त आकर्षणोंके, प्यारके केन्द्र हैं और सच्चिदानन्दघन परमेश्वर हैं।

श्रीमद्भगवद्गीतामें जो 'गीता' शब्द है, वह संज्ञा भी है और क्रिया भी है—'गीताशास्त्रमिदं पुण्यं।' थोड़ा इसपर ध्यान दें। दुर्योधन और अर्जुन दोनों युद्धभूमिमें आते हैं। दुर्योधनका सारथि कौन है—इसका अनुसन्धान आप लोग करना। महाभारतमें ढूँढ़ना कि कहीं उसका नाम मिल जाये। अज्ञातप्राय सारथि है। इसका यह अर्थ है कि अज्ञान ही सारथ्य कर रहा है दुर्योधनका। इधर अर्जुनके सारथि है श्रीकृष्ण। दुर्योधन आचार्यके पास जाकर कहता है—'पश्यैतां'—'देखो यह सेना।' अर्जुनका कहना है कि—'यावदेतान्निरीक्षेऽहं'—'मैं निरीक्षण करूँगा।' देखते दोनों हैं सेनाको—दुर्योधन भी और अर्जुन भी। परन्तु दुर्योधनके मनमें विवेकका उदय नहीं होता। वह अपने पहलेके आग्रहपर ही अडिग है और अर्जुनके मनमें विवेकका उदय होता है। जो सोच-विचारकर काम करता है, उसको सफलता मिलती है और जो बिना सोचे-समझे, आग्रहवश, काम करता है, वह निष्फल होता है, विफल होता है।

अब आप अर्जुन और दुर्योधन दोनोंकी प्रवृत्तियोंमें जो अन्तर है, उसे देखो—एक तो भगवद्दृष्टिसे

और दूसरे अर्जुनकी दृष्टिसे। भगवान् अपने शरणागतकी रक्षा करनेके लिए पूर्णरूपसे तैयार हैं। वे आज्ञाकारी तक बन गये हैं। अर्जुनने—'करिष्ये वचनं तव'-मैं तुम्हारी आज्ञाका पालन करूँगा—यह बात गीताके अन्तमें कही है। परन्तु श्रीकृष्णने गीताके प्रारम्भमें ही अर्जुनकी आज्ञाका पालन किया है—**सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत।**

यह श्रीकृष्णकी शरण्यताके सामर्थ्यका द्योतक है। श्रीकृष्ण इतने शरणागतवत्सल हैं कि अर्जुन उनसे छोटा होनेपर भी उन्हें आज्ञा दे देता है। अर्जुन जीव होनेपर भी श्रीकृष्णको आज्ञा देते हैं और श्रीकृष्ण ईश्वर होकर भी जीवकी आज्ञाका पालन करते हैं। जब ईश्वर अपने ऐश्वर्यको स्वभक्तपर बलिदान कर देता है तो भक्तमें ऐसा क्या सामर्थ्य है कि वह ईश्वरके प्रेममें, ईश्वरकी भक्तिमें, अपने ऐश्वर्यका बलिदान न करे? श्रीकृष्ण अपनी ईश्वरताको एक ओर किनारे रखकर अर्जुनके सारथिका काम करते हैं। 'सारयति अश्वान् इति सारथिः'—जो हमारे जीवनका संचालन करे उसका नाम सारथि होता है। यह हम आपको बता चुके हैं। युद्धमें दुर्योधनकी जो प्रवृत्ति हैं, वह स्वार्थकी है। वह कहता है कि 'मदर्थे त्यक्तजीविताः'—मेरा अर्थ पूरा होगा और सैनिक मरेंगे। ये सब मेरे हितार्थ मरनेके लिए तैयार होकर आये हैं। किन्तु अर्जुनकी युद्धमें प्रवृत्ति लोकहितके लिए है—

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।

मैं अपने लिए राज्य और भोग-सुख नहीं चाहता। जिनके लिए चाहता हूँ, वे मरनेके लिए तैयार हैं। फिर युद्ध करनेसे क्या लाभ है? अस्तु; अर्जुनकी भाँति विवेक करके ही काम करना चाहिए। सहसा, बिना विचारे कोई काम नहीं करना चाहिए।

अभिवर्षति योऽनुपालयन् विधिबीजानि विवेकवारिणा।
स सदा फलशालिनीं क्रियां शरदं लोक इवाधितिष्ठति॥

(किरात. 2.31)

विवेकके कारण ही अर्जुनके मनमें जिज्ञासाका भाव उदय हुआ। जो विवेक करता है, उसके सामने दो पक्ष आ जाते हैं। विवेक करनेका मतलब है दो अथवा अनेकमें-से एकको चुनना। 'विचिर्-पृथग्भावे' विविध वस्तुओंको उनके सम्मिश्रणमें-से अलग-अलग करनेका नाम संस्कृत भाषामें विवेक है। अर्जुनके मनमें तो कर्त्तव्याकर्त्तव्य सम्बन्धी विवेक जागृत हुआ, परन्तु दुर्योधनके मनमें जागृत नहीं हुआ। उसकी बुद्धि करवट बदल रही है। वेदमें एक मन्त्र आता है—'कलिः शयानो भवति' जो सो गया वह कलियुग हो गया। 'संजिहानस्तु द्वापरः' जो सजिहाने लगा, करवट बदलने लगा वह द्वापर हो गया। 'उत्तिष्ठन् त्रेता भवति' जो खड़ा हो गया वह त्रेता हो गया। 'कृतं संपद्यते चरन्' जो अपने कर्त्तव्यके मार्गमें लक्ष्यप्राप्तिके लिए आगे बढ़ने लगा वह सत्ययुग हो गया।'

इसी प्रकार अर्जुन सोया हुआ नहीं है, सुषुप्ति नहीं है। उसकी बुद्धि जागृत हो रही है। 'धर्मसंमूढचेताः' वह अपनी मूढ़ताको समझता है। किन्तु, दुर्योधन अपनेको मूढ़ नहीं मान सकता। मूढका लक्षण यही है कि

वह अपनेको मूढ़ नहीं मानता, अपनी मूढ़ताको नहीं समझता। जो जागरूक है, वह अपने मोहसे परिचित है, अपनी गलतियोंको भी समझता है। इसीलिए वह कहता है—

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे।

जिससे मेरा हित हो, मुझे बताओ। वह श्रेयका जिज्ञासु है। गीतामें श्रेय शब्दका प्रयोग एक बार नहीं अनेक बार हुआ है। 'श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके'—मैं भीख माँगकर खाऊँगा, परन्तु हिंसा नहीं करूँगा। यही सबसे बड़ा श्रेय होगा।

इस बार मुझे आपको पाँचवें अध्यायका प्रसंग सुनाना है। पिछली बार चार अध्याय पूरे हुए थे। भूमिकाके रूपमें आप लोग थोड़ी-सी बात समझ लें। मनुष्यके जीवनमें पुरुषार्थ चार होते हैं। कोई-कोई पाँच भी मानते हैं। हमको अर्थ चाहिए, धन चाहिए, जो भी चाहिए, उसकी दृष्टिसे हमें विचार करना पड़ेगा कि उसके लिए साधन क्या है,इस प्रश्नको लेकर उड़ान नहीं भरना चाहिए कि गीतामें कर्म करनेके लिए कहा गया है या कर्म छोड़नेके लिए अथवा उसकी मीमांसा क्या प्रस्तुतकी गयी है? पहले यह देखना चाहिए कि हमारा लक्ष्य क्या है? यदि हमें संसारकी सम्पदा चाहिए तो न ऐसा कोई शास्त्र है, न कोई परमेश्वर है, न महात्मा है—जो कह दे कि धन चाहनेवालेको कर्म नहीं करना चाहिए। है कोई? इसलिए यदि धन चाहिए तो जहाँ धन मिलेगा, वहाँ पहुँचना पड़ेगा। जो विचारपूर्वक कर्म करता है, उसके गलेमें गुणकी लालची सम्पदायें स्वयं वरमाला पहनाती हैं—

सहसा विदधीत न क्रियाम् अविवेकः परमापदां पदम्।
वृणुते हि विमृश्य कारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव संपदः॥

(किरात० 2.30)

सम्पत्ति उसीका वरण करती है जो गुणी हो, शीलवान् हो, वृद्धके आश्रयमें रहता हो और कृतज्ञ हो। कृतज्ञता बड़ा भारी गुण है, जो अपनेको लाभ पहुँचानेवालेके प्रति कृतज्ञता प्रकट करनेमें कृपण होता है, सम्पत्ति उसका साथ नहीं देती। मनुष्यको कृतज्ञ होना ही चाहिए। अस्तु; यदि सांसारिक सम्पदा प्राप्त करनी है तो आपको कर्म करनेसे रोकना या उसके प्रति सन्देह उत्पन्न करना किसी भी दृष्टिसे उचित नहीं है। यदि भोग प्राप्त करना हो तो उसकी प्राप्ति भी बिना कर्मके नहीं होती। इस हास्योक्तिका तो पिछली बार भी उल्लेख किया जा चुका है कि यदि विष्णु भगवान् भी आलस्यमें ही रहने लगें तो लक्ष्मीजी उनको छोड़कर चली जायेगी—'विमुञ्चति श्रीरपि चक्रपाणिम्।'

अतः मनुष्यको कर्मशील रहना चाहिए। बिना कर्मके न धन मिलता है, न भोग मिलता है। चाह वनमें हों किन्तु कर्म न हो तो आदमी पागल हो जायेगा। या तो चाह मिटानेके लिए प्रयास करो या चाह पूरी करनेके लिए प्रयास करो, प्रयास तो दोनों ओर रहेगा-ही-रहेगा।

अब धर्मको लें। धर्म तो कर्मरूप ही है। यदि आप धर्म चाहते हैं तो भी कर्म करना ही पड़ेगा। बिना कर्मके धर्म कैसे होगा? इसलिए गीतामें जब यह प्रश्न उठता है कि कर्म करना चाहिए या नहीं करना चाहिए

तो उसमें दुविधाकी कोई बात न धन चाहनेवालोंके लिए है, न भोग चाहनेवालोंके लिए है और न धर्म चाहनेवालोंके लिए ही है। कर्मसे धर्मकी उत्पत्ति होती है—यह एक मत है और स्वयं विहित कर्म ही धर्म है यह दूसरा मत है। 'यं क्रियमाणम् आर्याः प्रशंसन्ति'—जब हम कोई काम करें और बड़े बूढ़े उसकी प्रशंसा करें कि तुमने बहुत बढ़िया काम किया तो वह धर्म हो जाता है। परम्पराका परित्याग करके, नवीन धर्मकी कल्पनाकी जाती है तो उसको वृद्धोंका आशीर्वाद नहीं मिलता। धर्म भी दृश्यमान पदार्थ है, दिखायी देनेवाला है। जहाँ अन्तःकरणकी शुद्धिपर दृष्टि है वहाँ कर्म धर्म हो जायेगा। हम जो कर्म वस्तुकी प्राप्तिके लिए, भोगकी प्राप्तिके लिए करते हैं, वह श्रम है। लोहा साफ करने, रुई साफ करने, सूत साफ करने, धातु साफ करने आदिमें जो कर्म होता है उसको श्रम बोलते हैं और इसको करनेवाले श्रमिक कहलाते हैं। किन्तु अपने हृदयमें परिवर्तन लानेके लिए, अन्तःकरणको शुद्ध करनेके लिए, आत्म-दृष्टिसे, आध्यात्मिक उद्देश्यसे जो कर्म होता है, उसको धर्म कहते हैं।

वेदान्तमें भी जहाँ कर्म-संन्यास कहकर लोग गड़बड़ फैलाते हैं, वहाँ वेदान्त-सिद्धान्त ठीक-ठीक न जाननेवालोंके मनमें ही शंका होती है। कर्म करनेसे ज्ञानकी इच्छा पैदा होती है, विविदिषा एवं जिज्ञासा उत्पन्न होती है—ऐसा भामतीकारका अभिमत है। कर्म करनेसे ज्ञान ही उत्पन्न होता है, विद्या उत्पन्न होती है—यह विवरण-प्रस्थानका अभिप्राय है। तो कर्म करनेसे ज्ञान हो जायेगा अथवा कर्म करनेसे ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छा हो जायेगी—यह मतभेद तो वेदान्तोंमें है; परन्तु कर्म करना ही नहीं चाहिए, यह मत वेदान्तोंका नहीं। बड़े-से-बड़े संन्यासीको भूख मिटानी हो तो पाँवसे चलकर गाँवमें जाना होगा, गृहस्थके दरवाजेपर खड़े होकर 'नारायण-हरि' बोलना पड़ेगा और भिक्षा प्राप्त करनी होगी। जब भिक्षा चाहिए तो उसके साथ कर्मका सम्बन्ध अवश्य जुड़ेगा। कुछ पाना है तो कुछ करना पड़ेगा। मोक्ष-पुरुषार्थमें कर्मका सम्बन्ध कैसे जुड़ता है? यह एक प्रश्न है। हम ज्ञानको मिलाकर कर्म करें या कर्मसे अलग करके ज्ञानके द्वारा मोक्ष प्राप्त करें अथवा दूसरे शब्दोंमें ज्ञान-कर्मसे संयुक्त होकर हमारे मोक्ष का साधन होता है या कर्मसे पृथक् होकर—यह प्रश्न उठाया हुआ है। जब हम मोक्षकी नित्यतापर ध्यान देते हैं तब प्रतीत होता है कि मोक्ष पहलेसे नित्य-सिद्ध है और वह जाननेमात्रसे ही मिल जाता है। जैसे कोई रासायनिक पदार्थ पहलेसे मौजूद होता है, हम उसे पहचानते नहीं, परन्तु, प्रयोगके द्वारा, यन्त्रके द्वारा, दूरबीन, खुर्दबीनके द्वारा उसे देख लेते हैं। वैसे ही मोक्ष नित्य विद्यमान है, अपने आत्माका ही स्वरूप है और हम अज्ञान तथा मोह-निवृत्तिकी प्रक्रियाके द्वारा उसको जान लेते हैं—'निवृत्तिरात्मा मोहस्य ज्ञातत्वे-नोपलक्षितः' मोहकी निवृत्तिसे, अविद्याकी निवृत्तिसे उपलक्षित आत्मा ही मोक्ष है। अर्थात् मोक्ष हम स्वयं ही हैं। परन्तु यह बात मालूम नहीं पड़ती। अतः जो मालूम न पड़ना है, उसको मिटानेके लिए प्रयास करना पड़ता है। इस प्रकार मोक्षके लिए कर्मका जो बड़ा भारी उपयोग है इसको वेदान्ती लोग चार श्रेणियोंमें बाँटते हैं। हमारे ऊपर अनेक ऋण हैं। यद्यपि आज-कलके बच्चे तो नहीं मानते पर ऋण तो है ही—पितृऋण है, देवऋण है, ऋषिऋण है। इन ऋणोंको उतारनेके लिए मनुष्यको कर्म करना चाहिए। ऋण-अपाकरण द्वारा किया हुआ कर्म मोक्षका साधन है—ऐसा वेदान्तियोंका एक मत है। हम माँके पेटमें दस महीने

रहे। पहले तो माँका दूध भी पीते थे। अब भी माँका दिल अपने बच्चेको दूध पिलाये बिना कैसे मानेगा? जो माँ अपने बच्चेको दूध नहीं पिलाती, उसके बारेमें तो बरबस यही कहना पड़ेगा कि—

तेरो कठिन हियो री माई।

केवल जवानी बहुत दिनोंतक बनी रहे, शरीर ढीला-ढाला न दिखायी दे, इसके लिए अपने बच्चेके मुँहमें अपना दूध न डालना, किसी माँसे कैसे हो सकेगा? जो माँ अपने बच्चेको दूध नहीं पिलावेगी, वह यह आशा कैसे रखेगी कि उनका बच्चा अपनी परम्पराको, अपने पैतृक धर्मको मानेगा?

कर्मका उपयोग किस प्रकार होता है? एक तो जो हमारी परम्पराका ऋण हमारे ऊपर आया है—माता-पिताके द्वारा,नाना-नानीके द्वारा, दादा-दादीके द्वारा पूरे गोत्रके द्वारा—वह उतारनेके लिए हमें अपने कुलसे सम्बन्ध रखकर उसके कर्त्तव्योंका पालन करना चाहिए। नहीं तो मनुष्य कृतघ्न हो जाता है और कृतघ्नताके दोषसे उसके ज्ञानमें बाधा पड़ती है। दूसरा है देव-ऋण। हम जो सूर्य देवतासे प्रकाश ग्रहण करते हैं, वायु देवतामें साँस लेते हैं, वरुण देवतासे—पानीसे अपनी प्यास बुझाते हैं, अपने आपको तृप्त करते हैं, पृथिवी देवीपर चलते हैं, उसको अपने पाँवसे रौंदते हैं, यह क्या उनका थोड़ा ऋण है हमारे ऊपर? अतः हमारी इन्द्रियाँ व्यष्टि-समष्टिसे जो शक्ति प्राप्त करती हैं, उसके लिए भी हमको कुछ करना चाहिए। आप यदि पूछें कि क्या करना चाहिए, तो इसका उत्तर है धरतीको, जलको,वायुको साफ-सुथरा और शुद्ध रखनेका प्रयास करना चाहिए। वातावरणको पर्यावरणको दूषित नहीं होने देना चाहिए। आप कूड़ेका धुँआ तो आसमानमें उड़ा देते हैं परन्तु धूपका धुँआ उड़ाना हो तो कहते हैं कि फिजूलखर्ची है। आप पनाला तो गंगाजीमें गिरा देते हैं, लेकिन उसमें पावभर दूध डालना हो तो कहते हैं यह अपव्यय है, व्यर्थ है। ऐसा नहीं होना चाहिए। आप जानते हैं हमारे शास्त्रोंमें धरतीकी, जलकी,वायुकी,अग्निकी पूजाका विधान है। हम पूजा उसीकी करते हैं, जो हमारा आदरणीय होता है, उपकारी होता है। पूजाका तात्पर्य है श्रद्धाकी अभिव्यक्ति। व्यष्टि समष्टिसे अनुग्रह प्राप्त करके ही जीवित रहता है। यदि वह इस बातको भूल जाये तो कृतघ्न बन जाता है। हम जीवित रहनेके लिए सांस लेते हैं, देखनेके लिए प्रकाश ग्रहण करते हैं, किन्तु वायु और सूर्य हमसे कोई शुल्क नहीं लेते। हम जलमें स्नान करते हैं, मैल धोते हैं, परन्तु वरुण देवताका कोई बिल हमारे पास नहीं आता। इसी तरह अन्य देवताओंके ऋण भी किसी-न-किसी प्रकार हमारे ऊपर हैं और यदि हम उनको न चुकाएँ तो वे हमारे अन्तःकरणको अशुद्ध करते हैं और सत्यके ज्ञानमें बाधा डालते हैं।

अब आप ऋषि-ऋणपर ध्यान दें। हमारा एक भी अक्षर, एक भी शब्द, एक भी वाक्य, एक भी ज्ञान ऐसा नहीं, जो हमें ऋषियोंसे प्राप्त न हुआ हो। ये स्वर और व्यंजन—अ, आ, इ तथा क. ख, ग—क्या अपने पेटमें-से लेकर हम आये हैं? घ्राणेन्द्रियको नाक कहिये अथवा श्रवणेन्द्रियको कान कहिये, इसका व्यवहार ज्ञान हमको कहाँसे मिला? तत्त्वदर्शी ऋषियोंने ही पद और पदार्थका बोध कराया। उन्होंने ही निश्चय किया है कि यह पद है, यह पदार्थ है। आपको तो शायद मालूम ही होगा, दूसरे देशोंमें भाषाके जो विद्वान् हैं वे ऐसा मानते हैं कि शब्द इशारेके रूपमें बनाये गये हैं। किन्तु अपने यहाँ जो प्राचीन शास्त्र हैं,

उनमें माना गया है कि वाच्य और वाचक दोनों एक साथ ही प्रकट हुए हैं। शब्द और अर्थ, वाक् और तात्पर्य हमेशा मिले हुए होते हैं। जब कोई वस्तु प्रकट होती है। उसके स्पन्दनमें उसका संकेत विद्यमान रहता है—'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः।' यह गम्भीर दृष्टिकोण ऋषियोंका ऋण मिटानेके लिए, उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करनेके लिए आवश्यक है। हमें ऋषियों द्वारा निर्मित शास्त्रोंका स्वाध्याय करना चाहिए। अन्यथा हम उनके शब्दोंका, संकेतोंका प्रयोग तो करें किन्तु उनके प्रति कृतज्ञ न हों तो कृतघ्नताका दोष लगता है।

तो जगत्‌में जो पदार्थ हैं, उनको पवित्र रखनेके लिए, शुद्ध रखनेके लिए हमें कर्म करना चाहिए। हम समझ जायें कि इस संसारकी कोई भी वस्तु दूषित नहीं करनी है। हवा गंदी नहीं करनी है, पानी गंदा नहीं करना है, आग गंदी नहीं करनी है, पृथिवी गंदी नहीं करनी है और अपने हृदय, शरीर और समाजको भी गंदा नहीं करना है। इसके लिए हमको सतत कर्म करना चाहिए। अपनी परम्पराकी रक्षाके लिए भी कर्म करना चाहिए। और हमारे ज्ञानकी जो धारा चली आ रही है, उसे प्रवहमान बनाये रखनेके लिए भी हमें निरन्तर कर्मपरायण रहना चाहिए। यदि आप ज्ञानधाराकी रक्षा करोगे, तो आगे आपका जो ज्ञान है, उसका भी उपयोग होगा। अन्यथा आपका ज्ञान आपतक ही सीमित रह जायेगा। अतः इन सब दोषोंकी निवृत्तिके लिए अन्तःकरणकी शुद्धिमें उपयोगी कर्मका अनुष्ठान हमें करते रहना चाहिए। देवताकी आराधनासे आगे बढ़कर ही हम प्रजापतिसे, हिरण्यगर्भसे एक होकर समष्टिका ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। उसमें राम भी हैं, श्याम भी हैं, शिव भी हैं, अन्तर्यामी भी वहीं अनुभव होता है। सर्वात्मभावकी प्राप्ति करके, प्रजापतिसे तादात्म्यापन्न होकर जो समष्टिका विज्ञान है, उसको प्राप्त करनेके लिए भी कर्म करना चाहिए। हमारे मनमें सर्वात्मा सत्यके ज्ञानकी इच्छा हो, उत्पत्ति हो, इसके लिए भी कर्म करना अनिवार्य है। कर्म तत्त्वज्ञानके मार्गमें सर्वथा उपयोगी है। यदि उसमें मतभेद है तो केवल इतना ही है और वह भी सिद्धान्तका है कि कर्मसे जिज्ञासाकी उत्पत्ति होती है या कर्मसे ज्ञानकी उत्पत्ति होती है? यह बात मैं शाङ्कर सम्प्रदायको स्वीकार करके आपको सुना रहा हूँ। हमारी सम्प्रदाय-परम्पराके अनुसार कर्म त्याज्य नहीं है और गीता तो साफ ही बोलती है कि—'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।' अर्थात् यज्ञ, दान और तप पवित्र कर्म हैं। इन्हें भली-भाँति सोच-विचारकर मनीषापूर्वक करना चाहिए। मनीषि शब्दका अर्थ होता है मनका नियन्त्रण करनेवाला। मनका अर्थ आप जानते ही हैं। उसमें तरह-तरहके संकल्प होते रहते हैं! उसका जो नियन्त्रण और संचालन करता है, उसका नाम मनीषि होता है। आप कैसे काम करते हैं? जो मनमें आता है, वही करते हैं कि सोच-विचारकर करते हैं? बचपनमें गाँवके रास्तेपर चलता था तो मनमें आता था कि आगे चलनेवालेको दौड़कर पीछे कर दें। कभी-कभी तो जब कोई जल्दी पीछे नहीं होता था तो उसको ढकेल देनेका मन होता था। अब मोटरमें चलते हैं तो ऐसा मालूम पड़ता है कि पैदल चलनेवालोंको चलनेका शऊर नहीं है और जब कभी पैदल चलते हैं तो ख्याल होता है कि मोटर चलानेवाले हमारे साथ अन्याय कर रहे हैं। यह है हमारे मनकी स्थिति। यदि हम मनका ही कहना मानें, जो मनमें आवे वही करने लगें और अपने विवेकको छोड़ दें तो हममें और पशुमें क्या अन्तर रह

जायेगा? पशु भी तो बहुत विचारवान् होते हैं और सोच-विचारकर, योजना बनाकर काम करते हैं। ऐसा पशुओं निरीक्षण करनेपर विदित होता है।

ऐसी स्थितिमें यदि आप अपने मनको शुद्ध करना चाहते हैं तो उसे काबूमें रखकर बुद्धिके द्वारा विचार करके जो उचित प्रतीत हो वही कीजिये। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें श्रेयकी उपलब्धिके लिए, श्रेयकी प्राप्तिके लिए कर्म करना अनिवार्य बताया है। यह बात आपको कहीं भी न तो सुननेको और न पढ़नेको मिलेगी कि संसारमें अपनेको जो प्रिय लगता है, उसकी प्राप्तिके लिए कर्म नहीं करना चाहिए। कर्मका निषेध तो कहीं है ही नहीं। मतभेद वहाँ खड़ा होता है, जहाँ आप मोक्ष और परमात्माकी प्राप्तिके लिए आगे बढ़ते हैं। अर्जुनके प्रश्नोंको देखिये, उनमें भी तारतम्य है। अर्जुन प्रश्न करके चुप हो जाते हैं और अपनी इच्छाके विपरीत भाव भी प्रकट कर देते हैं वे कहते हैं—

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे।

वे कहते हैं कि मेरे लिए जो कल्याणका साधन है, वह आप कृपा करके बताइये कि युद्ध करूँ या न करूँ। फिर इस प्रश्नके साथ ही यह बोलते हैं कि मुझे युद्धमें मत लगाइये। मैं युद्ध नहीं करूँगा—'न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह।'

अरे भाई, जब पूछते हो तो मैं जैसा कहूँ वैसा करो। नहीं लड़ूँगा ऐसा क्यों कहते हो? प्रश्न पूछना और फिर उसके साथ-साथ निश्चय प्रकट कर देना तो मोहका लक्षण है। निस्सन्देह अर्जुनके प्रश्नमें मोह भरा हुआ है। इसी प्रकार तीसरे अध्यायवाले प्रश्नमें थोड़ा आक्षेप है।

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।

चौथे अध्यायके प्रश्नमें संशय है—

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।

और इस पाँचवें अध्यायके प्रारम्भमें जो प्रश्न हैं, वह जिज्ञासु-समुचित है—

सन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्॥ 5.1

इस प्रश्नमें बड़ी भारी श्रद्धा है। अर्जुन श्रीकृष्णको बिना किसी शिष्टाचारके, केवल कृष्ण कहकर पुकारते हैं, क्योंकि वे परस्पर मित्र हैं। हमको एक महात्माने सुनाया था कि जब दो मित्र आपसमें मिलते हैं तो एक दूसरेके बारेमें जानकारी रहनेके कारण वे संक्षेपमें संकेतमें भी अपनी बात-चीत कर लेते हैं। मित्रकी बात मित्र ही समझता है। तात्पर्य यह निकलता है कि यदि आप श्रीकृष्णसे मैत्री नहीं करेंगे, केवल विद्या, बुद्धि, पदार्थोंकी पहचान, व्याकरण, काव्य, कोश आदिके ज्ञानके बलसे उनकी बात समझनेका प्रयास करेंगे तो आपको बड़ी कठिनाई होगी। मैंने एक अवधूतको देखा, वे यह कहकर रोने लगे कि तुम गीताके अर्थके लिए शास्त्रार्थ करते हो। अरे भाई! पहले अर्जुनके सखा श्रीकृष्णको अपना सखा बनाओ। जब श्रीकृष्ण तुम्हारे सखा बनेंगे तो सखाकी बात स्वयं तुम्हारी समझमें आने लगेगी। कृष्ण शब्दमें न भगवत्ता है, न सर्वज्ञता है और न

उसके साथ कोई विशेषता या सम्बोधन है। वह तो वैसा ही है, जो ब्रजवासी कन्हैया भैया बोलते है। तो, अर्जुनके पूर्वोक्त प्रश्नका सीधा-सादा अर्थ यही है कि तुम कभी कर्मकी प्रशंसा करते हो, कभी कर्म-संन्यासका वर्णन करते हो। (यहाँ शंसनका अर्थ वर्णन ही है।) कभी कर्मत्याग—कर्म-संन्यासकी महिमा सुनाते हो तो कभी कर्मानुष्ठानका समर्थन करते हो। तुम जो कुछ भी कहते हो ठीक होगा। परन्तु मेरा श्रेय किसमें है, यह साफ-साफ बताओ। दुविधाकी बात मत करो कि यह कर लो, वह कर लो। अर्जुनके इस कथनसे यह ध्वनि निकलती है कि अब वे आज्ञा-पालन करनेके लिए भी तैयार है।

अर्जुन शब्दका संस्कृतमें अर्थ होता है कि जो ज्ञानका अर्जन करे, धनका अर्जन करे: धनञ्जय शब्दका पर्यायवाची है अर्जुन। 'अर्जनात् अर्जुनः।' जो धनार्जन करे वह धनञ्जय। धन केवल सोना-चाँदीका ही नाम नहीं होता। सबसे बड़ा-परम धन तो विद्या धन है, ज्ञान धन है। महाभारतमें अर्जुन शब्दका अर्थ 'ऋजुत्वात् अर्जुन' किया है। जो एकदम ऋजु हो, सरल हो, उपदिष्ट वस्तुको ठीक-ठीक ग्रहण कर सके, उसका नाम अर्जुन है।

अर्जुन, केवल 'कृष्ण' शब्दके सम्बोधनसे यह कहते हैं कि तुम मेरे सखा हो और मैं तुम्हारा सखा हूँ। इसलिए मुझे सुनिश्चित रूपसे बताओ कि मेरा कल्याण कर्मानुष्ठानमें है अथवा कर्म त्यागमें। इसके उत्तरमें भगवान् श्रीकृष्णने जो कहा है उसपर ध्यान दीजिये। यहाँ भगवानुवाचमें जो 'उवाच' है इसका अर्थ भगवान् बोले ऐसा नहीं है। यह भूतकालकी क्रिया तो संवादोंका सम्पादन करनेवालेने दे दी है। पहले इसी तरह अनुवाद होता था कि 'यह भगवान्का वचन है।' क्योंकि भगवान् अब बोलते हैं और अर्जुन अब भी पूछते हैं। कोई भगवान्की आवाज सुनना चाहे तो अब भी सुन सकता है। क्योंकि भगवान् सदा-सर्वदा-सर्वत्र विद्यमान हैं और जहाँ भगवान् हैं वहाँ उनकी वाणी भी है, उनकी कथा भी है और उनकी शान्ति भी है। हमारे हृदयमें भी भगवान् हैं और भगवान्के साथ-साथ उनका आनन्द, उनका वचन भी हमारे हृदयोंमें स्पन्दित हो रहा है। भगवान् बोल रहे हैं, यह जो हमारा ज्ञान है, यह भगवान्का ही ज्ञान है।

सन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते॥ 5.2
ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात् प्रमुच्यते॥ 5.3

भगवान्ने कहा भाई अर्जुन, निःश्रेयसके साधन तो तुम स्वयं हो। तुम ही निःश्रेयस करनेवाले हो और तुम्हीं निःश्रेयसके कारण हो। वास्तवमें आप चाहे संन्यासको पकड़िये, चाहे कर्मको, दोनोंसे निःश्रेयसकी प्राप्ति होती है। निःश्रेयस ही परमात्माका ऐसा स्वरूप है, जिसके दो हाथ दुनियामें पैदा हुए है। आप इसपर विचार करें कि आपको ग्रहण करना चाहिए या त्याग करना चाहिए? किसी एकको ही अपनानेसे आपका जीवन बिल्कुल अधूरा हो जायेगा। यदि आप केवल त्याग-ही-त्याग करेंगे तो मृत्युके निकट पहुँच जायेंगे। इसी प्रकार केवल ग्रहण-ही-ग्रहण करेंगे तब भी मृत्युके निकट पहुँचेंगे। एक ओर कमाते हैं तो दूसरी तरफ जाता है। केवल

जाये-जाये तो समाप्त हो जायेगा और केवल आये-आये तो भरकर फट जायेगा। कहीं भी ऐसा देखनेमें नहीं आता कि केवल संग्रह तो हो और त्याग नहीं हो। अतः जीवनमें व्यवस्थापूर्वक संग्रह और व्यवस्थापूर्वक त्याग आवश्यक है। यदि कोई कहे कि हमारे घरमें मेहमान आवें-ही-आवें और जायें नहीं अथवा सब मेहमान चले जायँ और कोई दूसरा आवे नहीं तो कैसे काम चलेगा? इसी प्रकार ये जो कर्म हैं, वे आते हैं और जाते हैं। उनको व्यवस्थापूर्वक ही पकड़ना और छोड़ना पड़ता है। पहले हम सन्ध्या-वन्दन नहीं करते थे। यज्ञोपवीत-संस्कार हुआ और संन्ध्या-वन्दन करने लगे। इसी प्रकार फिर संन्यासके बाद संन्ध्या-वन्दनकी आवश्यकता नहीं रही। मतलब यह कि कायदेसे कर्मोंको ग्रहण करने और छोड़नेसे समाजमें गड़बड़ी नहीं फैलती और उनके बन्धनोंसे छुटकारा मिल जाता है। इसीलिए कर्म और कर्म-संन्यास दोनों निःश्रेयसके साधन हैं। करो और छोड़ो, कमाओ और देते चलो, आने दो और जाने दो इसीमें निःश्रेयस है। यदि कहोगे कि आवे पर जावे नहीं इसीमें निःश्रेयस है। यदि कहोगे कि आवे पर जावे नहीं अथवा जावेपर आवे नहीं तो इसमें निःश्रेयस नहीं है। ग्रहण और त्याग दोनों कल्याणके गणितपर आधारित है वैसे ही दर्शन भी गणित-साध्य है। उसमें कहीं भी, एक भी कड़ी नहीं तोड़ी जा सकती। देखो, हम जो कर्म करते हैं उनमें-से एक निषिद्ध होता है एक विहित। निषिद्ध कर्म वह है जो मना किया हुआ है। गुरुने मना किया, शास्त्रने मना किया, ईश्वरने मना किया अथवा समाजने मना किया। अपनी अन्तरात्माके मना किये हुएको भी निषिद्ध कर्म माना जाता है। मनुस्मृतिमें चार बात बतायी हुई है, उसमें एक है—

स्वस्य च प्रियमात्मनः।

जब कोई मना किये हुए कामको करने लगता है तो क्यों करता है? वासनाके वेगसे करता है। उसको करनेकी इतनी तीव्र वासना होती है कि वह वासनाकी कठपुतली बन जाता है और गुरु, शास्त्र, ईश्वर, समाज, अन्तरात्माके मना करनेपर भी कर्म कर बैठता है। तो शासनानुसारी काम धर्म होता है और वासनानुसारी काम अधर्म हो जाता है। वासनामें कोई रोक नहीं और शासनमें नियन्त्रण है। धर्म वही होता है जहाँ नियन्त्रण होता है—'धरति इति धर्मः अथवा ध्रियते इति धर्मः।' धर्म उसको कहते है, जिसे हम धारण करें या जो हमको धारण करे। हम धर्मकी रक्षा करते हैं तो धर्म हमारी रक्षा करता है—'धर्मो रक्षति रक्षितः।'

तो, कर्मका पहला विभाग यह है कि हम अज्ञानके अनुसार चलते हैं या वासनाके अनुसार, इसपर दृष्टि रखें। आज्ञाके अनुसार कार्य करनेपर भी दो भेद हो जाते हैं—एक सकाम और दूसरा निष्काम। कामनाके भी दो भेद होते हैं—लौकिक कामना और पारलौकिक कामना। निष्कामता भी तत्पदार्थकी प्रसन्नताके लिए, ईश्वरकी प्रसन्नताके लिए अथवा अन्तःकरणकी निर्मलता और प्रसन्नताके लिए। वास्तवमें दोनों दो चीज नहीं है। ईश्वर हमारे अन्तःकरणमें ही रहता है। यदि अन्तःकरणमें ईश्वर न हो तो और कहाँ मिलेगा? मिलेगा भी हमारे दिलमें ही और रहता भी है हमारे दिलमें ही। ईश्वर यदि यहाँ नहीं है तो कहीं भी नहीं है। और यदि अभी नहीं है तो कभी भी नहीं है। आप जानते हैं वैदिक धर्मकी महिमा। उसके अनुसार ईश्वर यदि यहीं नहीं है तो कुछ भी नहीं है। सर्वोपादान है ईश्वर। यह बात दूसरे मजहबोंमें नहीं है। उपादान, मैटर या माला—जिससे यह दुनिया

बनती है। घड़ेमें मिट्टी है। उसकी शक्ल देखिये, मिट्टी नहीं मालूम पड़ेगी। पर यदि तत्त्वकी दृष्टिसे देखेंगे तो वह मिट्टी ही है। अतः एक बात तो यह हुई कि परमात्माके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है।

दूसरी बात आप यह देखना कि बुद्धिकी प्रधानता और किसी मजहबने नहीं मानी। यह तो हमारी गीताकी ही विशेषता है जो बुद्धिको इतना महत्त्व देती है—'बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव।' 'ददामि बुद्धियोगं तम्।'

बुद्धियोगसे ईश्वर मिलता है और ईश्वर प्रसन्न होकर बुद्धि देता है। तात्पर्य यह हुआ कि ईश्वर द्वारा प्रदत्त बुद्धियोगसे पाप-पुण्य छूटते हैं, सुख-दुःख मिटते हैं और समाधि मिलती है। हमें सब कुछ मिल जाता है यदि हमारी बुद्धि ठीक हो जाये। मजहबका नाम लेते ही आप सोचते होंगे कि श्रद्धाकी कोई बात होगी। लेकिन गीता सारे मजहबोंसे विलक्षण सन्देश लेकर आयी है कि बुद्धियोगसे आपको सब मिलेगा। जिस गीताकी हम चर्चा करने जा रहे हैं, यह भगवान् श्रीकृष्णके ऐसा बोलता है, वैसा बोलता है। पौरुषेय ज्ञान और अपौरुषेय जीवनकी पोथी है। अन्यथा वे उपनिषद्के नामपर यही बोलते कि अपौरूषेय ज्ञानमें यही भेद होता है। एक ऐसा ज्ञान है जो दुनियाके अनुभवोंमें-से बीन-बीनकर इकट्ठा नहीं किया जाता, वह तो स्वयं-प्रकाश है। वह ज्ञान अहंको ज्ञाता नहीं बनाता और इदंको ज्ञेय नहीं बनाता। नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ज्ञान है। पुरुषके प्रयत्नसे या अनुभवसे वंचित नहीं है। वह परमात्माका स्वरूप है। एक ज्ञान वह होता है जो दुनियामें देख-देखकर कि यह कड़वा है, यह मीठा है, यह नीला है, यह पीला है, अनुभूतिके आधारपर संचित किया जाता है। किन्तु गीताका ज्ञान अपौरूषेय है उसको सृष्टिमें किसी भी दूसरे मजहबने न जाना है, न उसका प्रतिपादन किया है और न उस शाश्वत वस्तुको दृष्टिमें रखकर धर्मका निरूपण किया है।

तो यह जो बुद्धि है वह श्रीकृष्णकी है। आपको पिछली बार शायद सुनाया था कि जो जेलमें—बन्धनमें पड़ा है, उसका घरमें नहीं, जेलखानेमें (श्रीकृष्णका) जन्म होता है। माँ-बापको छोड़कर गोकुलमें जाना पड़ता है। पीनेके लिए जहर मिलता है। चारों ओर आपत्ति-विपत्ति दिखायी पड़ती है। शैशवावस्थामें शरीरपर पेड़ गिर पड़ता है। जरासन्ध किले पर, महलपर हमला कर देता है। कालयवनके सामनेसे भागना पड़ता है। रास्तेमें भीख माँगकर खाना पड़ता है। नंगे पाँव दौड़ना पड़ता है। प्रवर्षण-पर्वतपर दावानलसे घिर जाते हैं। पत्नी सत्यभामाके पिता सत्राजितके घरपर डाका पड़ा और ससुर साहब मारे गये। द्वारिकापर हमला हुआ हवाई जहाज का। बुआ, फुफेरे भाई आदि कितनी तकलीफमें हैं। घरेलू, वातावरणका यह हाल कि सगे भाई बलरामजी भी विश्वास नहीं करते। दोनोंमें मतभेद हो गया। वैमनस्य तक हो गया। बाल-बच्चे भी कहना नहीं मानते, एक भी बेटा कहना नहीं मानता। श्रीकृष्ण वर्जित करते हैं कि ऐसा खाना मत खाओ, ऐसा मत पीओ, ऐसे मत रहो, परन्तु कोई श्रीकृष्णकी बात नहीं मानता। उनके बेटोंने महात्माओंका तिरस्कार किया, शराब पी, मांस खाया, आपसमें लड़े और श्रीकृष्णको अपने हाथों उनका वध करना पड़ा। भागवतमें साफ है कि श्रीकृष्णने अपने उच्छृङ्खल और पापाचारी पुत्रोंको मारा और जब श्रीकृष्णके पाँवमें बाण लगा तब वे अपनी लीला संवरण करके गोलोक चले गये। तात्पर्य यह कि जीवनमें इतने दुःखद और भयावह

प्रसंग उपस्थित हुए, परन्तु वे विचलित नहीं हुए, उनकी मुस्कान बराबर बनी रही। तो उनके मुँहसे निकली है यह गीता।

जब श्रीकृष्ण यह कहते हैं कि 'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः' तब वे अपने अनुभवोंकी ही बात कहते हैं। इसी प्रकार उन्होंने संन्यासीकी जो परिभाषा दी है, वह उनके स्वयंके संन्यस्त जीवनकी ही परिभाषा है—

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।

श्रीकृष्णने कहा मनुष्यको नित्य संन्यासी होकर रहना चाहिए, अनित्य संन्यासी नहीं। एक अनित्य संन्यासी भी होता है। जो बनता है, वह बिगड़ता भी है किन्तु जो आत्मदृष्टिसे संन्यासी है वह नित्य संन्यासी है। उसमें न द्वेष है और न आकांक्षा है। यही श्रीकृष्णका जीवन है, यही श्रीकृष्णका नित्य संन्यास है। यदि हमें नित्य संन्यासीकी तलाश हो तो श्रीकृष्णके ही जीवनका दर्शन करना चाहिए। छूट गया गोपियों और ग्वालोंके साथका क्रीड़ाकेन्द्र व्रजमण्डल, छूट गयी सोलह हजार पत्नियोंवाली द्वारिकापुरी, किन्तु 'सुखेषु विगतस्पृहः'के मूर्तिमान विग्रह श्रीकृष्णपर उसका कोई असर नहीं पड़ा। उनका चेहरा मुस्कुराता ही रहा। उपदेश वही उपदेश हो सकता है जो उपदेष्टाके जीवनमें-से निकला हो। गीताके उपदेशोंका इतना प्रभाव इसीलिए है कि वह उपदेष्टा श्रीकृष्णके वास्तविक जीवनकी पोथी है। उनकी डायरी है। उनके चरित्रका निरूपण है। हम आपको श्रीमद्भागवत और महाभारतमें वर्णित श्रीकृष्णके एक-एक चरित्रके सम्बन्धमें यह बता सकते हैं कि गीतामें उनकी ओर कहाँ संकेत किया गया है। ऐसी हैं श्रीमती गीता और ऐसे हैं उसके वक्ता श्रीमान् श्रीकृष्ण। दोनोंकी शोभा अखण्ड है।

•

प्रवचन : 2

महाभारतका कहना है—'तत्त्वमेकं द्विधा स्थितं' एक ही सत्य वस्तु दो रूप धारण करके दिख रही है। वही कृष्ण है, वही राधा है। वही नर है, वही नारायण है। नर अर्जुन है, नारायण श्रीकृष्ण। वही शिष्य, वही गुरू। गुरू वही सच्चा गुरू होता है, जो अपनेको शिक्षा दे। जो अपनेको शिष्य बना ले वही सच्चा गुरू। जो दूसरोंको चेला बनावे वह सच्चा गुरू नहीं।

अर्जुन श्रीकृष्णके ही स्वरूप है। श्रीकृष्णका अर्जुनको शिक्षा देना अपने आपको ही शिक्षा देना है। श्रीकृष्णने अर्जुनसे स्वयं कहा है—

यस्त्वां द्वेष्टि स मां द्वेष्टि, यस्त्वामनु स मामनु।

जो तुमसे द्वेष करता है वह मुझसे द्वेष करता है और जो तुम्हारे पीछे चलता है वह मेरे पीछे चलता है। भक्त और भगवान्‌का, जीव और शिवका ऐसा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है।

आपको सुनाया था कि श्रीकृष्ण परस्परविरूद्ध धर्माश्रय हैं। ऐश्वर्य है तो इतना कि चाहे गोवर्द्धन उठा लें या ब्रह्माण्डको तौल लें और अनैश्वर्य है तो इतना कि चाहे नन्दबाबाकी खड़ाऊँ भी न उठे, यशोदा मैयाका माँगा हुआ पाटा भी न ला सकें. (पट्टा) पाटा उठानेके लिए दोनों हाथ लगाते, नहीं उठता तो लेट जाते, छातीसे लगाते, फिर धीरे-धीरे उठकर खड़े होते, मुखारविन्द लाल हो जाता। बलवान् भी हैं, निर्बल भी हैं। यही परमात्माका स्वरूप होता है। भक्तिमें केवल बलवान् रूपका आश्रय लिया जाता है। क्योंकि भक्तके लिए वही हितकारी होता है। तत्त्वज्ञान या प्रेममें बलवानकी अपेक्षा नहीं होती। बलवान है, निर्बल है, कैसा भी है, हमारा है। प्रेम केवल एक गुण देखकर भगवान्‌से नहीं जुड़ता।

श्रीकृष्ण धर्मात्मा हैं। प्रात:काल उठकर ब्रह्मस्वरूपका ध्यान करते हैं। स्नान करते हैं, हवन करते हैं, दान करते हैं। जैसे प्रतिदिन आयका साधन करते हैं, वैसे ही प्रतिदिन वितरणका भी साधन करते हैं। श्रम करते हैं। विश्राम करते हैं। परन्तु उनके जीवनमें कहीं-कहीं ऐसा भी देखनेमें आयेगा, जहाँ धर्म न मालूम पड़े। केवल जीव ही धर्मसे आबद्ध अथवा अधर्मसे आक्रान्त होता है। परमेश्वरका स्वभाव यह है कि वह न धर्मसे बँधा हुआ है, न अधर्मसे। धर्म, अधर्म दोनोंसे परे हैं। श्रीकृष्णमें यश भी है, अपयश भी है। जीवको केवल यशस्वी होना चाहिए। उसके जीवनमें अपयश आयेगा तो उसको दु:ख होगा। परन्तु श्रीकृष्ण वाणीसे अतीत है, अनिर्वचनीय हैं। यश-अपयशका वर्णन वाणीसे होता है और श्रीकृष्ण वाणीसे अतीत हैं। कोई कहे कि चोर हैं तो कहते हैं हाँ चोर हूँ। कोई कहे कि जार हैं तो जबाब देते हैं हाँ जार हूँ। नहीं बोलना या इन्कार करना तो आता ही नहीं। किसीने कहा कि मिट्टी खायी तो बोले हाँ खायी। फिर कहा कि मिट्टी नहीं खायी तो बोले कि नहीं खायी। एक बार तो श्रीकृष्णपर मणिकी चोरी लगा दी गयी। बलरामजीने कह दिया कि इसने हमसे मणि छिपा ली है। यह सब जीवके लिए तो कलंक है, किन्तु भगवान् श्रीकृष्णके जीवनकी लीलाएँ हैं, जिनका श्रवण और स्मरण-मनन करके भक्तगण आनन्दित होते हैं। भगवान् भगवान् ही हैं। लक्ष्मी आती हैं, सोनेकी द्वारिकाका

निर्माण होता है। किन्तु उसके पहले मथुरासे भागते हैं तो गाँव-गाँव ऋषियोंके आश्रमोंमें माँग-माँगकर खाते-पीते हैं। नंगे पाँव हैं, नंगे सिर हैं, बदनपर धोतीके सिवाय कोई वस्त्र नहीं है। महीनोंतक दिन-रात ऐसे ही भटकते रहते हैं। यह महाभारतमें स्पष्ट वर्णित हैं। ज्ञान है तो ऐसा कि उसका वर्णन करके हजारों लोग आज भी अपनी जीविका चलाते हैं और लाखों श्रोताओंके जीवनका निर्माण होता है। श्रीकृष्ण स्वयं कभी-कभी ऐसे भोले बन जाते हैं मानो कुछ समझते ही न हों। एक दिन वे एकान्तमें उदास बैठे थे, मुँह लटका हुआ था। ऐसा भी जीवनमें आता है। आप इस कसौटीपर किसी महात्माको कभी न कसें कि उसका मुँह नहीं लटकता या उसकी आँखोंमें आँसू नहीं आते या उसके जीवनमें कोई कठिनाई नहीं आती। महाभारतकी कथा है; यह कि जिस समय श्रीकृष्ण अनमने बैठे थे, नारदजी आ गये। श्रीकृष्णने उठकर उनका स्वागत-सत्कार किया। नारदजीके पूछनेपर कि चिन्ता क्या है? उन्होंने बताया कि यदुवंशियोंमें दो पार्टी बन गयी हैं। कृतवर्मा-अक्रूरकी एक है और सात्यकिकी एक है। हमारे भाई बलरामजी भी उसी पक्षमें हैं। उद्धवजीकी भी एक पार्टी हो गयी है। अब हम क्या करें, यही चिन्ता है। नारदजीने कहा कि चुप रहिये, तटस्थ बन जाइये। श्रीकृष्णने वैसा ही किया। एक दिन रुक्मिणी और बलरामजीमें विवाद हो गया। यह कथा भागवतमें है। रुक्मिणीने कहा कि हमारे भाईको बलरामजीने क्यों मारा? बलरामजीने कहा कि हमने बिल्कुल ठीक मारा। अब श्रीकृष्ण क्या करें? पत्नीका पक्ष लें कि भाईका? चुप हो गये—'किंचिन्नोवाच'—कुछ नहीं बोले। ऐसे अवसरोंपर मौन हो जाना ही श्रेयस्कर है।

अब श्रीकृष्णके वैराग्यपर दृष्टि डालिये। इतना वैराग्य है महाराज कि भक्त लोग भले ही चाहे कितना कहें कि भगवान् श्रीकृष्ण वृन्दावन छोड़कर नहीं जाते—**वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति।**

होगा नित्यवृन्दावन, आन्तर वृन्दावनकी बात भी सत्य होगी। किन्तु यह भी सत्य है कि जिस व्रजभूमिमें वे नाचते-गाते रहे, रासलीला करते रहे उसे क्षणभरमें छोड़कर चले गये। सोनेकी द्वारिकाको छोड़ दिया, रिश्तेदारों, नातेदारोंको छोड़ दिया। श्रीकृष्णके जीवनमें रागकी भी पूर्णता है और वैराग्यकी भी पूर्णता है। उनका जीवन एक सम्पूर्ण जीवन हैं। उसमें सत्की पूर्णता है, कर्मयोग है। उनमें चित्की पूर्णता है, सगुण ज्ञान है, निर्गुण ज्ञान है। उनमें आनन्दकी पूर्णता है—समाधिका भी आनन्द है, विक्षेपका भी आनन्द है, भोगका भी आनन्द है, योगका भी आनन्द है। श्रीकृष्णका जीवन कहीं भी एकांगी नहीं सर्वांगीण है।

कल रात भागवत कथाके प्रसंगमें भीष्मकी चर्चा चल रही थी। भीष्म मनके प्रतीक हैं और श्रीकृष्ण आत्माके। आध्यात्मिक रूपसे भीष्म मन हैं और श्रीकृष्ण आत्मा। आधिभौतिक रूपमें वे दोनों कृष्णावतार एवं भीष्मपितामह हैं। आधिदैविक रूपमें भीष्म ब्रह्मलोकसे आये हैं और वसु हैं। किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण ब्रह्मलोकसे नहीं आये वे साक्षात् भगवान् हैं-'कृष्णस्तु भगवान् स्वयं।' इस पृष्ठभूमिको सामने रखकर जब आप श्रीकृष्ण तथा भीष्मके चरित्रोंको देखेंगे तो दोनोंका भेद बिल्कुल स्पष्ट हो जायेगा।

इसपर जरा और विचार करें। यदि दशरथजीकी मृत्यु न होती, या मृत्यु हो जानेपर भगवान् श्रीरामचन्द्र वनसे अयोध्या लौट आते तो वे धर्मनिष्ठ हैं, पिताकी आज्ञाका पालन करते हैं—यह बात जाहिर नहीं होती।

श्रीरामचन्द्रजीकी महिमा भी इसीमें है कि उनका जीवन पीड़ामें-से गुजरा। कभी-कभी दैनिक व्यवहारकी वस्तुओंसे बड़ी-बड़ी बातोंका बोध हो जाता है। एक श्लोक देखिये—

रे दन्तावन संप्रविश्य विवरं निःशंकमंगीकुरू
पीडां तैर्विहितां मनाग्घतमना मा भूः सहस्वापद।
लोके शोधनबोधनप्रणयिनः के के न कां कां दशां
कष्टामापुरहो रहोगतमिदं पीठोद्भवाः सिद्धयः॥

हम दातुनसे दाँत साफ करते हैं। पहले उसकी कूँची बनानी पड़ती है। वही दाँत, जिनको वह साफ करना चाहती है उसको कुचल देते हैं। वह पीड़ा सहती है तब दाँत साफ होते हैं। तो दुनियामें यदि कोई शोधन-बोधन करना चाहता है, यह चाहता है कि उसकी आत्मशुद्धि हो जाये और वह दूसरोंका चरित्र पवित्र कर दे तो दातुनकी जो दशा दाँतों तले होती है वही दशा दुनियादार लोग उसकी करते हैं। वही उसकी परीक्षा होती है और उस कष्टसहनमें यदि वह पीछे न हटे, तभी अपने उद्देश्यमें सफल होता है।

यह एकान्त सत्य है कि जो पीड़ा नहीं सहेगा, जिसको दर्द नहीं होगा, उसको कोई सिद्धि नहीं मिलेगी। सिद्धियाँ दुःखमें-से गुजरनेपर ही मिलती है। तो देखना अब यह है कि आप भीष्मके अनुसार चलते हैं या श्रीकृष्णके अनुसार आचरण करते हैं। मनकी तो यह दशा है—

अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः।

भीष्म चाहते तो यह हैं कि युधिष्ठिरकी विजय हो, किन्तु बाण चलाते हैं दुर्योधनके पक्षसे। यही है संसारकी विवशता। भीष्मकी अन्तरात्मा धर्मके—युधिष्ठिरके पक्षमें है क्योंकि मन सत्त्व है और धर्म भी सत्त्व है। इसलिए सत्त्वका सत्त्वके प्रति पक्षपात है। परन्तु बाहरी दोष-अन्नदोष, सङ्गदोष आदि ऐसे हैं जो मनको अन्तरात्माके विरुद्ध अपने पक्षमें कर लेते हैं। कामासक्ति बुद्धिको मलिन और भ्रमित कर देती है। हमारी बुद्धि सत्य तो समझती है। 'वस्तुपक्षपातो हि धियां स्वभावः' बुद्धिका स्वभाव है कि वह भीतरसे हमेशा सचका पक्ष लेती है। परन्तु जब हम दुनियामें किसी वस्तु व्यक्ति या स्थितिके साथ बँधे होते हैं और चाहते हैं कि वह हमें प्राप्त हो तो अपनी समझका अनादर कर बैठते हैं। यदि मनचाही चीज ईमानदारीसे नहीं मिलती दिखती तो उसे बेइमानीसे पानेकी कोशिश करने लगते हैं। सचसे नहीं तो झूठसे, हकसे नहीं तो चोरीसे प्राप्त करनेका प्रयत्न इसीलिए होने लगता है कि उस वस्तुके प्रति हमारी आसक्ति होती है। हमारी बुद्धिको नष्ट-भ्रष्ट करनेवाली अगर कोई वस्तु है तो वह आसक्ति है। संसारकी वस्तुओंके प्रति, व्यक्तियोंके प्रति, स्थितियोंके प्रति, यहाँ तक कि अपने शरीरके प्रति जो अत्यन्त आसक्ति है, उसीके कारण बुद्धि भ्रष्ट होती है। बुद्धि ठीक करनेके लिए कामासक्तिका निवारण आवश्यक है।

कल आपको फलासक्तिकी बात सुना रहा था। मनुष्यके मनमें फलके प्रति आसक्ति होती है कि हमको यह मिले, वह मिले। आसक्तिका अर्थ है सट जाना, फलके साथ ऐसा चिपक जाना कि दूसरे कर्तव्य छूट जाएँ। इससे भी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है।

अब तीसरी आसक्ति होती है कर्मासक्ति। यह काम हम पूरा करके ही छोड़ेंगे—इसका नाम है कर्मासक्ति। देखो, काम बढ़िया-से-बढ़िया करो, परन्तु उसको पूरा करना तुम्हारे हाथमें नहीं हैं। तुम यही संकल्प रक्खो कि एक पीढ़ीमें पूरा नहीं होगा तो दूसरी पीढ़ीमें पूरा होगा, दूसरीमें नहीं होगा, तीसरीमें होगा। गंगाजीको अगर अंशुमान नहीं ला सकेंगे तो दिलीप लावेंगे, दिलीप नहीं ला सकेंगे तो भगीरथ लावेंगे। तुम अच्छा काम प्रारम्भ कर दो, उसको पूरा करनेका भरपूर प्रयास भी करो। परन्तु उसको पूरा करनेके लिए अपने दूसरे कर्तव्योंकी अवहेलना मत करो। हमको एक महात्माने बताया था कि काम प्रारम्भ करना तो तुम्हारे हाथमें है, तुम्हारे अधीन है। किन्तु उसको पूरा करना परमेश्वरके हाथमें है। कार्य करना तुम्हारे हाथमें है, उसका फल देना परमेश्वरके हाथमें है। इसलिए तुम, जो तुम्हारे हाथमें है उसीका आग्रह रखो। कर्ममें जो यह कर्तापन है कि मैं कर रहा हूँ, वह भी ईश्वरको छोड़ देनेके कारण ही है। नहीं तो ईश्वर यदि प्रेरणा नहीं देता, निर्वाहकी शक्ति नहीं देता तो आप कर्म कैसे करते? इसलिए जिसने प्रेरणा दी है, जो निर्वाह कर रहा है, वही उसका फल भी देगा। अपनेको तो यन्त्रकी तरह कर्म करते जाना चाहिए। सबसे बढ़िया सेवक कौन है? वही है जो हुकुम हो कि करो तो करना प्रारम्भ कर दे और जब हुकुम हो कि बस बन्द करो तो छोड़ दे। यदि वह मना करनेपर भी करने लगता है तो मानना पड़ेगा कि मालिकके लिए नहीं कर रहा, मालिककी आज्ञाके लिए नहीं कर रहा, बल्कि अपनी वासनाकी पूर्तिके लिए कर रहा है। परन्तु कर्मकी व्याख्या यहीं पूरी नहीं होती। इसकी दो कक्षाएँ, दो गणित और है।

देखिये फलासक्तिसे काम करना संसार है और कर्मासक्तिसे काम करना परिश्रम है। वैष्णव लोग कहते हैं कि कालक्षेपके लिए कर्म करना चाहिए। मतलब यह है कि भगवान्‌ने हमें जो समय दे रखा है, उसका उपयोग करते हुए, उसको भरते हुए चलना चाहिए। हमारा समय खाली न रहे, हम किसी-न-किसी कर्म द्वारा ईश्वरकी सेवा करते चलें। पर इसमें तीसरा प्रतिबन्ध यही है अपने कर्तापनका, अपनी कर्तृत्वासक्तिका। लोग कहते हैं मैं यह करता हूँ, मैं वह करता हूँ। अरे भाई, अपने शरीरमें बाल तुम बढ़ाते हो? रक्तका संचार तुम करते हो? साँस तुम चलाते हो? देखो अपने शरीरकी ओर, इसीको अध्यात्म बोलते हैं। तुम्हारे मलका अपसरण अपने आप होता है। रक्ताभिसरण अपने-आप होता है, बाल अपने-आप बढ़ते हैं, साँस अपने-आप चलती है। समष्टिमें एक ऐसा तत्त्व है, जो तत्तत् बीजके अनुसार तत्तत् आकृतिके द्वारा, अपनी प्रेरणासे काम ले रहा है। दूसरे शब्दोंमें भगवान् ही सब कुछ कराता है। इसमें तुम्हारे कर्तापनका अभिमान बिल्कुल गलत है। एक बात और है। ये जो पाप-पुण्य लगते हैं, केवल कर्ताको ही लगते हैं। जो अपेक्षा बुद्धिसे काम करता है, उसीको वह काम चिपकता है। अमुक काम करनेसे हमारा यह कष्ट दूर हो जायेगा, अमुक काम करनेसे हमको यह मिल जायेगा—यह अपेक्षाबुद्धि ही संस्कार उत्पन्न करती है। जहाँ हमारे कर्ममें कुछ लेनादेना या करनेका अभिमान नहीं है, वहाँ संस्कार उत्पन्न नहीं होगा। उससे न तो पुनर्जन्म होगा, न नरक मिलेगा, न स्वर्ग मिलेगा और न बादमें वह बात याद आकर चुभेगी। संस्कार इस जीवनमें भी तकलीफ देते हैं। वे बार-बार याद आकर मनमें चुभते हैं। जब हम इस अपेक्षासे काम करते हैं कि यह चीज हट जाये, यह चीज सट जाये, यह चीज मिल जाये—इसीको कर्तृत्वासक्ति बोलते हैं। कर्मका फल यहीं उदय होता है।

इसके अतिरिक्त एक है अकर्तृत्वासक्ति। सांख्यके अनुसार विवेक कर लिया कि हम कुछ नहीं करते—'अकर्मणि च कर्म यः' बुद्धिमान पुरुषका काम यह है कि वह चुपचाप बैठनेको भी अपना काम समझ ले। क्यों हाथ-पाँव बाँधकर बैठे हो? अकर्मण्यता तो दुःखद है। जो यह कहता है कि हम काम नहीं करेंगे, वह भी दुःखको बुलाता है। जो अभिमान करता है कि मैं काम करता हूँ वह भी दुःखको बुलाता है और जो काम पूरा करनेके लिए व्याकुल हो जाता है, वह भी दुःखको बुलाता है। जो अपना कर्त्तव्य समझकर नहीं, अपितु, कोई पदार्थ या पुरस्कार पानेके लिए काम करता है, उसको भी दुःख होता है। अतः फलासक्ति कर्मासक्ति, कर्तृत्वासक्ति और अकर्तृत्वासक्ति—ये चारों दुःखदायी है। जब तत्त्वज्ञान हो जाता है, जब परमेश्वरकी रायसे हमारी राय मिल जाती है। जैसे आप कहते हैं—'जो थारी राय सो म्हारी राय' अथवा 'राजी है हम उसीमें जिसमें तेरी रजा है'। वैसे ही ईश्वरकी राय हमारी राय हो जाती है। संसारमें दुःखी वही है, जो ईश्वरसे मतभेद रखता है। जिसका ईश्वरसे मतभेद नहीं हैं, वह दुःखी ही नहीं। आप देखो, कहाँ ईश्वर और कहाँ जीव? जीवने अपनी अक्ल अलग लगायी और ईश्वरकी अक्लको स्वीकार नहीं किया तो उसे सुख कैसे मिल सकता है? किन्तु जिसकी बुद्धि ईश्वरकी बुद्धिसे एक हो जाती है, उसके लिए जो कुछ भी होता है, उसमें वह सुखी रहता है, शान्त रहता है।

अब कर्मयोग और संन्यासकी बात लीजिये। वास्तवमें कर्म और संन्यास दोनों बुद्धियोगके ही अंग है—'संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।' वही रासबिहारी परमानन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्ण, वही सर्वज्ञ भगवान् श्रीकृष्ण और वही सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्ण हैं सत्ताकी प्रधानतासे, सर्वज्ञ हैं चेतनताकी प्रधानतासे और रासबिहारी हैं आनन्दकी प्रधानतासे। भीष्म शक्तिशाली भी हैं और ज्ञानी भी हैं, परन्तु आनन्दका जो विकास परमेश्वरमें है, श्रीकृष्णमें है, वह भीष्म में नहीं है। श्रीकृष्ण स्पष्ट रूपसे बुद्धिके अन्दर बैठे हुए हैं और बार-बार अपनी ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। कभी कहते हैं कि—'बुद्धौ शरणमन्विच्छ' तुम्हारी बुद्धिमें ही तुम्हारी शरण अर्थात् आश्रय वस्तु छिपी हुई है उसे वहीं ढूँढ़ो। कभी बोलते हैं—'तमेव शरणं गच्छ'—उसकी शरणमें आओ और कभी कहते हैं—'मामेकं शरणं व्रज'—मेरी शरणमें जाओ। यहाँ 'बुद्धौ'में जो अर्थ है, वही 'तमेव'में भी है और वही 'मामेकं'में भी है। भगवान् जने-जनेकी शरणमें जानेसे रोककर किसी एकको ही शरणमें जानेको बोलते हैं और वह एक कौन है? वही अपने हृदयमें अन्तर्यामी है। वही सम्पूर्ण विश्वका संचालक 'तत्' है और वही श्रीकृष्ण 'माम्' हैं। उसीकी शरणमें आनेके लिए भगवान् बार-बार पुकारते हैं। अब आप देखो कि बुद्धियोग क्या है? भगवान्को बुद्धिवाद पसन्द नहीं। मूढ़ता तो सर्वथा नापसन्द है। क्योंकि मूढ़ तो परमेश्वरके पास पहुँचनेका साधन ही खो बैठता है—

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥ 16.20

अर्जुन, तुम बढ़-बढ़कर बुद्धिकी बात करते हो और रोते भी हो। अक्लमन्द रो नहीं सकता और रोनेवाला अक्लमन्द हो नहीं सकता। यह स्पष्ट है भगवान्के इस कथनमें। भगवान् कहते हैं कि जिनके लिए

शोक नहीं करना चाहिए, उनके लिए तो तुम शोक करते हो, छोटी-छोटी बातके लिए रोते हो और बुद्धिसे बड़ी-बड़ी 'भाषसे'—बात करते हो। कैसे प्रज्ञावादी हो? जिनके लिए बिल्कुल नहीं रोना चाहिए, उनके लिए रोते हो? जो तुम्हारे पास आये थे वे गये और जो गये थे वे आगये। यह दुनिया अपना काम कर रही है। इसमें बुद्धिमान् भी बनना और दुःख भी समेटना, दोनों एक साथ कैसे बन सकते है? दुःखोंको समेट-समेट कर अपने पास बटोरते जाना तो बुद्धिमानीका लक्षण नहीं है। अस्तु;कोरा बुद्धिवाद भगवान्‌को पसन्द नहीं है। क्योंकि उसमें कामासक्ति है। बड़े-बड़े बुद्धिमान् लोगोंको जहाँ कुछ मिलने लगता है—धन, प्रशंसा, पद अथवा भोग, तो वे अपनी बुद्धिको बेच देते हैं। एक बुद्धि वह होती है जो संसारसे मिलकर रहती है। यदि बुद्धि संसारकी आसक्तिमें फँस जायेगी तो परमेश्वर पीछे छूट जायेगा और यदि परमेश्वरके साथ जुड़ जायेगी तो संसार पीछे छूट जायेगा। मंगल इसीमें है कि हमें बुद्धियोग प्राप्त हो, हमारी बुद्धि परमेश्वरके साथ जुड़े। उसमें सांसारिक पदार्थों की कामना ही बाधा डालती है।

ऐसी स्थितिमें क्या करें? कल आपको बताया था कि आप किसी भी प्रकारकी उन्नति अथवा अभ्युदय चाहते हैं तो कर्म करना ही पड़ेगा। बिना कर्मके किसी तरहकी उन्नति नहीं हो सकती, न धनकी, न यशकी, न भोगकी। उन्नत होनेका मतलब है ऊपर उठना। आप जहाँ है, जहाँ बैठे हैं उसमें ऊपर उठना हो तो उसके लिए प्रयास कीजिये, यत्न कीजिये। प्रयास करते-करते उन्नति पूरी हो जायेगी। अभ्युदयमें कर्मका सम्बन्ध सर्वथा सुनिश्चित है। परन्तु निःश्रेयसमें कुछ शंका है। यदि कर्मको निःश्रेयसके साथ जोड़ोगे तो बुद्धियोगकी प्रधानता अनिवार्य होगी। क्योंकि निःश्रेयसका अर्थ है मुक्ति, परमात्माकी प्राप्ति, अविद्याकी निवृत्ति। तात्कालिक सुख नहीं शाश्वत सुख, भिन्न-भिन्न वस्तुओंका ज्ञान नहीं, अद्वितीय वस्तुका ज्ञान, छोटे-छोटे कर्म नहीं, जिस सत्तामें सब कर्म होते हैं, उससे एकात्मता, उसका ज्ञान प्राप्त करना। तो निःश्रेयसके लिए कर्मयोगका आश्रय लो या संन्यासयोगका, उसमें बुद्धियोगका होना आवश्यक है।

अब एक बार फिरसे हम आपको सुनाते हैं। आप काम करते हैं, यह तो मान्य है; पर मना किया हुआ काम करते हैं या आदेशानुसार? यदि मना किया हुआ काम करते हैं तो आपकी वासना आपको वहाँ पहुँचा देगी जहाँ आपकी वासना है और शासनके अनुसार काम करते है तो आप बाहर न जाकर अपनी आत्मामें भीतर बैठ जायेंगे। धर्म विभाग कर देता है कि यह करो और वह मत करो। जब हम विहित कर्म करने लगते हैं, अच्छे-अच्छे काम करने लगते हैं, तब यह देखना पड़ता है कि वह सकाम है कि निष्काम है, स्वार्थसे करते हैं कि निःस्वार्थ? जहाँ हम अपनेको किसी लौकिक वस्तुके पास पहुँचाना चाहते हैं, वहाँ हमारा मन जड़ताकी ओर जाता है और जहाँ हम अपने मनको आत्माकी ओर उन्मुख करते हैं, वह चैतन्यकी ओर जाता है। आजकल कई लोग निष्कामताकी चर्चा करते हैं। कहते हैं कि हम तो निष्काम भावसे बेइमानी करते हैं, निष्काम भावसे झूठ बोलते हैं, निष्काम भावसे दूसरेको ठगते हैं, निष्काम भावसे ग्राहककी गाँठ काटते हैं। भाई, इस प्रकारके कर्म निष्काम भावसे तो क्या निकृष्ट सकाम भावसे ही होते हैं। ऐसे लोगोंको पहले सकाम और निष्कामका अर्थ समझना चाहिए। जब हम लोग-परलोकके लिए कुछ वस्तु पाना चाहते हैं और

शास्त्रकी, गुरुकी, सम्प्रदायकी आज्ञाके अनुसार काम करते हैं, तब उसका नाम 'सकाम कर्म' होता है। निष्काम कर्मका अर्थ होता है निःस्वार्थ कर्म। अन्त:करणकी शुद्धिके लिए किया हुआ कर्म आध्यात्मिक, होता है। अत: देखनेकी बात यह है कि आप ईश्वरकी प्रसन्नताके लिए काम करते हैं या अपने अन्त:करणकी पवित्रताके लिए काम करते हैं या समाजमें आपके जो कर्तव्य हैं उन्हें पूरा करनेके लिए काम करते हैं। इस प्रकार तीन विभाग हुए निष्काम कर्मके—पहला सर्वात्मा भगवान्‌की प्रसन्नताके लिए, दूसरा अपने अन्त:करणकी निर्मलताके लिए और तीसरा सबकी सेवाके लिए। अब यह निष्काम कर्म भी दो तरहसे होता है—एक कर्तापनका अभिमान छोड़कर और दूसरा कर्तापनके अभिमानके साथ। कर्तापनके अभिमानके साथ होगा तो वह हमारी खण्डदृष्टिको, परिच्छिन्नताको काट नहीं सकेगा और यदि वह अकर्तृत्वबुद्धिसे होगा तो आप जानते ही हैं, गीताका तो कहना ही यही है कि आत्मा कर्ता नहीं है। प्रकृति करे तब भी मान लो—'प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।' ईश्वर करे तो भी मान लो—'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।' और दोनोंसे काम होता हो तो वह भी ठीक है—'अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।' हम यह मानकर आपसे बात कर रहे हैं कि आप गीता पढ़ते हैं। नहीं तो इतने संक्षेपमें बात नहीं करते। तो देखिये—'इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्ते' इन्द्रिय ही इन्द्रिय-विषयोंमें बर्तती हैं। सत्त्व, रज, तम—ये तीन गुण काम करते हैं। प्रकृति काम करती है, ईश्वर काम करता है और मैं कुछ नहीं करता हूँ—यह भी गीताका कहना है—

पश्यञ्श्रृण्वन् स्पृशञ्जिघ्रनश्नन् गच्छन् स्वपञ्श्वसन्।

तो हमने विभाग कर दिया। इन्द्रियाँ इन्द्रियोंके विषयमें बर्तती हैं—एक। गुण गुणोंमें बर्तते हैं—दो। प्रकृतिसे काम होता है—तीन। ईश्वरसे काम होता है—चार। और, मैं अकर्ता हूँ—यह भाव है पाँच। इस प्रकार अपने अकर्तापनका अनुभव होता है। यह अकर्तापन भी दो तरहसे होता है—एक भावमात्र होता है और दूसरा अपने स्वरूपका ज्ञान होनेपर होता है। स्वरूपका ज्ञान भी दो तरहका होता है—एक अपनेको असंग आत्माके रूपमें जान लेना और दूसरे अपनेको ब्रह्मरूपमें जानना। यदि ब्रह्मरूपमें अपनेको जान गये तो कर्म और कर्मफल तथा कर्तापन और अकर्तापनके लिए जो बैठना है, इन सबसे छुट्टी मिल जाती है। इन विवेचनोंके बाद प्रश्न उठता है कि कर्म करें या कर्म छोड़ें? भगवान् श्रीकृष्णका अभिमत बड़ा विलक्षण है—समन्वयात्मक है। संसारी लोगोंका ख्याल है कि आराम हराम है। लेकिन सीधी बात है, आप आरामके बिना काम नहीं कर सकते। यदि आप सोवें नहीं, नींद न लें, विश्राम न करें, कर्मत्याग करके दो-चार-छह घण्टे विश्राम न करें तो काम कैसे करेंगे? मैं आपको कल सुना रहा था, दुनियामें सब कुछ परिवर्तनशील है। यहाँ जो आयेगा वह जायेगा, जो जायेगा वह आयेगा। सोनेकी द्वारिका बनेगी और पानीमें डूब जायेगी। ब्याह होगा और बिछुड़ जायेंगे। बच्चे होंगे और उनके लिए गद्दी खाली करनी पड़ेगी। आप कुछ भी करें, गद्दी पकड़कर बैठे नहीं रह सकते। यह है सृष्टिका नियम। इसमें असंग होकर चलना पड़ेगा। आंप फिर देखो और गिनती कर लो। पहले क्या गिनती है? कर्म और कामना दोनोंको एक साथ रख लो। जिसमें दोनों नहीं हैं, न कर्म है, न कामना है; वह तत्त्व हो सकता है—चाहे जड़ तत्त्व हो या चेतन तत्त्व हो। जिसमें कामना और कर्म दोनों नहीं

हैं वह या तो ब्रह्म है या पत्थर। एक विभाग यह हुआ। अच्छा अब यदि कहो कि कामना है, परन्तु कर्म नहीं है तो यह क्या हुआ? मिथ्याचारी हो गया। जो अपनी इच्छाओंकी पूर्ति तो चाहता है, परन्तु उसके लिे कुछ करना नहीं चाहता उसे गीता मिथ्याचारी कहती है—'मिथ्याचारः स उच्यते।' इसमें भी दो तरहकी बातें है—एक तो कामना है मनमें, किन्तु कर्म नहीं कर रहा है और कामनाओंको इमानदारीसे मिटाना चाहता है। दूसरा है, जो कामनाओंको पूरी करना चाहता है, परन्तु काम नहीं करना चाहता, वही मिथ्याचारी है।

अब इसके आगे बढ़ें और देखें कि कर्म तो है, परन्तु कामना नहीं है। इसको क्या कहेंगे? निष्काम कर्म कहेंगे। जब हम बिना स्वार्थके सब-का-सब काम करते हैं, तब तत्त्वके बहुत निकट होते हैं। जैसे पृथिवीको देखिये, वह आपको माताके समान अपने कन्धेपर, अपने सिरपर, अपनी गोदमें, आपको रखती है, परन्तु आपसे कुछ चाहती नहीं। यह पृथिवी तत्त्व है। जल तत्त्व आपको तृप्ति देता है, परन्तु आपसे कुछ अपेक्षा नहीं करता। अग्नि तत्त्व ताप देता है, सूर्य प्रकाश देता है, परन्तु आपके पास कोई बिल नहीं भेजता। वायु तत्त्व आपको सांस लेने देता है, लेकिन उसके बदले आपसे कुछ लेता नहीं। आकाश तत्त्व आपको अवकाश देता है। ईश्वर आपको चैतन्य देता है और प्रकृति आपको क्रिया देती है, लेकिन आपको कुछ देना नहीं पड़ता। यही निष्काम कर्मका स्वरूप है। जैसे पृथिवी तत्त्व अपना जीवन व्यतीत करता है, वैसे ही हम सबको क्षमा करें और सबको तृप्ति दे। क्षमा तो सभी तत्त्वोंमें है। क्षमा उनका अनुगत धर्म है। पृथिवीको चाहे खोदो चाहे फूँको, चाहे उसपर मूत्र या विष्ठा करो, वह सभी अवस्थाओंमें क्षमा करती है। जलमें आप पनाला गिराते हैं तब भी वह क्षमा करता है और आपको तृप्ति देता है। अग्निमें चाहे कुछ भी गन्दी-से-गन्दी चीज भी डाल दो भस्म कर देगा और क्षमापूर्वक आपकी रसोई भी पका देता है। वायु आपको सांस भी देता है और आप चाहे जितनी दुर्गन्ध उसमें उँड़ेल दें आपको क्षमा कर देता है। आकाशमें चाहे जैसे शब्द बोलो, अच्छे-से-अच्छे या बुरे-से-बुरे, सबको पचा लेता है और आपको धारण भी करता है। आप उसमें चाहे जहाँ घूमना चाहो घूमो, आकाशको कोई आपत्ति नहीं। इसीको हम तात्त्विक जीवन बोलते हैं। इस तात्त्विक जीवनसे मिलता हुआ जिसका जीवन है—क्षमा करो, सबका भला करो और इसके बदलेमें कुछ तुम मत चाहो—यही ईश्वरका जीवन है, यही प्रकृतिका जीवन है। यही आकाशका, वायुका, अग्निका, जलका, पृथिवीका सब तत्त्वोंका जीवन है। अतः मनुष्यको अपना जीवन तत्त्ववत्—तत्त्वके समान व्यतीत करना चाहिए।

अब एक तीसरी अवस्था देखो। जहाँ काम और कर्म दोनों नहीं, वहाँ जड़ तत्त्व है या चेतन तत्त्व है? जहाँ कामना है परन्तु कर्म नहीं वहाँ या तो मिथ्याचार है या कामना मिटानेके लिए प्रयत्न है। अब यह देखो कि जिसमें कर्म है और कामना नहीं, वह निष्काम कर्मयोगी साधक है। एक अवस्था ऐसी भी आती है समाधिक, जहाँ न कामना होती है, न कर्म। बस यही एक प्रश्न रहता है कि तत्त्वज्ञान होकर कामना और कर्म छूटे हैं या बिना तत्त्वज्ञानके ही छूटे हैं। यदि तत्त्वज्ञान हो गया है तो कामना और कर्म होवें, चाहे न होवें, वह तो साक्षात् ब्रह्म है। लाख-लाख कामना होते हुए भी, लाख-लाख कर्म होते हुए भी, लाख-लाख ब्रह्माण्ड बनते-बिगड़ते हुए भी वह ज्यों-का-त्यों है।

अब आप इसका वर्गीकरण कीजिये। अपने कर्तव्यका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए पहले अपनेको स्थापित करना पड़ेगा। देखिये, क्या आप निकम्मे हो गये हैं, आलसी हो गये है ? नहीं-नहीं, हम निकम्मे नहीं, आलसी नहीं—आलसीको तो कोई सफलता मिल ही नहीं सकती। आलस्य-प्रमादमें जीवनकी कोई सफलता नहीं। तब आप प्रयत्नशील हैं? कायदेसे काम कर रहे हैं कि बेकायदे कर रहे हैं? बेकायदे कर रहे हैं तो आपकी वासना आपको गड्ढेमें डाल सकती। कायदेसे काम कीजिये। धर्मके, शास्त्रके अनुसार काम कीजिये। यदि कायदेसे भी काम करते हैं और अभिमान बहुत दिखाते हैं तो आपके मुकाबिलेका कोई-न-कोई अभिमान तो दुनियामें होगा ही, वह आकर आपसे टकरायेगा। एक तो संघर्ष रहेगा, द्वन्द्व रहेगा, दूसरे कभी वह आपको नीचा भी दिखा सकता है। अभिमानको नीचा देखना ही पड़ता है। यह कहा जा चुका है कि दुनियामें जितनी चोट पड़ती है, जितना दुःख होता है, जितना दारिद्र्य आता है; वे सब अभिमानको ही आकर दबोचते हैं। जिसके जीवनमें अभिमान शिथिल हो गया, कम हो गया, उसका दुःख भी कम हो गया। समझ लीजिये कि जिसके जीवनमें जितना दुःख है, वह उतना ही बड़ा अभिमानी है।

अब देखो कर्म और कर्मत्यागको। यदि बुद्धिपूर्वक कर्म करते हो और बुद्धिपूर्वक त्याग करते हो, तब तो कर्म भी साधन है और त्याग भी साधन है। यदि बुद्धि नहीं तो कर्म भी बन्धन है और त्याग भी बन्धन है। जैसे एक संन्यासी हैं। उनके विषयमें प्रश्न उठा कि यह संन्यासी कैसे हुए? तो उत्तर मिला कि इससे पहले वायदा किया गया था कि तुम संन्यासी हो जाओगे तो इस बहुत बड़े मठके महन्त बना दिये जाओगे। अब आप ध्यान दो इस बातपर। उन्होंने यज्ञोपवीतका त्याग किया, वस्त्रका त्याग किया, नंगे हुए, संन्यासी हुए और दूसरे-तीसरे दिन उनको एक बड़े मठकी गद्दीपर बैठाकर तिलक कर दिया गया। यदि उन्होंने अपने-आप सब कुछ त्यागकर संन्यास ले लिया होता और कोई ले जाकर मठकी गद्दीपर बैठा देता तो वह बात दूसरी होती। जब उन्हें यह वायदा करके संन्यासी बनाया गया कि तुमको महन्त बनावेंगे, तो उनके मनमें कामकी प्रधानता है कि संन्यासकी ? निश्चय ही उनका त्याग गौण हो गया और महन्त होनेकी वासना बड़ी हो गयी। जब बुद्धि कामनासे दूषित या कलुषित हो तब त्याग कल्याणकारी त्याग नहीं होता। इसी तरह जब हम कर्म करते हैं और उसका फल दूसरेको नहीं देना चाहते तो वह श्रेयस्कर नहीं होता। प्रेम और काममें यही अन्तर है। जो काम हम कर रहे हैं, बड़े प्रयत्नसे, बड़े परिश्रमसे, उसका लाभ सबको मिलना चाहिए। हम बड़े-बड़े काम किसके लिए करते हैं? नंगेको पहननेके लिए कपड़ा मिले, भूखेको खानेके लिए अन्न मिले, रोगीको दवा मिले, जिसके पास मकान नहीं उनको मकान मिले। हमारे सब काम इसी दृष्टिसे होने चाहिए। कर्ताकी मनोवृत्ति ही उसके साथ जुड़ती है। जब खुदको फायदा उठानेके लिए काम होता है तब कामनाकी प्रधानता हो जाती है। कामनाकी प्रधानता होनेसे सबका भला हो, इस ढंगसे काम नहीं होता। उसमें तो अपना फायदा हो, वैसे ही काम होता है। काम वही है, वही कपड़ा, वही दवा, वही अन्न, वही वस्त्र, वही विद्यालय, वही धर्मशाला, किन्तु करनेवाला जब अपना फायदा देखता है तब उनका स्वरूप बदल जाता है। जब सबको लाभ पहुँचे, इसके लिए काम करते हैं तो सर्वात्माकी सेवा हो जाती है। परमेश्वरकी सेवा हो जाती है अपने लाभके लिए करते हैं तो वही

स्वार्थ हो जाता है। इस प्रकार दृष्टिकोणके भेदसे कर्म करनेमें लाभ भी है और हानि भी; बुद्धि ठीक होनी चाहिए। कर्मत्याग करनेमें भी वही बात है। कर्मत्यागसे हम समाधिमें स्थित हो सकते हैं, अपना स्वरूप जान सकते हैं और परमात्माको प्राप्त कर सकते हैं। लेकिन यदि स्वार्थदृष्टिसे कर्मत्याग करेंगे तो वह त्याग भी कलुषित हो जायगा। कहनेका अभिप्राय यह हि आप कर्मके द्वारा भी लाभ उठा सकते हैं। अभी भगवान्ने संन्यास और कर्मयोगको बराबरी पर स्थापित किया। यदि सामने बड़े-छोटेका झगड़ा हो तो एकाएक विपरीत बात नहीं कह देना चाहिए। ऐसे नहीं कहना चाहिए कि जिसको तुम छोटा कहते हो वह बड़ा है और जिसको बड़ा कहते हो वह छोटा है। यह बात-चीत करनेका ढंग नहीं। पहले दोनोंकी बराबरीकी बात करनी चाहिए और जब सामनेवालेको ग्रहण हो जाये कि ये दोनों बराबर हैं तब दोनोंकी तुलनात्मक समीक्षा करके अधिक विशेषता किसमें है यह बात बतानी चाहिए। श्रीकृष्ण बोलनेका ढंग भी तो सिखाते हैं।

'संन्यास: कर्मयोगश्च'—इनको कर्मयोग बताना है, लेकिन पहले नाम संन्यास लेते हैं। आदर करना चाहते हैं कर्मयोगका लेकिन पहले नाम लेते हैं संन्यासका । बादमें चलकर बताते हैं कि कर्मयोग बड़ा है। इस प्रकार संन्यासका भी आदर हो जाता है और कर्मयोगकी विशेषता भी प्रकट हो जाती है—'तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते।' मानो अर्जुनने कहा कि इन दोनोंमें तुलना कीजिये तो बोले संन्यासकी अपेक्षा कर्मयोग विशेष है।

अब आप देखिये। संन्याससे केवल एक वस्तु मिल सकती है और वह है मोक्ष। संन्याससे लौकिक अभ्युदय नहीं हो सकता किन्तु कर्मयोग मोक्षमें तो सहायक है ही, मोक्ष तो देता ही है, साथ-साथ लोक भी देता है कर्मयोगमें भोग भी है, योग भी है। संन्यासमें योग तो है, परन्तु भोग नहीं। एक साधारण मनुष्यके लिए कर्मयोग ही श्रेष्ठ है, जिससे लोकका भी हित हो, उसका जीवन भी अच्छा बने, उसका मन भी पवित्र हो, उसके कर्म द्वारा परमात्माकी सेवा भी हो और फिर उसका अन्त:करण शुद्ध होकर तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति भी हो जाये। आखिरी सीढ़ीपर कोई छलांग लगाकर चढ़ भी जाये तो गिर जानेका डर है और एक-एक सीढ़ी करके चढ़े तो गिरनेका डर नहीं। कर्मयोग बुद्धिपूर्वक ही होता है। संन्यासयोग भी बुद्धिपूर्वक ही होता है। यदि बुद्धि नहीं, तो दोनों बिगड़ जाते हैं। इसलिए पहले ज्ञान प्राप्त करो। यदि कहो कि ज्ञान प्राप्त नहीं होता तब श्रद्धा तो कर सकते हो। जो ज्ञानी पुरुष हैं उनके ज्ञानसे श्रद्धापूर्वक लाभ उठाओ और यदि स्वयं ज्ञान प्राप्त कर सकते हो तो उसके लिए प्रयास करो। श्रीकृष्णने जहाँ संन्यासकी चर्चाकी है वहाँ उसका अर्थ बदल दिया है। ऐसे समझो कि दुनियामें जहाँ रजिस्ट्रीसे ब्याह होता है, वहाँ रजिस्ट्रीसे तलाक भी होता है। कानूनसे ब्याह तो हो और तलाक न हो वह गलत हो जाता है। जब संस्कार द्वारा यज्ञोपवीत धारण करते हैं, संन्ध्या-वन्दनका नियम लेते हैं और विधिपूर्वक विवाह करते हैं तो उन सबके त्यागके समय भी कोई-न-कोई संस्कार होना चाहिए। जैसे सबको दिखाकर धर्मकी विधिसे ग्रहण होता है, वैसे ही सबको दिखाकर धर्मकी विधिसे त्याग भी होता है। जब समाज स्वीकार करले कि हाँ इनका ब्याह हुआ अथवा इन्होंने तलाक दिया बात साफ ही कायदे-कानूनकी हो जाती है। परन्तु श्रीकृष्ण तो संन्यासकी परिभाषा ही बदल देते हैं। वे कहते हैं—

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।

ऐसी स्थितिमें कर्मयोग विशेष कहाँ हुआ? इसलिए विशेष हुआ कि कर्मयोग अभ्युदय और निःश्रेयस भोग और योग, लोक और परलोक, धर्म-अर्थ-काम और साथ ही मोक्ष सबमें सहायक है। यही इसकी विशेषता है। एक ऐसा व्यक्ति है, जो गेरुआ कपड़ा नहीं पहनता, ज्यों-का-त्यों है। उसके गलेमें जनेऊ भी है, सिरपर चोटी भी है, गृहस्थके रूपमें भी है। परन्तु यदि उसकी बुद्धिमें किसीसे द्वेष नहीं और ऐसी कोई चीज नहीं जिसकी उसको आकांक्षा होती हो या जिसको न पानेसे जलन होती हो, क्या वह किसी संन्यासीसे कम है? सच्चा संन्यासी तो वही है। मनुष्यके भीतर जो हीन भावना है उससे बड़ा नुकसान होता है। हम सोचते हैं कि यह आदमी हमें नुकसान पहुँचा देगा तो उससे अपनेको छोटा समझने लगते हैं, निर्बल समझने लगते हैं, मूर्ख समझने लगते हैं। यह हमारी हीनभावनाका ही परिणाम है। यदि हम किसी वस्तुके लिए पानी-पानी हो रहे हैं, बहे जा रहे हैं, अपने गौरवके स्वरूपके विपरीत आचरण करते हैं और यह अनुभव करते हैं कि हाय-हाय इसके बिना हम जी नहीं सकते तो इसका कारण भी हमारी हीन भावना ही है। उस व्यक्तिमें क्या पौरूष है जब यह सोचता है कि हम किसीके बिना जी नहीं सकते अथवा अमुक दुश्मन हमको मार डालेगा। इस प्रकार हीनताकी जो बुद्धि है, वही राग-द्वेषको उत्पन्न करती है और पूर्णताकी जो बुद्धि है, वह रागद्वेषको मिटाती है। वास्तवमें हमें कोई हानि नहीं पहुँचा सकता। हम परमात्माके अंश है, स्वरूप हैं, स्वभाव है और सब प्रकारसे परिपूर्ण हैं। हमको दुनियामें कुछ भी नहीं चाहिए। हम तो केवल अपने कर्त्तव्योंका पालनमात्र कर रहे हैं। राग-द्वेषकी निवृत्ति संसारके स्वरूपको समझनेसे होती है। इसे समझनेकी पद्धति एक तो यह है कि संसार परिवर्तनशील है। दूसरा यह कि हम असंग है। तीसरा यह कि सब कुछ परमात्माका स्वरूप है और चौथा यह कि तत्त्वतः कोई भेद नहीं। इस प्रकार राग-द्वेषकी निवृत्ति चार प्रकारसे होती है। आप इसकी गिनती कर लो। संसारको जब यह समझोगे कि यह बदलता रहता है, परिवर्तनशील है तब कहाँ और किससे राग-द्वेष करोगे? जो आज दुश्मन है वह कल दोस्त हो जायेगा और जो आज दोस्त है, वह कल दुश्मन हो जायेगा। अपने स्वरूपको समझोगे तो प्रतीत होगा कि जब तुम आजतक किसीसे राग या द्वेषका निर्वाह करनेमें सफल नहीं हुए, समर्थ नहीं हुए तो आगे भी नहीं हो सकते। परमेश्वरके स्वरूपको समझोगे तो उससे प्रेम होते ही दुनियामें किसीसे राग-द्वेष करनेका कोई मौका ही नहीं मिलेगा और यदि अपने आपको ब्रह्मरूपसे, तत्त्वरूपसे जान जाओगे तो न कोई दूसरा रहेगा और न राग-द्वेषका अस्तित्व रहेगा। इस प्रकार राग-द्वेषकी निवृत्तिके लिए ये चार उपाय गिने हुए मुख्य उपाय हैं, अन्य सब उपाय इनके अवान्तर भेद हैं।

भगवान् नित्य-संन्यासी होनेकी जो बात कहते हैं उसका तात्पर्य यह है कि जो निर्द्वन्द्व है, वही संन्यासी है। 'द्वौ-द्वौ इति द्वन्द्वम्'—सुख है-दुःख है; राग है-द्वेष है; पाप है-पुण्य है; पति है-पत्नी है; बाप है-बेटा है; इन सबका नाम द्वन्द्व है। निर्द्वन्द्वका अर्थ है बिल्कुल अकेला—निपट अकेला। जो गृहस्थमें रहता हुआ, संसारी काम करता हुआ भी दूसरेकी अपेक्षासे मुक्त होकर रह रहा है, वह निर्द्वन्द्व है, नित्य संन्यासी है।

●

प्रवचन : 3

गीता चाहती है कि विवेक और कर्म इन दोनोंका समन्वय बना रहे। विवेक निकम्मा न हो जाये। सीधी-सादी बात है, विवेकहीन कर्म लोक-परलोक-सुख सबको बिगाड़ता है और कर्महीन विवेक मनुष्यको अकर्मण्य बना देता है। अत: कर्म और विवेक दोनों साथ मिलकर चलें, यही भगवान् अर्जुनसे कहना चाहते हैं। इसको उन्होंने बुद्धियोग शब्दसे व्यवहृत किया है। इसमें जो योग है, उसका अर्थ है कर्मयोग और जो बुद्धि है, उसका तात्पर्य है सांख्ययोग। सांख्य और योग अर्थात् कर्म बुद्धि—कर्म और विवेक—इन दोनोंका मिश्रण। विवेकमें बाधा कौन डालता है? कामासक्ति। जब हम किसी वस्तुके प्रति आसक्त हो जाते हैं और इस प्रकारका आचरण करने लगते हैं कि चाहे जो हो जाये हमें तो यही करना है तब जिन्दगीमें ज़िद आ जाती है। संस्कृतमें जिदको दुराग्रह बोलते हैं और जब मनुष्य उससे ग्रस्त हो जाता है तब उसे 'दुराग्रह-ग्रह-गृहीत' कहते हैं। जब वह विवेकका तिरस्कार करके कोई काम करना चाहता है तब वह अहितकर कर्म कर बैठता है। केवल नि:श्रेयसकी प्राप्तिके लिए तो कर्महीन विवेक भी काम देता है, किन्तु कर्म उपयोगी हैं। कर्म कैसे उपयोगी है? इसके सम्बन्धमें हम थोड़ी बात आपको सुनाते हैं।

यदि ब्याहका प्रसंग हो तो लड़कीको लड़केके बारेमें और लड़केको लड़कीके बारेमें जानकारी प्राप्त करनी चाहिए। क्योंकि वहाँ संग्रह होना है, दोनोंको मिलकर रहना है। इसको 'सविषयक ज्ञान' बोलते हैं। दूसरेके सम्बन्धमें यदि कुछ लेना हो, देना हो, छोड़ना हो, पकड़ना हो तो ज्ञान प्राप्त करनेके बाद ही ऐसा हो सकता है। करना-त्यागना ज्ञानका स्वभाव है यदि आप दूसरी वस्तुको जानोगे, तभी उसके अच्छी होनेपर उससे प्रेम करोगे और उसके बुरी होनेपर उसको छोड़ दोगे। परन्तु अपने स्वयंके बारेमें जो ज्ञान होता है उसमें न छोड़ना पड़ता है और न पकड़ना, क्योंकि वह तो स्वत: सिद्ध है। छोड़नेवाला भी वही, पकड़नेवाला भी वही। किसीने पूछा कि अपने-आपको जानकर क्या करोगे तो बोले कि यदि जाना कि मैं बहुत बुरा हूँ तो आत्महत्या कर लूँगा। उत्तर मिला कि आत्महत्या करके भी तुम नहीं मरोगे। मनुष्यका शरीर जहाँ पूरा होता है वहींसे प्रारम्भ होता है। यदि वह निर्वासन नहीं, निष्काम नहीं, तत्त्वज्ञानी नहीं, तो उसका जीवन जहाँ समाप्त होता है, वहींसे दूसरा प्रारम्भ हो जाता है। वही परिस्थिति, वही दृश्य, वही दु:ख, वही सुख। उनसे मरकर भी बच नहीं सकते। आत्मज्ञानके अतिरिक्त दूसरे जितने ज्ञान हैं वे त्याग और संग्रहके लिए होते हैं। श्रीसुरेश्वराचार्यजी ने इस बातका वर्णन बहुत स्पष्ट किया है—

सर्वत्रैव हि विज्ञानं संस्कारत्वेन गम्यते।
पराङ्गं चात्मविज्ञानादन्यत्रेत्यवधार्यताम्॥

आप इस बातको ध्यानमें रख लो, नोट कर लो, अपने निश्चयमें ले लो कि संसारमें आत्मविज्ञानके अतिरिक्त जितने भी विज्ञान होते हैं, वे पूर्वसंस्कारसे अनुप्राणित होते हैं, आगेके लिए नये संस्कार उत्पन्न करनेवाले होते हैं और कर्मके अंग होते हैं। यह बात मैं जान-बूझकर सुना रहा हूँ कि सभी ज्ञान बराबर नहीं होते। ईश्वरका ज्ञान प्राप्त करोगे तो उसके प्रति आपके हृदयमें नम्रता आयेगी, झुकोगे और मनुष्यके प्रति

भाईचारेकी भावनाका उदय होगा। अपने आत्माके स्वरूपको समझोगे तो संग्रह और त्यागसे विनिर्मुक्त निर्द्वन्द्वता मिलेगी।

बुद्धियोगमें दोनों रहते हैं—विवेक भी और कर्म भी। पहले बताया जा चुका है कि कर्मको योग और विवेकको सांख्य कहते हैं। सांख्य अर्थात् गणना करना। संख्या शब्दसे ही सांख्य शब्द बनता है। प्रकृतिमें चौबीस भेद हैं—पाँच भूत हैं, पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं, पाँच विषय है, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं और चार अन्त:करण हैं। इस तरह गिनती करके वस्तुओंका निश्चय करना सांख्यकी पद्धति है। जो तत्त्वोंका परिगणन कर दे, संख्यान कर दे, उसका नाम सांख्य होता है। संख्या सम्यक् ख्यातिको कहते हैं। किसी वस्तुको एक, दो, तीन, चार आदिके रूपमें भली-भाँति जाहिर करनेका नाम संख्या है। अब आप देखो जब कर्म करने चलते हैं तो उसमें विवेक है कि नहीं, यह पहला प्रश्न हुआ। यदि है तो विवेकपूर्वक कर्म करनेकी प्रेरणा आपको कहाँसे मिल रही है? कामकी ओरसे कि रामकी ओरसे? आप जहाँ काम करने जा रहे हैं वहाँ आपको आपकी वासना ले जा रही है, आपका स्वार्थ ले जा रहा है या उसके लिए शुद्ध निर्वासन चित्तमें ईश्वरकी प्रेरणा आयी है? यह विवेक बुद्धिमान् लोगोंको होता है, नहीं तो जो मनमें आया वही करने लगते हैं। इसके बाद कर्मके स्वरूपपर भी ध्यान देना चाहिए। उसमें हिंसा तो नहीं, मनसे, वाणीसे, कर्मसे किसीको तकलीफ तो नहीं पहुँचेगी। जब हम दूसरोंको दु:ख, ताप या तकलीफ पहुँचाकर कोई कर्म करते हैं तो सबसे पहले उनका प्रभाव हम पर ही पड़ता है। आप यदि गम्भीरतासे, सूक्ष्म दृष्टिसे देखेंगे तब मालूम पड़ेगा कि दु:ख बाहरसे नहीं आता। यदि कोई पीठपर घूँसा लगा दे अथवा सिरपर डण्डा मार दे तो पीठ या सिरको तकलीफ नहीं होती, तकलीफ मनको होती है। चाहे किसी भी अंगको चोट पहुंचे, तकलीफ मनमें पहुँचेगी। मनोभूमि मिट्टी, पानी, आग, हवा और आकाशसे भी सूक्ष्म होती है। जब बोला हुआ शब्द जैसा स्थूल पदार्थ सारी सृष्टिमें फैल जाता है—ब्राडकास्ट होता है अमरीका, चीन, रूस अथवा अन्य किसी सुदूर देशमें और तत्काल सुनायी पड़ता है सर्वत्र। तो जो दु:ख-सुखरूपी मनोभाव हैं वे एक जगह पैदा होकर एक जगह ही रह जायेंगे, यह सोचना गलत है। शब्दके विस्तारकी तरह सुख-दु:खका भी विस्तार हो जाता है।

अत: यदि आपके कर्मसे किसीको दु:ख पहुँच रहा है तो वह दु:ख विश्वसृष्टिमें फैलेगा और एक, दो, तीन दिन अथवा वर्ष-दो-वर्षमें आपके पास भी पहुँचेगा। आपके अन्त:करणमें बैठा ईश्वर भी उस दु:खसे अछूता नहीं रहेगा। अत: ऐसा काम करना चाहिए जिससे किसीको दु:ख न पहुँचे। किसी एक आदमीको भी दु:ख पहुँचाना ईश्वरको, सर्वात्माको, प्राणिमात्रको और स्वयं अपने-आपको भी दु:ख देनेका प्रयास है। जैसे कोई चीज अपनेसे बाँधकर फेंकते हैं तो वह लौटकर फिर अपने पास आ जाती हैं, वैसे ही जब हम दूसरेको देनेके लिए दु:ख फेंकते हैं। तो वह हमारे पास लौटकर आ जाता है और कहता है कि तुम्हींने तो हमारा विस्तार किया है, इसलिए अब हम तुमको ही लगेंगे। इसलिए दूसरोंको दु:ख देनेवाला व्यक्ति उस दु:खसे बच नहीं सकता। जैसे धनका दान करनेवाला, इस लोक और परलोकमें धनका भाजन होता है, वैसे ही दु:ख देनेवाला भी इस लोक और परलोकमें दु:खका पात्र बनता है। कारणमें ही कार्यका लय होता है—यह दर्शन-शास्त्रका सिद्धान्त है। दु:ख अपने भोक्ताके पास हमेशा नहीं रहता उनके पास तो थोड़ी देर रहता है, परन्तु जो उसका

दाता या कर्ता है, उसके पास लौटकर चिपक जाता है। तो कर्म-विवेकमें, सांख्यज्ञानमें आवश्यक है यह जानना कि प्रेरणा ईश्वरकी है या वासनाकी, रामकी है या कामकी? जो कर्म हम करने जा रहे हैं वह हिंसात्मक तो नहीं? एक तीसरी बात कर्ममें सोचनेकी, विचार करनेकी यह है कि जो काम हम कर रहे हैं उसका प्रयोजन क्या है? प्रयोजन शब्दका तात्पर्य है यह जानना कि उस कर्मका फल कहाँ जुड़ता है—

अवगतं सत् आत्मनि इष्यते।

जब प्रयोजनका ज्ञान होता है तब वह अपने-आपमें ही आकर जुड़ जाता है। प्रयोजन अर्थात् योजना करनेवाला, फलको हमारे साथ जोड़नेवाला पदार्थ। तो हम किस प्रयोजनसे काम करते हैं यह विवेक होना आवश्यक है—

प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते।

निष्प्रयोजन काममें, जिससे किसी प्रयोजनकी सिद्धि न होती हो उस काममें, अपनी शक्तिका अपव्यय नहीं करना चाहिए। पहले तो वह काम रामकी प्रेरणासे, निर्वासनताकी प्रेरणासे आया हुआ हो; स्वरूपसे हिंसायुक्त न हो और उससे किस प्रयोजनकी सिद्धि होती है, यह पता हो तब उसमें प्रवृत्त होना चाहिए। निष्काम-निष्कामका रट लगानेवाले कभी-कभी गड़बड़ी करते हैं। वे समझते हैं कि हम जुबानसे निष्काम-निष्काम कहते रहेंगे तो एक दिन वह निष्काम हो जायेगा। लेकिन जबानी जमा-खर्च करनेसे कोई कहे कि हम निष्काम भावसे किसीको ठगते हैं, झूठ बोलते हैं, बेइमानी छल और कपट करते हैं तो क्या कभी यह शक्य है? आप यह कह सकते हैं कि हम अपनी कामनाको धर्मके अविरूद्ध बनानेका प्रयास करते हैं। धर्मानुकूल कामना हो, इसकी चेष्टा करते हैं, क्योंकि धर्मके विपरीत कामना नहीं होनी चाहिए। तो व्यर्थ कर्मका नाम निष्कामकर्म नहीं, सप्रयोजन कर्मका नाम निष्काम कर्म है। कर्मके साथ लक्ष्य होना आवश्यक है। लक्ष्य और स्वार्थमें अन्तर है, स्वार्थ दूसरी चीज है और लक्ष्य दूसरी।

कर्मका लक्ष्य भी तीन ओर जाता है। हमारा कर्म अपने सुखके लिए, अपनी शान्तिके लिए अर्थात् अन्त:करणकी शुद्धिके लिए होता है। यदि अन्त:करण निर्मल होगा, शुद्ध होगा तो हमें सुख-शान्तिकी प्राप्ति होगी। हमारा काम सबकी भलाईके लिए होगा तो सबके अन्तर्गत हमारा अन्त:करण, हमारा जीवन भी होगा और उससे हम भी सुखी हो जायेंगे। जो काम अपनी भलाई और सबकी भलाईके लिए होता है, उससे ईश्वरके उद्देश्यसे और अन्त:करणकी शुद्धिके उद्देश्यसे काम होना चाहिए। काम कुछ-न-कुछ पानेके लिए भी नहीं होते, स्वच्छताके लिए भी होते हैं। हमारे एक बाबा थे, वे कहते थे कि हम लोग जो भोजन करते हैं वह भी सफाईके लिए होता है। वे यह दृष्टान्त देते थे कि हम मुँहमें जो भोजन करते हैं, पानी डालते हैं, वह कंकड़, पत्थर, माटीकी तरह शरीरके भीतर जाता है, मैलको नीचेकी ओर ढकेलता है। इसलिए भोजन भी हमारी जीवन-शुद्धिके लिए ही होता है, भोगवासनाकी पूर्तिके लिए नहीं होता। अस्तु; कर्म करनेमें प्रेरकपर दृष्टि एक, कर्मके स्वरूपपर दृष्टि दो, और उससे किस प्रयोजनकी सिद्धि होगी तीन—इन तीनोंका निश्चय करके मनुष्यको विवेकपूर्वक कर्म करना चाहिए।

अब प्रयोजनकी सिद्धिमें सावधान रहनेकी बात क्या है, इसपर विचार करें। सावधानी इस बातकी चाहिए कि इससे हमारे अभिमानकी क्या रूपरेखा बनती है। क्योंकि प्रत्येक कर्म अपनेको कर्ता बनाता है। और वह कर्ता बननेपर अपनी स्थितिके अनुसार फल देता है। यदि आपने अच्छा काम किया है और सोचते हैं आपने बहुत अच्छा काम किया तो आपके सोचनेका यह ढंग ठीक नहीं। अपितु इसको सोचनेका ढंग यह है कि आपने जो अच्छा काम किया उसकी दुनियाको कितनी अधिक आवश्यकता थी। जहाँ दूधके समुद्रकी आवश्यकता है वहाँ हमने दुनियाको पीनेके लिए जो दूध दिया वह तो एक गिलास भी नहीं। अपनी सेवा पूरी नहीं बनी, उसमें कमी रह गयी। इस प्रकार आप सोचेंगे पूरी नहीं बनी, उसमें कमी रह गयी। इस प्रकार आप सोचेंगे तब तो अभिमानकी उत्पत्ति नहीं होगी। किन्तु यदि आप अपनी सेवाको अधिकाधिक बढ़ा-चढ़ाकर देखेंगे तो आपकी ओर अभिमानका आगमन होगा और वह आपको अशुभकी ओर उन्मुख करके आपसे यह चिन्तन करायेगा कि वाह, हमने बड़ा भारी काम किया, कुछ और कर सकते तो अच्छा रहता। अच्छे काममें सबसे बड़ा डर यही रहता है कि कर्ताकी ओर अभिमानका पदार्पण न हो जाये। इसलिए कर्म करनेमें हमारी सेवा अधिक है, ऐसा नहीं समझकर हमारी सेवा कम-से-कम है—यह समझना चाहिए। अभिमान आनेसे क्या होता है, यह हम कई बार आपको बता चुके हैं। अभिमानका भूत सवार होने पर मनुष्य अपने आपको बड़ा और दूसरोंको छोटा समझने लगता है। वह वास्तवमें दूसरेको नहीं, स्वयं ईश्वरको और ईश्वरके नाते अपने आपको ही छोटा समझता है। जिसको छोटा समझा जाता है, वह छोटा नहीं होता, जो छोटा समझता है, वह छोटा होता है। ऐसा क्यों? इसलिए कि अन्त:करण तो वृत्तिरूप ही है, मन ही तो अन्त:करणका स्वरूप है। जब हमारा मन छोटा आकार धारण करता है और छोटे आकारको देखता है तो स्वयं छोटा हो जाता है और जब बड़ी वस्तुको देखता है तो बड़ा हो जाता है। हीनताका भाव आनेपर ही हम दूसरोंको छोटा देखते हैं। जबतक अपनेमें हीनताका भाव नहीं, तबतक हम दूसरे को छोटा देख ही नहीं सकते।

यह बात इसलिए सुनायी कि बुद्धिका कर्ममें रहना आवश्यक हैं। बुद्धिसे रहित, विवेकसे रहित जो कर्म है, वह दूसरोंके लिए हानिकारक होगा, अपने लिए हानिकारक होगा और भगवान्‌की प्रसन्नताका, ईश्वरके प्रसादका साधन नहीं बनेगा। प्रश्न उठता है हम यह कैसे जानें कि हमारे द्वारा जो कुछ होता है, वह विश्व प्रपञ्चके लिए किस प्रकार लाभ अथवा हानिका कारण होता है। प्रपञ्च शब्दका अर्थ संस्कृतमें विचार होता है, बखेड़ा होता है 'पचि विस्तारे' धातुसे प्रपञ्च शब्द बनता है। सिंहके लिए जो पञ्चास्य, पञ्चानन शब्दका प्रयोग होता है, उसका अर्थ यह नहीं कि सिंहके पाँच मुँह है। बल्कि यह अर्थ होता है कि उसका मुँह बहुत बड़ा है। विस्तृत मुखको पञ्चानन बोलते हैं। अस्तु, विश्वप्रपञ्चका बड़ा भारी विस्तार है। इसमें हम कब कहाँ किसको हानि पहुँचा रहे हैं और कब कहाँ किसको लाभ पहुँचा रहे हैं, यह समझ पाना तो वास्तवमें साधारण व्यक्तिके लिए कठिन है, असम्भव-प्राय है। दुनियामें एक-एक व्यक्ति या समूहसे पूछ-पूछकर भलाई-बुराईका ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता है और उसकी सलाहके अनुसार कहाँतक पूछा काम किया जा सकता। तब लाभ-हानि जाननेकी कसौटी क्या है? कसौटी अपने पास ही है और वह है अपने अन्त:करणका प्रसाद। उसीसे हम अपने अच्छे, बुरे कर्मोंकी परख कर सकते हैं।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥ (गी०2.67)

प्रज्ञाका नाश कब होता है? जब आगे-आगे चलते हैं इन्द्रियगण और पीछे-पीछे चलते हैं हम। राम-राम! हम अपने जीवनमें ऐसे दुष्टोंको आगे करके चलते हैं, जिनका तुष्टीकरण कभी शक्य नहीं, सम्भव नहीं। हमने बाल्यावस्थामें देखा था, एक सज्जन हमारे पितामहके पास आते थे। उनको पाँच रूपये दे दें तब भी दुःखी होते थे और रोते-चिल्लाते थे कि दस क्यों नहीं दिये। कभी दस रूपये दे दें तब भी रोते कि बीस क्यों नहीं दिये। कभी सन्तुष्ट नहीं होते थे। तो जो शिकायती राम हैं, हर बातमें शिकायत-ही-शिकायत होती है जिनको, वे कभी सुखी नहीं हो सकते। ईश्वरने हमको क्या-क्या नहीं दिया, इसकी लिस्ट हर समय शिकायती रामोंके पास रहती है और वे इस बातपर रोते रहते हैं कि हमको धन नहीं मिला, मकान नहीं मिला, बेटा नहीं मिला, अच्छी पत्नी नहीं मिली, स्वस्थ शरीर नहीं मिला आदि आदि। वे यह नहीं देखते कि ईश्वरने इतनी बढ़िया आँख दी, नाक दी, जीभ दी, दिल दिया, दिमाग दिया। हमारे तुलसीदासजी कहते हैं—

दियो सुकुल जन्म शरीर सुन्दर देत जो फल चारि को।

अतः भगवान्ने जो दिया है, उसको देखो। शिकायती रामकी तरह ईश्वरके काममें खुचर मत निकलो। यह खुचर शब्द हमारे गाँवका है। यहाँ क्या बोलते हैं, हमको मालूम नहीं, अर्थ है दोष दृष्टि रखना, अथवा दोष निकालना। जैसे चूहा किसी भी चीजको काट देता है वैसे ईश्वरकी करतूतमें, ईश्वरकी क्रियामें काट-छाँट करना या गलती निकालना ठीक नहीं। ऐसा करते रहनेसे आपको कभी सन्तोष नहीं होगा। ये इन्द्रियाँ कभी सन्तुष्ट नहीं होती। इनको संसारका चाहे जितना भी भोग दे दो, ये कभी सन्तोष करनेवाली नहीं। एक वस्तु मिलेगी तो उसे तिजोरीमें रख लेंगे और फिर दूसरीपर नजर डालेंगे। इसी प्रकार दूसरी मिल जायगी, तो तीसरीपर और तीसरी मिलेगी तो चौथीपर नजर जायगी। इसीलिए कहते हैं कि यदि संसारके सम्पूर्ण विषय किसी एकको दे दिये जायँ तो भी वह सन्तुष्ट नहीं होगा।

यत् पृथिव्यां ब्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
नालमेकस्य तृप्त्यर्थमिति मत्वा शमं व्रजेत्॥

हमारे ये इन्द्रियगण जीवन-निर्वाहके लिए कर्त्तव्य कर्म सम्पन्न करनेके लिए प्राप्त हुए हैं; वासनाओंके तुष्टीकरणके लिए नहीं। इनको आगे-आगे करके इनके पीछे-पीछे मन चला तो मनुष्य भोगोंमें फँसता जायेगा। इसको ऐसे समझिये कि कोई एक व्यक्ति शहरमें गया और वहाँ उसने बहुत बढ़िया-बढ़िया चीजें देखी। आँखोंसे चीजें देखीं, कानोंसे संगीत सुने, नाकसे सुगन्ध सूँघा और जीभसे सुस्वादु वस्तु चख ली। अब उसके मनने कहा कि ये सब वस्तुएँ हमारे घरमें भी होती तो कितना अच्छा होता। मन यही चाहता है कि हम इन्द्रियोंकी तृप्तिके लिए अपने घरमें अच्छी-अच्छी चीजोंका बाजार बना लें। अरे भाई मनचाही चीजोंका बाजार क्यों बसाना चाहते हो? जरूरत है तब तो अमुक वस्तु ले आओ, अन्यथा बिना जरूरत तुम्हारी आँख, कान,

नाक और जीभने तुम्हें संग्रह करनेकी जो सलाह दी है, वह ठीक नहीं। जानते हो इसका नतीजा क्या होगा? यही होगा कि तुम्हारे इन्द्रिय तुम्हारी प्रज्ञाका हरण कर लेंगे—

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥

इसलिए अपनी प्रज्ञाको नष्ट होनेसे बचाओ। 'रक्षत रक्षत कोशानामपि कोशं हृदयम्'। अपना दिल खजानोंका खजाना है। इसकी रक्षा करनेपर ही सब कुछ सुरक्षित रहेगा—'यस्मिन् सुरक्षिते सर्वं सुरक्षितं स्यात्।' सबकी भलाईके लिए काम करनेका उपाय अपने दिलको ठीक करना है। उसके बाद सारी दुनियाके लिए काम ठीक हो जाता है। मशीन ठीक होनेपर उसके काम अपने आप ठीक होते रहते हैं।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥ (गी०2.64)
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥ 2.65

अन्तःकरणमें राग-द्वेष नहीं होना चाहिए। इस संसारमें जैसे भाई-भतीजावादी होते हैं वैसे ही राग-द्वेष होता है। जहाँ राग होता है वहाँ पक्षपात आ जाता है। इसकी कोई सीमा नहीं होती और उत्तरोत्तर उसका विस्तार हो जाता है। महात्मा गांधीने 'ब्रह्मचर्य' नामक पुस्तकमें इस बातको बहुत बढ़िया स्पष्ट किया है। जहाँ यह भाव आ जायेगा कि हम पहले भोजन कर लें, दूसरे बादमें करें वहाँ मोह और पक्षपात आ जायेगा। इसलिए हम जो भी काम करें उसमें मोह न हो, पक्षपात न हो। इसी प्रकार विरोध न हो, जलन न हो। इसका तात्पर्य यह नहीं कि आप संसारकी वस्तुओंको बिल्कुल छोड़ दें। जीवन-निर्वाहके लिए उनका उपभोग करें और अवश्य करें। किन्तु भोग करनेमें भी इन्द्रियाँ अपने वशमें हों। हम उनके वशमें न हो। मालिक जब नौकरोंके वशमें हो जाता है तब नौकर लोग उससे अन्याय ही कराते हैं। इसलिए मालिकको मालिककी जगहपर रहना चाहिए। हम मशीनके हाथमें न हों, मशीन हमारे हाथमें रहनी चाहिए। अगर हम मशीनके हाथमें खेलेंगे तो वह हमें कहाँ ले जाकर पटकेगी, इसका कुछ पता नहीं। हमारा मन आज्ञाकारी होना चाहिए। हम कहें कि चलो तो चले, कहें कि कि रुको तो रुक जाये। जिस प्रकार अनर्थसे बचनेके लिए मोटरमें ब्रेक होना अनिवार्य है, उसी प्रकार हमारे अन्दर जो वारण अथवा वारक शक्ति है उस पर हमारा नियन्त्रण आवश्यक है। हम जब चाहें हाथ बन्द कर लें और जब चाहें मुट्ठी खोल दें। हमें विधेयात्मा होना चाहिए। विधेयात्मा व्यक्ति ही प्रसन्न रहेगा और उसे सम्प्रसादकी प्राप्ति होगी—'आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।' तो ईश्वरकी सेवा कौन कर रहा है? जो प्रसादपूर्ण निर्मल अन्तःकरणसे कर्म कर रहा है, वह ईश्वरकी सेवा कर रहा है, वही विश्वकी सेवा कर रहा है, वही जीवोंको सेवा कर रहा है। हम एक-एक जीवसे नहीं पूछ सकते कि तुम्हारी सेवा हुई कि नहीं? जगत्के एक-एक पदार्थ, एक-एक पेड़, एक-एक पौधेको देखकर समझ नहीं सकते कि ईश्वर कैसे प्रसन्न होता है, कैसे नहीं। इसका हम न तो प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं और न अपरोक्षानुभव कर सकते हैं। इसका अनुभव तो अपने अन्तःकरणके प्रसादसे ही हो सकता

है। किसीने एक महात्मासे पूछा कि 'महाराज! ईश्वर हमारे ऊपर प्रसन्न है कि नहीं, यह हम कैसे जानें?' उन्होंने कहा यदि तुम अपनी नजरमें अपने कामको नापसन्द करते हो तो समझ लो कि ईश्वर भी नापसन्द कर रहा है। ईश्वरने न तो अलग अपनी कुटिया बनवायी है और न अपनी नजर अलग रखी है। सम्पूर्ण जीवोंका अन्त:करण ही ईश्वरका अन्त:करण है और सबकी नजर ही ईश्वरकी नजर है। अगर तुम पाप कर रहे हो और अपनेको पतित समझते हो तो ईश्वरकी दृष्टिसे तो पापी और पतित हो ही।

इसलिए कर्ममें विवेककी आवश्यकता है। जब हम यह मान लेते हैं कि कर्मके साथ विवेक रहता है तो जहाँ विवेक कर्ममें मिला, वहाँ उसका नाम कर्मयोग हो गया। कर्म बुद्धिसे अनुगत ही होना चाहिए। कर्मयोग वह है, जिसमें कर्म भी है और बुद्धि भी। बुद्धिपूर्वक जो कर्म किया जाता है वही कर्मयोग है। एक बात और देखो, हमलोगोंके मनमें ऐसा होता है कि यह चीज बढ़िया है तो हम इसे क्यों न खायें। यहाँ हम केवल खानेकी वस्तुको ही दृष्टान्तके रूपमें लेते हैं। जब हमारे मनमें यह आता है कि यह पदार्थ स्वास्थ्यके लिए हितकारी है और गुणोंमें भी बहुत श्रेष्ठ है इसलिए हम उसको क्यों न खायें तो इसकी कोई हद नहीं होती। जब हम कपड़ा बढ़िया देखते हैं तो इसको भी क्यों न पहननेकी अभिलाषा हो जाती है। इसी प्रकार आगे बढ़ते-बढते कोई लड़की बढ़िया देखकर उससे ब्याह रचानेका भी मन हो सकता है। परन्तु क्या यह व्यक्ति और समाज के लिए हितकर है? इस संसारमें जो कुछ भी बढ़िया-बढ़िया है, वह सब तुमको ही मिले, इसका कोई ठेका है?

तो शास्त्रोंमें जहाँ-तहाँ, जो-जो निषेध है, आप उसपर ध्यान दें। यदि आप निषेधकी परवाह न करें और यह निश्चय कर लें कि संसारमें जो कुछ बढ़िया-बढ़िया है वह आपका ही भोग्य है तो आप दुनियामें किसी दूसरेको जिन्दा नहीं रहने देंगे। बढ़िया-बढ़िया पदार्थ देखकर उसको लेनेकी, खानेकी, भोगनेकी प्रवृत्ति मनमें स्वभावत: उदय होती है और उसीको रोकनेके लिए निषेध होता है। केवल निकृष्ट और हानिकारक पदार्थोंको ही रोकनेके लिए निषेध नहीं होता। उत्तम-उत्तम लाभदायक वस्तुओंको रोकनेके लिए भी निषेध होता है। मनुष्यका मन जिसको सुखकारी समझता है, उसको संग्रह करना चाहता है। हमारे वृन्दावनके आश्रममें एक कदम्बका वृक्ष है। उसके पत्तोंमें दोने लगते हैं ऐसा दोनो कि मोड़ना नहीं पड़ता और उसमें मक्खन या कुछ भी रखकर खाया जा सकता है। जब कोई नया व्यक्ति आता है और उसको दिखाया जाता है कि वह देखो दोना लगा हुआ है तब वह केवल देखकर प्रसन्न नहीं होता, यहीं चाहता है कि हम उसको तोड़कर घर ले जायँ और लोगोंको दिखावें कि यह कैसा बढ़िया दोना है। तो मनुष्यको जो प्रवृत्ति है, वह उत्तमका नाश करनेवाली है। इसलिए जब शास्त्र किसी वस्तुको खानेसे मना करे तब यह मत सोचो कि जब डाक्टर या वैद्य कहते हैं कि इसमें बहुत गुण हैं तब हमको यह खाना ही चाहिए। शास्त्रके, धर्मके जो आदेश होते हैं, वे वस्तुके गुणको देखकर नहीं होते, इस दृष्टिसे होते हैं कि उनका मन पर क्या प्रभाव पड़ेगा। आजकलके विचारोंकी जो प्रणाली है, वह पुराने विचारोंको भूल गयी है। इसलिए यह सब सुनाना पड़ता है। हमारे शास्त्रोंकी प्रणाली है कि आपका मन आपके हाथसे छूट न जाये। मनकी बागडोर आपके हाथमें है तो वह अच्छे-से-अच्छे कामको भी रोककर आपको सोचनेका अवसर देता है। वृन्दावनमें एक

सन्त थे, वे अपने भक्तोंको कोई ग्रन्थ पढ़नेको देते थे तो कहीं-कहीं उसके दो-दो, तीन-तीन पन्नोंमें आलपीन लगा देते थे। उनको चिपका देते थे और कह देते थे कि देखो, ये पन्ने मत पढ़ना। यद्यपि उन पृष्ठोंमें कोई हानिकारक बात नहीं होती थी, तथापि वे यह देखना चाहते थे कि उनका वह शिष्य उनकी आज्ञाको मानता है या नहीं। आज्ञा पालन करनेका माद्दा उसके अन्दर है कि नहीं? यदि कोई शिष्य उनके आदेशका उल्लङ्घन करके उन पृष्ठोंको पढ़ लेता तो वह बात जाहिर हो जाती और फिर वह सन्त उसको समझाते कि मनपर काबू न करनेसे क्या हानि होती है। कोई-कोई शिष्य ऐसे भी होते कि उन सन्तने जिन-जिन पृष्ठोंको पढ़नेसे मना किया होता, वे पृष्ठ यदि खुले होते तो भी उनको नहीं पढ़ते और इससे उन शिष्योंके मनोबल और अनुशासन-प्रियताका पता लगता। तो धर्म हमारे ही मनको हमारा आज्ञाकारी बनानेके लिए होता हैं। हमारे शास्त्र वस्तुओंके गुणोंके भाट नहीं कि उनकी तारीफपर तारीफ करके बतावें। धर्म और ऋषि हमारे मनको नियन्त्रित मर्यादित और अच्छा बनानेके उपाय बताते हैं और उसीको ध्यानमें रखकर विधि-निषेधका विधान करते हैं। विधिसे मतलब मीठा-मीठा खानेकी विधि और निषेधसे मतलब कड़वा-कड़वा छोड़नेसे नहीं। जिसमें मनुष्यकी स्वयं रुचि नहीं होती, उसमें रुचि जगाने और प्रवृत्ति करनेके लिए शास्त्रीय विधान होता है। जो काम आप स्वयं कर लेते हैं उसे करनेके लिए आदेश देनेकी आवश्यकता नहीं होती। आवश्यकता आदेश देनेकी वहाँ होती है, जहाँ आप आलस्य या प्रमाद करते हैं। यहाँ आपको शास्त्रकी थोड़ी बात इसलिए सुना रहे हैं कि यह पीढ़ी-दर-पीढ़ीसे हमारे संस्कारमें चली आ रही है। हम आपको प्रतिज्ञापूर्वक यह बता सकते हैं कि सनातन धर्मकी प्रत्येक क्रियामें क्या युक्ति है। क्योंकि हमारे पिता, हमारे दादा, हमारे गुरू, हमारे परमगुरू, हमारे सन्त यही काम करते थे।

यदि शास्त्रमें सन्ध्या-वन्दनका विधान न होता तो कोई भी प्रातःसायं बड़ा-बूढ़ा या दस-बारह वर्षका बच्चा अपने आप आसन पर बैठकर ध्यान-प्राणायाम करता और मन्त्रोच्चारणके साथ अपने ऊपर जल छिड़कता? तो विधि **विधिरत्यन्तमप्राप्तौ** के अनुसार जो वस्तु स्वयं प्राप्त नहीं रहती, जिसके गुणका ज्ञान नहीं रहता, जिसको करनेमें हम अलसाते हैं, प्रमाद करते हैं, उसकी ओर शास्त्र हमें प्रवृत्त करता है, आज्ञा देता है। शास्त्रोंका लक्ष्य यही है कि हमारा मन जागे और जो हम आलस्य प्रमादवश करना नहीं चाहते वह करें। उधर शास्त्र यह भी चाहता है कि जिसको करनेके लिए हमारा मन दौड़ता है, वहाँ हम सावधान रहें, इसलिए वह हमारा निषेध भी करता है। मतलब यह है कि कहाँ हमको तेज चलना चाहिए और कहाँ रुकना चाहिए, इसका ज्ञान हमें होना चाहिए। हम जंगलमें चलते समय शेर-भालुओंमें बैठना उचित न समझकर जल्दी निकल चलते हैं। इसी प्रकार संसारकी लुभावनी ललचाऊ चीजोंमें हम फँस न जायँ इसका जो विवेक हैं, इसी को बुद्धियोग बोलते हैं, इसीको कर्मयोग बोलते हैं। हमारे वेदान्तमें ज्ञानको कर्मसे अलग करके देखनेकी प्रणालीका नाम 'अन्वय-व्यतिरेक' है। इसीको विधिमुख और निषेधमुख बोलते हैं, अनुगति बोलते हैं, अनुवृत्ति और व्यावृत्ति बोलते हैं। एक ज्ञान वह है जो कर्मके साथ मिल जाता है और एक ज्ञान वह है, जो कर्मसे अलग बैठा रहता है।

अब हम आपका ध्यान सम्पूर्ण विश्वके धर्मोंपर, धर्मग्रन्थोंपर, ज्ञानग्रन्थोंपर आकृष्ट कर यह पूछना

चाहते हैं कि किसीने वह ज्ञान स्वीकार किया है, जो स्वयंप्रकाश और कर्मके साथ सम्बन्ध नहीं रखता? बाइबिलमें भी, कुरानशरीफमें भी, जिन्दावस्तामें भी उसी ज्ञानका वर्णन है; जो कर्ममें उपयोगी होता है। हमारे पूर्वमीमांसाका भी यही सिद्धान्त है कि जो ज्ञान कर्मके लिए उपयोगी नहीं, वह निरर्थक है। इसलिए कर्ममें उसका उपयोग करना चाहिए। पण्डित लोग जानते हैं—

आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्।
विधिनात्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः॥

सम्पूर्ण वेद जो ज्ञान देते हैं, वे कर्म करनेके लिए देते हैं। इसलिए यदि किसी वेदमें कोई ऐसा मन्त्र मिले जो कर्ममें उपयोगी न प्रतीत हो तो वह निरर्थक है! उस मन्त्रमें भी किसी-न-किसी चीजकी तारीफ तो होगी ही। उसके द्वारा किसी देवताकी स्तुतिकी गयी होगी या यजमानकी अथवा किसी कर्मकी स्तुति करके कहा गया होगा कि यह काम करो। अतः उस मन्त्रका प्रयोग भी कर्मपरक ही है। तो जिन्होंने समूचे ज्ञानको कर्मका अंग बना लिया, उन्होंने उसकी अपौरुषेयताको भी समझा। ज्ञान ऐसा भी होता है, जो पुरुष-प्रयत्नसे उत्पन्न नहीं होता। जैसे सत् पुरुष-प्रयत्नसे उत्पन्न नहीं होता, वैसे ही चित् भी पुरुष-प्रयत्नसे उत्पन्न नहीं होता।

तो ज्ञान कर्ममें अनुगत भी रहता है और कर्मसे व्यतिरिक्त भी रहता है, जुदा भी रहता है। यदि केवल निःश्रेयस चाहते हो तो व्यतिरिक्त ज्ञानसे भी, शुद्ध ज्ञानसे भी नैष्कर्म्यकी प्राप्ति हो सकती है। परन्तु कर्मवाला ज्ञान उसमें मददगार होता है। ज्ञान तो कर्ममें रहता ही है, कर्म वह चीज है, जिसमें कर्म और ज्ञान दोनों हैं तथा संन्यास वह चीज है, जिसमें कर्मसे अलग किया हुआ ज्ञान, शुद्ध जाना हुआ ज्ञान रहता है। संन्यासका अर्थ है विषयका त्याग करके प्राप्त किया हुआ ज्ञान। संन्यास भी ज्ञान ही है और कर्मयोग अर्थात् वह ज्ञान जो कर्मसे मिला हुआ है। अतः आप विवेकपूर्वक अपने कर्त्तव्यका पालन करते चलो। अर्जुनके माध्यमसे भगवान् श्रीकृष्ण आपको ही उद्बोधित कर रहे हैं—

निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात् प्रमुच्यते।

वे कहते हैं, अर्जुन तुम्हें दो-दो हाथ मिले हैं काम करनेके लिए। इतने विशाल तुम्हारे बाहु और तुम अकर्मण्य, निकम्मा होना चाहते हो। तुम भीख माँगकर खाना चाहते हो। आओ आओ, निर्द्वन्द्व हो जाओ, अपने मनसे सब दुविधा और द्वेष छोड़ दो। पाप-पुण्यको अलग करो, सुख-दुःखको अलग करो और शान्ति अथवा विक्षेपका भी विचार छोड़ो। सर्दी-गर्मीका भी ख्याल छोड़ो—

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।

और, निर्द्वन्द्व होकर संसारके सब बन्धनोंसे मुक्त हो जाओ—

सुखं बन्धात् प्रमुच्यते।

●

****

प्रवचन : 4

जब यह प्रश्न उपस्थित हो कि कर्म करें अथवा कर्म त्याग, तब मनुष्यको विवेक द्वारा जो धर्मानुकूल जान पड़े, उसका पालन करना चाहिए। जब कर्म करना धर्म प्रतीत हो तभी कर्म करना चाहिए और जब कर्म-त्याग धर्मका रूप धारण कर ले तब कर्मत्याग करना चाहिए। अपने जीवनमें करना और छोड़ना दोनों चलते हैं। उसका पहला विवेक यह है कि जो कर्त्तव्य कर्म हैं, उन्हें करना चाहिए और त्यक्तव्य कर्म हैं, उनका त्याग करना चाहिए। करने और छोड़नेका अभ्यास प्रारम्भसे ही बना रहे तो अच्छा है। कोई कहे कि आओ विश्राम करें तो पहले श्रम कर लोगे तब न विश्राम करोगे। जो श्रम नहीं करेगा, उसको विश्राम भी नहीं मिलेगा। दिन भर लेटे रहें औरं रातको नींद लेना चाहें तो अच्छी नींद नहीं आवेगी। काम करके, परिश्रम करके सोनेपर ही नींद अच्छी आती है। इसलिए पहले कर्म हो, फिर कर्मत्याग हो तो ठीक रहता है। कोई कहे कि दान करना धर्म है और केवल इसी बातको पकड़कर बैठ जाये, कमाई न करे तो जिसके पास होगा नहीं वह दान कहाँसे करेगा? होगा तभी, जब वह परिश्रम-पूर्वक उपार्जन करेगा। दान करना उसीका धर्म होता है, जो पहले पैदा कर लेता है। 'दान करना धर्म है'—यह वाक्य ही इस बातको सूचित करता है कि उपार्जन करना पहला धर्म है। उपार्जन करेंगे तो जीविका चलेगी और जो अधिक होगा उसका दान करेंगे। जितनी ही अधिक बचत होगी उतना ही अधिक दान करेंगे। इसलिए जैसे दान करनेके पहले उपार्जन आवश्यक है, वैसे ही कर्म-त्यागके पूर्व कर्म करना अनिवार्य है। जिसके पास कर्मकी पूँजी नहीं, वह कर्मका त्याग अथवा कर्मका दान कहाँसे करेगा? दोनोंमें विवेककी आवश्यकता होती है। विचार छोड़कर कोई साधन नहीं होता। अभी हम लोग कह रहे थे कि इस वर्ष ईश्वर खूब वर्षा कर रहा है। तो, जिस प्रकार ईश्वर अपना काम कर रहा है, उसी प्रकार आओ हम लोग भी अपना काम करें।

यजतां पाण्डवः स्वर्ग वर्षत्विन्द्रस्तपत्विनः।
वयं हनाम द्विषतः सर्वः स्वार्थं समीहते॥

इसमें यही कहा गया है कि युधिष्ठिर जैसे धर्मात्मा यज्ञ करें, इन्द्र वर्षा करें, सूर्य धूप डालें, और हम लोग अपने कर्त्तव्यके पालनमें जुट जायें। क्योंकि सब लोग अपना-अपना काम करते हैं और अपने-अपने कर्त्तव्यको पूरा करते हैं तो इस धरतीपर स्वर्ग उतर आता है। कोई कहे कि कर्म-संन्यास और कर्मानुष्ठान—ये दोनों अलग-अलग हैं। तो यह अविवेककी, अज्ञानकी बात है। विद्वान लोग ऐसा कभी नहीं कह सकते। आपको यह बात मालूम होगी कि दुनियाकी कोई भी वस्तु तभी सफल होती है, जब उसका ज्ञान होता है। सृष्टिमें हमेशा ज्ञान प्रधान होता है, फलवृत्ति कोई वस्तु नहीं होती। यहाँतक कि ईश्वरकी प्राप्ति भी ज्ञानसे ही होती है। यदि आपके सामने राम, कृष्ण, शिव, विष्णु स्वयं आकर खड़े हो जायें परन्तु यदि आपको ज्ञान न हो तो उनका आना आपके लिए न आने सरीखा ही रहेगा। अतः आप जो कर्म करते हैं, वह आपका कर्त्तव्य है कि नहीं—यह ज्ञान होना चाहिए। उसको आप ठीक कर रहे हैं कि नहीं—यह ज्ञान होना चाहिए। वह पूरा हो गया

****

कि नहीं—यह ज्ञान होना चाहिए और उसका यह फल मिला है, उसमें यह लाभ हुआ है—यह भी ज्ञान होना चाहिए। संसारमें अगर ज्ञान न हो तो सब कुछ नहीं के बराबर हो जायेगा। इसलिए आप चाहे कर्म करें, चाहे कर्म छोड़ें; उसके फलके रूपमें आपको ज्ञान ही प्राप्त होगा। जो कर्म करता है, वह भी ज्ञानकी उपासना करता है और जो कर्म छोड़ता है, वह भी ज्ञानकी ही उपासना करता है। सर्वत्र ज्ञान-ही-ज्ञान है। कर्मत्याग भी ज्ञानकी एक रीति है, एक शैली है और कर्मानुष्ठान भी ज्ञानकी एक रीति है, एक शैली है।

एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्।

चाहे कोई कर्मानुष्ठान करें, चाहे कर्मसंन्यास करे, ठीक-ठीक करना चाहिए। एक सज्जन जंगलमें गये। उनके साथ दो-चार अन्य व्यक्ति भी थे। उन्होंने सबको अलग-अलग आज्ञा दी कि तुम लकड़ी इकट्ठी कर लो। तुम पकानेकी वस्तुएँ ले आओ। तुम बर्तन ठीक करो। तुम आग जलाओ और फिर एकसे यह कहा कि जब रसोई पक जाये तब तुम आग बुझाना मत भूलना। क्योंकि यह जंगल है। यहाँ यदि आग लग गयी तो वह वनमें फैल जायेगी और बहुत हानि पहुँचावेगी। इसलिए आग बुझाना परमावश्यक है। इस प्रकार उन्होंने सबको काम समझा दिया। अब लकड़ी आयी, राशन आया, बर्तन आये और रसोई बनानेकी तैयारी हो गयी। इतनेमें एकने कहा कि जब अन्तमें आग बुझानी ही है तो जलावें क्यों? इस प्रश्नका विवेकसे कोई सम्बन्ध नहीं। अरे भाई, यदि आग जलायी न जायेगी तो न रसोई पकेगी और न भोजन मिलेगा। इसलिए पहले आग जलाओ, रसोई पका लो, भोजन कर लो, उसके बाद सावधानीसे आग बुझा देना। यदि आप किसी कर्ममें उसके क्रमका ध्यान नहीं रखेंगे तो आपके प्रयोजनकी पूर्ति ही नहीं होगी। सबसे उत्तम काम वही है, जो इस समय आप विवेकपूर्वक अपना कर्त्तव्य समझकर कर रहे हैं। आप गीतामें पढ़ते हैं—'ब्रह्मकर्मसमाधिना'। तात्पर्य यह कि आप जो कर्म कर रहे हैं। वह साक्षात् परब्रह्म परमात्मा है। उसके प्रति निष्ठा होनेपर उसमें आपकी समाधि लग जायेगी। समाधि लगानेका मतलब है कि आप उसके लिए भोजन तक भूल जायेंगे। कर्ममें तन्मयता होनेपर ही वह सफल होता है। हमने एक व्यापारी सज्जनके सम्बन्धमें सुना है कि वे अपने व्यापारमें लग जानेपर अपना खाना-पीना सब कुछ भूल जाते थे। जब उनका सेवक उनके पास भोजन रखकर कहता कि भोजन कर लीजिये तब वे भोजन करते थे और कभी-कभी भोजन करनेके बाद पूछते थे कि अभी मैंने भोजन किया है या नहीं? एक दिन उनका सेवक उनको भोजन कराकर स्वयं भोजन कर रहा था तब उसे देखकर सेठजीको अपने भोजनकी याद आ गयी और उन्होंने उससे पूछा कि तुमने मुझे भोजन क्यों नहीं कराया? जब सेवकने उनको समझाया तब उनको अपने भोजनकी याद आयी। उन्होंने अपना सिर नीचा कर लिया और हिसाबमें लग गये। ऐसी तन्मयताकी स्थितिमें एक काम करें और दूसरेकी याद करें—यह बात नहीं चल सकती। इसलिए कर्मब्रह्ममें समाधि लगाकर कर्म करो और फिर जब कर्मत्याग करो तो उसे ऐसे भूल जाओ जैसे कभी कर्म किया ही न हो। क्योंकि दोनोंमें ज्ञान अनुस्यूत है। यदि आप ऐसा करेंगे तो जब रसोई बनावेंगे तो वह बड़ी स्वादिष्ट बनेगी, जब कपड़ा बनावेंगे तो वह बहुत बढ़िया बनेगा और जब भजन करने बैठेंगे तब भजन भी बहुत अच्छा होगा। आप यह अभ्यास डाल लीजिये कि हमारा ज्ञान और कर्म दोनों अलग-अलग न होने पावें, परस्पर मिले रहें। ज्ञान छोड़कर कर्म करोगे

तो जड़ता आ जायेगी और कर्म छोड़कर ज्ञान रखेंगे तो निकम्मापन आ जायेगा। अतः भगवान् कहते हैं कि— 'एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्।' आप कोई भी एक काम बिल्कुल ठीक ढंगसे कीजिये, आपको ज्ञान और कर्म दोनोंका फल मिल जायेगा। हम आपको फिरसे बताना चाहते हैं कि फल न द्रव्यात्मक होता है, न साधनात्मक होता है, वह हमेशा ज्ञानात्मक ही होता है। अमुक फल हमको मिल गया, यह जबतक बोध नहीं होगा तबतक समझिये कि फल मिला ही नहीं। वृत्ति जब फलाकार हो जाये और उसमें अपना अहं भी प्रतिबिम्बित हो जाये तब मानना चाहिए कि फल मिल गया। फल शब्दका संस्कृतमें अर्थ होता है वृत्तिमें प्रतिफलित। अस्तु, संसारी लोगोंको जो फल बहुत परिश्रम करनेके बाद मिलता है उसको हम बड़ी आसानीसे, अनायास प्राप्त कर लेते हैं। यह तो आपको मालूम ही है कि सुख और दुःख दोनों मनमें ही होते हैं। न हो तो न सुखकी अनुभूति होगी और न दुःखकी। बेटेके होनेकी खबर न मिलनेपर सुख नहीं होगा और किसीकी मौत होनेकी खबर न मिलनेपर दुःख नहीं होगा। इसलिए हम अपने मालूम पड़नेकी अवस्थाको ठीक रखें तो हमारा जीवन हमेशा सुखी रहेगा।

यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥ 5.5

हमारे कर्ममें ज्ञानकी, विवेककी, बुद्धिकी, विचारकी प्रधानता हो। आप अपने मनमें चाहे जब और चाहे जितनी देरतक यह भाव रख सकते हैं कि ईश्वर हमें मिला हुआ है, ईश्वर हमारे अन्तःकरणमें अन्तर्यामी है। उसीकी रोशनीमें सब कुछ दीख रहा है। इसीलिए ईश्वरको प्राप्तिको आसान माना गया है—

दिलके आइनेमें है तस्वीरे यार।
जब जरा गर्दन झुकाई देख ली॥

मनुष्योंको देखनेके लिए आपको आयास करना पड़ता है। किसको-किसको देखें, यहाँ कौन सेठजी हैं, कौन शास्त्रीजी हैं, कौन श्रीमतीजी हैं इसका ध्यान करना पड़ता है। नेत्रोंका अलग-अलग व्यापार करना पड़ता है—कभी इधर तो कभी उधर देखना पड़ता है। लेकिन रोशनी देखनी हो तो? वह सब ओरसे निकलकर सारे सभागृहको प्रकाशित करती दीखती है। जब आप प्रकाशमें अलग-अलग चीजोंको देखना चाहते हैं, तब अपनी आँख आपको चलानी पड़ती है। किन्तु केवल रोशनी देखनी हो तो अनायास दिखायी पड़ती है, उसके लिए आँखको न इधर ले जाना पड़ता है और न उधर ले जाना पड़ता है। इसी तरह आपके अन्तःकरणमें भीतरसे ही एक बड़ी रोशनी जगमगा रही है, एक महान् प्रकाश निकल रहा है।

तो चाहे बुद्धि हो अथवा बुद्धिपूर्वक कर्म हो महत्त्व हमेशा बुद्धिका ही रहेगा। यही एक ऐसी चीज है जिसका बुद्धि और कर्ममें, ज्ञान और कर्ममें, विवेक और कर्ममें, त्याग और कर्मानुष्ठानमें महत्त्व है। भगवान् आये, यह मालूम पड़ता है और भगवान् अन्तर्धान हो गये, यह भी मालूम पड़ता है। अतः यह मालूम पड़ना ही एक ऐसी वस्तु है जिसको पकड़ना पड़ता है—'यः पश्यति स पश्यति'—जो इसको देख लेता है, वही देखता है।

संन्यासस्तु महाबाहो दु:खमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति॥

श्रीकृष्ण कहते हैं कि अर्जुन, तुम यदि समझते हो कि हम कर्म नहीं करेंगे और हमें संन्यास मिल जायेगा तो यह तुम्हारी भूल है। अच्छा अब आप देखिये, ब्याह न हो तो तलाक किस बातका होगा? पहले ब्याह हो तब न तलाक होगा? तो कर्म विवाह है और संन्यास तलाक है। जिसने योग नहीं किया उसके लिए संन्यासकी प्राप्ति दु:खद ही है—'दु:खमाप्तुमयोगतः।' जब विधिपूर्वक कर्म होता है, तभी विधिपूर्वक संन्यास होता है। जब कानूनके अनुसार विवाह होगा तो कानूनके अनुसार तलाक होगा और जब शास्त्रीय संस्कारके अनुसार विवाह होगा तो शास्त्रीय संस्कारके अनुसार ही उसका त्याग होगा। यदि मनुष्य पहले विधिवत् कर्मका अनुष्ठान कर ले तो उसमें ऐसी योग्यता आ सकती है कि वह जब चाहे कर्मानुष्ठानको छोड़ दे। हाथ वहीं-तक ले जाना चाहिए जहाँसे हम उसको खींच सकें। हमें अपनेको ऐसी जगह कभी नहीं फँसाना चाहिए, जिसमें-से हम निकल न सकें। ऐसे कुँएमें नहीं उतरना चाहिए जिसमें-से हम बाहर न आ सकें। ऐसे छेदमें अंगुली नहीं डालनी चाहिए जहाँसे वह निकल न सकें। बन्दरोंके सम्बन्धमें ऐसी चर्चा चलती है हि मदारी लोग जब उन्हें पकड़ना चाहते हैं तो छोटे मुँहके वर्तनमें थोड़ा चना रखकर उसको मिट्टीमें वहाँतक गाड़ देते हैं जहाँतक उसका मुँह खुला रह जाये। बन्दर आकर उसमें हाथ डालता है और जब मुट्ठीमें चना भरकर निकालने लगता है तब हाथ निकलता नहीं। वह मुट्ठी खोलकर चना छोड़ता नहीं और उसका हाथ फँसा-का-फँसा रह जाता है। इतनेमें मदारी आकर उसे पकड़ लेते हैं। इसी प्रकार जब मनुष्य स्वयंको ऐसी स्थितिमें पहुँचा देता है जिसे छोड़ना उसके सामर्थ्यसे बाहरकी बात हो, तब वह बन्धनमें पड़ जाता है। ऐसे ही लोगोंके सम्बन्धमें किसी कविने यह कहा है—

काजर की कोठरी में कैसे हू सयानो जाय।
एक रेख काजरकी लागि है पै लागि है॥

तो हमें सावधान रहना चाहिए। असलमें सावधान रहना ही सबसे बड़ी साधना है। सतत सावधानीका नाम ही साधना है। पाँव रखें पर फिसले नहीं। बोलें पर जबानमें कड़वापन न आ जाये, गलत न बोल जायें। देखें पर आँख टेढ़ी न हो, उसमें रूक्षता न आवे। हाथसे छूएँ, पर जिसे छूएँ उसको चोट न लगे, कठोरता न आवे। यह सब व्यवहारकी सावधानी है, इसीसे कर्ममें कुशलता आती है—'योगः कर्मसु कौशलं।' यह कुशलता मनुष्यमें आनी चाहिए। जब कर्ममें कौशल आता है तब वह योग बन जाता है। कर्ममें कुशलता आनेपर मनुष्यको पछताना नहीं पड़ता कि हाय-हाय मैंने यह नहीं किया, ऐसा नहीं किया। भगवान् श्रीकृष्णने कर्म करनेकी रीति बतायी है—

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥ 5.6

कर्ममें कोई दोष नहीं, परन्तु 'कीजै तो तब जब करिबेकी रीति जानो।' काम करनेके पहले उसके

करनेकी रीति सीख लेनी चाहिए। उसे सीखनेकी पहली शर्त यह है कि अकेला काम न हो, उसके साथ अक्ल भी हो, प्रेरणा भी हो, योजना भी हो। कर्मका निर्वाह है—

यत्रः योगेश्वरः कृष्णः यत्र पार्थो धनुर्धरः।

तौल लो अपनेको, अपने कामको कि आप जो कुछ करने जा रहे हो, उसमें ईश्वरकी प्रेरणा है कि वासनाकी। यदि ईश्वरकी प्रेरणासे आप काम कर रहे हो तो संजयके शब्दोंमें—

तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम।

आपको श्री मिलेगी, विजय मिलेगी, विभूति मिलेगी और आप नीतिका ठीक-ठीक पालन कर सकेंगे। आपको बुद्धि भी मिलेगी। ईश्वरकी बुद्धि आपके भीतरसे निकलती आयेगी और अपनी सम्मति प्रदान करती हुई आपके कामको बताती जायेगी। तो पहली शर्त यह है कि आप सोच-समझकर काम करें। दूसरी शर्त काम करनेकी यह है कि आपका दिल साफ हो। आप विशुद्धात्मा हों। इसका अर्थ यह है कि आप किसीको हानि पहुँचानेके लिए काम न करें, केवल अपने कर्त्तव्यका पालन करें। जो लोग दूसरोंको हानि पहुँचानेके लिए काम करते हैं, उनको काम करनेका तरीका मालूम नहीं है। वे दूसरेको हानि नहीं पहुँचाते, अपने आपको ही हानि पहुँचाते हैं। क्योंकि दिल तो उन्हींका गन्दा होता है। एक सज्जनने गुस्सेमें आकर किसीको मारनेके लिए लोहेका जलता हुआ गोला उठा लिया। जिसको मारना चाहा उसको नहीं लगा और उन्हींका हाथ जल गया। यदि आप किसीका अनिष्ट करनेके लिए, किसीको नुकसान पहुँचानेके लिए, किसीको नीचा दिखानेके लिए काम करते हैं तो आप विशुद्धात्मा नहीं। आप विशुद्धात्मा तभी हो सकते हैं, जब आपका मन ईमानदार हो, साफ हो। आपमें कर्त्तव्य-पालनकी दृष्टि हो और दूसरेको हानि पहुँचानेकी भावना न हो।

वस्तुतः जब मनुष्यमें स्वार्थ प्रबल हो जाता है तब उसकी अन्तरात्मा मलिन हो जाती है, उसमें कल्मष आ जाता है। अतः आप ध्यान रखें कि दूसरेको पराजित करनेके लिए हम बोलें, यदि आप हार-जीतका ख्याल रखकर बातचीत करते हैं तो आपकी आत्मा, आपका मन शुद्ध नहीं। बात-पर-बात भिड़ानेकी कोई जरूरत नहीं। यदि सामने वालेने सच्ची बात ईमानदारीकी बात कही है तो उसके विरोधकी कोई आवश्यकता नहीं। यदि उसकी बात युक्तियुक्त है तो उसे मान लीजिये। 'बालादपि सुभाषितम् ग्राह्यम्'। बच्चा भी अच्छी बात बोले तो अपना अहङ्कार छोड़कर उसे स्वीकार कर लेना चाहिए। जिस तरह जुबान-से-जुबान लड़ाना ठीक नहीं उसी तरह काम-से-काम लड़ाना अथवा भोग-से-भोग लड़ाना भी ठीक नहीं है।

अब विजितात्माका अर्थ लें। विजितात्मा उसे कहते हैं जो अपनेपर नियन्त्रण रख सके। हमलोग बचपनमें, जवानीमें बहुत चलते थे, बहुत दौड़ते थे। एक-एक दिनमें पच्चीस मीलतक हम चले हैं। परन्तु जहाँ रुकना होता , वहाँ रुक जाते थे। आप भी खूब चलिये परन्तु जहाँ ठहरना हो, ठहर जाइये। इसी प्रकार आप हाथसे वही कीजिये, जो करना उचित हो। आँखसे वही देखिये, जिसे देखना उचित हो। वही बोलिए जो बोलना उचित है। ऐसा न हो कि आपके हाथ-पाँव, जीभ, नाक अथवा अन्य इन्द्रिय् आपके वशमें न हों विजितात्माका

जोवन उसके अधीन होता है, स्वाधीन, होता है, परवश नहीं होता। मनुजी महाराज सुख-दुःखके लक्षण बताते हुए कहते हैं—

सर्वं परवशं दुःखं सर्वं आत्मवशं सुखम्।
एतद् विद्यात् समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः॥

लक्षण अर्थात् लक्ष्य करानेकी प्रक्रिया। लक्षण, लखन, लखाना—ये सब एक ही हैं। लक्ष्मण क्या करते हैं? रामको लखाते हैं, उनके लक्ष्य हैं। लक्ष्मी क्या करती हैं? नारायणको लखाती हैं, उनकी लक्ष्य हैं। 'लक्ष्यते अनेन'--जिससे हम लक्ष्यको पहचान सकें, उसका नाम लक्षण।

तो, सुख-दुःखको पहचानेकी रीति क्या है? यही है कि यदि आप स्वाधीन होते जा रहे हैं तो सुखकी ओर और पराधीन होते जा रहे हैं तो दुःखकी ओर बढ़ रहे हैं। लखनऊके एक नवाबके सम्बन्धमें यह कहा जाता है कि उसके पास जूता पहनानेवाला नौकर न होनेके कारण, दरवाजा खुला होने नाव तैयार होने तथा बहुत-से मददगार होनेपर भी उठकर भाग नहीं सका, पकड़ा गया और कैद हो गया। इस प्रकारकी पराधीनताके और भी उनके उदाहरण हैं। हमारे पास एक सज्जन आये थे। लगभग पच्चीस वर्षकी उम्र थी, उनकी। घरसे पहले-पहले निकले थे। उनको स्वयं धोती पहनना नहीं आता था, दूसरा कोई धोती पहनाता था तब पहनते थे। वे अपने हाथसे खाते भी नहीं थे। मैंने पूछा तब बोले कि घरमें तो मेरी माँ अपने हाथसे खिलाती थी। अब बताओ पच्चीस वर्षकी उम्र और अपने हाथसे कपड़ा पहनना न आवे, खाना न आवे तो वे नंगे या भूखे रहेंगे कि नहीं? तो भाई अपना काम स्वयं करना चाहिए और उसे नौकर या मददगार नहीं छोड़ना चाहिए। हमने देखा है, एक मालिकने जब यह देखा कि उसको सेवक कोई काम ठीक नहीं कर रहा, तब उन्होंने वह काम अपने हाथसे करके उसको समझा दिया कि यह काम ऐसे किया जाता है। इसी तरह एक सासने अपनी बहूको स्वयं रोटी बेलकर, सेंककर यह समझायी कि वह ऐसे पकायी जाती है। कहनेका मतलब यह कि मनुष्य को स्वयं में इतना निपुण होना चाहिए कि वह पराधीन न रहे। जब हम एक व्यक्ति या अनेक व्यक्तियोंपर निर्भर करने लगते हैं और हमारी स्वाधीनता मिट जाती है तब हम दुःखको निमन्त्रण दे देते हैं। पराधीनता केवल सेवकों या सहायकोंके बिना काम न चलनेकी ही नहीं होती, बल्कि वस्तुओंके अभाव अथवा व्यवधानकी भी होती है। हमने एक आदमी देखा था, अफीम खाये बिना उसका काम नहीं चलता था। उसको जिस दिन अफीम खानेको न मिले, वह व्यग्र होकर धरतीपर लोटता था। एक आदमी हमने ऐसा भी देखा जो दूध न पीये तो उसको टट्टी नहीं आती थी। अतः पराधीनता न तो वस्तुकी चाहिए और न व्यक्तिकी। इसी प्रकार येन-केन-प्रकारेण भोग प्राप्त करनेकी पराधीनता भी निषिद्ध है। आपको एक शास्त्रकी बात सुनावें। वैशेषिक दर्शनकी उपस्कार-वृत्तिमें यह आता है। कि यदि किसीको प्रतिदिन सूर्य-नमस्कार करनेका अभ्यास हो जाये, आदत पड़ जाये तो जिस दिन वह सूर्य-नमस्कार नहीं कर सकेगा, उस दिन उसको बहुत तकलीफ होगी। यह दुःख कहाँसे आया? अपने जीवनमें एक अभ्यास डाल लेनेसे आया। दुःख विषय-भोगसे आता है, मनोभावकी पूर्ति न होनेसे आता है और अपने अभिमानपर चोट पड़नेसे भी आता है। हमने मान लिया कि हम बहुत बड़े हैं और किसीने हमारा अभिवादन नहीं किया तो दुःख आ गया।

हमको एक बात याद है कि किस प्रकार हमारे सामने एक दु:खका प्रसंग आ गया और उसी समय एक महात्माके सावधान करनेपर हम उससे बच गये। हमारे पिताजीके शिष्य थे। रास्तेमें चलते-चलते दिख गये। हम अपेक्षा रखते थे कि जब वे हमारे पिताजीके शिष्य हैं तो हमको प्रणाम करेंगे। लेकिन उन्होंने प्रणाम नहीं किया, तो मनमें दु:ख हुआ कि ये हमको प्रणाम क्यों नहीं करते ये तो हमारा अपमान करते हैं। मैंने महात्माजीसे घटना सुनायी और कहा कि मुझे तो उसके प्रणाम न करनेसे दु:ख हुआ है। इस पर वे महात्मा बोले कि उसके प्रणाम न करनेसे तुमको दु:ख नहीं हुआ। तुम्हारे मनमें जो प्रणाम करवानेकी वासना थी उसकी पूर्ति न होनेसे दु:ख हुआ। वास्तवमें दु:ख मनमें होता है। उसका कारण बाहर नहीं होता। वह हमारी धारणाके अनुसार बाहरके किसी व्यक्ति, वस्तु अथवा भोगसे नहीं मिलता बल्कि उसके सम्बन्धमें हमारी जो उल्टी-सीधी वासना होती है उसीसे हमें दु:ख मिलता है। दु:ख विषय-भोगसे आता है, हम बीमार पड़ जायेंगे और अमुक विषय हमें नहीं मिलेगा—इस मनोराज्यसे आता है। हम सोचते हैं कि ऐसा हो, वैसा ही। हमें पूरा गणित आता नहीं, कम्प्यूटरमें पूरी संख्या डाली नहीं हमारे मनने और हमने यों ही सोच लिया कि इसका ऐसा नतीजा निकलेगा। परन्तु जब नहीं निकलता तब रोना पड़ता है। अभिमानपर चोट पड़ता है। जीवनमें कोई आदत डाल ली जाये तो उस आदतके कारण भी मनुष्यको बहुत दु:ख भोगना पड़ता है। अत: सावधान! हमें विषय-भोगकी आदत न पड़े और हम अनापशनाप मनोराज्य नहीं करें। अपने अभिमानको बढ़ावें नहीं और जीवनमें ऐसी आदत न डाल लें जो बादमें दु:ख दे। हमारे बाबा जवानीमें प्रतिदिन दो-दो हजार दण्ड-बैठक लगाते थे। अखाड़ेमें कुश्ती भी लड़ते थे। जब सत्तर वर्षके बूढ़े हो गये, तब उनके शरीरके जोड़ोमें, एक-एक गाँठमें दर्द होने लगा। क्योंकि अब वे उतना व्यायाम नहीं कर पाते थे दर्द होनेपर हम लोगोंको; ओ बचवा! कहकर बुलाते और बोलते कि 'मैं लेट जाता हूँ जरा मेरी पीठपर चढ़कर जोर-जोरसे लात मारो।' हमें गिरनेका डर लगता तो हमारे हाथमें डण्डा दे देते। हम डण्डा पकड़ते और उनके कन्धों, पीठ और पावोंपर जोर-जोरसे लतियाते। ऐसा करवाये बिना उनसे नहीं रहा जाता था। यह उनकी आदत हो गयी थी और इसके बिना उन्हें चैन नहीं मिलती थी। हमें अपने आपको विजितात्मा बनाना चाहिए। जिसने अपने आपको काबूमें रखा वह संसारमें कर्म करनेमें सफल होगा और सुखका अधिकारी होगा। किन्तु जो स्वयं अपने नियन्त्रणसे बाहर है, जिसकी आत्मा विजित नहीं, जिसके इन्द्रियगण और मन-बुद्धि आदि नियन्त्रणसे बाहर हैं वह सुखी नहीं हो सकता। अत: मन, इन्द्रियोंका वशमें होना अनिवार्य है—'विजितात्मा जितेन्द्रिय:।'

अब आपको एक दूसरी बात सुनाते हैं—'सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते।' सबकी आत्मा ही जिसकी अपनी आत्मा हो गयी है, सर्वभूत ही जिसकी आत्मा है, सर्वभूतोंकी आत्मा ही जिसकी आत्मभूत है, वह किसी कर्मका कर्ता होनेपर भी उससे लिप्त नहीं होता। आप सोचो, हम तो नहीं जानते कि दुनियाके किसी मजहबमें ऐसी दृष्टि रखनेकी पद्धति हैं। 'सर्वभूतात्मभूतात्मा।' यह गीताकी रीढ़ है, यह गीताका फार्मूला है, यह गीताका गूढ रहस्य है। आपको ध्यानमें आना चाहिये कि भगवान् जैसे कर्मत्यागसे कर्म करना श्रेष्ठ बताते हैं, वैसे ही कर्म-संन्याससे कर्मयोगको विशिष्ट घोषित करते हैं—

तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते।

अब आप इस बातपर ध्यान दो कि समाधि श्रेष्ठ है कि कर्मयोग? यदि भगवान् कर्मत्यागसे कर्मयोगको श्रेष्ठ बताते हैं तो समाधिसे भी कर्मयोगको श्रेष्ठ बताना आवश्यक है। अन्यथा समाधिमें तो कर्मत्याग ही हो जाता है। यदि समाधि-अवस्थामें कर्मयोगकी अपेक्षा कर्मत्याग श्रेष्ठ है तो कर्मयोग कर्मसंन्याससे हो ही नहीं सकता। इसी युक्तिपर, इसी तर्कपर, इसी विचारपर ध्यान देना है।

गीतामें समाधिका वर्णन तो है, परन्तु उसके अनुसार जो समाधि लगाता है वह अपर योगी है और उस अपरयोगीसे भी बड़ा एक परमयोगी होता है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥ 6.32

यह बात कर्मयोगियोंके ध्यानमें भी कम आती है। वे कहते हैं कि समाधि बहुत बड़ी बात है, वह लग जाये तो उत्तम है। उसके लिए कर्म छूट जाये तो छूट जाये। परन्तु इस सम्बन्धमें भगवान् श्रीकृष्ण जो कुछ कहते हैं वह ध्यान देने योग्य है। वे कर्मयोगको केवल कर्मत्यागसे ही नहीं, समाधिसे भी श्रेष्ठ बताते हैं और कहते हैं कि ऐसा कर्मयोगी परमयोगी है। अपरयोगी तो वह है जो समाधिस्थ है—

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः॥ 6.19

जैसे दीयेकी लौ निश्चल होती है, वैसे ही जिसका चित्त निश्चल है, वह योगी है। यह अपरयोगी अथवा समाधिस्थ योगीका लक्षण है। इसके अतिरिक्त एक परमयोगी भी होता है—

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥ 6.8

कर्मयोगी यदि अपना कर्म ठीक-ठीक करता है तो वह परमयोगी है। बस, उसकी एक बात ध्यान देनेकी है। कर्मी लोग अपने-परायेका बड़ा भारी भेद कर लेते हैं। श्रीकृष्ण कहते हैं कि—'आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन'—अर्जुन, जैसे अपनेको सुख-दुःख होता है वैसे ही सबको सब जगह सुख-दुःख होता है।

एतावानव्ययो धर्मः पुण्यश्लोकैरुदाहृतः।
यद्भूतशोकहर्षाभ्यामात्मा शोचति हृष्यति॥

जो धर्म अव्यय है, अविनाशी है, और बड़े-बड़े पुण्यश्लोक महापुरुषोंने जिसका पालन किया है, वह धर्म क्या है? वह धर्म यही है—दूसरेके दुःखमें दुःखी और दूसरेके सुखमें सुखी हो जाना। कैसे सुखी अथवा दुःखी होना—तो बोले 'आत्मौपम्येन' तथा—'यथा कण्टकविद्धाङ्गो जातु नेच्छति ताम् व्यथाम्' की तरह। काँटा गड़नेकी बात ऐसी है जो भुक्तभोगीके शरीरमें सिहरन पैदा कर देती है। हमने ऐसे-ऐसे काँटे देखे हैं कि शहरके लोगोंको उनकी कल्पना भी नहीं होगी। एक मित्र हमारे साथ चल रहे थे। उनके तलवेमें नागफणीका काँटा ऐसे

गड़ा कि पंजेके ऊपर निकल आया। एक बार मुझे भी काँटा गड़ा तो कपड़ेवाले गोविन्दभवनी जूतेके तल्लेको छेदकर पाँवमें घुस गया। ऐसे काँटे जब किसीको गड़ते हैं तब उसे इतनी तकलीफ होती है कि वह कराह उठता है दुनियामें किसीको काँटा न गड़े। किन्तु वही व्यक्ति कुछ दिनों बाद दूसरेके पैरमें काँटा गड़ा देखकर यह कहता है कि काँटा ही तो गड़ा है कोई तलवार थोड़े ही लगी है। यह ठीक नहीं। अपने सुख-दुःखकी तरह दूसरेके सुख-दुःखको भी समझो। जैसे तुम अपने लिए सुख चाहते हो, वैसे ही दूसरेके लिए भी सुखका ध्यान रखो। जैसे तुम अपने दुःखसे परहेज करते हो वैसे ही दूसरेको भी दुःख न हो—इसका ध्यान रखो। जो अपने सुख-दुःखके समान ही सामनेवालेके सुख-दुःखको देखता है, अनुभव करता है, वही परमयोगी है। इसका अर्थ हुआ कि बेहोश योगीकी अपेक्षा होश-हवासमें रहनेवाला योगी श्रेष्ठ होता है। तभी समाधिकी अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ होगा। ब्रह्मज्ञान सबको नहीं होता। ब्रह्मज्ञान भले ही न हो, यदि हम अपना कर्मयोग ठीक-ठीक करें तो उससे हमारा अन्तःकरण शुद्ध होगा। फिर इस जन्ममें नहीं तो अगले जन्ममें ब्रह्मज्ञान हो जायेगा। हमारा वर्तमान जीवन ठीक-ठीक होना चाहिए।

सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते।

करनेमें कोई दोष नहीं, किन्तु करना चाहिए सर्वात्मसर्वभूतकी भावनासे। सबका सुख अपना सुख और सबका दुःख अपना दुःख मानकर जो स्वयंको सबसे अलग करके देखते हैं उसीके सब दुश्मन हो जाते हैं। अपनेको सबसे अलग करके देखनेका फल क्या होता है—यह बृहदारण्यकोपनिषद्के एक मन्त्रमें आया है—

ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्राऽऽत्मनो ब्रह्म वेद।
क्षत्रं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः क्षत्रं वेद।
देवास्तं परादुर्योऽन्यत्राऽऽत्मनो देवान् वेद।
सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्राऽऽत्मनः सर्वं वेद।

ये केवल चार लाइनें हैं उस मन्त्र की। पूरा मन्त्र तो बड़ा हैं, उसे सुनानेकी आवश्यकता नहीं। इन पंक्तियोंमें कहा गया है कि ब्राह्मण आपका तिरस्कार कब करेगा? जब आप उसे पराया समझेंगे। आप समझें कि यह हमारा गुरू है, पुरोहित है अपना है तो ब्राह्मण आपका शत्रु नहीं होगा, अपितु हित करेगा। और **'अग्निमीडे पुरोहितं'**—अग्निकी तरह प्रज्वलित, तेजस्वी रहकर आपकी रक्षा करेगा।

इसी तरह क्षत्रिय उसका तिरस्कार करेगा, उसको अपमानित करेगा जो उसे पराया समझेगा और देवता उसका शत्रु होगा, जो उसका तिरस्कार करेगा। इस तरह सब उसके शत्रु हो जायेगें जो सबको पराया समझनेवाला होगा। इसलिए सर्वभूतात्मभूतात्मा बनो और इसी भावनासे आचरण करो। एक सन्त कविने कहा है कि—**'अब हम कासों बैर करें'**? जहाँ देखते हैं, वहाँ अपने प्यारे प्रभुका ही स्वरूप दीखता है। इसके सम्बन्धमें कई दृष्टिकोण हैं। देखो, बेवकूफी किससे नहीं होती? ऐसा कौन मनुष्य है, जिसने कभी नासमझीका काम नहीं किया। लेकिन जब हम खुद नासमझीका काम करते हैं तो अपनेको माफ कर देते हैं और दूसरा कोई नासमझीका काम करता है तब हम उसको सजा देना चाहते हैं। दो तराजू हो गये। दूसरेकी नासमझी तौलनेके लिए दूसरा तराजू और अपनी नासमझी तौलनेके लिए दूसरा तराजू। होना यह चाहिए कि दूसरेसे गलती हो जाये

तो उसको माफ करें और अपनेसे गलती हो तो उसको समझकर आगे न होने देनेकी प्रतिज्ञा करें, प्रायश्चित करें और अपनेको दण्ड दें। दण्ड अपने लिए और क्षमा दूसरोंके लिए होनी चाहिए। यही प्रक्रिया है दोष-शोधनकी। किसका शरीर पञ्चभूतोंका बना हुआ नही है? जब अपने दातोंसे अपनी जीभ कट जाती है और अपने हाथोंसे अपनी आँखोंको चोट लग जाती है, तब हम क्या करते हैं? इसी तरह यदि किसीसे तुम्हें आघात लगा है तो उसको अपनी आत्मा समझनेमें क्या कठिनाई है?

ईश्वर सबमें एक है। यह देखो, जो तुम्हारे सामने है उसके भीतर भी ईश्वर ही बैठा है। परन्तु अपने भीतरका ईश्वर याद नहीं होगा तो दूसरेके भीतरका ईश्वर कैसे याद आवेगा? एक जादूके खेलमें, मायामें कोई काम हो रहा है वह ब्रह्ममें प्रतीति मात्र-जैसा है। यह केवल मालूम पड़ रहा है, वस्तुतः इसकी कोई सत्ता है नहीं, यह ख्याली है। फिर इसमें किसके ऊपर क्रोध किया जाये? तो—'सर्वभूतानाम् आत्मभूतः आत्मा यस्य'—समझो कि जितने प्राणी हैं, उनकी आत्मा मैं ही हूँ। सबका सुख, सबका दुःख, सबकी गलती, सबकी सही हमारी है। चित्तनें—'आत्मौपम्येन यः पश्येत्, सर्वभूतात्मभूतात्मा' की समता आजानेपर आपको काम करनेकी छुट्टी मिल जायेगी और आप 'कुर्वन्नपि न लिप्यते'—काम करनेपर भी उससे लिप्त नहीं होंगे। किसीको नुकसान नहीं पहुँचावेंगे और आपके हृदयमें किसीके प्रति जलन नहीं होगी। कर्मकी एक बहुत बढ़िया कसौटी यह है कि आप कोई काम करनेके पहले डरते हैं क्या? यह तो नहीं सोचते कि कोई देख न ले अथवा किसीको मालूम न पड़ जाये। यदि ऐसा है तो कहीं-न-कहीं स्वार्थ जरूर होगा, भोग-वासना भी जरूर होगी। अच्छी तरह परख लीजिये। करते समय यदि दिलमें जलन हो, हृदयमें आग जल रही हो तो समझ लीजिये आप गलत काम कर रहे हैं। अच्छा काम तो शान्तिदायक है। उससे दिल ठण्डा होता है, काम करनेमें रस आता है स्वाद आता है। अपने हाथसे अपना काम करनेमें जो मजा है वह और कहीं नहीं। काम करनेके बाद अपनेको भी शीतलता मिले और जो उसे देखे, उसको भी शीतलता प्राप्त हो—**अन्तःशीतलतायां तु लब्धायां शीतलम् जगत्**। जब हमारे दिलमें ठण्ढक आ गयी तो सारी दुनिया ठण्ढी हो गयी, शीतल हो गयी। यदि हमारा दिल ठण्ढा नहीं हुआ, उद्विग्न है, गर्म है, तो सर्वत्र गर्मी-ही-गर्मी है। इसलिए अन्तःशीतलता आनी चाहिए। मनुजीने सारे वेदान्तका सार बताया है—**स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम्**। वेदान्तका फल किसको मिलता है—उसको मिलता है, जिसका हृदय शान्त है। कुर्वन्नपिका अर्थ है काम करते हुए भी **किं पुनः न कुर्वन्**—जो कर्म नहीं करते उनका कहना ही क्या। चाहे जितना भी काम करो, परन्तु यदि अपनेको सबकी आत्माके रूपमें अनुभव करके काम करोगे और जिस प्रकार अपनेको तकलीफ पहुंचाना नहीं चाहते, उसी प्रकार दूसरेको तकलीफ नहीं पहुँचाना चाहोगे तो कर्मका कोई अपराध नहीं होगा।

अरे समय हो गया। तो बस यहीं हाथ खींचते हैं। हमारे हरिबाबाजी बताते थे कि काम पूरा करना अपने हाथमें नहीं, समय पर कर्त्तव्य पालन करना अपने हाथमें है। बस, बात अधूरी रहे तो रहे। आज यहीं छोड़ते हैं आगे कल!

●

प्रवचन : 5

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनको यह हृदयंगम कराना चाहते हैं कि मनुष्य कर्म तो कर किन्तु कर्मसे लिप्त न हो। कर्म स्वयं जड़ है। चैतन्य आत्माके साथ इसका लेप होना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं। चैतन्य आत्मा एक जन्मका कर्म दूसरे जन्ममें ले जाये या एक समयका कर्म दूसरे समयमें करें, ऐसा उसका सहज स्वभाव नहीं और न कर्ममें इतना सामर्थ्य है कि, वह आत्माके साथ लग जाये, जुड़ जाये। यह तो अविद्या महारानी ही कुछ ऐसा कर रही हैं कि जड़ कर्म भी चेतन आत्माके साथ, अपने विजातीयके साथ चिपकता हुआ मालूम पड़ता है। स्थान-स्थानमें, क्षण-क्षणमें संकल्प-संकल्पमें कर्म छूटते जा रहे हैं, परन्तु फिर भी चेतन आत्मा समझती है कि हमने यह किया हमने यह नहीं किया। हमने यह विहित किया, हमने यह निषिद्ध किया। इसका कारण यही है कि चेतन आत्मा अपनेको जड़ अन्तःकरणके साथ तादात्म्यापन्न करके जड़ कर्मको अपना कर्म समझती है और उसका अभिमान करके स्वयं आबद्ध हो जाती है। अतः कर्म करनेकी यह प्रणाली है कि मनुष्य कर्म तो करे, परन्तु उसके साथ आबद्ध न हो, लिप्त न हो। अर्जुन युद्ध तो करे, किन्तु युद्धके पाप-पुण्यके साथ अर्जुनका सम्बन्ध न हो—यह युक्ति भगवान् श्रीकृष्ण बताना चाहते हैं—

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥ 5.7

मनुष्य-कुर्वन्नपि-काम करे, किन्तु कामसे लिप्त नहीं हो। यह कैसे होगा, तो इसके लिए उपाय बताया कि योगयुक्तः हो जाओ। बुद्धि खोकर काम नहीं करो, बुद्धि बनाये रखकर काम करो। संक्षेपमें बुद्धियोगको योग और सांख्ययोगका सांख्य कहते हैं। एक तो बुद्धि सावधान रहे, दूसरे विशुद्धात्मा अर्थात् अन्तःकरण शुद्ध रहे। मन स्वच्छ रहे, निर्मल रहे, अपने वशमें रहे, इन्द्रियाँ स्वच्छन्द विचरण न करें। इतनी बातें तो अपने लिए कहीं। फिर बोले कि अपनेको आपतक सीमित, परिच्छिन्न मत करो। अपितु—

'सर्वभूतानाम् आत्मभूता आत्मा यस्य'—सबकी आत्मा ही मेरी आत्मा है, इस निश्चयपर स्थिर हो जाओ। सर्वात्मभावको सुदृढ़ करनेपर ही किसीको हानि नहीं पहुँचाओंगे। इसका अर्थ है कि इन्द्रियाँ उच्छृङ्खलतासे जो काम करती हैं उनका लेप होता है। मन वशमें न रखकर जो काम किया जाता है, उसका लेप होता है। अन्तःकरण अशुद्ध करके जो काम किया जाता है, उसका लेप होता है। बुद्धिकी असावधानीमें अपने-परायेका भेद रखकर, कुछको लाभ, कुछको हानि पहुँचानेके लिए जो कर्म होता है, उसका लेप होता है। अतः काम करनेमें बुद्धियोग, अन्तःकरणकी शुद्धि, मनका वशीकरण-इन्द्रियोंपर नियन्त्रण, सबकी भलाई की भावना और सर्वात्मभाव अनिवार्य है। यदि यह बात ध्यानमें रहे तो मनुष्य चाहे कितना भी कर्म करे उससे वह लिप्त नहीं होता।

अब कर्म करनेकी दूसरी प्रक्रिया यह बताते हैं कि अभिमान नहीं होना चाहिए—

नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्श्रृन्वन् स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन् गच्छन् स्वपञ्श्वसन्॥

प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन् निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥ 5.8.9

मनुष्यके शरीरसे कर्म होता है। परन्तु यदि वह सावधान होकर देखे तो प्रतीत होगा कि उसके मूढ़ एवं तमोगुणी शरीरमें कुछ-न-कुछ क्रियाएँ होती रहती है। उसमें रक्तसंचार होता है, मलापसपरण होता है, बाल और नाखून बढ़ते हैं। ये सब मूढ़ताके साथ-साथ यावद्द्रव्यभावी कर्म-कलाप है। तो फिर अभिमान किस बातका? मूढ़ता तमोगुण, विक्षेप रजोगुण और शान्ति सत्त्वगुण है। आत्मा न तो शान्तिका कर्ता है, न इसके लगाये समाधि लगती है, न इसके किये विक्षेप होता है और न इसमें मूढ़ता आती है। तो क्या होता है?

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।

प्रकृतिके गुणोंसे ही काम हो रहा है और जब गुणोंसे ही काम हो रहा है, तब उसको मैंने किया—यह अभिमान करना उचित नहीं।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति॥ 13.29

प्रकृतिसे ही सारे काम हो रहे हैं। प्रकृति किये बिना मानती नहीं। वर्षा समयपर होती ही है, दूब समयपर उगती ही है। इसमें हम क्या करते हैं? यदि मनुष्य कर्ता होता तो क्या कभी बीमार पड़ता? वह बीमारी क्यों बुलाता अपने शरीरमें? कहते हैं कोई-कोई ऐसे बुद्धिमान् हो सकते हैं कि कभी बीमार न पड़े, यदि वे—'प्राप्यं विघातञ्च जानन्ति सुखदुःखयोः।' यह बात जान लें कि हमको सुख-दुःख ऐसे मिलनेवाले हैं और सुखकी प्राप्तिका उपाय करें तथा जिससे दुःख मिलता है वह काम छोड़ दें। बोले कि ऐसे लोग भी हमारी मृत्यु न हो इसका उपाय नहीं जानते। अच्छा जी, आप कर्ता हैं तो जान-बूझकर अपनी मृत्यु, बुलाते हैं? नहीं भाई मृत्युसे तो सब द्वेष करते हैं। एक मच्छर भी मृत्युसे द्वेष करता है, खटमल भी मृत्युसे द्वेष करता है, अतः यदि मनुष्य स्वतन्त्र कर्ता होता तो मृत्यु इसके जीवनमें कैसे आती? सुख न चाहनेपर भी मिलता है, दुःख न चाहनेपर भी मिलता है। कभी-कभी तो रातमें ऐसा होता है कि खूब आनन्दसे सोनेपर भी सहसा नींद टूट जाती है और कोई विपरीत बात याद आजानेसे तबीयत घबड़ा जाती है। कभी-कभी बड़े दुःखकी स्थितिमें सोनेपर नींद टूटती है और ऐसी कल्पनाका उदय हो जाता है कि मन परमानन्दमें डूब जाता है। अतः किसी कारणसे ही सुख-दुःखकी कल्पना उत्पन्न होती हो अथवा हमारे बुलानेसे ही आती हो—यह बात नहीं। यह तो कुछ प्रकृति है और कुछ संस्कृति है। यह संस्कृति है कुछ उन आकृतियों अथवा विकृतियोंकी जो मनमें घूमती रहती हैं। यह प्रकृति है उस अन्तःकरणकी जो कुछ-न-कुछ सोचता रहता है। तो यह मान बैठना कि हम इस सम्बन्धमें स्वतन्त्र हैं, ठीक नहीं। आत्मा असंग है—यह बात दूसरी है। किन्तु कर्म कुछ तो गुणोंसे और कुछ प्रकृतिसे होते रहते हैं तथा कुछ-कुछ पञ्चायती भी होते हैं—

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥

अच्छे बुरे सभी कर्म पाँच पदार्थोंके मिलनेसे होते हैं। उसमें शरीर होना अनिवार्य है, नहीं तो आप उसके अभावमें क्या करेंगे? एक आदमी है, उसका मन होता है कि हम अपने हाथसे काम करें। लेकिन हाथ ही नहीं अथवा पक्षाघात हो गया है और हाथ नहीं उठता तो वह कैसे करेगा? केवल मनमें होनेसे कि हम यह काम करेंगे, नहीं होगा। उसके लिए जब करण होगा, औजार होगा तब कर्म होगा। अच्छा, हाथ भी हो, लेकिन मुर्देका हाथ हो तो वहाँ काम कैसे होगा? फिर सब कुछ होते हुए भी करनेकी वृत्ति अथवा चेष्टा नहीं तो कर्म कैसे होगा? यदि इन्द्रियोंके अनुग्राहक देवताओंका अनुग्रह प्राप्त नहीं, तो भी कर्म कैसे होगा? आँख है, परन्तु रोशनी नहीं, तो वह कैसे देखेगी? आँख हो, रोशनी भी हो, परन्तु आपका ख्याल न हों तो आप कैसे देखेंगे? इसका मतलब यह है कि काम न केवल आपसे होता है, न आपकी इन्द्रियोंसे होता है और न किसी वस्तुके रहनेसे होता है—'संघातस्य परार्थत्वात्'। जो काम पाँचको मिलाकर होता है, वह पाँचके लिए नहीं होता, किसी औरके लिए होता है। मोटर चलती है, उसमें पुर्जे बहुत हैं; परन्तु वह अपने लिए नहीं चलती, किसी दूसरेके लिए चलती है। ऐसी स्थितिमें जो यह मान बैठता है कि मैं मेरे लिए कर्म कर रहा हूँ, उसको दृष्टि प्राप्त नहीं—'न स पश्यति दुर्मतिः'। कर्म तो स्वभावके अनुसार ही होता है— 'स्वभावस्तु प्रवर्तते'।

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥ 18.59
स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥ 18.60

मनुष्यको मजबूर होकर कर्म करना पड़ता है। कभी-कभी मनुष्य ऐसा काम करता है, जिसको उसकी बुद्धि स्वीकार नहीं करती। जिसके लिए न तो मनमें संकल्प होता है और न कोई परिस्थिति होती है, वैसा काम कर देना पड़ता है। कुछ काम ईश्वर-प्रेरित भी होते हैं—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ 18.61

आपने नावको चलते हुए देखा होगा। उसपर बैठनेका भी काम पड़ा होगा। कभी-कभी मल्लाह उसे फिरकीकी तरह नचाता है। नृत्यकी गतिसे नाव नाचती है और उसपर बैठा हुआ आदमी भी नावके साथ नाचने लगता है। कौन नाचता है? मल्लाह। तो यन्त्र है नावकी तरह, उसपर बैठा है जीवात्मा और ईश्वर अपनी मायासे उसको नचा रहा है—'यन्त्रारूढानि मायया।' तो माया है, पंचायत है, द्रव्योंका समाज है, इन्द्रियोंका समाज है और प्रकृति है, गुण है, स्वभाव है। इसलिए कर्म केवल आपके करनेसे ही होता हो, यह बात नहीं और उसके कर्तापनका जो अभिमान है वह बिलकुल झूठा है—

नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।

ज्ञान आवश्यक है। असलियतको समझना चाहिए। कठोर शब्दोंके आवरणमें ज्ञानको बाँध देनेसे वह कुछ ऊँचा हो जाता हो, ऐसी बात नहीं। हम कठिन-कठिन शब्दोंका प्रयोग करें और समझें कि हमारा ज्ञान

बहुत ऊँचा है तो वह हमारा भ्रम है। वह तो कभी-कभी इतना खोखला होता है कि केवल शब्दाडम्बर ही रह जाता है और कभी-कभी सरल-सरल शब्दोंमें, बोल-चालकी भाषामें, इतना ऊँचा ज्ञान प्राप्त होता है कि वह लच्छेदार भाषामें कभी प्राप्त हो नहीं सकता।

सम्पूर्ण प्राणियोंके हृद्देशमें परमेश्वर विराजमान है। वही सबको चला रहा है—**'भ्रामयन् सर्वभूतानि।'** इसमें सभी दृष्टिकोण आ जाते हैं। आस्तिक दृष्टिकोणसे ईश्वर अपनी माया द्वारा सृष्टि चला रहा है। नास्तिक दृष्टिकोणसे प्रकृति चला रही है और सांख्यकी दृष्टिसे गुण और प्रकृति दोनों चला रहे हैं। दूसरे शब्दोंमें स्वभाववादियोंकी दृष्टिसे गुण और ईश्वरवादियोंकी दृष्टिसे ईश्वर चला रहा है। इसका मतलब यह निकला कि मैं नहीं कर रहा। कर्ममें फलदानकी योग्यता तब आती है, जब वह इस अपेक्षा बुद्धिसे किया जाता है कि यह पूरा हो जाये और इसका अमुक फल हमारे पास आ जाये। देखो, हम अपनी आँखोंसे हर रोज हजारों आदमी देखते हैं, परन्तु उनकी याद नहीं आती। किन्तु जब हम किसीको प्रेमसे, घृणासे या द्वेषसे देख लेते हैं तब वह केवल जागृत अवस्थामें ही नहीं,, स्वप्नमें भी याद आता है। वास्तवमें हमारे मनमें जो यह अपेक्षा होती है कि अमुकसे हमको यह मतलब है, यह लाभ उठाना है, यह स्वार्थ सिद्ध करना है तो उसीकी याद आती है और जिससे परहेज होता है, जिसको हम अपनी आँखके सामने आने देना नहीं चाहते उसकी भी याद आती है। जिसको हम चाहते हैं वह भी दिलमें घुसता है और जिसको नहीं चाहते, वह भी दिलमें घुसता है। दूसरी सारी दुनिया, जिससे हमें कोई अपेक्षा नहीं होती, हमारे दिलमें नहीं घुसती। कर्मोंके सम्बन्धमें भी यही बात है। आपको वही कर्म लगेंगे जिनसे आपका राग होगा या जिनसे आप ग्लानि करेंगे, घृणा करेंगे। बनारसमें एक सज्जन बड़े धर्मात्मा थे। तीन समय तो शंकरजीकी पूजा करते। पच्चीस-पचास वर्षोंतक वहाँ रहे। लेकिन उनको मुस्लिम मान्यताके अनुसार जिन्दका आवेश होता था और वे उस समय कुरानकी आयतें बोलने लगते थे। किसीने श्रीउड़िया बाबाजी महाराजसे पूछा कि इतने पवित्रात्मा और धर्मात्माको जिन्दका आवेश क्यों होता है? तो उन्होंने उत्तर दिया कि वह इस्लाम-मजहबसे, उनके अनुयायिओंसे और उनकी बातोंसे इतनी घृणा करता है कि वे सारी बातें उसके दिल-दिमागमें बैठ गयी हैं, अब वही निकलती हैं। तो जिस प्रकार आप प्रेम करके कई वस्तुओंको अपने दिलमें बसा लेते हैं, उसी प्रकार ग्लानि, घृणा, द्वेष, हिंसा और द्रोह करके भी कई वस्तुओंको अपने दिलमें बैठा लेते हैं। इसीलिए कबीरदासजी कहते हैं—***बड़ी मार कबीरकी चितसे दिया उतार।***

जिस चीजको आप अपने दिलमें नहीं बसाना चाहते, उसको चितसे उतार ही दीजिये। उससे घृणा भी मत कीजिये, द्वेष भी मत कीजिये, ग्लानि भी मत कीजिये और उसको अपने ध्यानमें भी मत लाइये। जिस रास्ते जाना नहीं, उसकी याद करके क्या करना है? आप यदि बुराइयोंकी याद करेंगे तो बुराइयाँ आपको पकड़कर नरकमें ले जायेंगी और कहेंगे कि जरा देख लीजिये, हमारा क्या फल है? इसी तरह आप अच्छाइयोंसे राग करेंगे, मुहब्बत कर बैठेंगे तो अच्छाइयाँ भी आपको स्वर्गमें ले जायेंगी। लेकिन आप जानते हैं स्वर्गका क्या फल होता है? 'स्वर्ग स्वल्प अन्तहु दुःखदाई।' इसलिए आपको नरक और स्वर्गसे बचना हो तो अच्छाई और बुराई दोनोंसे तटस्थ होकर अपने आपमें बैठिये, आत्मस्थ हो जाइये—**नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।**

तत्त्वका अर्थ है, वह असलियत जिसमें हम अपना रंग नहीं भरते। आकाशमें न तो कोई कोण बनता है और न रंग भरा जाता है। परन्तु हम यदि उसमें मानसिक चतुष्कोण बनाकर उसमें रंग भर दें कि यह हरा है, यह नीला है, यह पीला है, यह लाल है तो उसका दर्शन वैसा ही होने लग जायेगा। हमारे शास्त्रोंमें लिखा है कि मरी हुई स्त्रीका दर्शन होता है—'नष्टवनितासाक्षात्कारवत्।' मरी हुई स्त्री पतिके मनमें बसी हुई होती है। वह रातको जब घरमें अकेला होता है तो उसके दर्शन होते हैं। रास्तेमें चलते हुए प्रतीत होता है कि वह उसको छू गयी! इसी तरह इस संसारकी वस्तुएँ केवल अपेक्षा करनेसे, रिश्ता जोड़नेसे ही, अपने साथ जुड़ती हैं। कर्म भी आपके साथ तभी जुड़ता है, जब आप—'अहं करोमीति वृथाभिमानः।' उसके साथ अपने कर्तृत्वका मिथ्याभिमान जोड़ लेते हैं। तुमने अपना हाथ बनाया? नहीं, यह तो बना बनाया है। तुमने जीभ बनायी। नहीं, यह भी बनी बनायी है। तुमने मिट्टी बनायी, पानी बनाया, पेड़ बनाया, पौधा बनाया? यह जो (Pulse) नाड़ी चलती है, तुमने बनायी? यह रक्त तुमने बनाया? जब तुम्हारा बनाया हुआ कुछ नहीं, तब कैसे मानते हो कि यह मेरा है। यदि कोई वस्तु केवल उपयोगके लिए मिले तो उसको अपनी मान लेना ठीक नहीं। अपनेपरके मिथ्याभिमानका निवारण आवश्यक है। इसके लिए तत्त्वज्ञान चाहिए। तत्त्व उसको बोलते हैं जो अनारोपिताकार हो, जिसमें कोई आकार न बना हो। आकार तत्त्व नहीं। जैसे स्वर्णमें जो आकार बनता है, कंगन बन जाता है, कुण्डल बन जाता है, हार बन जाता है, वह स्वर्ण तत्त्व नहीं होता। यद्यपि वह होता है स्वर्ण ही, तथापि कंगन, हार, कुण्डल आदि निर्मित आकारोंके नाम रखे हुए होते हैं। सोनेमें आकारका आरोप किया जाता है। वास्तविक सोना तो वह है, जिसमें कोई आकार आरोपित ही नहीं। वह सिल्ली भी नहीं, चूर्ण भी नहीं, द्वेष भी नहीं, वह तो तेजस् तत्त्व है। तेजस् तत्त्व भी ऐन्द्रियक नहीं। वस्तुतः स्वर्ण तो अधिष्ठान ब्रह्ममें केवल कल्पना मात्र है। उसकी कोई स्वतन्त्र सत्ता परब्रह्म परमात्मामें नहीं। इस प्रकारके तत्त्वज्ञानको जाननेवालेका नाम है तत्त्ववित् और जो उसमें निष्ठावान् होते हैं वे युक्त कहलाते हैं। युक्त शब्द गीताके दूसरे अध्यायमें ही आ गया है—'युक्त आसीत मत्परः। तात्पर्य यह है कि परमात्मामें निष्ठावान् होकर बैठ जाओ, स्थिर हो जाओ।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।

जब चित्त विनियत होकर अपने-आपमें बैठ जाता है और कर्ममें अकर्म तथा अकर्ममें कर्म दिखायी देने लगता है तब उसका नाम युक्त होता है—

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः। 6.8
कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः। 4.18

युक्त करते हुए भी नहीं करता, नहीं करते हुए भी करता है। यह इसकी माया है। जो तत्त्ववित् पुरुष है, उसको युक्त रहकर देखना चाहिए कि यह कर्म न मेरा है और न मैं इस कर्मका हूँ। मेरा और कर्मका कोई सम्बन्ध नहीं। 'नैव किञ्चित् करोमि'—मैं कुछ भी नहीं करता। किन्तु इस कुछ भी न करनेका मतलब यह नहीं कि चुप होकर बैठ जाओ। नहीं, इसका तात्पर्य यह है कि सब काम होता रहे और 'मैं कुछ भी नहीं कर रहा'—यह भावना बनी रहे।

पश्यञ्शृण्वन् स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन् गच्छन् स्वपञ्श्वसन्।

देखना आँखोंका चमत्कार है, सुनना कानोंका चमत्कार है। अगर कानमें शब्द ग्रहण करनेकी शक्ति न होती तो उन शब्दोंको आप कैसे सुनते? यह तो आपने अपने भीतर जो फिल्म भर रखी है, उसका चमत्कार है। आकाशमें जो प्रकाश फैल रहा है, वह फिल्म है, केवल दिखावटी चीज है, उसके भीतर कुछ नहीं। तो देखते हुए भी मैं देख नहीं रहा, सुनते हुए भी मैं सुन नहीं रहा और छूते हुए भी मैं छू नहीं रहा। इस तरहसे जितने कर्म होते हैं—जिघ्रन्, अश्नन्, गच्छन्, स्वपन, श्वसन्—अर्थात् सूँघते हुए भी, खाते हुए भी, चलते हुए भी, सोते हुए भी, साँस लेते हुए भी—मैं कुछ नहीं करता। 'मैं कुछ नहीं कर रहा' से ज्ञानेन्द्रियोंका काम भी है और कर्मेन्द्रियोंका काम भी है।

प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन् निमिषन्नपि।

पलकोंको उठाना और गिराना क्या हमारा काम है? मैंने ऐसा देखा है कि कभी बोलनेका मन नहीं होता और बोला जाता है। कभी बोलनेका मन होता है और जीभ नहीं खुलती। एक बार मैं लेटा हुआ था। लेटे-लेटे शरीरकी विचित्र स्थिति हो रही थी कि मेरे सामने एक बहुत बड़े महापुरुष आकर खड़े हो गये। सचमुच ठोस दुनियाके महापुरुष जो उस समय धरतीपर जीवित थे। मैं तो पलंगपर लेटा हुआ और वे सामने आकर खड़े हुए। मेरे मनमें आया कि अरे ये आगये, उठना चाहिए। अब मैं उठनेकी कोशिश करूँ तो शरीर न उठे। मैंने सोचा कि बोलकर प्रणाम करें तो बोला नहीं गया। हाथ जोड़ना चाहा तो हाथ नहीं जुड़े। सिर झुकाना चाहा तो सिर भी नहीं झुका। सिरको ऊपर उठाना चाहा तो ऊपर भी नहीं उठ सका। न सिर ऊपर उठे न नीचे झुके, न हाथ उठे और न जीभ हिले। मैं देख रहा हूँ कि वे महापुरुष सामने खड़े हैं और मैं लेटा हुआ हूँ। मेरी अशिष्टता पर वे हँस दिये, समझ गये कि मैं बिल्कुल बेकार हो गया हूँ, अवश हो गया हूँ वे हँसते जाते थे और मैं उनके सामने पलंगपर पड़ा हुआ था। अब सवाल पैदा होता है कि यदि मैं करनेवाला हूँ तो मुझे उनके सामने उठ जाना चाहिए था। परन्तु बिल्कुल उठा न गया। इसी प्रकारकी एक और घटना आपको सुनाता हूँ। सम्भव है, आपके जीवनमें भी यह अथवा इससे मिलती-जुलती घटना घटित हुई हो। मुझे एक बार हँसी आयी। ऐसी हँसी आयी कि मेरे चाहनेपर भी हँसना बन्द ही न हो। दस मिनट बीते, पन्द्रह मिनट बीते, बीस मिनट बीत गये, हँसी बन्द नहीं हुई। लगा कि यही हाल कुछ देर और रहा तो शरीर छूट जायेगा। शरीरपर काबू ही नहीं रहा। सब घबड़ा गये। परन्तु मेरे एक मित्रको जब यह भान हुआ कि मेरे प्राण संकटमें हैं तब उन्होंने जोरका एक चाँटा मेरे गालपर मारा। बस, चाँटा मारते ही मेरी हँसी समाप्त हो गयी और गुस्सा आ गया। उन्होंने कहा कि तुम बच गये। अब तुम्हें गुस्सेमें जो कुछ कहना हो, कह लो। इन घटनाओंके उल्लेखका आशय यही है कि एक ओर हम इतने विवश हैं और दूसरी ओर अभिमान इस बातका करते हैं कि हम वक्ता हैं अथवा हम मौनी हैं। हमारा यह अभिमान व्यर्थ नहीं तो और क्या है?

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्।

इन्द्रियाँ अपने विषयोंमें वर्तते हैं—इसका अर्थ यह है कि आँख तो रूप देखेंगी ही, आप अपना भाव भले

बदल लो कि मैं देख रहा हूँ या नहीं देख रहा। आप जब मन्दिरमें मूर्तिका दर्शन करते हैं तब आपके मनमें क्या भाव होता है? मूर्ति आपके सामने होती है और आँख आपके शरीरमें। आँखसे मूर्ति दीखती है और आप कहते हैं कि हमें परमेश्वरका दर्शन हो रहा है। आपके मनमें परमेश्वर है तभी आपको परमेश्वरका दर्शन हो रहा है और आपके मनमें परमेश्वर नहीं तो पत्थरका दर्शन हो रहा है। मानो तो तीर्थ नहीं तो पानी—ऐसी स्थिति है। इसी प्रकार जब मैं देखता हूँ ऐसा अभिमान होता है तब अपने पास देखनेका पाप-पुण्य आ जाता है। जहाँ मैं देख रहा हूँ—यह अभिमान नहीं, वहाँ देखनेका पाप-पुण्य नहीं लगता। आँखें रूप देखती हैं कान शब्द सुनते हैं, नासिका गन्ध सूँघती है। किन्तु कितने ही दृश्य, शब्द और गन्ध आते-जाते रहते हैं। कई बार लोग आँख, कान, नाक बन्द कर लेते हैं। कई बार खुली आँख, खुले कान और खुली नाकसे सब कुछ देखते, सुनते, सूँघते और साँस लेते निकल जाते हैं। उनका कोई सम्पर्क ही नहीं बनता। तो ज्ञानकी साधनासे अपने मनमें यह धारणा बनायी जाती है कि सब कुछ होता हुआ भी नहीं हो रहा। देखा, सुना, सूँघा जाता हुआ भी देखा, सुना, सूँघा नहीं जा रहा।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥ 5.10

आप अपने कर्मको कहीं रख दो, उससे नाता मत जोड़ो, ठीक वैसे ही जैसे कबीरजी बोलते थे—

सो चादर सुर-नर-मुनि ओढ़ी ओढ़िके मैली कीन्हि चदरिया।
दास कबीर जतन से ओढ़ी ज्यों-की-त्यों धरि दीन्हि चदरिया॥

जिस प्रकार चादर ओढ़ी और रख दी, उसी प्रकार शरीरको काममें लिया और छोड़ दिया। कई महात्माओंके बारेमें ऐसा सुननेमें आता है कि उन्होंने शरीरको जहाँ-का-तहाँ छोड़ दिया और स्वयं अपने स्वरूपमें मगन हो गये। यहाँ प्रश्न उठता है कि हम अपने कर्मको कहाँ रखें? उत्तर है कि कर्म शरीरसे करते रहिये। निकम्मापन तो किसी भी दृष्टिसे उचित नहीं। क्योंकि जो निकम्मा हो जाता है, उसके जीवनमें आलस्य, प्रमाद आदि तमोगुण आ जाते हैं—बुराइयाँ आ जाती है। अतः उनसे बचे रहनेके लिए कर्म कीजिये, किन्तु ऐसे कीजिये कि कर्मको ब्रह्ममें रख दीजिये। ब्रह्ममें अर्थात् अनन्ताकाशमें चिदाकाशमें। अनन्ताकाश, चिदाकाश ब्रह्म—प्रत्यक् चैतन्याभिन्न अर्थात् अपने आपसे अभिन्न है। उसीमें कर्म होते हुए दिखायी पड़ रहे हैं। आप जब आकाशमें बादल देखते हैं तो उन बादलोंका रंग आकाशको लगता है क्या? बादलोंका रूप-रंग, बनना-बिगड़ना, होना न होना, आकाशके ऊपर कोई प्रभाव नहीं डालता। हम लोग बचपनमें बादल देखते तो कहते कि देखो वह शेर है, वह हाथी है, वह घोड़ा है, वह बारात जा रही है, वह डोली जा रही है, वह दूल्हा है, वह दुल्हन है, वह गौरीशंकर हैं, वह सीताराम हैं आदि-आदि। आसमानमें बादलोंके जो टुकड़े दिखायी पड़ते, उनमें अपनी कल्पित आकृति बैठा देते और वह वैसी ही दिखायी पड़ने लगती। आज भी बादलोंका अवलोकन करनेपर वैसा ही दिखायी पड़ सकता है। किन्तु हम चाहे जिस आकृतिकी कल्पना करें, आकाशमें कुछ है ही नहीं। इसी प्रकार संसारके सभी कर्म किसी-न-किसी अपेक्षासे होते हैं, किन्तु निरपेक्ष सत्यमें, परमात्मामें इनकी कोई स्थिति नहीं। यदि यह कहो कि कर्म भले ही अनन्तमें हों परन्तु हमारे साथ जो जुड़ जाते

हैं, उसका हम क्या करें? तो इसका उत्तर है कि—'सङ्गं त्यक्त्वा।' असंग होकर कर्म करो। आप रास्तेमें चलते हैं तो आपके सामनेसे हजारों आते-जाते हैं, किन्तु किसके साथ आपकी आसक्ति होती है? आप यह बात बिल्कुल निश्चित समझो कि जैसे घड़ीमें सेकेण्ड बीतते हैं, मिनट बीतते हैं, पर उसकी सूई किसी सेकेण्ड या मिनटसे चिपकती नहीं चलती रहती है, वैसे ही आपका जीवन भी किसी क्षण या कालखण्डके साथ चिपका नहीं रहता। आपका जीवन किसी वार, तिथि या मासमें बँधता नहीं, चाहे उसमें कोई भी महत्त्वपूर्ण घटना क्यों न घटित हुई हो। आपका जीवन तो समयके साथ बीतता जा रहा है और कहीं किसीमें आसक्त नहीं होता। यह जो समयका विभाग है, यह बिल्कुल काल्पनिक है। हम जो दिन, रात, पक्ष, मास अथवा वर्षका बँटवारा करते हैं वह अपने साभनेकी वस्तुओंसे ही करते हैं। संस्कृतमें समय शब्दका यही अर्थ होता है कि जो दूसरेके बीतनेसे बीत जाता है—'समं यातीव, केनचित् समं याति।' यह किसी-न-किसीके साथ चला जाता है। जैसे बचपनका समय गया, जवानीका समय गया, बुढ़ापेका समय गया। इस तरह यह जो बीतता हुआ समय है इसमें आप किससे चिपकना पसन्द करते हैं? ऐसा कभी हो नहीं सकता कि आप किसी समयके साथ चिपके रह जायें, समय आपके साथ चले अथवा आप समयके साथ चलें। यही बात स्थानके सम्बन्धमें है। न आपका पूर्वसे प्रेम है, न पश्चिमसे। हम आपसे पश्चिम बैठे हैं लेकिन जो हमारे पीछेकी तरफ हैं उनसे पूर्व हैं। नीचेसे ऊपर हैं और ऊपरसे नीचे हैं। वह मध्य भी नहीं। एक अपेक्षासे मध्य है, दूसरी अपेक्षासे सिरा है। वास्तवमें न यह ऊपरका स्थान है, न नीचेका, न पश्चिमका, न पूर्वका, न उत्तरका, न दक्षिणका और न किसी कोणका। यह तो अपनी अपेक्षासे ही मान लेते हैं कि हम कहाँ बैठे है? जैसे हम किसी स्थानमें नहीं चिपकते, उसी प्रकार हम किसी वस्तु अथवा किसी कर्ममें भी नहीं चिपकते। कोई भी वस्तु ऐसी नहीं, जो हमारे साथ जुड़ जाये, चिपक जाये। यह तो केवल मनकी कल्पना है। यहाँ-तक कि मानसिक अवस्था भी दूसरी अवस्थामें नहीं जाती। जाग्रदवस्था क्या स्वप्नमें जाती है? स्वप्नावस्था क्या जाग्रतमें आती है? जाग्रत, स्वप्न या सुषुप्तिमें आते हैं? ये सब अलग-अलग हैं। यह केवल संग है, हमारे मनकी आसक्ति है। पहले तो अविद्याके कारण हम किसी वस्तुको समझते नहीं, फिर उसे स्थिर समझकर उसके साथ अपनेको जोड़ देते हैं। सृष्टिमें कितने उत्थानपतन हुए, बड़े-बड़े चक्रवर्ती सम्राट् आये-गये परन्तु क्या अपनी धरतीको अपने साथ ले जा सके? जैसे क्षण, कण, अथवा परमाणुओंके साथ हमारी आसक्ति नहीं होती, वैसे ही संसारके पदार्थोंके साथ भी हमारी आसक्ति नहीं होनी चाहिए। जो परमाणु आकाशमें टिकते नहीं हिलते रहते हैं, उन्हीं परमाणुओंसे बनी हुई यह सृष्टि क्या टिक जायेगी? भागवतके माहात्म्यमें एक बड़ी विचित्र बात आयी है। प्रात:काल जो भोजन बनाते हैं, वह सायंकाल ठंडा हो जाता है, खाने लायक नहीं रहता। कई-कई तो ऐसे शौकीन होते हैं कि तवेपरसे उतरकर गरम-गरम रोटी आती है तभी खाते हैं। हमने अपनी आँखसे देखा है, रोटी थालीमें परसी गयी और उठाकर पटक दी गयी। कहा गया कि इतनी ठण्डी रोटी क्यों लाये? अब आप सोचिये कि रोटीको आप बराबर गरम कैसे रख सकते हैं? उसको पेटमें डालकर भी गरम ही रखेंगे क्या? इस संसारको जो हम अपने मनके अनुसार पकड़कर रखना चाहते हैं वह सम्भव नहीं, इसलिए 'सङ्गं त्यक्त्वा'—इसको छोड़ते चलो।

हमारे एक मित्र हैं उनके घरमें जगह-जगह लिखा हुआ है कि 'यह भी नहीं रहेगा', 'यह भी नहीं रहेगा।' यही वास्तविकता है। वास्तवमें न ये क्षण रहेंगे, न कण रहेंगे न परमाणु रहेंगे। यह मन भी नहीं रहेगा। सिनेमामें मालूम पड़ता है कि अमुक दृश्य पाँच मिनटतक लगातार रहा, परन्तु वह पाँच मिनट तो क्या पाँच सेकेण्ड भी नहीं रहता। इसीका नाम फिल्म है। निरुक्तमें इसके लिए बिल्म शब्द आया है। यह तो बाहरी आवरण है, असलियत बिल्कुल दूसरी है। अत: जो बुद्धिमान् पुरुष होता है वह किसी भी वस्तुमें संग नहीं जोड़ता। चलके साथ अचल कभी जुड़ नहीं सकता, मिथ्याके साथ सत्य कभी जुड़ नहीं सकता। एक चल वस्तु अचलके साथ कैसे जुड़ सकती है? आकाशकी नीलिमा आकाशको कैसे रंग सकती है? क्योंकि वह तो है ही नहीं। जब हवाई जहाजमें चलते हैं, तब जैसे क्षितिज ऊपर दीखता है या दाहिने-बायें दीखता है, इसी प्रकार वह नीचे भी दीखता है। नीलिमाकी गहराई धरतीसे भी ज्यादा, ऊपर जानेपर दीखती है। ऊपरसे धरतीमें भी क्षितिजका दर्शन होने लगता है। यह सब क्या आकाशमें है? अस्तु;

लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।

जो छूट रहा है, उसे छूट जाने दो। जो आ रहा है, उसे आ जाने दो। 'सङ्गं त्यक्त्वा'का अर्थ है न सटाओ और न हटाओ। यदि आप अच्छी चीजको पास नहीं आने दोगे तो पाप लगेगा और चाहोगे कि वह चीज बराबर तुम्हारे साथ बनी रहे, सटी रहे तो भी अनर्थ होगा। ईश्वरकी वस्तुको, प्रकृतिकी वस्तुको, मायाकी वस्तुको सटाने-हटानेमें लग जाओगे तो भी पाप लगेगा। यदि आप यह ध्यान रखते हैं, जानते हैं कि अमुक वस्तु न रहनेवाली है, न हम इसके साथ जुड़नेवाले हैं, यह तो आयाराम—गयाराम है, तब ठीक है। फिर तो आपको कोई पाप नहीं लगेगा। पाप क्या है? हो कुछ और समझ लिया जाये कुछ यही पाप है। सबसे बड़ा पाप भ्रम है। वाल्मीकि-रामायणमें यह प्रसंग आया है—**योऽन्यथा सन्तमात्मानं अन्यथा प्रतिपद्यते।**

अर्थात् 'मैं देह नहीं, परन्तु अपनेको देह मानना पाप है। मैं कर्ता नहीं, परन्तु अपनेको कर्ता मानना यह पाप है। मैं परिच्छिन्न नहीं, परन्तु अपनेकी परिच्छिन्न मानना पाप है। मैं ईश्वरका अंश हूँ तो अपनेको ईश्वर न मानना पाप है।' किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा।' संसारमें सब-के-सब पाप अन्यथा भावके ही पाप हैं। सचको झूठ समझना और झूठको सच समझना—इसका नाम पाप है। इसलिए जिज्ञासुको चाहिए कि वह अपने अज्ञानका निवारण करे और काम करता जाये।

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये।। 5.11

योगी लोग शरीरसे काम करते हैं, परन्तु मैं करता हूँ—ऐसा नहीं कहते। मनसे भी काम करते हैं, परन्तु मैं करता हूँ—ऐसा नहीं कहते। बुद्धिसे भी काम करते है किन्तु कर्तृत्वाभिमान नहीं करते। उनके शरीरसे क्रिया होती है, मनसे संकल्प होता है, बुद्धिसे विचार होता है और इन्द्रियगणसे देखना-सुनना आदि होता है। योगी लोग **'केवलेन कायेन, केवलेन मनसा, केवलया बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि'** काम तो करते हैं परन्तु उनको किसी काममें आसक्ति नहीं होती। फिर वे काम कैसे करते हैं? शुद्ध संकल्पपूर्वक करते हैं। किसी भी कर्ममें कोई-

न-कोई संकल्प होना चाहिए। सबसे बड़ा संकल्प हेमाद्रिसंकल्प होता है। विद्वान् ब्राह्मणोंको अपने यजमानोंसे वह संकल्प बोलवानेमें आधा-पौन घण्टा लगता है। उसको महसंकल्प भी बोलते हैं। आप भी कर्म तो कीजिये— शरीरसे, मनसे, बुद्धिसे, इन्द्रियोंसे—परन्तु उसके पीछे जो संकल्प है उसपर ध्यान दीजिये। संकल्प क्या है? कोई सकल मनोरथ-सिद्ध्यर्थ संकल्प करते हैं, कोई आरोग्य दीर्घायुके लिए करते हैं, कोई लक्ष्मी देवीकी प्राप्तिके लिए करते हैं, कोई अपना कर्तव्य समझकर करते हैं और कोई भगवत्प्राप्तिके लिए करते हैं। कर्तव्यमें कर्तृत्व जुड़ता है और भगवत्प्राप्तिके लिए कर्म करनेपर यह बात मनमें आती है कि कर्मकी साधनासे भगवान् मिल जायेंगे। आप देखना, सारी गीतामें भगवान्के लिए कर्म करनेपर जोर दिया गया है 'मदर्थं कर्म कौन्तेय' में मदर्थका क्या अर्थ है? इससे भगवान् मिलेंगे? मदर्थका यह अर्थ है कि हम जो कर्म कर रहे हैं, इसका फल भगवान्को मिले। भगवान्को देनेके लिए जो कर्म किया जाता है वही 'मदर्थ कर्म' होता है। भगवान्को पानेके लिए जो कर्म होता है, वह 'मदर्थ कर्म' नहीं होता। भगवान् वादा भी करते हैं तो यही कि हम तुमको कर्म-बन्धनसे छुड़ा देंगे।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥ 9.28

भगवान् कहते हैं कि तुम कर्म करो, किन्तु अपने लिए नहीं, मेरे लिए ऐसा करोगे तो तुम कर्म-बन्धनसे छूट जाओगे। इसका तात्पर्य यह है कि मैं तो कर्म-बन्धनमें आनेवाला नहीं, तुम आनेवाले हो। इसलिए तुम्हें कर्म-बन्धनसे छूटनेकी आवश्यकता है। गीतामें यह बात समझनेकी है।

'सङ्गं त्यक्त्वा' का अर्थ है कि कर्मका संग मत करो। नर्मदा मिले तो उसमें भी स्नान करो, गंगाजी मिलें तो उसमें भी स्नान करो। शिवको भी हाथ जोड़ो, देवीको भी हाथ जोड़ो। रामको भी हाथ जोड़ो, विष्णुको भी हाथ जोड़ो, किन्तु सबके भीतर जो एक तत्त्व है उसका स्मरण रक्खो। किसी भी विषयकी प्राप्तिमें आसक्ति न हो, देहमें भी आसक्ति न हो। सबसे अधिक आसक्ति अपनी मान्यताओंमें होती है। इसीके लिए मजहबी लोग आपसमें लड़ते हैं। उनकी आपसी लड़ाईका एकमात्र कारण अपनी मान्यताओंमें आसक्ति और दृढ़ आग्रह होता है। राग, द्वेष, घृणा, द्रोह आदि मनमें क्यों आते है? सङ्गके कारण ही आते हैं। आसक्तिके कारण ही आते हैं। जिसकी कहीं आसक्ति नहीं, उसके लिए कहीं बन्धन नहीं है।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥ 5.12

कर्मफलमें आसक्ति न हो, इसके लिए सावधान रहो—'युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा।' कर्मफल न चाहनेपर नैष्ठिकी शान्ति मिलेगी। मेरे पास आनेवाले लोग कभी-कभी बोलते हैं—महाराज! हमारे मनमें कोई इच्छा नहीं, परन्तु अशान्ति बहुत है। इसको वदतोव्याघात दोष बोलते हैं। जिसके मनमें इच्छा नहीं होगी, उसको अशान्ति कैसे होगी? ज्ञान पाना चाहते हो, ईश्वर पाना चाहते हो, किसी अप्राप्त वस्तुको प्राप्त करना चाहते हो, तब अशान्ति हो सकती है। किन्तु जिसको कुछ पाना नहीं, उसके मनमें अशान्ति होनेका कोई कारण नहीं।

●

प्रवचन : 6

जैसा कि पहले एक या अनेक बार कहा जा चुका है, यदि भगवान् अपने शरणागतका मनोरथ पूरा न करें तो उनकी भक्ति कोई क्यों करेगा? भक्ति में भगवान् भक्तका पक्षपात अवश्य करते हैं। सबके प्रति सम होते हैं, किन्तु भक्तके प्रति पक्षपाती होते हैं। यही ईश्वरकी ईश्वरता है। भगवान् कृपा करके कर्म करनेकी प्रेरणा दे रहे हैं। यदि कोई कहे कि जो महात्मा योगी अथवा संन्यासी हैं उन्हें कर्म करनेकी आवश्यकता नहीं, तो यह ठीक नहीं। गीता के अनुसार बड़े-बड़े योगी लोग भी कर्म करते है—'योगिन: कर्म कुर्वन्ति।' संसारी लोग, साधक लोग तो कर्म करते ही हैं, योगी लोग भी कर्म करते हैं। किन्तु योगियोंके कर्म आत्मशुद्धिके लिए होते हैं। देखिये, स्नानका मन तो पशु-पक्षियोंका भी होता है। काम जो किया जाता है, वह शरीरमें कालिख लगानेके लिए नहीं, छुड़ानेके लिए होता है। शरीरमें कालिख लगायी नहीं जाती, लग जाती है और जब लग जाती है तो उसको छुड़ानेके लिए मनुष्यको कर्म करना पड़ता है। हमारे जीवनमें जो मलिनता लग गयी है उसको दूर करनेके लिए कर्म करनेकी आवश्यकता होती है। इसलिए कर्मका संकल्प आत्मशुद्धि होना चाहिए। अपने आपकी, आत्माकी शुद्धिके लिए कर्म करना चाहिए। शरीरमें मैल लगा हो तो उसको छुड़ानेके लिए थोड़ी मैल और लगा लेते हैं। यह जो मैल धोनेके लिए साबुन लगाया जाता है वह मैल ही तो है। परन्तु साबुनकी मैल ऐसी है जो पहलेकी लगी मैलकी खींच लेती है और फिर धो देनेपर दोनों मैल एक साथ छूट जाती है। इसी तरह कर्म किया जाता है आत्म-शुद्धिके लिए—'आत्मशुद्धये कर्म कुर्वन्ति।' हमारे पास बहुत-से लोग ऐसे आते हैं जो कहते हैं—स्वामीजी! हमें ईश्वरका दर्शन हो जाये। कुछ ऐसे भी मिलते हैं जो कहते हैं कि समाधि लग जाये। संसारके भोग चाहनेवाले तो बहुत आते हैं। लेकिन कोई यह प्रार्थना नहीं करता कि हमारा अन्त:करण शुद्ध हो जाये। ऐसा चाहनेवाला सालभरमें शायद ही कोई आता हो। मनुष्यको अपने जीवनमें जो मलिनता है वह खटकती नहीं। जब जीवनकी मलिनता अपने आपको खटकने लगेगी और उसको शुद्ध करनेकी इच्छा होगी,तभी हम ठीक-ठीक कर्म कर सकेंगे। प्रश्न यह है कि आप किसके लिए कर्म करते हैं? शरीरके कर्मके लिए मनके कर्मके लिए, अथवा बुद्धिके कर्मके लिए? ये सब कर्म ही हैं। इसीसे कर्मयोगी लोग कहते हैं कि वेदान्ती जो विचार करते हैं, बुद्धिसे सोचते हैं वह भी तो एक प्रकारका कर्म ही है। वह भी एक बौद्धकर्म है। बैठकर चिन्तन करना क्या कर्म नहीं? वह बुद्धिका कर्म है। तो केवलेन कायेन, केवलेन मनसा, केवलया वाचा, केवलया बुद्ध्या कर्म भी होते हैं। कई लोग सबको एकमें समवेत करके ऐसा काम करते हैं, जिसमें शरीर भी होता है, मन भी होता है, वाणी भी होती है और बुद्धि भी होती है। कुछ लोग केवल इन्द्रियोंसे ही काम करते हैं। कर्म कैसे भी हो उसे करनेमें एक होशियारी रखनेकी जरूरत है। पहले तो उद्देश्य स्पष्ट होना चाहिए कि हम किसलिए यह कर्म कर रहे हैं? यदि उद्देश्य स्पष्ट नहीं तो कर्म किधर ले जायेगा? आपकी मोटर चल रही है; परन्तु आप कहाँ पहुँचना चाहते हैं, यह बात आपके मनमें साफ नहीं, तो मोटर बेचारी आपको कहाँ पहुँचायेगी? इसी प्रकार आप हाथ-पाँव हिला रहे हैं और आपके जीवनकी मोटर चल रही है। परन्तु आपको

कहाँ पहुँचाना है, यह बात मालूम होनी चाहिए। यदि आप संसारकी वस्तुओंको अपनी ओर लानेके लिए कर्म करते हैं तो देनेके लिए भी कर्म करना चाहिए। कर्म देनेके लिए होता है, लेनेके लिए नहीं। यह तो स्वाभाविक ही है कि जब आप देना शुरू करेंगे तो आपके पास आना शुरू हो जायेगा। नहीं तो देंगे कहाँसे? यदि हम विचार देना प्रारम्भ कर दें और हमारे पास विचारोंका आना बन्द हो जाये तो हम आपको किस प्रकार विचार दे सकेंगे? जैसे-जैसे विचार देते हैं वैसे-वैसे नये-नये विचार हमारे अन्दर उदित होते हैं। कभी-कभी तो अपूर्व विचार आते हैं, अद्भुत विचार आते हैं।

यदि कर्मका उद्देश्य केवल व्यक्तिगत सुख-स्वार्थ है तो उस उद्देश्यका क्रमशः विस्तार करके उसको परिवारके साथ, फिर गाँवके साथ, फिर जातिके साथ, फिर मजहबके साथ, फिर राष्ट्रके साथ, फिर मानवताके साथ, फिर सम्पूर्ण विश्वके साथ और फिर उससे भी बढ़कर ईश्वरके साथ जोड़ा जा सकता है। ईश्वरके लिए कर्मका संकल्प होनेपर कोई बचा नहीं रह जायेगा और हमारा वह कर्म सबके लिए हो जायेगा। क्योंकि ईश्वर सर्वात्मा है। उसकी प्रसन्नता सबकी प्रसन्नता है, उसकी सेवा सबकी सेवा है।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥ 18.86

तो आप यह देखिये कि अपने कर्म द्वारा किसकी पूजा कर रहे हैं? 'कस्मै देवाय हविषा विधेम।' यह जो आपके हाथमें हविष्य है, जिसका आपने कर्मके द्वारा निर्माण किया है और जिसके द्वारा कर्म सम्पन्न होनेवाला है, वह किसके लिए है? यहाँ कस्मै देवायका अर्थ एकस्मै देवाय अर्थात् 'एक देवताके लिए' है।

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्

जब उसी मन्त्रमें प्रजापतिका नाम ले लिया तब 'कस्मै देवाय' कहाँ रहा? जब हिरण्यगर्भ कह दिया, 'समवर्तताग्रे' कह दिया, 'एक आसीत्' कह दिया तो 'कस्मै'का कोई अर्थ ही नहीं रह गया। मन्त्र-वर्णमें जो 'एक' कहा हुआ है, उसी 'एकस्मै'को 'कस्मै' बोलते हैं। है यह एकस्मै—एक देवताके लिए। हमारी आराधनाके पुष्प उसी 'कस्मै'—एक देवताके लिए है।

हमारे एक ब्रह्मचारीजी थे। उनके मन्दिरमें बीस-पच्चीस देव-मूर्तियाँ रखी हुई थीं। वे सबको चन्दन चढ़ाते, अक्षत चढ़ाते, फूल चढ़ाते और सबकी पूजा करते। मैंने पूछा कि ब्रह्मचारीजी, आपने ये बीस-पच्चीस प्रतिमाएँ क्यों रखी है? वे बोले कि 'डर लगता है। अगर किसीको छोड़ देंगे तो वह नाराज हो जायेगा। तो यह पूजा भयमूलक हुयी। पूजा तो डरकर नहीं, प्रेमसे करनी चाहिए और उसकी करनी चाहिए, जो सबमें एक है। उसकी पूजा करनेसे ही सबकी पूजा हो जाती है। तो आत्मशुद्धिका तात्पर्य है। 'कर्म कुर्वन्ति।' 'योगिनः कुर्वन्ति।' 'योगिनः कर्म कुर्वन्ति।' 'कर्म कुर्वन्ति कस्मै प्रयोजनाय?' 'आत्मशुद्धये।' योगी लोग भी कर्म करते हैं। योगी वे होते हैं जो कर्मसे ज्ञानको अलग करके रखनेमें समर्थ है, अपने चिन्मात्र आत्मवस्तुको कर्म, करण, कर्तासे अलग रखकर असंग द्रष्टाके रूपमें अनुभव करनेमें समर्थ हैं। योगी लोग द्रष्टाको दृश्यकेसाथ मिलाकर कर्म करते हैं। क्यों कर्म करते है? जब उन्हें दृश्य-द्रष्टाका विवेक हो गया और वे अपने असंग स्वरूपमें बैठ

गये तब फिर कर्म क्यों करते है? उत्तर है कि कर्म नहीं करेंगे तो शरीर कैसे चलेगा? 'न कर्मणा-मनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।'

केवल कर्म न करनेसे ही मनुष्य कर्मसे मुक्त नहीं हो जाता। कर्म नहीं करोगे तो ईश्वरके यहाँ पकड़े जाओगे और पूछा जायेगा कि तुमने अपने कर्तव्यका पालन क्यों नहीं किया? आपका सेवक हो, आप उसे कोई कर्म सौंप दें और वह न करे तो आप जवाब-तलब करते हैं ना? अत: 'न कर्मणामनारम्भात्'—केवल कर्म न करनेसे ही कर्मयुक्त होना तो अलग रहा, उल्टे दण्ड-भाजन भी बनना पड़ता है।

'न च संन्यासनादेव सिद्धिं समधिगच्छति।' केवल कर्मत्यागसे कोई सिद्धि मिलती हो—यह बात भी नहीं। कर्म तो करना ही चाहिए। हम कर्म किये बिना एक क्षण भी नहीं रह सकते— 'न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।' हमारे शरीरमें ऐसे उपादान, ऐसे मसाले भरे हुए हैं, जो हमसे बलात् कर्म करवाते हैं।

कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।

यदि आप अपने मनमें वासना रखते हैं और कर्म नहीं करते तो आप मिथ्याचारी हो जायेंगे, ढोंगी हो जायेंगे। यदि आप मनको वासनासे मुक्त रखकर, संयत रखकर कर्म करेंगे तो आपके द्वारा बड़ा प्रशस्त कर्म होगा। 'शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मण:।' इसका अर्थ है कि मनुष्यको कर्म अवश्य करना चाहिए। वह कर्मके बिना जीवित नहीं रह सकता। करनेकी रीति देखो। आप आधे मनसे, आधे उत्साहसे काम मत करो। आपको जो भी काम करना हो; पूरे मनसे, पूरे उत्साहसे करो। आपके अन्दर बल है तो आप अपने पूरे बलको कर्म करनेमें लगाइये। आपके भीतर समझ है तो पूरी समझदारी से काम कीजिये। आपके भीतर आनन्द है तो पूरे आनन्दके साथ कर्म-परायण होइये। आपका बल तो तभी बढ़ेगा, जब आपके मनमें उत्साह होगा। अत: जो भी काम कीजिये, पूरे उत्साहके साथ कीजिये। आप अपने कर्मकी पूर्णताके लिए इस बात पर ध्यान रखिये कि जो भी शक्ति या साधन आपके पास है, उसमें लगे। अब आपके कर्मसे ईश्वर प्रसन्न होगा, अन्त:करणकी शुद्धि होगी अथवा लोकहित होगा। यह बात तो पहले सोच लीजिये। यह देख लीजिये कि जो काम आप करने जा रहे हैं, वह लोगोंकी भलाईके लिए है कि अपनी शुद्धिके लिए है कि ईश्वरकी प्रसन्नताके लिए है? इन तीनोंमें कोई फर्क नहीं, केवल शब्दोंका ही फर्क है। अत: 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानव:।' आप अपने कर्म द्वारा परमेश्वरकी आराधना कीजिये आपको सिद्धि मिलेगी। सिद्धि मिलेगी अर्थात् आपका कर्म सफल होगा। आप जिस उद्देश्यसे काम कर रहे हैं, वह उद्देश्य पूरा होगा।

अद्भुत है गीताका यह प्रसंग। जिस ईश्वरकी आराधना करनेके लिए कहा जा रहा है, उसका स्वरूप क्या है? जो सबके हृदयोंमें बैठकर अन्तर्यामी रूपसे सबका संचालन कर रहा है, प्रवर्तक है, शास्ता है, वह परमेश्वर है, उसकी सेवा करो। और,'येन सर्वमिदं ततम्' जो सबके रूपमें प्रकट हो रहा है, जैसे कपड़ेमें सूत होता है, वैसे ही जो सबमें भरपूर है, उसकी सेवा करो। किससे उसकी सेवा करें? कौन-सा अक्षत चाहिए? कौन-सा फल चाहिए? कौन-सा शब्द चाहिए? कौन-सी क्रिया चाहिए? तो बोले कि ये सब कुछ नहीं चाहिए। जो कर रहे हो, उसीसे करो—'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य।' आप कपड़ा बना रहे हो तो बनाओ परन्तु

सर्वात्मा परमात्माकी प्राप्तिके लिए बनाओ। आप लोहा बना रहे हो तो बनाओ, परन्तु परमेश्वरकी प्राप्तिके लिए बनाओ। आप अन्न पैदा कर रहे हो तो करो, परन्तु परमेश्वरकी प्राप्तिके लिए पैदा करो। आपके सभी काम परमेश्वरकी आराधनाके साधन बन जायेंगे। कितने सौभाग्य और प्रसन्नताकी बात होगी कि हमें ईश्वरकी पूजाका अवसर मिले, सबकी सेवाका अवसर मिले और अन्तःकरण-शुद्धिका अवसर मिले। यदि आप अपने कर्म और उद्देश्यके सम्बन्धमें पवित्रताकी भावना रखेंगे तो आपके मनमें वह काम करनेका उत्साह उत्पन्न होगा।

क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे।

कर्मकी सफलता उत्साहमें निवास करती है। जितना-जितना आपके मनमें उत्साह होगा, उतना-उतना शौर्य-वीर्यका उदय होगा। आपके भीतर अनन्त बल, अनन्त शक्ति छिपी हुई है। यदि आप उत्साहसे अपने कर्तव्यका पालन करेंगे तो आपकी शक्ति बढ़ेगी, बल बढ़ेगा। यदि आप बेमनसे उदास होकर दीनतापूर्वक काम करेंगे तो आपका बल क्षीण होगा, शक्ति क्षीण होगी, उदासीनता आवेगी। इसलिए पूरे उत्साहसे ही काम करना चाहिए। उत्साहसे काम करनेपर उसमें अपना बल, अपनी शक्ति, अपना उपकरण, अपनी सामग्री पूरी तरहसे लग जाती है। जब शक्ति लगती है तब सत् लगता है, समझदारी लगती है तब चित् लगता है और जब उस कामके करनेमें आनन्दका अनुभव होता है तब हम दूसरोंको आनन्द देने लगते हैं। जो स्वयं उदास होकर मनहूसकी तरह काम करेगा उसके कामसे दूसरेको क्या मजा मिलेगा। क्या आनन्द आवेगा? अतः प्रसन्न रहकर, मुस्कराते हुए, आनन्द बिखेरते हुए काम करें। कर्म करते समय सबके साथ अभेद रखना चाहिए। भेदभाव कर्मको संकीर्ण बनाता है, आनन्द अपनेको तथा दूसरोंको आनन्दित करता है और समझदारी कर्मको सार्वाङ्गपूर्ण बनाती है। शक्ति कर्मको लक्ष्यकी ओर ढकेलती है और पूरी शक्ति तब लगती है, जब हमारे जीवनमें उत्साह हो।

योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये।

योगी लोग आत्मशुद्धिके लिए ही कर्म करते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी भी रामचरितका वर्णन आत्मशुद्धिके लिए करते हैं—'निज गिरा पावन करन कारन राम जसु तुलसी कह्यो। भागवतमें भी आया है—'गिरमन्याभिधासतीं सत्कर्तुम्।' दूसरोंका नाम लेते-लेते हमारी जीभ कुलटा हो गयी है, व्यभिचारिणी हो गयी है। अतः अन्यके अभिधानसे असती अपनी उस जीभकी पूजा करनेके लिए, उसको सती बनानेके लिए मैं श्रीकृष्ण चरित्रका गान कर रहा हूँ। लगता है गोस्वामी तुलसीदासजीने भी अपने उक्त कथनमें इसी उक्तिका आश्रय लिया है। तो हमारे कर्मका उद्देश्य क्या होना चाहिए? अपनी पवित्रता, आत्मशुद्धि, अन्तःकरणकी निर्मलता, मनमें जो वासनाओंके, कामनाओंके मल लगे हुए हैं, उनका निवारण।

अब काम करनेका जो विभाग है, उसपर विचार कीजिये—

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥ 5.12

देखो, हम दो टूक बात कहते हैं। यदि तुम्हें अचल शान्ति प्राप्त करनी हो तो काम कैसे करना चाहिए, यह सीख लो। केवल सरकार ही जेलखानेमें नहीं डालती, हम स्वयं भी अपनेको जेलखानेमें, बन्धनमें डाल लेते हैं। अतः यदि बन्धनसे मुक्त होना हो तो काम करनेका ढंग हमें जानना चाहिए। वह ढंग क्या है? यही कि युक्त होकर काम करना चाहिए। युक्तका अर्थ गीतामें युक्तिकी जानकारी रखनेवाला है। जागनेमें भी सावधानी चाहिए, सोनेमें भी सावधानी चाहिए। यदि आप ठीक समयसे जगेंगे नहीं और ठीक समयसे सोवेंगे नहीं तो आप काम भी ठीक नहीं कर सकते। भोजन ठीक नहीं करेंगे तब भी कर्म नहीं कर सकते। आपका पेट खाली है तब भी कर्म नहीं कर सकेंगे और पेट बहुत भर लेंगे तब भी काम नहीं कर सकेंगे। अतः कर्म करनेके लिए युक्ताहार-विहार होना आवश्यक है। कर्म करनेकी कुशलताका नाम योग है—'योगः कर्मसु कौशलम्।' जीवनको नियमित अथवा संयमित करनेपर कर्म अपने ढंगसे होने लगता है। भोजन इस युक्तिसे करें कि अपच न हो, आपकी प्रकृतिके विरुद्ध न हो। भागवतमें तो भोजनके लिए तीन बात बतायी है—'पथ्यं पूतमनायस्तम्।' भोजन ऐसा होना चाहिए कि वह शरीरके लिए पथ्य हो, मनके लिए पवित्र हो और अनायस्तम् अर्थात् उसको बनानेमें बहुत श्रम न करना पड़े। पहले कोई-कोई चीज ऐसे बनाते कि उसकी तैयारी करनेमें दो-दो, तीन-तीन दिन लग जाते थे और खानेमें केवल पाँच मिनट। कभी-कभी लोग कहते हैं कि महाराज केवल पाँच मिनटके लिए हमारे घर चले चलिये। किन्तु उनके घर पाँच मिनटके लिए जानेपर मार्गमें जो दो घण्टे लगते हैं उसको तो वे गिनते ही नहीं। तो भोजन करना पाँच मिनट और उसके लिए दिन खराब कर देना तीन—यह कोई बुद्धिमानीकी बात नहीं। अतः भागवतकारने जो भोजनके लिए 'पथ्यं पूतमनायस्तम्'—ये तीन विशेषण दिये हैं उनके अनुसार भोजन करें तो आप अपना काम बिल्कुल ठीक कर सकते हैं।

अब 'विहार' शब्दको लीजिये। विहारसे आप स्त्री-पुरुषका सम्बन्ध लीजिये या टहलना आदि लीजिये, सबमें युक्तता आवश्यकहै। एक दिन तो पाँच-दस मील चले गये और एक दिन पलंगपरसे उतरे ही नहीं ऐसा नहीं, बिल्कुल नियमसे विहार होना चाहिए—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।

कर्मकी शक्ति रहते हुए कर्म छोड़ना ठीक नहीं। शक्ति रहते हुए कर्म छूटता भी नहीं। जिन लोगोंको कुर्सीपर बैठकर पाँव हिलानेकी आदत पड़ जाती है, वह भी जल्दी नहीं छूटती। वे बैठते हैं और अनजानेमें पाँव हिलाते रहते हैं। जिनको उँगली चलानेकी आदत पड़ जाती है, उनकी अँगुलियाँ असावधानीमें चलती रहती हैं। इसी तरह व्यर्थ शब्द बोलनेकी भी आदत होती है। गाँवोंमें कईलोग हर बातमें 'राम आसरेसे' बोलते हैं। इसको शायद तकियाकलाम कहते हैं। सुननेवालोंको इस आदतपर हँसी आती है। अतः इसके सम्बन्धमें भी कर्मकी चेष्टा बिल्कुल युक्तियुक्त होनी चाहिए। सोच-विचारकर बुद्धिपूर्वक करना चाहिए।

'युक्तस्वप्नावबोधस्य'—इसका अर्थ है कि समयपर सोवें और समयसे जागें, तभी आप अपना काम

ठीक करेंगे। आप कर्मयोगको तभी ठीक कर सकेंगे, जब आपके जीवनमें कोई व्यवस्था आवेगी। जिसके जीवनमें अव्यवस्था होगी, वह अपना काम ठीक नहीं कर सकता।

अब यदि आप कर्मकी सूक्ष्मतामें प्रवेश करें तो प्रतीत होगा कि दूसरेका जो काम है, उसमें टाँग अड़ानेकी जरूरत नहीं। यदि हम अपना काम ठीक-ठीक करें और 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य' को क्रियान्वित करते रहें तो दूसरे लोग भी अपना काम ठीक-ठीक करेंगे और सारे काम समुचित रूपसे होते रहेंगे।

'युक्तःकर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्' का अर्थ है युक्त होकर काम करना। आचार्योंने 'युक्त' शब्दका अर्थ किया है ईश्वरार्पित। परन्तु युक्त शब्दका साधारण अर्थ आप ऐसा लें कि काम करते समय कभी-कभी कोई बात अपने मनके अनुकूल न हो तो क्रोध न करें। क्रोध आनेपर काम बिगड़ जाता है। इसको आप बहुत छोटे स्तरपर लीजिये। बड़े स्तरकी जो बात होती है, वह सिर्फ बड़े लोगोंके लिए होती है। अपनेको बहुत बड़ा न करके छोटी जगहसे बातको सीखना चाहिए। हमने देखा, एक बहुत बड़े वकील थे, बहुत अच्छी बहस कर रहे थे। सामनेके वकीलने जब देखा कि इनसे तो हम पार नहीं पावेंगे तो ऐसी बात कह दी कि अच्छी बहस करनेवाले वकीलको क्रोध आगया। और उनकी बहस बिगड़ गयी। जो कहना चाहिए था वह न कहकर वे क्रोधमें अण्ट-सण्ट बोलने लगे। बहसका असली मुद्दा छूट गया और वे सामनेवाले वकीलका तिरस्कार करते हुए यह कहने लगे कि 'इनको हम दस बरस पढ़ा सकते हैं।' अदालतने इस बातको नोट कर लिया। तो क्रोध करनेसे कर्म में योग नहीं रहता, मनुष्य अयुक्त अथवा अयोग्य हो जाता है। यदि किसी वस्तुकी प्रबल कामना आ जाय तो वह आपके मस्तिष्क पर छा जायेगी। आप वहाँ नहीं रहेंगे जहाँ काम कर रहें हैं, अपितु वहाँ पहुँच जायेंगे जिसकी कामना आपके मनमें है। आपका मन वहाँ रहना चाहिए, जहाँ आप काम करते हैं। यदि आपका मन वहाँ नहीं, तो आपका कर्म बिगड़ जायेगा, ठीक नहीं बनेगा। इसलिए—

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥ 5.23
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।

जो युक्त है, वह कर्मफल-त्याग करके नैष्ठिकी शान्ति प्राप्त करता है। युक्त वह है, जो काम या क्रोधपर अपने कर्मको छोड़कर दूसरी जगह न चला जाये। जीवनमें चाहे जितनी आवश्यकताएँ हों, चाहे जितनी इच्छाएँ हों, चाहे जैसी परिस्थिति हो, परन्तु अपना काम पूरा करके ही छोड़ना चाहिए। श्रीमद्भागवतमें एक कथा आती है। जब वराह भगवान् धरतीको अपने दाढ़पर लेकर रसातलसे निकले तो हिरण्याक्ष सामने आ गया और उनको गाली देने लगा—'तुम सूअर हो, भगोड़े हो, तुम्हारे अन्दर कोई ताकत नहीं।' अब यदि पृथिवी निकालनेके पहले वराह भगवान् उसको जवाब देने लगते, बोलने लगते या उससे भिड़ जाते तो उनक काम पूरा नहीं होता। अतः उन्होंने उसकी बक-बकपर ध्यान नहीं दिया और अपना काम करते रहे। वे पृथिवीको लेकर आये, उसको पानीके ऊपर ठीक-ठीक जमा दिया। जब पृथिवी जम गयी, स्थापित हो

गयी, तब उन्होंने घूमकर हिरण्याक्षकी ओर देखा और कहा कि 'भाई, सत्य ही हम तो सूअर हैं, 'वनगोचरो मृगः'—पशु हैं और हम भाग रहे हैं—यह भी सही है। परन्तु अब आओ हम तुमसे दो-दो हाथ करते हैं।' यह बात शूकर भगवान्ने तब कही, जब जलपर पृथिवीकी स्थापना हो गयी, अन्यथा यदि पहले लड़ाई होती तो पानीमें करनी पड़ती। बहादुरी दिखानेका काम भी स्थान और परिस्थितिके अनुसार होता है। पहले अपना बल देख लो। शत्रुके बलको भी माप लो, परिस्थितिको समझ लो, अपने सहायकोंको देख लो। फिर आवश्यकता हो तो अपना बल प्रकट करो। जो केवल क्रोधके आवेगमें अपनी शक्ति-सामर्थ्यका विचार किये बिना ही किसी काममें कूद पड़ता है, उसका काम बिगड़ता है। तो युक्तःका अर्थ है काम-क्रोधके वशमें न हो।

'शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात्'।

यह नियम मृत्युपर्यन्त रहना चाहिए। हम अन्ततक सावधान रहें कि काम-क्रोधके वशमें होकर कोई अनर्थ नहीं करेंगे। उनके आवेगको सह लेनेकी शक्ति अपने भीतर रहनी चाहिए। काशीमें प्रसिद्ध है, वहाँके एक साधु बदनाम मुहल्ला—दालमण्डीके पाससे रोज गंगा स्नान करने जाया करते थे। एक वेश्या सामने आकर खड़ी होती और पूछती कि 'महात्माजी पक्के हो?' साधु कुछ नहीं बोलते, सिर झुकाते और चुपचाप चले जाते थे। वेश्याने प्रतिदिन पूछनेका नियम कर लिया था और महात्माने उसको जवाब नहीं देनेका। जब महात्माजीकी मृत्यु हो गयी और उसी मार्गसे उनकी अर्थी निकली तब भी वेश्या आयी और बोली यह साधु हमारे प्रश्नका उत्तर दिये बिना मर गया। इसपर महात्माके मुर्देमें-से आवाज आयी कि—आज अपना उत्तर सुन लो, यह पक्का साधु है। इसे चमत्कार न समझकर इसका अभिप्राय समझना चाहिए। मनुष्यके मनमें विकार आते हैं, काम आता है, क्रोध आता है, लोभ आता है। ये मनुष्यको कहाँ छोड़ देंगे, इसका पता नहीं। इसलिए इनके वेगको सहनेका सामर्थ्य रहना चाहिए। जो ऐसा करता है, उसीका नाम युक्त है और वही सुखी है—'स युक्तः स सुखी नरः।' युक्त होकर काम करो। यदि आप अच्छा काम कर रहे हैं तो नतीजा कब निकलेगा, कैसे निकलेगा, कहाँ निकलेगा—इसकी चिन्ता छोड़ दीजिये। यह नतीजाकी स्थिति परिस्थितिजन्य है, उसके लिए चिन्ता करनेका कोई कारण नहीं। आप काम अच्छा कर रहे हैं कि नहीं—यह देखिये। निश्चय ही नतीजा अच्छा निकलेगा। एक बहुत मशहूर दोहा है—

चोरी करे निहाय की, करै सुई का दान।
ऊँचे चढ़िके देखिहैं, केतिक दूर विमान॥

बार-बार नतीजा देखना, हमारा काम नहीं। हमने निश्चय कर लिया कि यह काम पवित्र है, शुद्ध है हमारे उद्देश्यके अनुरूप है। प्रयोजन का विचार कर लेना चाहिए और कामना नहीं रखनी चाहिए। प्रयोजन और कामनामें बहुत फर्क है। यह नहीं कि चाहे जो काम करने लगे। यदि उचित काम कर रहे हैं, अपने कर्तव्यका पालन कर रहे हैं और अच्छे उद्देश्यसे कर रहें है, तो करते जाइए। उसके परिणामकी ओर, फलकी ओर बारम्बार देखनेकी कोई आवश्यकता नहीं। आपको हँसीकी एक बात सुनाते हैं। हमारे एक मित्र जो ईश्वर

कृपासे अभी हैं, वे और हम दोनों एक साथ बैठकर गायत्रीका जप करते थे। वे मित्र अपने पास एक शीशा रखते थे। जब एक दो मालाका जप पूरा हो जाता तो शीशा उठाकर अपना चेहरा देखते कि उनके चेहरेपर कितनी रौनक बढ़ी? गायत्री मन्त्रका जप करनेसे रक्तसंचार ठीक-ठीक होता है और वह ऊर्ध्वमुखी होता है। जप करनेवालोंके चेहरेपर तेज भी आता है। परन्तु वह तेज हर मालाके अन्तमें देखा जाय यह तो आवश्यक नहीं। काम करके तुरन्त उसके फलपर दृष्टि डालना अनावश्यक है। अनादिकालसे अबतक तो संसारका भजन करते रहे, अब चार माला ईश्वरके लिए फिरा ली तो देखने लगे कि अभी तो भगवान् ही नहीं आये, अभी उनका सपना ही नहीं आया, अभी हमको दर्शन ही नहीं मिला। अरे भाई, धैर्य रक्खोगे और निष्ठापूर्वक भजन करते जाओगे, तब न उसका परिणाम निकलेगा! अतः जब हम कामनाके द्वारा—'कामकारेण' प्रेरित होते हैं तब फँस जाते हैं।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥

एक बात यह भी ध्यान रखनेकी है कि मनमें काम आ जाये, क्रोध आ जाय तो यह नहीं समझना कि हमारा पतन हो गया, क्योंकि वह तो चिरकालसे अभ्यस्त है। मनमें क्रोध आ जाता है तो दिलमें जलन होती है और काम आता है तो दिल शरीरको फाड़कर बाहर निकलना चाहता है। काममें वातकी और क्रोधमें पित्तकी प्रधानता है। गोस्वमी तुलसीदासजीने ही लिखा है—

काम वात कफ लोभ अपारा।
क्रोध पित्त नित छाती जारा॥

क्रोध पित्त है छातीको जलाता है। यदि यह मनमें आगया है और हमने इसे जानबूझकर बुलाया नहीं तो आकर चला जायगा। परन्तु उसके आनेके बाद उसका चेला बन जाना, उसका किंकर हो जाना, उसके इशारेपर नाचने लगना, यह हमारे लिए उचित नहीं। ईश्वरकी समग्र शक्ति हमारे साथ है, हम ईश्वरके अंश हैं, हम चाहें तो काम, क्रोधको क्रियान्वित होनेसे पहले ही रोक सकते हैं। 'शक्नोतीहैव'का अर्थ है कि काम-क्रोधके वेगको सहन करनेका सामर्थ्य होना चाहिए। इसके सहनकी कितनी ही युक्तियाँ होती हैं। चुप हो जाओ, हट जाओ, पानी पी लो, ऐसे अवसरके लिए अपने ऊपर पहलेसे ही जुर्माना करके रखो, भगवान्का नाम लो, कामनापूर्तिका आग्रह मत रखो, दूसरेके मनका भी आदर करो—आदि अनेक ऐसे उपाय है, जिनसे हम काम-क्रोधके क्रियान्वयनसे अपनेको बचा सकते हैं, उनके वेगको सह सकते हैं। यदि आप युक्त रहेंगे और मनोरथके साथ नाचेंगे नहीं, तो आपको नैष्ठिक शान्तिकी प्राप्ति होगी। गीतामें युक्त शब्दका अर्थ छोटा-मोटा नहीं, बहुत बड़ा है—

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥ 6.18

जब हम निःस्पृह होकर अपने काममें लगे हैं तब दुनिया आवे जावे, हमें क्या चिन्ता है—'तू तो

राम भजो जग लड़वा दे।' जब-जब चित्त नियत होकर अपने हृदयमें ही स्थिर हो जाता है, कामनाकी गाड़ीपर चढ़कर बाहर नहीं दौड़ता तब इसका नाम युक्त हो जाता है। गीतामें सिद्ध पुरुषको भी युक्त कहते हैं—

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥ 6.8

जैसे भोजनका प्रेमी भोजन करके तृप्त होता है, जैसी तृप्ति बढ़िया-से-बढ़िया प्रिय एवं स्वादिष्ट पदार्थोंके खानेसे होती है, लोभीको धन मिलनेपर जैसा सन्तोष होता है, जैसी तृप्ति स्त्री पुरुषोंके मिलनेमें होती है वैसी ही तृप्ति, सन्तोष और रति जिसको ज्ञान-विज्ञानमें हो, वह युक्त होता है। जिसको सत्यमें परिवर्तनकी कल्पना न हो और इन्द्रियाँ जिसके वशमें हों ऐसे योगीको युक्त कहते हैं। ज्ञान-विज्ञान-तृप्तात्माकी विशेषता यह आती है कि उसके लिए मिट्टीका ढेला, पत्थरका टुकड़ा और सोनेकी सिल्ली समान है। जो बाहरकी वस्तुसे तृप्त नहीं, अपने आपमें तृप्त है, उसका नाम गीतामें युक्त है।

आप यह बात ध्यानमें रखें कि गीता बार-बार कर्मत्यागकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ बताती है— 'कर्मयोगो विशिष्यते।' यदि आप यह प्रश्न उठावें कि समाधि लगाना श्रेष्ठ है या कर्म करना श्रेष्ठ है तो योगी कहेगा कि कर्म विक्षेप है—बहिर्मुखता है, समाधि लगाना श्रेष्ठ है। संन्यासी कहेगा कि कर्म करना विक्षेप है, कर्मत्याग श्रेष्ठ है। परन्तु गीता समाधिसे भी श्रेष्ठ कर्मको बताती है। आप छठे अध्यायमें देखिये—'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्।'

अपने मनको आत्मसंस्थ कर लो, आत्मामें मर जाने दो। संस्था शब्दका अर्थ संस्कृत भाषामें मृत्यु भी होता है। जैसे किसी मुर्देको कब्र या समाधिमें गाड़ देते हैं, ऐसे ही अपने मनको अपने अन्दर विलीन कर लो। फिर तुम्हें कोई चिन्ता नहीं रह जायेगी।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥ 6.27

ब्रह्मभूत सुखकी प्राप्ति होती है। ठीक है किन्तु श्रीकृष्णने अर्जुनको बताया कि यह तो योग है और इसको करनेवाला योगी है। आओ अर्जुन, अब हम तुमको परमायोगीकी पहचान करावें—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥ 6.32

देखा, न तो यह ध्यान कर रहा है, न धारणा कर रहा है और न समाधि लगा रहा है। यह तो देख रहा है दुनियाको, दूसरोंको देख रहा है, सुखको देख रहा है, दुःखको देख रहा है। सुखीको देख रहा है, दुःखीको देख रहा है। परन्तु 'आत्मौपम्येन पश्यति'—अपने समान ही सबको देख रहा है। हमको सुख होता है तो कैसा लगता है। हमको दुःख पसन्द नहीं, सुख पसन्द है। परन्तु सामनेवालेको जब सुख-दुःख होता है तब कैसा लगता है? धर्मका यह रहस्य है कि मनुष्य अपने सुख-दुःखके समान ही दूसरेके सुख-दुःखका भी अनुभव

करे 'न तत् परस्य संदध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः।' अर्थात् जो काम अपने लिए उलटा पड़ता है, वह दूसरेके लिए न करें। वह परमयोगी है, जो दूसरेके सुखको ध्यानमें रखकर काम करता है—जो दूसरेको दुःख न पहुँचे, यह ध्यानमें रखकर कर्म करता है। 'आत्मौपम्येन'—जैसा अपनेको सुख-दुःख होता है, अनुकूल होनेपर सुख होता है, प्रतिकूल होनेपर दुःख होता है, वैसे ही दूसरेको भी होता है। परमयोगी लोगोंको चुन-चुनकर सुख पहुँचाने अथवा दुःखसे बचानेका प्रयास नहीं करता, अपितु उसकी दृष्टि सर्वत्र और समान रहती है। 'सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः।' अतः यदि समाधि लगानेवाला योगी है तो सबके सुखःदुखको अपना समझकर कर्म करनेवाला परमयोगी है।

भगवती गीताके अनुसार कर्म-संन्यासकी अपेक्षा कर्मयोग विशिष्ट है, कर्मत्यागकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है और समाधि लगानेकी अपेक्षा समत्वपूर्वक कर्म करना श्रेष्ठ है। भगवद्गीता दोनों तरहसे बनता है। भगवता गीता भगवद्गीता। भगवान्ने जिसका गान किया वह भगवद्गीता। और जहाँ गीता साक्षात् भगवती है वहाँ भगवती गीता। लक्ष्मीजीको भगवान् कहाँ रखते हैं? अपने वक्षःस्थलपर और गीताको कहाँ रखते हैं? आप लोग माहात्म्य तो पढ़ते ही होंगे। 'गीता में हृदयं पार्थ'—मेरा हृदय है।' तो गीता रहती है भगवान्के हृदयमें और लक्ष्मी रहती हैं भगवान्के वक्षःस्थलपर। गीता भगवान्के आनन्दका संगीत है, प्रेमका संगीत है। वास्तवमें जो युद्धभूमिमें लड़नेवालेके सामने और दुःखोंसे सन्तप्त प्राणियोंके सामने समान रूपसे आनन्दका गीत गा सकता है, उसीके हृदयमें गीताका निवास है। भगवान् कहते हैं कि श्रीमद् भी मैं ही हूँ।

श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्। 10.41

यह श्रीमद्गीता भगवान्का अंश है, भगवान्का तेज है। अतः इसका आश्रय-ग्रहण सब प्रकारसे श्रेयस्कर है।

•

प्रवचन : 7

शान्ति कैसे मिलती है, इसपर भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण हैं। गीतामें जीव स्वयं प्रयत्न करके शान्ति प्राप्त करें, यह बात कही गयी है। श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं कि ईश्वरकी शरणमें जाओ, उसकी कृपासे शान्ति मिलेगी। अर्जुन कहते हैं कि मुझे तो तुम्हारी कृपासे, तुम्हारे प्रसादसे, शान्ति मिलती है। इसप्रकार एक ही वस्तुको देखनेके लिए भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण होते हैं।

'युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा'—हम अपना कर्तव्य समझकर कर्म करते जायें। कर्म प्रयोजनीय अवश्य है, परन्तु उसके फलमें आसक्ति नहीं होनी चाहिए। बिना प्रयोजनके मूर्ख-से-मूर्ख मनुष्य भी किसी काममें प्रवृत्त नहीं होता। तो इस कामसे किस प्रयोजनकी सिद्धि होगी—यह बात अवश्य ही ध्यानमें रख लेनेकी है। निष्काम, निष्कामकी रट लगानेवाले सोचते हैं कि निष्कामका अर्थ निष्प्रयोजन होता है। किन्तु यह ठीक नहीं। अमुक काम करनेसे हमारे अन्दर कौन-सी वृत्ति उत्पन्न होगी और वह हमें अभीष्ट होगी कि नहीं यह विचार अनिवार्य है। कर्म करनेसे वस्तु मिले या न मिले—यह बात दूसरी है; परन्तु कर्ताके अन्तःकरणमें फलवृत्तिका उदय अवश्य होगा। प्रश्न यह है कि आप कैसी फलवृत्ति चाहते है? घृणा चाहते हैं? आलस्य चाहते है? प्रमाद चाहते हैं? द्वेष चाहते है? ऐसा तो कोई नहीं चाहता। हमारी स्वाभाविक चाह आनन्दकी उपलब्धि है और उसीके लिए प्रयोजनका विचार अपेक्षित है। प्रयोजन वह होता है जो कर्म करनेके बाद कर्ताके अन्तःकरणमें चिपक जाता है। शुद्ध प्रयोजनका स्वरूप ऐसा है कि 'अवगतं सद् आत्मनि इष्यते'—उसका ज्ञान होते ही आकांक्षा होती है कि बस, अब यह हमारे साथ ही रहे। निष्कामका अर्थ क्या है? आप निष्काम भावसे भगवान्‌के सामने खड़े हो जाइये और 'पापोऽहम्' कहिये। यह भगवान्‌के ही सामने कहिये, दुनियामें और किसीके सामने बोलनेकी जरूरत नहीं। अब विचार कीजिये कि इस प्रार्थनाका यही फल है कि हमने तुम्हारे सारे पाप माफ कर दिये। भगवान् बोलें या न बोलें—यह पापोऽहम्‌का प्रयोजन नहीं। प्रयोजन यह है कि आप भगवान्‌के सामने जिस विश्वाससे पापोऽहम् पापकर्माऽहम् बोल रहे हैं, उसी विश्वासके साथ आपके अन्तःकरणमें इस वृत्तिका उदय हो उसी विश्वासमें-से इस वृत्तिका अङ्कुर निकले कि निष्पापोऽहम्। यही प्रतीकोपासनाका फल, अहंग्रहोपासना है। आपने ईश्वरके सामने हाथ जोड़ लिया और आपके भीतरसे यह भाव निकला कि मैं निष्पाप हो गया। पापोऽहम् बोलता है जीव और बोलवाता है उसके भीतर बैठा हुआ ईश्वर। इसका फल यही है कि हम निष्पाप हो गये और इस फलको कोई त्याग नहीं सकता। अतः पापोऽहम् कहनेसे इस प्रयोजनकी सिद्धि हो गयी कि निष्पापोऽहम्‌का भाव आपके साथ जुड़ गया। हमने ईश्वरके सामने अपना पाप स्वीकार किया, अपनेको पापी माना और इसके बाद हमारा पाप मिट गया। अब देखिये कि पापोऽहम् बोलना निष्काम है या निष्प्रयोजन? निष्काम इस अर्थमें है कि इससे हम भगवान्‌से और कुछ नहीं चाहते परन्तु इसमें यह प्रयोजन तो है ही कि हमारे मनमें जो पापवासना है वह निवृत्त हो जाये, इसलिए यदि विचार करके कर्म किया जाये तो प्रयोजन की सिद्धि निश्चित रूपसे होती है। प्रयोजनकी सिद्धिमें कभी बाधा नहीं पड़ती।

कर्म अपना काम करता ही है, चाहे आप मानो चाहे मत मानो। किसीकी हिंसा करनेपर मैंने बुरा किया, यह वृत्ति आपके मनमें उठेगी ही। इसी प्रकार किसीको पानी पिलानेसे आपके मनमें खुशी होगी। यदि कहो कि हमने निष्काम भावसे पानी पिलाया है तो ठीक है, परन्तु पिलानेके बाद आपके मनमें जो खुशी होगी वह क्या है? क्या उसे आप रोक सकते हैं? यह कर्मका नियम है। इसको थोड़ी सूक्ष्मतामें समझना पड़ता है। सब पदार्थोंका स्तर बाहर ही नहीं होता, उनका स्तर भीतर भी होता है तथा आध्यात्मिक दृष्टिसे उसके लाभ और हानिको जाँचना पड़ता है।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्। 5.12
तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्। 18.62

ईश्वरकी शरणमें जानेपर कर्म समाप्त नहीं होता। यही होता है कि पहले तुम अपने बोझसे काम कर रहे थे, अब वह तुम्हारे लिए सहज हो जाता है। हमलोग प्राणायाम करते है—उनमें भस्त्रिका करते हैं, उज्जायी करते हैं, पूरक, रेचक, कुम्भक, अथवा कुछ भी करते हैं। किन्तु हम साँस ले रहे हैं और साँस छोड़ रहे हैं यह अभिमान होता है। कभी अभिनय अथवा नाटक करना हो कि हम तो थक गये तो उस समय भी साँस फुलानेकी क्रिया करनी पड़ती है। लेकिन सहज साँसका स्वरूप क्या है? यही है कि उसमें जान-बूझकर साँस लेने अथवा छोड़नेका अभिमान करनेकी कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। तो—'सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्'। हमारे जीवनमें जैसे सहज भावसे साँस आ रही है, वैसे ही सहज भावसे कर्म भी होते है। यदि आप कुछ पानेके लिए कर्म करेंगे तो आपको बनावटी कर्म करने पड़ेंगे, प्राणायाम अथवा अभिनय करेंगे। तो जान-बूझकर कर्म करने पड़ेंगे। परन्तु स्वाभाविक कर्म तो सहज भावसे ही होते हैं। इसलिए कर्म फलपर दृष्टि न रखकर सहज भावसे होने देना चाहिए। तभी आपको शान्ति मिलेगी। शान्ति भी बनावटी होती है। कई लोग शान्तिको साध्य वस्तु समझते हैं। आज यह मिला तो इससे शान्ति मिली। कई लोग वस्तु छोड़कर शान्ति पाते हैं और कहते हैं कि अमुक चीज छूट गयी तो बड़ी शान्ति मिली। अपनी शान्तिको बाहरकी वस्तुके पराधीन कर देना ठीक नहीं। एक साधु थे। वे जिस दिन खीर खाते थे, कहते थे कि बस आज बड़ी शान्ति है। खीर न मिले तो अशान्ति हो जाती थी। उनकी शान्ति खीरकी गुलाम थी। आपकी आँख कहीं फँस जाये और आप यह अनुभव करने लगे कि वह दिखायी देगा तो शान्ति मिलेगी, अन्यथा अशान्ति रहेगी तो आपने अपनी अशान्तिको उस वस्तुके पराधीन बना दिया। शान्ति तो स्वाधीन होनी चाहिए। जो शान्ति कुछ करके, कुछ भोगके या किसी संग-साथसे मिलेगी वह थोड़ी देरके लिए मिलेगी। इसलिए साधक लोग थोड़ी-थोड़ी देरके लिए मिलनेवाली शान्ति नहीं चाहते। साधकोंको तो स्थिर शान्ति चाहिए। स्थिर शान्ति युक्त-पुरुषोंको ही प्राप्त होती हैं। युक्तके लक्षण पहले बताये जा चुके हैं। हम आपको पुनः यह बताना चाहते हैं कि गीतामें युक्त-पुरुषके जो लक्षण बताये गये हैं वे बड़े उच्चकोटिके हैं—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥ 4.18

युक्त वह है जो कृत्स्नकर्मकृत् है—सारे काम करता है और योगी है। कहा—ठीक है कि योगी होगा, किन्तु बुद्धि ठीक काम नहीं करती होगी। बोले कि नहीं बुद्धिमान् भी है। काम भी कर रहा है, उसकी बुद्धि भी जाग्रत है और वह योगी भी है। क्योंकि उसके द्वारा जो कर्म हो रहे हैं, उसमें उसका मैं नहीं। नींदको पकड़कर रखनेवाला मैं नहीं होता और सपना बुलानेवाला भी मैं नहीं होता। इन दो अवस्थाओंका तो प्रत्यक्ष ही अनुभव होता है। अगर सपना बुलाना हमारे हाथमें होता तो हम बुरे सपने कभी नहीं बुलाते। यदि नींदको पकड़कर रखना अपने वशमें होता तो अनिद्राका रोग ही नहीं होता। नींद आती है, और जाती है, सपने आते हैं और जाते हैं। अच्छा, जाग्रतमें भी आप क्या बिल्कुल स्वतन्त्र हैं? स्वतन्त्रतापर थोड़ा ध्यान दीजिये। क्या आप दुःख चाहते हैं? नहीं चाहते। दुःख आवे तो परहेज करते हैं? करते हैं। फिर यह प्रयत्न करनेपर भी दुःख न आवे, वह क्यों आता है? निश्चय ही उसके पीछे कोई कारण है जिसपर आपका वश नहीं, अतः 'अहं करोमीति वृथाभिमानः।' मैं करता हूँ—यह अभिमान बिल्कुल झूठा है।

तो, यदि नैष्ठिक शान्ति, स्थिर शान्ति, अचल शान्ति प्राप्त करना हो तो कर्म करते रहें। उसको छोड़ें नहीं। परन्तु कर्म करते समय बुद्धिको भी न छोड़ें। यदि आप कर्म न करें और बुद्धि छोड़ दें तब भी अन्याय करेंगे अपने साथ। चाहे किसी भी मार्गमें चलना हो, बुद्धिका परित्याग नहीं करना चाहिए—

बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः।

बुद्धिकी शरण लो और समझ-बूझकर काम करो। कर्म करनेमें एक तो पूरा उत्साह चाहिए, दूसरे बिना कंजूसीके अपना सारा बल लगाना। बल सत्तामें-से, अस्तित्वमें-से आता है, समझदारी अपने चित्तसे आती है। स्वाद लेते हुए काम करें। बोझ समझकर, दुःख समझकर, काम न करें। सत्-चित्-आनन्द तीनों आपका स्वरूप है। आपके हाथसे जो रचना रची जाये, जो काम किया जाये, उसमें भी सत् हो, चित् हो, आनन्द हो। अपने आपको, अपने कर्ममें निमग्न करके, युक्त होकर कर्म कीजिये। आपको तभी शान्ति मिलेगी।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।

यदि कहें कि हम कुछ नहीं करेंगे, हाथ-पाँव बाँधकर बैठे रहेंगे, तो यह सम्भव नहीं। कभी-कभी आदमीको बहम होता है कि मैं कुछ नहीं करता, आसन बाँधना क्या कर्म नहीं? आपने अपने पाँवको समेटा तभी तो आसन बँधा। हाथको गोदमें रखकर बैठें या फैलाकर, यह भी तो काम है। आप तनकर बैठते हैं, पीठकी रीढ़ सीधी करते हैं, सिर ऊपरको करते हैं, ये सब कर्म है कि नहीं? तात्पर्य यह है कि जिस समय आप समझते है कि मैं काम छोड़कर बैठा हूँ उस समय भी काम करते होते हैं। इसीलिए जिस समय आप काम करते होते हैं, किन्तु आपमें उसका अभिमान नहीं होता तो उस समय भी आप कर्मसे मुक्त होते हैं। युक्तकी सबसे उत्तम परिभाषा यह है कि कर्म करते हुए भी उसमें कर्मका अभिमान नहीं होता। कर्म छोड़ना इसलिए कर्म है कि उसको छोड़नेमें साफ मालूम पड़ता है कि छोड़नेकी क्रिया मैंने की है। अतः कर्म भी नहीं छूटे, बुद्धि भी नहीं छूटे, और अभिमान-रहित अपने स्वरूपमें स्थित रहकर कर्म करें। यही कर्म करनेकी रीति

है। यदि आप इस रीतिके विपरीत कर्म करेंगे तो वह आपको बाँध लेगा, फँसा लेगा—'अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते।' भगवान्‌को अयुक्त पसन्द नहीं। वे निन्दा करते हैं अयुक्तकी—

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥

जो युक्तिपूर्वक उचित युक्त जीवन नहीं व्यतीत करता उसे शान्ति नहीं मिल सकती। युक्तिः यस्य अस्ति इति युक्तः इसको मत्वर्थीय प्रत्यय बोलते हैं। युक्त अर्थात् युक्तिवाला, युक्तिमान्। ऐसी युक्तिसे काम करो कि उसमें जो बुराई होती है, वह तुम्हें छू न सके। बुराईसे बचकर काम करो। यदि आप असावधानीसे काम करेंगे, अधिक सोते या अधिक जागते रहे तो कर्तव्यमें बाधा अवश्य पड़ेगी। जो रात-दिन भोग-विलासमें, खेलकूदमें, जुयेमें लग रहते हैं वे युक्त होकर काम नहीं कर सकते। दुर्भाग्यवश आजकल बड़े ऊँचे तबकोंमें बड़े ऊँचे स्तरपर ये सब काम हो रहे हैं। 'नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य' जिसके जीवनमें सोनेका, जागनेका, खानेका, काम करनेका कोई नियम नहीं, आहार-विहारका कोई समय नही, वह अपनेको बुद्धिमान् मानता है। बेवकूफीको ही बुद्धिमानी मानता है। परन्तु क्या प्रमादीमें कहीं बुद्धि हो सकती है? जब सूर्योदय होता है, तब उनका सायंकाल होता है। वे प्रकृतिके विरूद्ध आचरण करते हैं। अरे भाई, जरा सोचो तो सूर्यदेवता-प्रकाशदेवताका आदर नहीं करते हो? तुम प्रकाश-देवताका आदर नहीं करते तो तुम ज्ञान देनेवाले देवताका भी आदर नहीं करोगे तो तुम्हारे भीतर जो परमेश्वर बैठा हुआ है, उसका भी अनादर हो जायेगा। ज्ञान देनेवाला तुम्हारे भीतर बैठा है। वह इतना उदार है कि तुम्हारे न देखनेपर भी तुम्हें ज्ञान देता रहता है। इसलिए उसके आगमनपर तुम्हारा सोते रहना, तुम्हारी बुद्धिमत्ताका परिचायक नहीं।

यदि यह कहा जाये कि जिसके पास बुद्धि न हो, वह क्या करे? तो उसे श्रद्धासे, विश्वाससे काम करना चाहिए। जो बुद्धिमान् लोग हैं, उनके पीछे चलना चाहिए। अपनी बुद्धि काम न करे तो भावनासे काम लें। बुद्धि और भावनामें फर्क होता है। बुद्धि यह तत्काल ग्रहण कर सकती है कि क्या उचित है, क्या अनुचित है और भावना गृहीत विषयमें होती है। मूर्तिमें परमात्माको देखा जा सकता है बुद्धिसे, और भावना की जा सकती है विश्वाससे। दुनियामें ऐसा कोई मत-मजहब नहीं, जो मूर्तिको परमात्माके रूपमें देखता हो। जो लोग देखते हैं, वे केवल प्रतीक रूपमें देखते हैं, श्रद्धासे देखते हैं या परमेश्वरकी उपासना करनेके लिए छोटे-मोटे प्रतीकके रूपमें देखते हैं। अपने यहाँ जो मूर्ति है वह उपादानका ही एक रूप है। जैसे मिट्टी ही मिट्टीका खिलौना है, वैसे ही जगत्‌का मूल उपादान साक्षात् परमात्मा ही मूर्तिके रूपमें हैं। पीपलका पेड़, एक वैज्ञानिककी दृष्टिमें उसके शोधके अनुसार अमुक-अमुक तत्त्वोंका केन्द्र है। किन्तु भावुक भक्तके लिए साक्षात् वासुदेव है। एक जीवन्मुक्त महापुरुषकी दृष्टिमें जैसा उसका अपना शरीर है वैसा ही पीपलका पेड़ है। उसके लिए पीपलका पेड़ अपने आत्माका ही स्वरूप है। ब्रह्मज्ञानी तो सम्पूर्ण विश्वप्रपञ्चको साक्षात् अपरोक्ष अनुभव करता है कि वह उसके आत्माका ही स्वरूप है।

यदि आप सोने-जागने, खाने-पीने, सोचने-विचारनेमें अयुक्त हो जाओगे तो न बुद्धि न रहेगी और न

भावना। फिर वह कितना रूखा-सूखा जीवन होगा। जिस जीवनमें बुद्धि नहीं, वह अन्धकारमय है और जिस जीवनमें भावना नहीं वह रूक्ष है। आध्यात्मिक साधना केवल बाहर के व्यक्तियोंको खुश करनेके लिए नहीं, यह तो अपने भीतर महती शान्तिका अनुभव करनेके लिए है। जो सावधान नही, प्रमादी हैं वे अयुक्तः कामकारेण अपने स्वच्छन्द मनके अनुसार आचरण करते हैं। उनके मनमें कब क्या आ जायेगा, इसका कुछ ठीक नहीं। उसके कितने संस्कार है, कितने सपने हैं, कितनी कल्पनाएँ हैं, उनके मनके भीतर कब क्या फुरफुरा जायेगा और उन्हें किस रास्तेपर चलनेको कह देगा—इसका पता नहीं। इसलिए मनमें एक प्रकारकी युक्ति होनी चाहिए। और 'कामकार' नहीं होना चाहिए।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥

मनुष्यको मनमें जो आया वही नहीं करना चाहिए, अपितु उसे युक्तियुक्त कर्म ही करना चाहिए और कामके अधीन नहीं होना चाहिए। भगवानको आसक्ति पसन्द नहीं। वे कहते हैं—'फले सक्तो निबध्यते'—जो फलमें आसक्त हो जाता है, वह बँध जाता है। बँधना दूसरेके साथ ही होता है। हम लोगों ने उड़िया बाबाजी महाराजसे एक साधुके बारेमें यह कहा कि यदि ये दूध न पीयें तो इनका पेट साफ नहीं होता। तो बाबाने उत्तर दिया कि यह तो जेबी साधु बनेगा। जो दूध पिलावेगा, उसकी पाकेट में रहेगा। यह पराधीन हो जायेगा। और, सचमुच वह साधु एक सेठके घरमें परतन्त्र हो गया। दोनों समय सेर-सेर भर दूध पीये, तब उसका पेट साफ हो। सेठका सिद्धान्त ही उसका अपना सिद्धान्त बन गया। उसको पराधीन होकर जीवन व्यतीत करना पड़ा। जो नशइल लोग होते हैं, वे इस तरहकी पराधीनता अपने जीवनमें स्वीकार करते हैं। यह चीज नहीं मिलेगी तो हम जिन्दा नहीं रहेंगे, यह खानेको नहीं मिलेगा तो जिन्दा नहीं रहेंगे—यह आदमी नहीं मिलेगा तो हम जिन्दा नहीं रहेंगे—इस तरहके अभ्यासजन्य सुखको भी आसक्ति बताया जाता है। जिनको यह अभ्यास हो जाता है कि हमको यह करना है, वह करना है—वे यदि न करें तो बहुत दुःखी होते हैं। अपने चित्तमें कहीं भी आसक्ति नहीं होनी चाहिए। तुम नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्माके अंश हो, तुम सच्चिदानन्दघनके स्वरूप हो। तुम्हें संसारमें कहीं भी आसक्त होकर हीन नहीं बनना चाहिए। यदि आपको आसक्ति करनी ही हैं तो भगवान्से कीजिये। गोस्वामी तुलसीदासजीने कैसा बढ़िया कहा कि अगर आपको याचना करनी है तो केवल भगवान्से याचना कीजिये—

जग जाचिये कोऊ ना जाचिये तो जग जानकी जीवन नाहरे।
जिय जाचिय जानकी जानहि रे।
जेहि जाचत जाचकता जरि जाये जो जारत जोर जहानहि रे॥

दुनियामें किसीसे कुछ मत माँगिये। अगर माँगना हो तो केवल जानकीनाथ भगवान् रामचन्द्रसे माँगिये; क्योंकि उनसे याचना करनेके बाद याचना करने की वृत्ति जल जाती है और संसारका जो जोर है वह नष्ट हो जाता है। तो भाई, आसक्ति अगर करनी ही हो तो उसके पेटमें भगवान्को आने दो। सबसे पहली बात तो यह कि अपने जीवनमें आसक्ति हो ही नहीं और यदि हो तो परमात्मासे हो। अब उसके आगे नम्बर नीचे उतारना

हो तो आसक्ति सद्‌गुणोंमें कीजिये; हालांकि वे भी दुःख देते हैं। आसक्ति सत्कर्मों में कीजिये, सत्पुरुषोंमें कीजिये। आसक्तिको औषध बनाकर सेवन कीजिये। आसक्ति नित्यका भोजन नहीं, औषध है। सत्कर्मसे, सत्पुरुषसे, सद्भावसे और सद्‌गुण आदिसे जो आसक्ति होती है वह औषधरूप है। किन्तु यह भी नित्य नहीं। जहाँ आसक्ति होगी, वहाँ दुःख तो होगा ही। हम देखते है कि जो लोग सत्पुरुषोंसे आसक्ति करते हैं, वे उनके मर जानेपर कितना रोते हैं। यह भी देखते हैं कि जिन लोगोंकी सत्कर्मोंमें आसक्ति होती हैं, उनसे एक दिन सत्कर्म छूट जायें तो उन्हें कितना रोना पड़ता है। आसक्ति असलमें रोगकी दवा तो हैं, परन्तु वह जीवनका सहज स्वरूप नहीं। इसलिए जो जिससे आसक्ति करेगा वह उससे बाँध जायेगा और उसे वहाँ जाना पड़ेगा जहाँ वह मिलेगा। गीतामें कर्म करनेका सबसे बढ़िया ढंग बताया है—

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।

इसमें जो 'वशी' शब्द है वह हिन्दीमें दूसरी तरहसे चलता है। वशी उसे कहते हैं जो आत्मवश हो, जिसका जीवन उसके अधीन हो, जिसकी इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि सब कुछ उसके अधिकारमें हो। एक बड़े धनी हैं। उनको मोटर चलाना नहीं आता। ऐसे तो और भी बहुत होंगे। जब वे घरमें-से, आफिसमें-से निकलते हैं और कभी ड्राइवर नहीं मिलता तो छटपटाने लगते हैं। जल्दी पहुँचनेके लिए ड्राइवरपर लाल-पीले होने लगते हैं। क्योंकि वे पराधीन हैं, उन्हें ड्राइवर लेकर जायेगा तभी जा पायेंगे।

इसीलिए मनुजीने कहा स्ववशता—स्वाधीनता सुख है और पराधीनता-परवशता दुःख है—'सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।' तो मनुष्यको वशी रहना चाहिए। वशी शब्दका अर्थ स्वतन्त्र है। अपने मनको, अपनी इन्द्रियोंको, अपने जीवनको वशमें रखकर चलना चाहिए। यदि कहो कि कर्मोंका क्या करें, तो इसका उत्तर है कि 'मनसा संन्यस्तं' अर्थात् मनसे सब छूटा हुआ हो और देखनेमें सब हो रहा हो।

रातके बाद, विश्रामके बाद, प्रातःकाल नींद टूटनेपर, बुद्धि ताजी रहती है और मन भी ताजा रहता है। मनुजी कहते हैं—

ब्राह्मे मुहूर्ते चोत्थाय धर्मार्थावनुचिन्तयेत्।

ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर धन और धर्मका चिन्तन करना चाहिए। आज क्या व्यापार करना है, क्या नहीं करना और 'कायक्लेशांश्च'—हमारे शरीरमें क्या तकलीफ होती है तथा क्या खाने और क्या करनेसे नहीं होती, यह बात सबेरे सोच लेना चाहिए। इसी तरह आज हमको क्या अर्थ करना है और कौन अच्छे-अच्छे काम करने हैं—यह सब भी प्रातःकाल सोच लेना चाहिए। अच्छा काम करना, शरीरके अनुकूल भोजन करना, रोगके दुःखके हेतुओंसे परहेज करना और आरोग्यके साधनोंको सेवन करना, सकाम भाव नहीं। शरीर ठीक रहने पर सबका सब ठीक रहेगा—

'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।'

मनुष्यका वशी होना आवश्यक है। केवल माला फेरनेका नाम सर्वोत्तम जीवन नहीं। आप लोग बुरा मत मानना। माला फेरनेवाले अवश्य फेरें। बहुत अच्छा है माला फेरना। कपड़े भी अंट संट पहनते हों तो पहनें

किन्तु एक आध्यात्मिक नागरिकका जो स्वरूप होता है, उसका विस्मरण नहीं होना चाहिए। शान्त-चित्तसे बैठें और जो काम होना है, उसको मनमें डालें तथा मनको परमात्माकी प्रेरणामें डाल दें। अर्थात् कर्त्तव्यको मनमें मनको परमात्मामें न्यस्त कर दें। न्यस्त शब्दका मूल अर्थ धरोहर रखना होता है। आजकल ट्रस्टोंका नाम न्यास रखते हैं। कबीरदास इसे छोड़ देने, रख देनेके अर्थमें बोलते हैं—

दास कबीर जतन सों ओढ़ी
ज्यों की त्यों धरि दीनि चदरिया।

मतलब यह है कि जीवनका भार अपने ऊपर न लेकर जब परमात्मापर छोड़ देंगे तो वह बहुत बढ़िया चलेगा और आपको सन्तोष होगा कि आपने अपना जीवन सक्त हाथोंमें समर्पित कर दिया है। 'मनसा संन्यस्य'—अर्थात् मनके साथ-साथ अपने समग्र जीवनको परमात्मामें रख दो और मनसे, संकल्पसे जीवनके जो बोझ हैं, उनसे अपनेको छुड़ा लो। फिर जो सहज भावसे होता है होने दो।

यह छर भार तासु तुलसी जग जाको दास कहैं।

तुलसीदासजी कहते हैं कि यह क्षर-भार, यह नाशवान् वस्तुओंकी पोटली, मरने मिटनेवाली वस्तुओंका बोझ हम अपने सिरपर लादकर चलते हैं? नहीं जी, यह भार तो उसपर है, जिसके हम सेवक हैं, दास हैं और जो हमारा परमेश्वर है। एक होती है आध्यात्मिक दृष्टि, दूसरी आधिदैविक दृष्टि और तीसरी आधिभौतिक दृष्टि। प्रकृति भी आध्यात्मिक है, आधिभौतिक नहीं। साधारण लोग इस बातको नहीं जानते। परमेश्वरकी शरणमें होना आधिदैविक है और नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मदृष्टिसे भाव विनिर्मुक्त हो जाना आध्यात्मिक है। प्रकृति बनावटी नहीं, सच्ची होनी चाहिए। हम लोग अपनी आदत बिगाड़कर काम करते हैं और कहते हैं कि यह तो हमारा नेचर है, प्रकृति है। न्यक्चर—बिगाड़ी हुई आदतका नाम प्रकृति नहीं होता। शरीरका नाम प्रकृति नहीं, इन्द्रियोंका नाम प्रकृति नहीं। ये तो प्रकृतिके विकार हैं। मनका नाम भी प्रकृति नहीं, यह भी प्रकृतिका विकार है। प्रकृति माने जगत्का सहज अवस्थान। जो अन्त:करणसे भी सूक्ष्म है, उसको आध्यात्मिक नहीं कहेंगे तो आधिभौतिक कैसे कहेंगे? प्रकृति तो शरीरके मूल कारण रूपमें, जहाँ ईश्वर है, वहाँ साक्षी है। प्रकृतिसे जो कर्म होता है, वह सहज है और ईश्वरसे जो कर्म होता है वह हमारे लिए वरदान है। जो कर्म अपने सहज स्वरूपमें है, उसका तो कोई बोझ ही नहीं। 'मनसा संन्यस्य' का अर्थ है कि पहले इसको आप समझ लीजिये और इससे परे होकर खूब आनन्दसे रहिये। दुनियामें दु:ख कहीं नहीं। जितने दु:ख प्रतीत होते हैं, सब अपने मनके बनाये हुए हैं। आपने कई चीज ऐसी पकड़ रखी हैं जो आपको दु:ख दे रही हैं। गरीब लोग सोचते हैं कि इतना पैदा हो, तब हम सुखी होंगे। हमको ऐसा-ऐसा खाना मिलेगा, तब सुखी होंगे। हम दु:खके समाचार अखबारोंमें पढ़ते हैं, लोगोंसे सुनते हैं और कभी-कभी वह हमारे मनमें भी आ जाता है। लेकिन जब हम गम्भीरतासे विचार करते हैं तब देखते हैं कि दु:ख कितना निराधार है। बहुधा लोग रोते हैं कि हमें खानेको ठीक नहीं मिल रहा है। अरे भाई, खाते नहीं तो जीवित कैसे हो? नहीं महाराज, पहले गेहूँकी रोटी खाते थे अब बेझरकी रोटी खानी पड़ती है। इसी तरह कइयोंको यह दु:ख होता है कि हम टेरीकाट पहनना चाहते हैं और पहननेको

गाढ़ा मिल रहा है। ऐसे लोग खाने-पहननेके बिना दुःखी नहीं होते, परन्तु गेहूँकी रोटी और घी-छाछके लिए दुःखी होते हैं। असलमें दुःख न तो शरीरसे होता है और न वस्तुसे होता है। अपितु हमारे मनमें जो यह नहीं वहका, ऐसा नहीं वैसाका आग्रह-दुराग्रह बैठ गया है, यही दुःखका हेतु है। हमने स्वयं दुःखको अपने पास बुला लिया और सुखको अपनेसे बहुत दूर कर दिया है। सुख-दुःखकी जो कल्पना है, वह हमारी ही पैदा की हुई है। वृन्दावनमें हमारे पास एक पण्डितजी थे। पुस्तकालयकी देखभाल किया करते थे। नाम था पण्डित तुलसीराम जी। उनको उन दिनों तीस रुपये मिला करते थे। उसीमें वे अपना और अपनी पूत्रवधूका गुजारा करते थे। साग कभी नहीं बनाते थे। जिस दिन चावल बनाते उस दिन रोटी नहीं और जिस दिन रोटी बनाते उस दिन चावल नहीं। खिचड़ी या दाल पकाते तो उसीमें आटेको गोल-गोल करके डाल देते और मौजसे खा लेते। लेकिन जब हम कभी उनको दो आलू या दो टमाटर दे देते, वे खुशीसे नाचने लगते और कहते कि आज भगवान्‌की कितनी कृपा है कि आज हम दालमें टमाटर या आलू डालकर भोजन बनावेंगे। हम ऐसे लोगोंको भी जानते हैं, जिनको दो लाख मिल जाये तो कहेंगे कि ओहो चार लाख मिलना चाहिए था। यह तो बड़ा भारी घाटा हो गया। क्या यह दुःख है? भगवान्‌ने आँख दी, नाक दी, जीभ दी, कान दिये, दिल दिया, दिमाग दिया, ऐसा शरीर दिया, ऐसा मन दिया, ऐसी बुद्धि दी—इसको पानेपर यदि सन्तोष नहीं तो फिर कैसे सन्तोष होगा। तो जो वशी पुरुष होता है, अपनेको वशमें रखकर, नियन्त्रित रखकर रहता है, वह—'सुखमास्ते सुखं भुंक्ते, सुखमायाति सुखं याति च'—वह सुखसे रहता है, सुखसे खाता है, सुखसे आता है, सुखसे जाता है।

नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन् न कारयन्।

यह शरीर भी एक गाँव है, पुर है और इसके भी दरवाजे हैं। इसमें रहकर 'नैव कुर्वन् न कारयन्' होना है। इसमें किसीके ऊपर कोई बोझ नहीं। यदि आप अपने स्वरूपका ठीक-ठीक विचार करके देखें तो जैसे प्रकृतिमें सूर्योदय एवं सूर्यास्त होता है, चन्द्रोदय और चन्द्रास्त होता है और जैसे शरीरमें चेतना आती है और समयपर चली जाती है, वैसे ही सब काम बिल्कुल सहज भावसे हो रहे हैं। जब हम ईश्वरके काममें नुक्ताचीनी करते हैं कि ऐसे नहीं, वैसे होना चाहिए तब हमें दुःख होता है। जो ईश्वरकी ओरसे आ रहा है उसको स्वीकार करते चलें और अपनी ओरसे जो काम करते हैं उसमें थोड़ा सावधान रहें; जानबूझकर दूसरोंको तकलीफ न पहुँचावें तो दुःखी होनेका कोई कारण नहीं—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥ 5.14
नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥ 5.15
न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिज़ानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥

इसमें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि हमारे जीवनमें जो कर्म हो रहे हैं, वे न तो मुझको कर्ता बनाते हैं

और न उनका मुझसे कोई लेप है। मुझे कर्मफल मिले—ऐसी स्पृहा नहीं। मैं तो कर्मके लिए कर्म करता हूँ। भगवान्‌के इस कथनका तात्पर्य हमारे लिए यह है कि हम जिन कर्मोंको अच्छा समझते हैं, लोकोपकारी समझते हैं, उन्हें करते हैं। जब हम कर्म किये बिना रह नहीं सकते तो जो अच्छे काम हैं उन्हें करना हमारा धर्म है। हमारे कर्मका फल हमको मिले या न मिले अथवा अन्य किसीको मिले—इससे हमारा कोई लेनदेन नहीं। हम रास्तेपर झाड़ू लगाते हैं, उसका लाभ हमारे दुश्मनको मिले तो क्या है? हमारा दुश्मन उस रास्तेपर चलेगा और उसको आराम मिलेगा, तो हमारे लिए और भी आनन्दकी बात है। हमें तो इस बातका सन्तोष है कि हमने अच्छा काम किया। कर्मफलमें हमारी कोई स्पृहा नहीं। हमने बाँसुरी बजायी, उसकी ध्वनि सुनकर हमारा दुश्मन खुश होगा कि हमारा दोस्त खुश होगा, इससे हमें कोई मतलब नहीं। हमारा मतलब तो इससे है कि हमने अपनी बाँसुरीके द्वारा संसारमें सुखका संचार करके अपने कर्त्तव्यका पालन किया। कर्मफलमें कोई स्पृहा न होनेके कारण यह है कि न तो मैं भोक्ता हूँ और न कर्ता हूँ।

भगवान् श्रीकृष्णके कथनका आशय यह है कि मैं बाँसुरी बजाता हूँ, किन्तु उसकी मधुर ध्वनिका सुख कहाँतक जायेगा, कोई मतलब नहीं। वह मधुर ध्वनि चराचर सृष्टिको झंकृत करे, सारे आकाशमें गूँजे, उससे पेड़-पौधे बढ़ें, पशु-पक्षी आनन्दित हो, गोपियाँ सुखी हों, इसीलिए मैं बाँसुरी बजाता हूँ। उसको बजानेका अभिमान तो मुझको है ही नहीं। यही मेरा असली स्वरूप है। और, इसको जो जान लेता है वह कर्मसे आबद्ध नहीं होता। मुझको एक भक्तने कहा था कि इस श्लोकमें भगवान् कृष्णने अपने लिए कहा है, यह तुम्हारे लिए नहीं। तुम बारम्बार क्यों दुहराते हो? अब उनको कौन समझावे कि इसमें भगवान्‌ने हम सबके लिए सन्देश दिया है—'इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते'—अर्थात् जो मुझे जानता है वह कर्मबन्धनसे नहीं बँधता। वह भी मेरी तरह कर्ता-भोक्ता नहीं होता। इसका अर्थ यह कि जो श्रीकृष्णको अकर्ता-अभोक्ता जानता है, वह स्वयं भी अकर्ता-अभोक्ता हो जाता। वह भी कर्मसे, भोगसे आबद्ध नहीं होता। अब यदि यह कहो कि हमारे यह जाननेमात्रसे कि वे बड़े दानी हैं बड़े उदार हैं, अकर्ता हैं, अभोक्ता हैं, हम दानी, उदार, अकर्ता और अभोक्ता कैसे हो जायेंगे? हमारा उनका कोई ऐसा रिश्ता होना चाहिए, सम्बन्ध होना चाहिए कि उनमें जो गुण हैं वे हममें भी हों। ठीक है। किन्तु यदि हम और वे मूलतः कहीं एक न होते तो उनको अकर्ता, अभोक्ता जाननेपर हम स्वयं अकर्ता अभोक्ता हो जायेंगे—यह बात कैसे मिलती? वस्तुतः हम दोनों एक हैं। इसलिए जब श्रीकृष्ण यह कहते हैं कि मुझे कर्म लिप्त नहीं होते और कर्मफलमें मेरी स्पृहा नहीं, तो यह कथन केवल उनके लिए नहीं, हमारे लिए भी होता है। और यहाँ तो उन्होंने स्पष्ट ही कर दिया है—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥ 5.14

ईश्वरने किसी जीवको न तो कर्ता बनाया है, न भोक्ता बनाया है, न कर्म बनाया और न कर्मका फल बनाया। वह तो हमारा स्वभाव है। हम अपनी वासना और पसन्दके अनुसार कर्मोंमें जुड़ जाते हैं।

श्रीकृष्णने कर्म-बन्धनसे छूटनेका यह कितना बढ़िया नुस्खा बताया है—इसपर आप लोग ध्यान दें।

●

प्रवचन : 8

आत्मा ज्ञान-ज्योति हैं, अविनाशी है और इसका किसी भी प्रकारके कर्मसे संयोग नहीं होता—यह बात बतानेके लिए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥ 14॥
नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥ 15॥
ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥ 16॥
तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥ 17॥

इसमें पहले श्लोकका अर्थ कल भी बताया गया कि परमेश्वर किसीको कर्ता नहीं बनाते, किसीके कर्मकी सृष्टि नहीं करते और किसीके साथ कर्मफलका संयोग नहीं जोड़ते। स्वभाव ही प्रवृत्त हो रहा है। लोग कहते हैं कि ईश्वरने सृष्टि कब बनायी? कहाँ बनायी? पहले किसीको बनाया? इसका उत्तर वैदिक धर्म यह देता है कि कोई भी चीज पहले-पहल बनी दीखती नहीं, उसका बीज ही मिलता है। पहली भैंस कब पैदा हुई, यह किसीने नहीं देखा। भैंससे भैंस उससे फिर भैंस ऐसे ही पैदा होते देखा जाता है। जब पहलेसे बीज रहता है तब उससे अङ्कुरका उदय होता है। इसीलिए पूर्व-पूर्व बीजोंसे अर्थात् अनादि परम्परासे यह सृष्टि चल रही है। ईश्वर बिना बीजके सृष्टि नहीं बनाता—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः॥

यदि कहो कि ईश्वर स्वतन्त्ररूपसे सृष्टि क्यों नहीं बनाता? वह तो सर्वशक्तिमान है, जब जैसी चाहता वैसी सृष्टि उत्पन्न हो जाती। तो, इसका उत्तर यह है कि यदि ईश्वर अपने मनमें, बिना किसी निमित्तसे सृष्टि बना देता तो एकको दुःखी, एकको, सुखी कैसे बनाता? एकको गीध एकको गाय कैसे बनाता? यदि ईश्वर स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी मरजीसे ही किसीको बड़ा, किसीको छोटा, किसीको दुःखी, किसीको सुखी बनाता है तो वह एक वर्गके साथ पक्षपात और दूसरे वर्गके साथ अन्याय करता है। सृष्टि-निर्माणका कोई-न-कोई निमित्त तो होना चाहिए न! किन्तु ऐसा है नहीं। सृष्टिकी धारा अनादि परम्परासे बह रही है और यहाँ सब लोग अपने-अपने स्वभावके अनुसार बरत रहे हैं। कुमुदिनी कुमुदिनीमें-से निकलती है और वह रात्रिके समय चन्द्रमाको देखकर खिल जाती है। कमलसे कमल होता है और वह सूर्यको देखकर विकसित हो जाता है। उसमें कर्तृत्वकी सृष्टि किसीने नहीं की—'स्वभावस्तु प्रवर्तते' यह तो उसका स्वभाव है। भगवान् श्रीकृष्णने

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चारों वर्णोंके कर्मोंको स्वभावज बताया और कहा कि वे सब अपने-अपने स्वभावके अनुसार कर्म करते हैं—ब्रह्मकर्म-स्वभावज, क्षात्रकर्म-स्वभावज, वैश्यकर्म-स्वभावज और शूद्रकर्म-स्वभावज। श्रीरामानुजाचार्यने स्वभाव शब्दका अर्थ इस प्रकार किया है कि जन्म-जन्मके अभ्याससे जो संस्कार सञ्चित है, उनसे व्यक्तिके जीवनमें स्वभावका उदय होता है और वह अपने स्वभावके अनुसार कर्म करता है।

अब एक बात आपको सांख्यदर्शनकी बताते हैं, हमारे दर्शन पृथक्-पृथक् हैं और सब अलग-अलग ढंगसे अपने-अपने सिद्धान्तकी स्थापना करते हैं। सांख्यका कहना है कि संसारमें जितनी वस्तुएं बनती हैं वे दो तरहसे बनती हैं। एक तो प्रकृतिके स्वभावसे बनती है—जैसे आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी और स्त्री-पुरुष आदि। परन्तु इनमें मेरा-तेराका जो सम्बन्ध है—यह प्रकृति नहीं बनाती। प्रकृतिमें पेड़ बने हुए हैं। कौन पक्षी किस पेड़को पसन्द करता है, किसपर बैठता और कहाँ घोसला बनाता है, इससे प्रकृतिका कोई सम्बन्ध नहीं। यह तो पक्षीकी अपनी पसन्द है। अतः इस संसारमें जितने नाते हैं, ममताकी, गुणोंकी जो सृष्टि है—यह प्रकृतिकी बनायी हुई नहीं। फिर किसकी बनायी है? यह अविवेककी बनायी हुई है। यहाँ दो परम्पराएँ हैं—एक प्रकृत-परम्परा और एक मनुष्यकृत-परम्परा—जीवकृत-परम्परा। जीवने अपनी ओरसे मान लिया है कि यह मेरी है और यह तेरी है। प्रकृतिने सोना बनाया, चाँदी बनायी, पशु-पक्षी आदि बनाये; परन्तु अपने-परायेका भेद-भाव नहीं बनाया। मेरा-तेरा और तज्जन्य सुख-दुःख प्राकृत सृष्टिमें नहीं हैं, ये सब जीवकृत हैं। अनादि परम्परासे जैसा स्वभाव चल रहा है उसीके अनुसार सृष्टि होती है और मनुष्य अपना सम्बन्ध पदार्थोंसे जोड़ लेता है तथा विवश हो जाता है—

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥ 18.60

मनुष्य अपने स्वभावमें इतना संबद्ध हो जाता है कि यदि वह एककी निन्दा करेगा तो दूसरेकी निन्दा भी करेगा ही। जिसको प्रशंसा करनेका अभ्यास है वह एककी प्रशंसा करेगा तो दूसरेकी भी करेगा। उसके जीवनमें स्तुति-निन्दा करनेका जो अभ्यास है, वह उससे उचित निन्दा करायेगा ही। भले ही वह कहीं भी रहे, उसके लिए किसी न किसी को ढूंढ लेगा। एक सज्जन थे, उनकी किसी-न-किसीसे रोज लड़ाई हो जाती थी। एक दिन ऐसा प्रसंग आया कि साथके सब लोग ऐलीफेन्टाकी गुफा देखने चले गये, मैं और वे दो ही जने रह गये। उनके साथ लड़ाई करने योग्य कोई नहीं रह गया और वे मुझसे छोटे थे। फिर भी भिड़ गये। जब गर्म हुए तब मैंने कहा कि 'भाई आज कोई नहीं, मैं ही हूँ, मुझे तो बचाओ।' यह है स्वभावकी विशेषता। स्वभावस्तु प्रवर्तते का अर्थ है—

प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति।

मनुष्यका जैसा स्वभाव बन जाता है, वैसा वह काम करता है। कोई नहीं होगा तो वह पेड़को ही भला-बुरा कह देगा—यह पेड़ अच्छा है, यह बुरा है। एककी स्तुति कर देगा, एककी निन्दा कर देगा। वह

बिना किये मान नहीं सकता। देखो लोहेका या ताँबेका तार और बिजली है। बिजली लोहे या ताँबेके तारमें दौड़ती है। यह उसका स्वभाव है। परन्तु वह किस मशीनको घुमावे, किसीसे हवा खींचे और किसीसे गर्म या ठण्डा करे, यह बिजलीका नहीं, उस मशीनका बनाया हुआ स्वभाव है। गर्म या ठण्डा करना यन्त्रमें होता है और यन्त्रका संचालन बिजलीसे अर्थात् परमात्माकी सत्तासे होता है। इसलिए निश्चय ही परमात्माकी सत्तासे, उसके प्रकाशसे, विश्व प्रकाशित होता है। विश्व है ऐसा मालूम पड़ता है, परन्तु इसमें सबने अपने-अपने स्वभावको ही प्रकट किया है। श्रीमद्भागवतमें एक प्रसंग आया जहाँ भगवान् श्रीकृष्णको चुप हो जाना पड़ा, हार जाना पड़ा। वे काममें तो नहीं हारे, परन्तु बातचीतमें हारे गये। जब अपने पाँवसे कालिय नागको कूटने लगे तब उसने उनसे पूछा कि इस गुणमयी सृष्टिको आपने रचा है कि नहीं? रचा है। यह सर्पयोनि आपने बनायी है कि नहीं? बनायी है। इसमें आकृति, ओज, वीर्य, स्वभाव आपने डाला है कि नहीं? डाला है। तब हमारा तमोगुणी विषैला स्वभाव कैसे बना? हमें क्या उलाहना है? 'अनुग्रहं निग्रहं वा मन्यसे तद्विधेहि नः।' आप चाहे हमारे ऊपर अनुग्रह करो, चाहे निग्रह करो, हमको तो तुमने जैसा बनाया है वैसे हैं।' भगवान् हँसने लगे और बोले अच्छा, अब तुम यहाँ मत रहो। उन्होंने उसके विषको नष्ट नहीं किया, उसका डँसना नष्ट नहीं किया, उसको निर्भय करके दूसरी जगह भेज दिया। अस्तु; प्रकृतिसे, ईश्वरसे जो सृष्टि बनती है, उसमें दोषी ईश्वर नहीं, प्रकृति नहीं। विकार तो तब आता है जब हम अपने बने हुए स्वभावका ठीक उपयोग नहीं करते। स्त्री-पुरुष ईश्वरके बनाये हुए हैं किन्तु पति-पत्नीका सम्बन्ध मनुष्य स्थापित करते हैं और उनके सुख-दुःख इसपर निर्भर करते हैं कि वे अपने सम्बन्धका निर्वाह कैसे करते हैं। वेदान्तमें, पंचदशीमें ईश्वरसृष्टि और जीवसृष्टिका वर्णन किया गया है। वस्तु ईश्वरसृष्टि होती है और जीवसृष्टि मेरी-तेरीवाली हैं। ईश्वरसृष्टि किसीको दुःख नहीं देती और जीवसृष्टिमें दुःखकी उत्पत्ति हो जाती है। क्योंकि यह अकुशल है, काम करनेमें बहुत निपुण नहीं।

अब आप इस प्रकाशमें देखो कि आपके जीवनमें जो दुःख है, वह क्या ईश्वरका दिया हुआ है? क्या प्रकृतिका दिया हुआ है? 'प्रज्ञापराध एषः'—कहीं-न-कहीं समझमें गलती है। जिसके कारण हम दुःख देते हैं, दुःख लेते हैं। दुःखके समय दुःख देनेवाले निमित्तका सत्यानाश नहीं करना चाहिए, अपने मनको ठीक करना चाहिए क्योंकि वही दुःखको ग्रहण करता है। यदि हमारे मनमें कोई गड़बड़ी नहीं, तो दुःख होनेका कोई कारण नहीं। दुःख मानस है, दुःखकी जब अनुभूति होगी तब मनमें ही होगी चाहे कोई मारे, चाहे कोई कड़वी बात कहे। चाहे धनहरण हो, चाहे जनमरण हो, चाहे भवन-दहन हो, उसमें दुःखी हमारा मन ही होगा। आपको मीठा बनाना है तो मनको मीठा बनाना पड़ेगा। सृष्टि तो जैसी है, वैसी है, वह चाहे जैसी दीखे, अपने मनको मीठा बना लेना चाहिए। आध्यात्मिक उन्नतिका अर्थ अपने मनका मधुर हो जाना, प्रकाशमय हो जाना ही है। घटपटादिको ईश्वर नहीं बनाता। मैं घट-पटका कर्ता हूँ, यह भी ईश्वर नहीं बनाता। मैं कर्मफलका संयोगी हूँ, दुःखी हूँ, सुखी हूँ, यह भी ईश्वर नहीं बनाता। न ईश्वर कर्ता है, न कारयिता; न भोक्ता है, न भोजयिता। वह तो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ब्रह्म है।

अच्छा, यदि हम ईश्वरको कुछ देना चाहें तो? यह देना-लेना भी जबतक मनुष्य अनुभूतिके ऊँचे और गम्भीर स्तरमें नहीं पहुँचता तभीतक प्रतीत होता है। आपको यदि हम अपने अबतकके अनुभवकी बात बतावें तो वह यह है कि जहाँ कोई देने वाला नहीं देता, वहाँ भी मिलनेवाली चीज मिलती है। जहाँ दुःख देनेवाला नहीं होता, वहाँ भी मन रातको नींद टूटनेपर दुःखकी कल्पना कर लेता है और जहाँ कोई सुख देनेवाला नहीं होता, वहाँ भी मन सुखकी धारामें बहने लगता है। आनेवाली चीज आती है, जानेवाली चीज जाती है—अहं करोमीति वृथाभिमानः। स्वकर्मसूत्रग्रथितो हि लोकः।' यह जो मैं करता हूँ का अभिमान है, यह बिल्कुल झूठा है—

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥ 5.15

जहाँ बड़े प्रेमसे खिलानेवाले होते हैं, वहाँ भी कभी भूखे रह जाना पड़ता है और जहाँ कोई खिलानेवाला नहीं होता, वहाँ भी रोटी आ जाती है। अभिमान न लेनेवालेका ठीक है, न देनेवालेका। वह तो सर्वथा मिथ्या है। शांकर सिद्धान्तकी रीतिके अनुसार स्वभाव शब्दका अर्थ अनिर्वचनीय माया है, अविद्या है, प्रकृति है। श्रीरामानुजाचार्यके मतानुसार स्वभाव अनेक जन्मके कर्मोंसे सञ्चित है और वह बन चुका है। हमको एक महात्माने प्रसन्न होकर यह बात बतायी थी कि माया-माया सुनकर घबराना नहीं चाहिए। माया माने अपना मन ही होता है। यह संसार मायाने बनाया है, इसका अर्थ है कि इसको हमारे मनने बनाया है। यह दोस्त, यह दुश्मन, यह सुख और यह दुःख—इन सबकी सृष्टि मन ही करता है—'मनः सृजति कर्माणि।' शास्त्रोंमें जो यह लिखा है कि सृष्टि मायाकी बनी है, इसका यही अर्थ है कि मायासे सृष्टि बनी है। महात्माने मुझपर बहुत प्रसन्न होकर वरदान देनेकी भावनासे बताया था कि यह सारा-का-सारा तुम्हारे मनका ही खेल है। यदि कोई सोनेका पहाड़ प्राप्त करके सुखी होता है तो कोई छोड़कर सुखी होता है। छोड़नेवालेको यह कल्पना नहीं होती कि पानेवाला सुखी क्यों होता है। वह उसकी प्रसन्नताका ठीक-ठीक कारण नहीं समझ पाता। इसी प्रकार पाकर खुश होनेवाला यह सोच नहीं सकता कि त्याग करनेपर भी सुख होता है। इसलिए अभिमानके चक्करमें न पड़कर यह अनुभव करना चाहिए कि—'स्वभावस्तु प्रवर्तते।' स्वभाव ही सबको प्रवर्तित करता है।

अर्जुनने आठवें अध्यायके प्रारम्भमें प्रश्न किया—'किमध्यात्मम्'—अध्यात्म क्या है? उसके उत्तरमें भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते'—स्वभावका ही नाम अध्यात्म है। अध्यात्म माने स्वभाव, तो स्वभाव माने क्या हुआ? मन। ये सब जो संस्कृतके शब्द हैं, इनका ठीक-ठीक अर्थ हृदयंगम न होनेसे ही लोग समझते हैं कि न जाने इनमें क्या है? तो 'आत्मनि शरीरे इति अध्यात्मं' अर्थात् जो वस्तु शरीरमें ही रहती है, उसका नाम अध्यात्म है। हमारे देहके भीतर कुछ ऐसी मनोवृत्तियाँ हैं, जो संसारमें हमने यह किया, यह बनाया, वह बनाया, यह सुख पाया, वह दुःख पाया—इस तरहका अभिमान बना लेती है। 'स्वभावस्तु प्रवर्तते'का अर्थ है कि हमारा मन ही दुनियाका खेल रच लेता है। जिसका मन ठीक है, उसके लिए सारी दुनिया ठीक है।

आज प्रारम्भमें जो चार श्लोक प्रस्तुत किये गये हैं, उनके पहले श्लोकमें प्रभुः और दूसरे श्लोकमें विभुः शब्द हैं। यद्यपि ये एक ही परमात्माके नाम है, तथापि इनमें अन्तर करना हो तो यों कह सकते हैं कि प्रभुने कर्म, कर्मफल, कर्मसंयोगकी सृष्टि नहीं की। यह सृष्टि ईश्वरकृत नहीं, और यह जो विभु है उसके साथ तो किसीका सम्बन्ध ही नहीं होता। विभु माने व्यापक आत्मा। 'विभवति इति विभुः'—जो विविध पदार्थोंमें एक ही रहता है। 'विविधेषु भवति इति विभुः, विशिष्टं भवति इति विभुः।' जो अनेकमें एक है, उसका नाम विभु है। जो वस्तु विभु होती है वह न तो पाप लेती है और न पुण्य लेती है। अर्थात् आत्माका ऐसा स्वरूप है कि वह न पापी होता है और न पुण्यात्मा। आत्मा तो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त है। यदि आप गीताकी यह बात मानते हो कि—'न जायते म्रियते वा कदाचित्'—आत्माका जन्म और मरण नहीं होता तो कर्मका सम्बन्ध आप कैसे मानोगे? कर्मका सम्बन्ध मानोगे तो जन्म भी मानना पड़ेगा और मृत्यु भी माननी पड़ेगी। कर्मके अनुसार जो जन्ममरण होता है, वह तो शरीरका होता है। मन कभी सोता और कभी ज़ागता है। आत्मा कभी सत्य और मिथ्याके भेदमें नहीं होता। आत्मा तो ज्यों-का-त्यों रहता है।

यदि आप पुण्यात्मा होनेका अभिमान करोगे तो कभी बुरा काम होनेपर पापी होनेका अभिमान भी करना पड़ेगा और यदि पापी होनेका अभिमान करोगे तो कभी श्रेष्ठ काम करनेका, पुण्यात्मा होनेका अभिमान भी करना पड़ेगा। वस्तुतः बचनेकी चीज अभिमान ही है। अभिमान केवल वाणी और कर्म द्वारा ही प्रकट नहीं होता। मनमें भी अभिमानकी वृत्ति नहीं होनी चाहिए। अभिमान करनेका मतलब है अपनेको छोटा बनाना, परिच्छिन्न बनाना। अभि उपसर्गके साथ जो मान है, उसका अर्थ है माप। हम साढ़े तीन हाथके शरीर हैं, हम सौ या पचास बरसके हैं, हम डेढ़ दो मनके हैं—इसका नाम अभिमान है। कद, वजन, उम्र आदिको अपने साथ जोड़ लेनेका नाम अभिमान है। आप जब अपनेको इस अभिमानसे मुक्त करके विभुके रूपमें, शुद्ध आत्माके रूपमें अनुभव करेंगे तब आपके साथ कर्म नहीं जुड़ेंगे—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।

जैसे आसमानमें सूर्य प्रकाश देता हुआ विचरता है, चन्द्रमा चाँदनी फैलाता हुआ विचरता है, और ये दोनों प्रकाश अथवा चाँदनी देनेका अभिमान नहीं करते, वैसे ही मनुष्यका जीवन निरभिमान होना चाहिए। मनुष्यका जीवन सूर्यके समान, चन्द्रमाके समान है। इसीलिए वेदने कहा—'स्वस्ति पन्थानमनुचरेम सूर्याचन्द्रमसाविव।' सूर्य और चन्द्रमाके समान हम इस सृष्टिमें रहें। अपने भीतरसे बिना निकाले ही प्रकाश निकलता है, उससे सृष्टिको प्रकाशित होने दें। हमारी आत्मासे बिना दिये ही एक आनन्द निकलता है उससे सृष्टिको आह्लादित होने दें। किन्तु न देनेवाला बनें, न लेनेवाला, अपने सहज स्वभावको प्रकट होने दें।

नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥ 5.15

प्रश्न होता है कि जब मनुष्य इतना प्रकाशवान् और आनन्दमय है तो वह इस संसारमें दुःखी क्यों है? ईश्वरने दुःख दिया नहीं, आत्मा दुःखी है नहीं, प्रकृति दुःख देती नहीं, तो यह दुःख नामकी वस्तु कहाँसे आ

गयी? उत्तर है एक अन्धेरा छाया हुआ है। अन्धेरा कोई ठोस वस्तु नहीं, उसमें कोई वजन नहीं होता, उसकी कोई निश्चित लम्बाई-चौड़ाई नहीं होती। उम्र भी नहीं होती। वह रोशनी आयी और गायब हो गया। अन्धकार प्रकाशके भयसे भागता रहता है। उसका कोई स्थान नहीं, अज्ञानमें वह अवश्य निवास करता है—'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं।' इसीलिए वेदमें वर्णन आया कि 'नीहारेण प्रावृता जल्प्या असुतृपाः चरन्ति' अर्थात् एक ऐसा कुहरा है जिसने लोगोंकी बुद्धिको ढक दिया है। लोग केवल बात करनेमें बड़े निपुण है। अपनेको दुःखसे बचानेकी विद्या उन्हें नहीं आती। 'असुतृपाश्चरन्ति'—वे केवल अपनी इन्द्रियोंको तृप्त करनेमें लग गये हैं और यह करो, यह करो, के कर्मशासनके अधीन हो गये हैं। उन्हें अपना स्वरूप नहीं दिखायी देता।

दुःखका कारण है अज्ञान। यदि आप किसी वेदान्तीसे पूछने जाओगे कि अज्ञान क्या होता है तो वह अज्ञानकी ऐसी परिभाषा आपको बतावेगा कि आपको उसे समझनेमें वर्षों लग जायेंगे। वेदान्तकी परिभाषाके अनुसार अनादि, भावरूप ज्ञाननिवर्त्य अनिवर्चनीय अज्ञान क्या है? यह समझनेमें बड़ी कठिनाई होगी। वेदान्तकी परिभाषाके अनुसार—'भ्रमोपादानत्वं अज्ञानत्वं ज्ञाननिवर्त्यत्वं अज्ञानत्वं'—जो भ्रमका उपादान कारण है उसको अज्ञान कहते हैं। जो ज्ञान होनेपर मिट जाये उसका नाम अज्ञान है। इस तरह अज्ञानकी परिभाषा करनेमें आपको बहुत कठिनाई पड़ेगी। लेकिन आप उसको थोड़ेमें ऐसा समझ लो कि समझदारीकी कमी अथवा नासमझीका नाम अज्ञान है। हमने यह किया—यहाँ भी अज्ञान है। अज्ञान भावरूप है और यह ज्ञानको ढक देता है। मतलब यह कि नासमझीने हमारे स्वरूपको ढक दिया है। इसका फल यह हुआ कि—'तेन मुह्यन्ति जन्तवः—मनुष्य मनुष्य नहीं रहा, जन्तुके समान हो गया। जैसे कीचड़में केचुआ बिलबिलाता रहता है, वैसे ही मनुष्य केवल नासमझीसे दुःख-सुखके चक्करमें बिलबिला रहा है। संसारमें ऐसी कोई वस्तु है ही नहीं, जो दुःख दे। मौत कभी आती नहीं। कोई बता दे कि हमने अपनी मौत देखी है। ऐसा कोई माईका लाल न अभीतक पैदा हुआ, न होगा, जिसने अपनेको मरते देखा हो। क्योंकि 'हम मर गये' यह कहना बनता ही नहीं। यदि मर गये, तो हो कैसे? जिसको मर गये मालूम पड़ता है वह तो जिन्दा है। वेदान्तियोंका कहना है कि मृत्यु अनुभवका विषय ही नहीं। तब हम मरते हैं, यह बात कैसे होती है? ऐसे होती है कि हम दूसरेके शरीरको छूटते देखते हैं और अपनेको शरीर मानकर मरनेकी कल्पना कर लेते हैं।

अच्छा, अब एक दूसरी बात देखो। 'मैं जड़ हूँ'—यह अनुभव कभी किसीको हो ही नहीं सकता। यह भी अनुभवके क्षेत्रसे बाहर है। यह एक आदमीकी बात नहीं, दोकी भी नहीं, समग्र सृष्टिकी बात है कि कोई भी जीवात्मा अपनी जड़ताका अनुभव नहीं कर सकता। क्योंकि जब वह 'मैं जड़ हूँ' —यह अनुभव करेगा तो उस समय उसका अनुभव विद्यमान रहेगा और अनुभव जड़का धर्म नहीं, चेतन का धर्म है। मैं बेहोश हो गया, मूर्च्छित हो गया, यह भी मालूम पड़ता है। मैं मूर्ख बन गया, यह भी मालूम पड़ता है। यदि मालूम पड़ना नहीं रहेगा तो पीछे उसकी याद भी नहीं आवेगी। इसलिए 'मैं मर गया'—यह अनुभवके क्षेत्रमें है नहीं। 'मैं जड़ हूँ'—यह भी अनुभवके दायरेसे बाहर है। 'मैं अप्रिय हूँ'—यह भी अनुभवकी सीमामें नहीं। हम किसी एकके अप्रिय होंगे, दोके अप्रिय होंगे, अमुक अपनी मूर्खतासे हमको अप्रिय समझता होगा—ऐसी

मान्यता हमारी होती है। तो अपनी मृत्युका अनुभव न होना सत् है, अपनी जड़ताका अनुभव न होना चित् है और अपनी अप्रियताका अनुभव न होना आनन्द है, अर्थात् आत्मा बिलकुल सच्चिदानन्द है। 'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं' का अर्थ है कि हम अपने-आपको जानते ही नहीं। यदि हम देशको जानते हैं तो छोटे कैसे हो सकते है? कालको जानते हैं तो हमारी उम्र कैसे हो सकती है? वस्तुओंको जानते हैं तो हमारा वजन कैसे हो सकता है? हम तो नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मदेव हैं। नन्हा-मुन्ना मानकर ही मोहके चक्करमें पड़ जाते हैं। हम नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मा होते हुए भी मनुष्यतातक-से वंचित हो जाते हैं और जब मनुष्य भी नहीं रहते तब क्या हो जाते हैं? 'तेन मुह्यन्ति जन्तवः'—मोहग्रस्त होकर जन्तु बन जाते हैं, जानवर बन जाते हैं। मोहसे ग्रस्त क्यों होते हैं? इसलिए कि हमारी नासमझी काम कर रही है। अज्ञान माने नासमझी। भ्रम माने उलटी समझ। एक वस्तुको दूसरी वस्तु समझ लेना, पीतलको सोना समझ लेना—इसका नाम भ्रम है और पीतलको ठीक-ठीक न पहचानना—इसका नाम अज्ञान है। भ्रमके पूर्व अज्ञान रहता है। अज्ञानसे ही भ्रमकी उत्पत्ति होती है। यह हिन्दूधर्मकी खास विशेषता है कि जो समझदारीका तिरस्कार करता है उसे वह जन्तुकी संज्ञा दे देता है। ज्ञानकी इतनी महिमा संसारके किसी भी मजहबमें नहीं दूसरे मजहब प्रायः श्रद्धा और विश्वासके आधारपर चलते हैं, किन्तु हमारा वैदिक धर्म केवल श्रद्धा-विश्वासपर नहीं, ज्ञानपर आधारित है। यह ज्ञानके प्रकाशको, ज्ञानकी महिमाको प्रकट करता है। इसकी मान्यता है कि केवल ज्ञानसे ही मनुष्य सम्पूर्ण दुःखोंसे मुक्त हो जाता है, परमानन्दको प्राप्त कर लेता है—

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत् परम्॥ 5.16

ज्ञान प्राप्त होना चाहिए और उससे अज्ञानका नाश होना चाहिए। मध्वाचार्यने इस ज्ञानको परोक्ष ज्ञान कहा। श्रीरामानुजाचार्यजी भी इसे परोक्ष ज्ञान ही मानते हैं। शंकराचार्य इसको वृत्तिज्ञान मानते हैं। भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंके सिद्धान्तोंके साथ फिट बैठानेके लिए शब्दोंकी व्याख्या करनी पड़ती है।

तो पहली बात यह है कि आप ज्ञानके अधिकारी हैं। आप यह न समझें कि आपको ज्ञान कैसे होगा? ज्ञान पढ़े-लिखेको ही होता हो, सो बात नहीं। पढ़े-लिखे लोग भी अज्ञानी होते हैं और अनपढ़ लोगोंको भी ज्ञान हो जाता है। दूसरी बात यह कि यदि आपके मनमें हीनताकी भावना हो—हम तो समझते हैं कि नहीं होगी, क्योंकि आप साक्षात् परमात्माके स्वरूप है, शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मा हैं, परम पवित्र हैं—फिर भी आप समझते हों कि मैं पापी हूँ, दीन हूँ, हीन हूँ, नासमझ हूँ, तो आप गीताके इस श्लोकपर ध्यान दीजिये—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥ 4.36

यदि दुनियाके बड़े-बड़े पापियोंमें-से छाँट-छाँटकर तीन पापी अलग कर लिये जायँ और उन तीनोंमें भी जो सबसे बड़ा पापी हो—वह केवल पापकृत् और पापकृत्तर ही नहीं पापकृत्तम अर्थात् सबसे बड़ा पापी हो तो उसके लिए भी चिन्ताकी कोई बात नहीं। गीतामें श्रीकृष्णने बड़े-बड़े पापियोंको आमन्त्रित किया है,

आश्वासन दिया है कि आओ-आओ, हमारी इस ज्ञाननौकापर बैठ जाओ। तुम्हारे सारे पाप, सारे दुःख दूर हो जायेंगे, सारी वासनाएँ मिट जायेंगी और सारे अज्ञानका निवारण हो जायेगा। श्रीकृष्ण कहाँ कहते हैं कि तुम इस ज्ञानप्लवपर, ज्ञानकी नावपर बैठने योग्य नहीं हो अथवा हम तुमको इसपर नहीं बैठायेंगे या तुम इसपर बैठनेके अनधिकारी हो। उन्होंने तो सबको अधिकार दे दिया कि दुनियाका जो सबसे बड़ा पापी है, वह भी इस नावपर आकर चढ़ सकता है। यदि कोई कहे कि हमने तो बड़े बुरे-बुरे काम किये हैं तो भगवान् कहते हैं कि आओ ज्ञानकी आग जला दो—

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन

ज्ञानकी आग प्रज्वलित होगी तो तुम्हारे सोर बुरे कर्म जल जायेंगे, नष्ट हो जायेंगे। ज्ञान होनेपर, पाप-कर्म कोई बाधा नहीं डाल सकते। इसलिए बाधा नहीं डाल सकते कि ज्ञानकी आगमें प्रतिषिद्ध कर्म हो ही नहीं सकते। यदि कहो कि हम अपवित्र हैं, पतित है तो भगवान् कहते हैं—

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते

ज्ञानके समान कोई पवित्र नहीं, सबसे पवित्र यह ज्ञान है। जो भक्तगण गीतामें—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥ 9.30
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।

इन श्लोकोंको जो पढ़ते हैं वे कहते हैं कि देखो, भक्तिकी कैसी महिमा है। पापी-से-पापी भी भक्ति करे तो तर जाय। इसी प्रकार गीतामें ज्ञानकी जो महिमा बतायी गयी है, उसे पढ़कर यह कहा जा सकता है कि पापी-से-पापीको पवित्र करनेके लिए ज्ञानसे बढ़कर कोई साधन नहीं। जैसे भक्ति तुम्हारे हृदयमें द्वेष नहीं रहने देगी, घृणा नहीं रहने देगी, शंका नहीं रहने देगी और प्रेमरूप होकर तुम्हारे हृदयमें प्रकट होगी, वैसे ही ज्ञान अज्ञानका नाश कर देगा। ज्ञानमें किसीसे द्रोह नहीं, किसीसे द्वेष नहीं, किसीसे बुराई नहीं। सूर्योदय होनेपर अन्धकारका नाश हो जाता है और अन्धकारका नाश होनेपर सूर्य स्वयं तो प्रकाशित होता ही है, दूसरोंको भी प्रकाशित करता है। प्रकाशका यह स्वभाव है। दीपकको देखनेके लिए दीपककी आवश्यकता नहीं होती। अँधेरे में कोई चीज देखनेके लिए रोशनीकी जरूरत है, परन्तु रोशनी देखनेके लिए रोशनीकी जरूरत नहीं होती। एक बार जहाँ अज्ञानरूपी अन्धकारका नाश हुआ वहाँ ज्ञानरूपी सूर्य स्वतः प्रकाशित हो जाता है। इसको देखनेके लिए दूसरे प्रकाशकी आवश्यकता नहीं; अन्य सब वस्तुएँ क्या हैं, कैसी हैं, यह मालूम पड़ जाता है। तो ज्ञानमें तीन गुण हैं—

1. अन्धकारका नाश करना।
2. अपनेको प्रकाशित करना।
3. अन्योंको प्रकाशित करना।

स्वज्ञान और परज्ञान, दोनोंको दूसरे प्रकाशकी आवश्यकता नहीं होती।

तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत् परम्।

सूर्यके समान प्रकाशमान तत्त्वज्ञान परमात्माको सामने लाकर उपस्थित कर देता है। एक बात आपके ध्यानमें होगी कि ज्ञान वस्तुको बनाता नहीं, दिखाता है। रोशनी वस्तुका निर्माण नहीं करती, जो चीज जैसी होता है वैसी दिखायी देती है। सूर्योदय होता है तो पेड़ पैदा नहीं करता, घड़ा पैदा नहीं करता, स्त्री-पुरुष पैदा नहीं करता, अपितु अन्धकारका नाश कर देता है और जो पहले-से मौजूद है उसीको दिखाता है।

यथा हि भानोरुदयो नृचक्षुषां तमो निहन्यात् न तु सद्विधत्ते।
एवं समीक्षा निपुणा सती मे हन्यात् तमिस्त्रं पुरुषस्य बुद्धेः॥

आप इस बातपर ध्यान देगें तो हमारे दर्शनशास्त्रका जो रहस्य है, वह आपको हृदयंगम हो जायेगा। परमात्माका ज्ञान स्वयं प्रकाश है। उसकी रोशनीमें, जो चीजें बिना हुए डरा रहीं हैं जैसे—यह भूत है, प्रेत है, चोर है आदि—वे सब मिट जाती हैं। यह हमारा खो गया है, यह हमारे पास नहीं—इस प्रकारकी मनमें जो कुकल्पनाएँ होती हैं, उनका निवारण हो जाता है।

तो पुरुषकी बुद्धिको शुद्ध कर देना यह ज्ञानका काम हैं, वस्तुओंका निर्माण करना—यह कर्मका काम है और वस्तुओंमें मजा लेनेकी वृत्ति उत्पन्न कर देना—यह प्रेमका काम है। प्रेमसे वस्तुमें मजा आता है, कर्मसे वस्तुका निर्माण होता है और तत्त्वज्ञानसे जो प्राप्त करोगे तब परमात्मा-रूप सत्य अपने उद्भासित हो जायेगा। वह तो केवल अज्ञानसे अनमिला प्रतीत होता है। कोई चीज आपकी जेबमें पड़ी है और आपको उसका ख्याल नहीं, तो आप समझते हो कि वह खो गयी। 'गोदमें छोरा शहरमें ढिंढोरा' वाली कहावत तो आप जानते ही हैं। ऐसा ही है यह ज्ञान जिसको आप तलाश कर रहे हो। अरे बाबा, परमात्मा तो आपके दिलमें बैठा है। गुरुनानक उसीके लिए तो कहते हैं कि 'काहे रे बन खोजन जाई।' वह तो तुम्हारे दिलमें है। उसको दिलमें देखकर जंगलमें दूसरी जगह ढूँढ़नेके लिए क्यों जाते हो?

तो, तत्त्वज्ञानका तात्पर्य यह है कि अपने ही दिलमें, अपने ही स्वरूपमें जो परमात्मा बैठा हुआ है; उसका दर्शन हो जाये, साक्षात्कार हो जाये। ज्ञानसे जो चीज मिल जाती है, वह पहलेसे मिली हुई होती है। मान लो, हमारे सम्बन्धी कहीं खो गये हैं। हमें उनके लिए दुःख भी हैं। लेकिन हम उनकी पहचानते नहीं, और वे यहाँ बैटे हैं। जब मालूम पड़ गया कि वे तो यहीं बैठे हैं तो उनके खोनेका दुःख दूर हो गया। तो भाई, परमात्माके लिए, सत्यके लिए, परमानन्दके लिए, प्रार्थनाके लिए जो अपने मनमें दुःख है वह न पहचानेका दुःख है। पहचानते ही वह दुःख मिट जायेगा। जो चीज अज्ञानके कारण अनमिली होती है, वह वास्तवमें मिली हुई होती है और जो ज्ञानसे मिलती है, वह भी मिली हुई होती है। इसलिए ज्ञानसे परमात्माकी प्राप्ति स्वीकार करनेका मतलब यह है कि अनमिला नहीं, मिला हुआ है। तो, फिर उस ज्ञानकी प्राप्तिके लिए क्या प्रयास करना चाहिए, यह गीता बताती है—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥ 5.17

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ।। 5.18

पहली बात यह है कि अपनी बुद्धि उसमें प्रविष्ट करनी चाहिए। जैसे एक सिद्ध व्यापारीकी बुद्धि व्यापारकी सफलतामें प्रवेश करती है वैसे ही जो तत्त्वज्ञानके प्रेमी है, उनकी बुद्धिको तत्त्वमें प्रवेश करना चाहिए। जिस प्रकार अर्थसिद्धकी बुद्धि अर्थमें, धर्मसिद्धकी बुद्धि धर्ममें, कामसिद्धकी बुद्धि काममें तन्मय होती है, उसी प्रकार हमारी बुद्धि परमात्माके सम्बन्धमें विचार करे। 'तद्बुद्धयः' अर्थात् हमारी बुद्धि और प्यार, हमारा विचार और प्यार दोनोंको परमात्माकी ओर अग्रसर होना चाहिए।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ।। 12.8

भगवान् एक तो करते हैं प्रतिज्ञा और उसके बदलेमें दो चीज माँगते हैं। कहते है कि तुमने जो अपना मन अपने प्यारोंमें अटका दिया है, उसे वहाँसे उठाकर मुझमें रख दो। मन माँगनेका मतलब क्या है? मन कोई रुपया पैसा तो है नहीं, कोई चैक, कोई ड्राफ्ट तो है नहीं कि हम उसे उठाकर भगवान्में रख दें। हमने हाथमें पैसा या रुपया लिया, अक्षत लिया, जल लिया, पुष्प लिया और संकल्प किया कि यह मैं तुम्हें देता हूँ—'तुभ्यं समर्पये' अथवा 'तुभ्यं सम्प्रददे' यह मनका संकल्प नहीं हो सकता। भगवान् श्रीकृष्णकी रुचि है कि मणि तो हमारे घरमें रहे, लेकिन उससे जो रोज पैसा निकलता है, वह उनको मिले। 'मय्येव मन आधत्स्व'—अपने मनमणिको मुझे समर्पित करके रख दो और उसमें प्रेमकी जितनी वृत्तियाँ निकलें वे सब हमारे साथ जोड़ो। प्रेम भी भगवान्से हो और बुद्धि भी भगवान्में सन्निविष्ट हो—'मयि बुद्धिं निवेशय।' बुद्धि भी कोई स्थूल पदार्थ नहीं कि भगवान्के चरणोंमें ले जाकर अंगूर या सेवकी तरह रख दी जाये। बुद्धिमें तो विचार होते हैं। भगवान्का तात्पर्य है कि हमारे विचार हों परमात्माके बारेमें और प्यार भी हो परमात्माके ही बारेमें। इसका परिणाम होगा—'मय्येव निवसिष्यसि।' जहाँ हमने अपना प्यार और विचार दोनोंको भगवान्में अर्पित किया वहाँ हमारा निवास भगवान्में हो जायेगा।

'अत ऊर्ध्वं'—अर्थात् मन और बुद्धिके समर्पणके अनन्तर तो मनुष्यकी बुद्धि भगवान्में लगनी ही चाहिए। यदि कहो कि बुद्धि भगवान्में कैसे लगे तो इसका उपाय है 'तदात्मानः'—पहले अपना मन भगवान्में लगा दो, फिर बुद्धि अपने-आप लगेगी। जिससे प्यार होता है, उसके बारेमें बहुत विचार होता है। भाई, पति, पत्नी, पुत्र, धन इत्यादिके विषयमें जो इतना ध्यान लगता है उसका कारण यही है कि उनसे हमारा प्यार है। हम जो सबेरे-सबेरे उठकर धारणा-ध्यान-समाधि लगाते हैं वह अपने इष्टके प्रति प्रेम होनेपर ही लगाते हैं। तो जिस प्रकार प्रेम होनेपर प्रेमास्पदका चिन्तन होता है उसी प्रकार भगवान्से प्रेम होनेपर भगवान्में हमारी बुद्धि लगने लगेगी। अच्छा, तो प्रेम कब होगा? जब श्रद्धा होगी—'तन्निष्ठाः।' तुम मांहात्म्य-ज्ञानपूर्वक जितना-जितना ईश्वरको जानोगे, उतनी-उतनी तुम्हारी श्रद्धा बढ़ेगी। यह निष्ठा कर लो कि हमारा मन भले ही कभी इधरसे उधर हो जाये, किन्तु हमारा प्यारा तो भगवान् ही है। मनकी तरह बुद्धि भी कभी-कभी इधर-उधर विचार

करनेके लिए चली जाये तो उससे डरनेकी बात नहीं। बुद्धिकी यह निष्ठा होनी चाहिए कि हमें तो ईश्वरका ज्ञान प्राप्त करना है। जैसे समुद्रमें जहाजका पक्षी उड़कर दाहिने, बायें, सामने या ऊपर चला जाये लेकिन अन्ततोगत्वा आकर जहाजपर ही बैठता है, वैसे ही मनुष्यका मन परमेश्वरके प्रति निष्ठावान् होना चाहिए। यदि कहो कि ऐसी निष्ठा कैसे हो, जो मन घूम-फिरकर वहीं-का-वहीं बैठे, तो इसका साधन बताया—'तत्परायणाः' तत्पर हो जाओ। तत्पर अथवा तत्परायणका अर्थ है—'तदेव परमं अयनं यस्य।' यह निश्चय कर लो कि हमारा असली घर वही है। जब नवविवाहिता वधूको बोध हो जाता है कि ससुराल ही उसका असली घर है, तो बारम्बार मायकेकी ओर मन जाना धीरे-धीरे बन्द हो जाता है। अबोध बहू ही थोड़ी तकलीफ, थोड़ा मनके खिलाफ होनेपर झट टेलीफोन उठाती और मायकेमें खबर भेजती है। अरी! तुम्हारा अपना घर तो ससुराल ही है। मायकेके लोग कबतक तुम्हें सँभालेंगे? सँभालना तो ससुरालके लोगोंको ही पड़ेगा। तो तत्परायणाका अर्थ है कि जीवात्मा यह समझ जाये कि ईश्वर ही हमारा वास्तविक निवास, हमारा परम अयन और चरम विश्राम-स्थान है।

तो ज्ञानमें चार बातें हुई। पहली तत्परता कि हमारा एकमात्र परमेश्वर है। दूसरी निष्ठा कि मन-बुद्धिके चंचल होनेपर भी उसीपर बैठना। तीसरी मनका प्यार और चौथी बुद्धिका विचार परमात्मामें लगाना। ऐसा होनेपर—'गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः'—ज्ञान आपके सारे पापको धो डालेगा। ध्यान रहे कर्मसे पाप नहीं धुलते और इच्छासे भी पाप नहीं धुलते। यदि आप इस असलियतको समझ जाओ कि पाप क्या है तो जैसे समझ लेनेपर, जान लेनेपर भूत भाग जाता है, वैसे ही ज्ञानसे पाप भाग जाते हैं। 'ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः'—केवल ज्ञानमें ही कल्मषके निर्धूननकी शक्ति है। आप ज्ञान प्राप्त होनेपर पुनरावृत्तिसे छूट जायेंगे, आपका जन्मना-मरना छूट जायेगा, आपको मोक्ष-ही-मोक्ष प्राप्त होगा।

वही व्यक्ति सबसे बड़ा अभागा और संसारासक्त है, जिसको ऐसा मालूम पड़ता है कि संसारमें कोई ज्ञानी, कोई निर्दोष अथवा कोई महात्मा नहीं। जिसकी नजरमें कोई ज्ञानी है ही नहीं, कोई महात्मा है ही नहीं, कोई निर्दोष है ही नहीं, वह अपने निर्दोष होनेकी कल्पना ही नहीं कर सकता। फिर वह कैसे निर्दोष हो सकेगा? अस्तु; ज्ञानी पुरुष इसी दुनियामें रहते हैं। कैसे रहते हैं तो समदर्शी होकर रहते हैं—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥ 5.18

•

प्रवचन : 9

प्राय: लोगोंकी धारणा है कि धर्ममें श्रद्धा ही प्रधान होता है वहाँ केवल विश्वास ही करना पड़ता है। यह बात दूसरे मजहबोंकी दृष्टिसे ठीक भी है। वैदिक धर्ममें भी जहाँतक परलोकका प्रश्न है—यह करेंगे तो स्वर्ग मिलेगा और वह करेंगे तो नरक मिलेगा—उसके साथ भी श्रद्धाका सम्बन्ध है। परन्तु वैदिक धर्ममें जो परमार्थका दर्शन है, साक्षात्कार है, वह केवल श्रद्धा-विश्वासपर अवलम्बित नहीं। 'घटवत् किं न भासते'—विद्यारण्य स्वामीने कहा कि परमार्थ क्या वैसे हीं नहीं दीखता जैसे घड़ा दीखता है। जैसे स्फीतालोक-मध्यवर्ती प्रत्यक्ष घट दीखता है, वैसे ही परमात्माका दर्शन भी स्पष्टम्-स्पष्टम् होता है। उसमें श्रद्धा-विश्वासकी बात नहीं रहती। भले ही प्रारम्भमें श्रद्धाविश्वास करना पड़ता हो, परन्तु उसका अन्त साक्षात्कारमें ही है। प्रमाणद्वारा परमेश्वरका ज्ञान, वैदिक धर्मकी विशेषता है। हमलोग केवल पुराणवादी नहीं, हमारे साथ दर्शन है। आप इस बातपर ध्यान देना कि दुनियाके किसी मजहबके साथ दर्शन नहीं, दर्शन तो केवल हमारे साथ है। इसका कहना है हमको परमात्मा केवल इसलिए अप्राप्त है कि हम उसे न जानते हैं न पहचानते हैं। श्रुति कहती है कि 'अनृतेन हि प्रत्यूढा:'—लोग मिथ्याके द्वारा बहकाये जा रहे हैं। झूठी मान्यताओंके कारण इधरसे उधर भटक रहे हैं। ऋग्वेदका मन्त्र है—'न तं विदाथ य इमा जजान'—तुम उसको नहीं जानते, जिसने यह सृष्टि पैदा की। 'अन्यद् युष्माकं अन्तरं बभूव'—तुम्हारे और उसके बीचमें एक दूसरी वस्तु आकर खड़ी हो गयी है। नीहारेण प्रावृता जल्प्या आसुतृपा: उक्थशासा चरन्ति' दुनियाके लोगोंकी आँखोंमें कुहासा छा गया है। वे केवल प्राणपोषण-परायण हो गये हैं। बकवादी हो गये हैं, बोलते अधिक हैं, वस्तुको पहचाननेका प्रयास नहीं करते। इस अन्धकारमें विचरण कर रहे हैं। 'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं'—ज्ञानस्वरूप आत्मा अज्ञानसे ढका हुआ है। यदि आप ज्ञान प्राप्त कर लें तो उसका आवरण अपने-आप भंग हो जायेगा—

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥

आप इस बातको वैदिक धर्मकी विशेष सम्पत्ति समझें कि यहाँ ज्ञानसे अज्ञानका नाश होकर परमार्थका परमात्माका दर्शन या साक्षात्कार होता है। जब परमात्माको निर्गुण, निर्विशेष कहते हैं तब इसका अर्थ होता है जैसा यह वैसा वह—जैसा वह वैसा यह—जैसा मैं वैसा वह, जैसा वह वैसा मैं। निर्विशेष अर्थात् विशेष नामकी वस्तुसे, भेदनामकी वस्तुसे रहित। इसलिए केवल अज्ञान ही परमात्माकी प्राप्तिमें बाधक हो रहा है। जब मनुष्य ज्ञान प्राप्त कर लेता है तब अज्ञानका नाश हो जाता है। जैसे सूर्यका प्रकाश होनेपर वह स्वयं प्रकाशित होता है और अन्धकारका नाश तथा पहले-से विद्यमान वस्तुओंका दर्शन होता है; वैसे ही परमतत्त्वका प्रकाश होता है। परमके साथ जो तत् शब्द है, वह अज्ञानका भी वाचक है—'तस्मात् परम् तत्परम् अज्ञानात् परम्।'

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्।

परमात्मा वह है जो तमस्‌से, अन्धकारसे अज्ञानसे परे हैं। 'परे' शब्दका अर्थ भी संसारमें दूसरी तरहसे और परमार्थमें दूसरी तरहसे होता है। एक मैं हूँ और एक पराया है। एकका नाम हुआ संसार और एकका नाम हुआ मैं। लाखों मैं में एक मैं 'पर' रहकर मैंको प्रकाशित करता है। परमार्थमें 'पर' माने होता है अन्तरङ्ग, प्रत्यक् और व्यवहारमें 'पर' माने होता है पराया-दूसरा। गीता कहती है—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥ 3.43

कठोपनिषद्‌में इस प्रकार कहा गया है—

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥ क० 10 तृ. व.

'पिपर्ति इति परः।' जो सबका पालन-पोषण करता है, उस आत्मदेवका ही नाम पर है। वह सबका पालन-पोषण कैसे करता है, इसपर आप ध्यान देंगे तो मालूम पड़ेगा। दुनियामें जितनी चीजें मालूम पड़ती हैं, जो भी सुख-दु:ख, अपना-पराया मालूम पड़ता है वह सब अपने-आपके होनेसे ही मालूम पड़ता है। यह ईश्वर है, राम है, कृष्ण है, शिव है अथवा यह अच्छा है, बुरा है, समाधि है, सुषुप्ति है, जाग्रत् है आदि जितनी भी वृत्तियाँ हैं इन सबको परिपूर्ण करनेवाला, सबका पालन करनेवाला आत्मदेव ही है। यह यदि भीतर बैठकर न देख रहा हो तो कुछ भी नहीं मालूम पड़े। इसलिए सबसे परे तत्त्व कौन-सा है, तो—'पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः'—यह जो पुरुष है, यही सबसे परे है, प्रत्यगात्मा है। इसका दर्शन कैसे होता है, इसके दर्शनके लिए क्या उपाय करना चाहिए तो बताया—'ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः।'

हमारे मनमें कुछ कल्मष आगये हैं। कल्मष वह है जो हमारे सत्कर्मके फलको नष्ट कर देता है, दवा देता है, प्रतिबद्ध कर देता है। 'कर्माणि स्यति इति कल्मषः' हमने अन्तर्मुख होनेके लिए, सुखी होनेके लिए अच्छे-अच्छे काम किये हैं लेकिन पाप ऐसा आता है जो सत्कर्मोंके फलका अनुभव ही नहीं होने देता। इसलिए ज्ञान प्राप्त करनेके लिए जो सत्य है, उसमें बुद्धि लगाओ। 'तद्‌बुद्धयः' उसपर विचार करो। जैसे व्यापारको समझनेके लिए, व्यवहारको समझनेके लिए, परिवारको समझनेके लिए हम अपनी बुद्धिको लगाते हैं, वैसे ही परमेश्वरको समझनेके लिए बुद्धि लगाना आवश्यक है। यदि कहो कि व्यापारमें बुद्धि लगानेसे धन मिलता है, व्यवहारमें बुद्धि लगानेसे यश मिलता है, किन्तु परमेश्वरमें बुद्धि लगानेसे क्या मिलता है तो इसका उत्तर है कि परमेश्वरकी पहचान जानेपर बिना मालका सुख मिलेगा, बिना परिश्रमके शान्ति मिलेगी, हर समय एक परमेश्वरका दर्शन होगा और यह जो तुम्हारी मनोवृत्ति 'क्षणे रुष्टा क्षणे तुष्टा' होती रहती है वह शान्त हो जायेगी। क्षणभरमें खुश हो गये, क्षणभरमें नाराज हो गये। दिनभरमें कितनी बार दु:खी और सुखी होते रहते हो, कितनी बार रोते और हँसते हो—इसकी कोई दैनन्दिनी है, कोई डायरी है? किन्तु यदि परमात्माका दर्शन हो जाये तो इस द्वन्द्वसे मुक्ति मिल जायेगी। इसलिए अपनी बुद्धि परमात्मामें लगाओ। मनुष्यके मनका प्यार यदि परमात्माके साथ जुड़ जाये तो संसारके सारे आकर्षण समाप्त हो जायें। जगह-जगह हमारा प्यारा बदलता रहता

है। हमें यह प्रिय है, वह प्रिय है। कोई यह सूची नहीं बना सकता कि उसके कितने प्यारे हैं, कौन-से स्पर्श प्यारे हैं? कौनसे संगीत प्यारे हैं, कौन-से स्वर प्यारे हैं, कौन-से रूप प्यारे हैं—इनकी गिनती ही सम्भव नहीं। इसलिए केवल एकसे प्यार करो और उसमें अपने मनको मिला दो। जहाँ-तहाँ भटकते रहनेसे तो कभी भी शान्ति नहीं होगी। धर्मका काम यही है कि वह दस जगह भटकने न दे। ब्याह हुआ तो पति-पत्नी एक हो गये, उनके मन मिल गये। मनको मर्यादित करना ही धर्मका काम है। यदि आप मनको मर्यादित नहीं करेंगे तो—'वाताहता नौरिवार्णवे' जैसे हवासे डगमगाती हुई नाव कहीं भी टिक नहीं सकती वैसे ही आपके मनको कहीं ठौर-ठिकाना नहीं मिलेगा। तो परमात्माको समझें और उसमें अपना मन लगा दें। यदि कभी मन न लगे, चंचल हो जाये, तो उस समय भी उसीपर आस्था करें और निश्चय रखें कि उसी परमात्मासे मिलना है। ऐसा करनेपर अवश्यमेव अपुनरावृत्तिकी प्राप्ति होती है। बारम्बार जाना और बारम्बार आना—जायस्व और म्रियस्व—पैदा हो और मरो—बनो और बिगड़ो—यह जो दुनियामें लगा हुआ है, यह जो अशान्ति है, इसका अन्त होना चाहिए। हम रागसे रँग जाते हैं, द्वेषसे जलने लगते हैं। इससे छुट्टी तभी मिलेगी जब परमात्माके स्वरूपका ज्ञान हो जायेगा। अपुनरावृत्तिका अर्थ है मोक्ष। लौट-लौटकर आनेका नाम पुनरावृत्ति है। हमारा मन लौट-लौटकर पीछे जाता है, पुनरावृत्ति करता है। जो कुछ दृश्यमान है—दीख रहा है, जो कुछ श्रूयमाण है—सुना जाता है, उसमें हमारा मन बारम्बार जाता है। और जो कुछ स्मर्यमाण है, याद आता है, उसमें अच्छे बुरेकी, अच्छाई-बुराईकी कल्पना करके हमारा मन सटता और हटता रहता है। इसलिए मनुष्यको अपना अदलने-बदलनेवाला मन संतुलित करना चाहिए। यह हमारे वैदिक धर्मकी, वेदान्तकी युक्ति है। इसकी साधना वैकुण्ठमें जाकर नहीं होती। वेदान्तका कहना है कि इस समय जो तुम हो, वहीं मुक्त हो। तुम न धनसे बँधे हो, न भोगसे बँधे हो और न कर्मसे बँधे हो। बिल्कुल छुट्टे छड़िंगे हो। तुम्हारी मौज हो तो किसीके साथ मिल लो। धन कमाया है तो उसका मजा ले लो। लेकिन याद रखिये कि यह चेतन आत्मा कहीं भी किसी जड़ वस्तुके साथ बँधी हुई नहीं। हमलोग बारम्बार बन्धनका अनुभव करते हैं और लौट-लौटकर यहीं आते हैं। इससे मुक्त होना अनिवार्य है। मुक्तिका अर्थ यह है कि आप जैसे धनके संग्रहसे सुखी होते हैं वैसे ही धनके त्यागसे भी सुखी हों, जैसे भोग करके सुखी होते है वैसे ही ब्रह्मचर्यसे, भोगत्यागसे भी सुखी हों, जैसे भोजन-करके सुखी होते हैं वैसे ही उपवास करके भी सुखी हों, जैसे काम करके सुखी होते हैं वैसे ही काम छोड़कर शान्तिसे रहकर भी सुखी हो। आपके जीवनमें जो पराधीनता है, वह निवृत्त हो जाये। मुक्ति माने छुटकारा—पराधीनतासे, बन्धनसे। 'मानि-मानि बन्धनमें आयो'—मनुष्य अपनी मान्यताके अनुसार ही बँधा हुआ है। जो लोग लगे-लगे पीछे-पीछे डोलते हैं, उनको वह बन्धन कहाँ है? क्या तनमें कहीं रस्सी बँधी है? जीभ पकड़ी हुई है? नहीं, उनका मन ही बँधा है, पकड़ा हुआ है। मनको भी किसी दूसरेने नहीं, उनके मनमें स्वयं जाकर अपनेको पकड़वाया है। मुझसे एक बड़े बूढ़ेने स्वयं बताया कि यदि उस लड़कीसे हमारा ब्याह नहीं होगा तो मैं कूएँमें कूदकर मर जाऊँगा। उनके इतने ब्याह पहले हो चुके थे कि उनकी गिनती बताने लायक नहीं। प्रश्न यह है कि क्या वह लड़की उनको दुःख दे रही थी? नहीं, वह लड़की दुःख नहीं दे रही थी। लड़कीने तो कह

दिया था कि मैं तुम्हारे ऊपर थूकूँगी भी नहीं, ब्याह करनेकी तो बात ही क्या है? तो लड़की किसीको दुःख नहीं देती, धन किसीको दुःख नहीं देता, परिवार किसीको दुःख नहीं देता, अपितु अपना मन ही जो संसारमें फँसा हुआ है, दुःख देता है। किसीने आपको गाली दी तो क्या आपके कलेजेमें घुस जाती है? कहाँ जाकर लगती है? आप तो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्माके स्वरूप हो, अपने स्वरूपको पहचानो। अपुनरावृत्ति माने यहीं होता है। मुक्त लोग तो कहते हैं कि इस दुनियाँमें दुहराने लायक कुछ है ही नहीं। हर सेंकेड़, हर मिनट छूटता जाता है। लौटकर देखने लायक कुछ नहीं होता कि पीछे क्या छूट गया। जो पीछे छूट गया, वह लौटकर आयेगा नहीं और जो आगे आनेवाला है, उसको हम रोक सकते नहीं। जैसे घड़ी चलती है, पेण्डुलम चलता है, वैसे ही हमारा दिल चलता है। जो क्षण बीत गये सो बीत गये और जो आनेवाले हैं वे निश्चित हैं। उनके सिंहावलोकनकी कोई आवश्यकता नहीं। वह तो बड़े-बड़े कवियोंपर छोड़ दो। पीछे लौटकर याद करके मत रोओ अपने मनको आजकलकी भाषामें सन्तुलित रखो। पहले सन्तुलितके स्थानपर सम बोलते थे। तराजूका पलड़ा जब टेढ़ा होता है तब न्याय नहीं करता। आजकल कैसे तौलते हैं यह तो हमें मालूम नहीं, हमने बचपनमें देखा था कि तराजूकी डंडीके ऊपर एक रस्सी होती थी, उसको हाथसे पकड़कर तौला करते थे। हमने ऐसे तौलनेवाले भी देखे थे जो अपनी मुट्ठीको जरा-सी टेढ़ी कर देते थे और तराजू टेढ़ा हो जाता था। उसको डंडी मारना बोलते थे। तो हमारा यह मन भी दुनियाको तौलनेमें बड़ा भारी पक्षपात करता है, अन्याय करता है। वह, लेना हो तो दूसरे ढंगसे और देना हो तो दूसरे ढंगसे तौलता है। मैंने तो ऐसे भी बनियाँ देखे हैं जो झोलेमें तुलसीकी हजारा माला रखकर सीताराम-सीताराम जपते रहते और अपने बच्चोंसे बोलते कि बेटा! बनियेका सब फायदा तौलनेमें ही है। तो लेनेमें और तथा देनेमें और। माल दिलानेके लिए और तथा बेचनेके लिए और। पसन्द कराते दूसरी चीज और बेचते दूसरी चीज। यह सब शायद आज भी होता रहता है।

तो यह जो दो कसौटियाँ हमने अपने जीवनमें बना रखी हैं इससे हमारी समता भङ्ग हो गयी है। जिसके जीवनमें समता नहीं, मनमें सन्तुलन नहीं उसका जीवन, उसका मन सुखी नहीं रह सकता। इसलिए जीवनमें, मनमें समता या सन्तुलन आवश्यक है। तभी मुक्ति मिल सकती है। मुक्ति माने दुःखसे, पराधीनतासे, अन्यायसे, वासनासे, संस्कारसे, अभिमानसे, अज्ञानसे मुक्ति। मुक्ति जीवनका एक ठोस सत्य है और दुनियामें ऐसा कोई नहीं जो बन्धनसे मुक्ति न चाहता हो। आपलोग जो मुक्तिका नाम सुनकर डरते हैं वह वैसे ही है जैसे कोई आपको परमानन्द दे रहा हो और आप उसमें यह शंका कर लें कि अरे राम, पता नहीं इसमें क्या होगा? मुक्ति तो यहीं है, हमारे जीवनमें है, आँखोंके सामने है। हम मरनेके बाद भगवान्‌के धाममें जायेंगे, तब हमें उनके नगरकी नागरिकता मिलेगी, उनके-जैसी पोशाक पहनेको मिलेगी, उनके दरबारमें बैठनेका मिलेगा, हम उनके खास मुसाहिबोंमें हो जायेंगे, हम उनके अन्दर समा जायेंगे, उनकी कचौरी बन जायेंगे, उनके समोंसे बन जायेंगे—यह मुक्तिका शास्त्रीय रूप नहीं। इसको तो भक्तलोग भी स्वीकार नहीं करते—'दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः।' तो जीवनमें समता आनी चाहिए। यह गीताका खास सिद्धान्त है। गीता समतासे बहुत प्रेम करती है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥ 5.18
इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥ 5.19

ब्राह्मी स्थिति क्या है, इसपर विचार तो करो। क्या मरनेके बाद ब्राह्मी स्थिति होती है? आप लोग जो यह सुनते हो कि मरनेके बाद पुण्यकर्मोंके फलस्वरूप, दिव्य स्वर्गराज मिलता है; हम उसकी चर्चा नहीं करते। हमारी दृष्टिमें तो पारमार्थिक स्थिति और जीवनके बीचमें मौतको ले आना एक अमंगल कल्पना है। यह सोचना कि बिना मरे हमारा परम कल्याण नहीं होगा, हमारे और परम कल्याणके मध्य मौत मौजूदा है, बड़ा भारी अपशकुन है। ऐसी बातको मनमें या मुँहपर लानेकी जरूरत ही नहीं। आवश्यकता तो यह देखनेकी है कि आपके इसी जीवनमें समता है कि नहीं? गीतामें कर्मयोगका वर्णन प्रारम्भ करते ही भगवान् श्रीकृष्णने कहा—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥ 2.38

आप यदि जीवनयुद्धमें प्रवृत्त हो रहे हैं तो आपको कभी सुख मिलेगा तो कभी दुःख। कभी आगे बढ़ोगे तो कभी पीछे हटना पड़ेगा। कभी अनुकूल होगा तो कभी प्रतिकूल। कभी तुम्हारे पक्षकी जीत होगी तो कभी सामनेवाले पक्षकी जीत होगी। कभी लाभ होगा तो कभी हानि होगी। कभी जय होगी तो कभी पराजय होगी। इस प्रकारकी परस्पर विरोधी परिस्थितियाँ आपके जीवनसंग्रामकी—आपके कर्मयोगकी अनिवार्य है। अब आपको यह देखना है कि आपके अन्दर उनको सहनेकी कितनी शक्ति है। यदि आप यह सोचें कि जो आपको अच्छा नहीं लगता, वह दुनियामें न रहे, आपकी आँखोंके सामने न आवे, अथवा आपके मनमें उसकी याद न हो तो यह आपकी असम्भव कल्पना है। अरे भाई जिसकी स्मृति होती है होने दो, जो आँखोंके सामने आता है, आने दो और उसे रहने दो, किन्तु तुम जैसे हरीसन रोडकी भीड़में-से निकल जाते हो, वैसे ही निकल जाओ। इस दुनियामें राग-द्वेष करने लायक तो कुछ है ही नहीं।

अब ब्राह्मणकी बात लेते हैं। उसमें तीन बातें होनी चाहिए—**'यस्य त्रीण्यवदातानि योनिर्विद्या च कर्म च'**। वंश, विद्या और कर्म। जो रज-वीर्यसे शुद्ध हो अर्थात् जिसमें आधिभौतिक शुद्धि हो, विद्यासे सम्पन्न हो अर्थात् जिसमें आध्यात्मिक शुद्धि हो और दैवी उपासना करके अपने अन्दर अलौकिक गुणोंको जाग्रत कर चुका हो अर्थात् जिसमें आधिदैविक शुद्धि हो, उसका नाम ब्राह्मण होता है। जिस ब्राह्मणमें आधिभौतिक, आध्यात्मिक, आधिदैविक शुद्धियाँ न हों, जो विद्या, विनय-सम्पन्न न हो, उस ब्राह्मणकी मनुजीने बड़ी निन्दा की है—

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति॥

जैसे लकड़ीका हाथी होता है, चामका हिरन होता है, वैसे ही वह ब्राह्मण होता है, जो विद्या-विनयसे रहित है। वह तो केवल नामधारी ब्राह्मण है। उसको ब्राह्मण कहना भी उपयुक्त नहीं। यदि कोई ऐसे ब्राह्मण और श्वपाकको समान समझे तो इस सम्बन्धमें भगवान्ने जो बताया है उसका कोई अर्थ नहीं रहेगा। उनका आशय तो यह है कि सात्त्विक-सद्गुणोंसे युक्त ब्राह्मण है, राजस गुणोंसे युक्त गाय है, तमोगुणसे युक्त हाथी तथा कुत्ता और कुत्ता खानेवाला है। ये सब अलग-अलग गुण स्वभाव और कर्मके है। इनको अलग-अलग देखते-देखते तुम्हारे दिलमें बोझ आ जायेगा। अत: जो सबमें एक है, उसको देखो।

'पण्डिता: समदर्शिन:'—गीतामें पण्डित और सम ये दोनों शब्द बारम्बार आते हैं। संस्कृत भाषामें पण्डित वह है जिसकी सदसद्विवेकिनी बुद्धि जाग्रत हो गयी हो—'सदसद्विवेचिनी बुद्धि: पण्डा सा संजाता अस्य इति पण्डित:'। जिसके अन्त:करणमें सच और झूठ, अच्छा और बुरा—इसका विवेक करनेवाली बुद्धि जाग गयी है, उसका नाम होता है पण्डित। परन्तु श्रीकृष्णने पण्डितकी जो पहचान बतायी, वह आपने प्रारम्भमें ही पढ़ ली है—

गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिता:

जो शोकसे मुक्त है, उसका नाम है पण्डित। अरे भाई, जो मर गये हैं, उनके लिए शोक करना तो अपना दिल व्यर्थ खोना है। अच्छा तो जो जिन्दा हैं, उनके लिए शोक करें? नहीं, जो जिन्दा ही हैं उनके लिए शोक क्या? गतासून्—जो मर गये और अगतासूंश्च जो जिन्दा हैं, उनके लिए विद्वान् पुरुष-पण्डित पुरुष शोक नहीं करता। तो वास्तवमें पण्डित वह है, जिसको शोक नहीं छूता—

शोकस्थानसहस्त्राणि भयस्थानशतानि च।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम्॥

यह भारत-सावित्री है, महाभारतकी गायत्री है। जैसे वेदमें गायत्री है, वैसे ही महाभारतमें गायत्री है। महाभारतमें गायत्रीके चार श्लोक है, उनमें-से एक यह है। इसका अर्थ है कि जो मूढ़ पुरुष हैं वे ही दिनभरमें हजार बार शोकग्रस्त होते हैं और हजार बार डरते हैं। शोक और भयसे ग्रस्त होना मूढ़ताकी पहचान है। ऐसा इसीलिए होता है कि वह कहीं-न-कहीं मोहमें फँस जाता है। वह गये हुएको छोड़ना पसन्द नहीं करता। इसी प्रकार हमारा कोई अनिष्ट न कर दे—इस डरसे ग्रस्त रहता है। मनका भविष्यमें जाना भयकी सृष्टि करता है और भूतमें जाना शोककी सृष्टि करता है। बीती हुई अच्छी-बुरी बातोंको याद करनेसे शोक और आनेवाली अच्छी-बुरी बातोंका ख्याल करनेसे भय आता है। आनेवाली अच्छी बातका ख्याल होनेपर यह आशंका होती है कि कहीं कोई अड़चन न पड़ जाये और बुरी बात आनेवाली दिखे तब तो भय होता ही है। किन्तु इस प्रकारके शोक और भय मूढ़को ही होते हैं। पण्डितकी पहचान यह है कि वह निर्भय, निर्द्वन्द होकर शेरकी तरह अपने रास्तेपर चलता है। उसको न पीछेका शोक होता है, न आगेका भय होता है और न वर्तमानसे मोह होता है। पण्डितकी एक पहचान यह भी बतायी कि—'पण्डिता: समदर्शिन:' पण्डित समदर्शी होता है। वह दिन और रात दोनोंको अलग-अलग देखता तो है लेकिन दोनोंको

काल समझता है, दोनोंमें कालको देखता है। रात होनेसे कुछ नुकसान हो गया और दिन होनेसे कुछ फायदा हो गया अथवा दिन होनेसे कुछ नुकसान हो गया और रात होनेसे कुछ फायदा हो गया—यह पण्डितकी दृष्टिमें नहीं। उसके लिए तो दिन और रात बराबर हैं, पूर्व और पश्चिम बराबर हैं। देखो, ब्रह्म सबमें एक है और बराबर है। ईश्वर सबमें एक है और बराबर है। प्रतीति सबमें एक हैं और बराबर हैं। माया सबमें एक है और बराबर है। पञ्चभूत सबमें एक हैं और बराबर हैं। तो पण्डितकी पहचान ही यह है कि उसके दर्शनमें समता होती है। गीतामें पण्डितकी एक और यह पहचान, खासकर पहचान नाम देकर बतायी गयी है जो आपके ध्यानमें होगी—

ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।

विद्वान् लोग पण्डित उसको कहते हैं जिसके ज्ञानकी आगमें कर्म जलते जाते हैं। जो कर्मोका संस्कार ग्रहण करके स्वयंको पुण्य या पापके बोझसे लाद नहीं देता उसका नाम होता है पण्डित। पण्डित वह है जो दुनियामें बड़े-छोटेका भेद होनेपर सबमें समभाव रखता है। आपकी आँखें देखनेका काम करती है और नाक सूँघनेका करती है। दोनोंके काम अलग-अलग हैं, पर दोनों आपके ही शरीरके अंग है। क्या आप आँखकी रक्षा करते समय नाक कट जाने देंगे? दोनोंमें जो शरीर-बुद्धि है यही एकत्व है, समत्व है। इसी तरह संसारकी सभी वस्तुओंमें एक परमात्माका जो दर्शन है, वही सच्चा दर्शन है, समदर्शन है। वह छोड़ने योग्य नहीं। यदि कहा कि व्यवहारकी रीति तो यह है कि जो बड़ा हो उसे छोटा समझकर उसका तिरस्कार नहीं करना चाहिए और जो छोटा हो उसे बड़ा समझकर सिरपर नहीं बैठाना चाहिए।

हमारे धर्मसूत्र कहते हैं कि अपूज्यकी पूजा नहीं करनी चाहिए और पूज्यका अनादर नहीं करना चाहिए। फिर समदर्शनका तात्पर्य क्या है? उसका तात्पर्य ब्रह्मदृष्टि है, व्यवहारदृष्टि नहीं। व्यवहारमें तो अपना पुत्र प्रणाम करे तो उसको आशीर्वाद देना चाहिए और अपना पिता सामने आ जाय तो उसके चरणोंमें सिर झुकाकर प्रणाम करना चाहिए। यह व्यवहारधर्म है। किन्तु प्रणाम करनेवाले पुत्रमें भी परमात्मा है और जिस पिताको प्रणाम किया गया उसमें भी परमात्मा है। परमात्मा तो दोनोंमें ही है। बल्लभाचार्यजी महाराजके सात बेटे हुए। वे सातोंको परमेश्वरका स्वरूप समझते थे और मानते थे कि मेरे घरमें पुत्ररूपमें साक्षात् परमेश्वर आये हुए हैं। यह भी एक दृष्टिकोण है। बेटा छोटा है या बड़ा—यह ख्याल नहीं। ख्याल यही है कि इसके भीतर वही परमेश्वर है। पितामें भी परमेश्वर है, मातामें भी परमेश्वर है। यदि आप यह मान लें कि पत्नीके रूपमें लक्ष्मी ही आयी हैं तो लक्ष्मीनारायण कोई दो होते हैं? कन्यादानके समय हमारे भारतीय लोग, हिन्दूधर्मके अनुयायी लोग संकल्प करते हैं कि—

लक्ष्मीरूपिणीं इमां कन्यां श्रीधररूपाय तुभ्यं वराय सम्प्रददे

हमारी कन्या लक्ष्मी है और तुम श्रीधर है। इस प्रकार आप सब श्रीधर हुए और ये सब लक्ष्मी हुईं। यह कितनी उदार दृष्टि है कि सबमें एक ब्रह्म है, ईश्वर है, माया है, प्रतीति है, प्रकृति है, पञ्चभूत है। सबमें एक ही बैठा हुआ है।

तो इस सृष्टिपर विजय किसने प्राप्त की, इसका उत्तर गीता देती है—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः। 5.19

यदि आप लाभ-हानिमें समता, सुख-दुःखमें समता और जय-पराजयमें समता रखकर अपना दिल ठीक रखते हैं तो दुनियाका कोई भी परिवर्तन आपको प्रभावित नहीं कर सकता। हमने तो ऐसा देखा है कि जो लोग जुआ खेलते हैं वे भी हार और जीतमें समान रह जाते हैं। कहते हैं कि आज गया तो कल आवेगा और कल गया तो आज आवेगा। वे खुश होकर लाखों खोते हैं, लाखों कमाते हैं और हानि-लाभमें एक-सरीखे रहते हैं। जब एक जुआरी अपने मनको इतना पकड़कर रख सकता है तो आप-जैसे पुण्यात्मा, भगवद्भक्त परमार्थके सत्सङ्गी और परब्रह्म परमात्माको जाननेवाले सज्जनोंके हृदयमें सन्तुलन आनेमें क्या बाधा पड़ती है? गीता कहती है कि पापी-पुण्यात्मा दोनोंके प्रति आपके चित्तमें समता ही रहनी चाहिए—राग-द्वेष नहीं। आप गीता पढ़ते हैं तो यह श्लोक ध्यानमें रखिये—

साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते।

यदि एक पुण्यात्मा है और दूसरा पापी—तो रहने दीजिये। पापी नरकमें जाता है तो जाने दीजिये। आप दिल क्यों बिगाड़ें? यदि हम पापीको देखकर सोचने लगें कि यह कुम्भीपाक नरकमें जायेगा तो हमारा दिल भी कुम्भीपाक नरक हो जाता है। हमारी वृत्ति कुम्भीपाकाकार हो जाती है। इस प्रकार यदि हम सोचने लगें कि अमुक पुण्यात्मा स्वर्गमें जायेगा तो हम भी मनसा स्वर्गमें पहुँच जाते हैं। इस प्रकारकी चिन्तासे हमारा वर्तमान जीवन विस्मृत हो जाता है और हम तदाकार हो जाते हैं। इसलिए पापीको देखकर नरकमें और पुण्यात्माको देखकर स्वर्गमें मत जाओ, अपितु अपने दिलको जहाँ-का-तहाँ रखो।

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः॥

कर्ममें भी समता होती है। आपलोग गीता पढ़ते हैं तो अपने जीवनकी गतिको समतासे सम्पन्न बनावें। आपकी मोटर चलती है और बार-बार हिचकोले लगते हैं तो आपको उसकी गति अच्छी नहीं लगती। पहले हम राजस्थानकी ट्रेनोंमें यात्रा करते थे तो हमारा कमण्डलु गिर जाता था, हम स्वयं बैठे नहीं रह पाते थे, कभी ऊपर तो कभी नीचे हो जाते थे। वह यात्रा अच्छी नहीं लगती थी। अब भी कोई ड्राइवर मोटर चलाता है और बार-बार ब्रेक लगाता है तो धक्का लगता है। इसी प्रकार हमारे जीवनकी गाड़ी चल रही है, बारम्बार ब्रेक लग जाता है, बारम्बार मोड़ना पड़ता है, इसमें समता आनी चाहिए। जीवनमें समत्व आना अत्यन्त आवश्यक है। सर्दी आती है, गर्मी आती है। आपलोगोंने देखा होगा, कोई-कोई साधु ठण्डके दिनोंमें, रातके समय भी नंगे रहते हैं। इसीप्रकार गर्मीके दिनोंमें वे धूप सहते हैं, गर्मी सहते हैं। जो रातकी ठण्ड सह लेगा, वह दिनकी गर्मी भी सह लेगा। वह सहन-शक्ति समत्वसे ही आती है—'शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः।' गीतामें इसका उल्लेख कई बार हुआ है—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदु:खदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥

सड़कपर न जाने कितने अच्छे-बुरे चलते रहते हैं, उनको चलने दो। तुम अपना दिल न बिगाड़ो। यह दुनियामें सबसे कीमती वस्तु है। इसीका नाम अध्यात्म है। इसीको ठीक रखनेका नाम समत्व है।

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः

मान और अपमान मित्र और शत्रु दोनों बराबर हैं। आपका मित्र आता है तो आपके चेहरेपर मुस्कान आती है, ठीक है। किन्तु आप यह भी ध्यान रखें कि जब आपका शत्रु सामने आये तब भी मुस्कान आजाये। यदि शत्रुको देखकर आपके चेहरेपर मुस्कान आजाय तो समझिये कि समता आ रही है। मुस्कान हँसी उड़ानेके लिए नहीं, खुशीकी, सुखकी होनी चाहिए। आप समागत शत्रुसे प्रेमपूर्वक मीठी-मीठी बात कीजिये। वह जा रहा तो कुछ दूर उसको छोड़ने जाइये, वह बैठना चाहे तो अपनेसे ऊँचे आसनपर बैठाइये। यदि पलंगपर बैठाना चाहे हो तो सिरहानेकी तरफ बैठाइये। ऐसा करनेपर आप देखेंगे कि आपका हृदय कितना सुन्दर कितना स्वस्थ होता है। एक बात आप ध्यानमें रखो, यह व्यापारकी ही बात है। हम लोग भी एक प्रकारसे व्यापारी ही हैं। बात यह है कि यदि आप किसी फायदेकी खुशीमें व्यापार करेंगे और मान लेंगे कि आगे भी फायदा होता जायेगा तथा विचार करना छोड़ देंगे तो नुकसान उठावेंगे। कभी घाटा होनेसे घबड़ाकर कदम उठावेंगे तब भी आपका व्यापार गलत होगा। अतः न तो इतने खुश हो जायें कि कदम गलत पड़े और न इतने घबरा जायें कि कदम गलत पड़े। हमने देखा है जब किसी व्यापारीको घाटा होता है तो वह कहता है कि अभी एक रातमें करोड़पति हो जाऊँगा और ऐसे-ऐसे सौदे कर लेता है जिससे उसकी हालत पहलेसे भी खराब हो जाती है। इसलिए घबराहटमें, उतावलीमें कोई काम नहीं करना।

न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः।। 5.20

यदि मनका काम हो जाये, मनकी चीज मिल जाये, मनका आदमी मिल जाये तो बहुत हर्ष नहीं करना चाहिए। यदि प्रसन्नता प्रकट करनी ही हो तो सन्तुलित करनी चाहिए। आज तो सुनते हैं कि मुस्कराहटकी कला भी सिखायी जाती है। यह बताया जाता है कि आप कभी मुस्करायें तो आपका ओठ किस कोणपर टेढ़ा हो, नहीं तो मुस्कराहट गलत हो जायेगी, आपका मुँह बिगड़ जायेगा। कितना मुस्कराना, कितना हँसना कि पड़ोसीकी नींद ही हराम न हो जाये। हँसीमें भी सन्तुलन चाहिए। इसी तरह फुक्का फाड़कर, फफक-फफककर रोना भी नहीं चाहिए। रोनेपर भी आपका काबू होना चाहिए, नियन्त्रण होना चाहिए। जहाँ रोना चाहिए वहाँ जरूर रो लीजिये। किसीके घरमें मातमपुर्सी करने जाइये तो थोड़ी देर रो लीजिये। इसमें कोई हर्ज नहीं। रोनेकी भी कई रीतियाँ हैं। कुछ लोग जुबानसे, कुछ चेहरेसे, कुछ बोलकर और कुछ बिना बोले भी रोते हैं। लेकिन यदि आप एक साथ दो घरमें जानेके लिए निकले हैं—एक घरमें कोई मरा है और दूसरे घरमें बेटा हुआ है, तब क्या करेंगे? जिसके घरमें मातमपुर्सी करनी है वहाँ मातमपुर्सी कीजिये और जिसके घरमें खुशी

मनानी है, वहाँ खुशी मनाइये। आप एक हैं, जैसा निमित्त सामने आये वैसा बरत लीजिये। लेकिन एकके दु:खमें इतने दु:खी न हो जायें कि सुखीके घर जाकर भी दु:ख प्रकट करने लगे और दूसरेके सुखमें इतने सुखी न हो जायें कि दु:खीके घरमें सुख प्रकट करने लगें। अपने आपको स्वस्थ और तटस्थ रखनेका नाम ही मुक्ति है। आप उस दु:खीसे भी मुक्त है जिसके घरमें दु:ख प्रकट करने गये थे और उस सुखीसे भी मुक्त हैं जिसके घरमें सुख प्रकट करने गये थे। इसीजिए किसी कविने कहा है—

सबसे मिलिए सबसे जुलिए लीजिए हरिका नाँव।
हाँजी हाँजी कहते रहिए बैठिए आपने ठाँव॥

हम जो लोगोंसे मिलकर, वस्तुओंसे मिलकर अपने आपको, ईश्वरको खो देते हैं, यही हमारा सबसे बड़ा दु:ख है और इसीका नाम बन्धन है। जो सबसे मिलता-जुलता हुआ भी अपने आपको सँभाल कर रखता है, उसका नाम मुक्त है। यह नहीं कि दुनियाकी सब बढ़िया-बढ़िया चीजें आपके खानेके लिए आपके भोगनेके लिए हैं। कई लोग पूछते हैं कि बढ़िया चीजोंको खाने और भोगनेसे शास्त्र क्यों मना करता हैं? इसीलिए मना करते हैं कि उन बढ़िया चीजोंके प्रति आपका राग है और आप उनको हड़पने जा रहे हो। राग-प्राप्त वस्तुके लिए ही तो निषेधकी आवश्यकता होती है। द्वेष-प्राप्त वस्तुको तो आप स्वतः छोड़ते जा रहे हैं। कौन सबेरे उठकर स्नान, ध्यान या अन्य सत्कर्म करे। यह आपकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है। इसलिए शास्त्र विधान करता है कि आपको प्रात:काल स्नान-ध्यान तथा अन्य सत्कर्म करना चाहिए। जब अच्छी चीज आपको नापसन्द है और बुरी चीज पसन्द होती है, तब शास्त्रका जो आदेश है उसे उपयोगी समझकर उसका पालन करना चाहिए।

आप क्या अपनेको ईश्वर अनुभव करते है कि आपके मनके खिलाफ कुछ न हो? आप ईश्वर नहीं, ब्रह्म है; या तो निर्विशेष ब्रह्म हैं या जीव हैं। इसलिए आपके मनके विरुद्ध कुछ हो ही नहीं, यह नहीं हो सकता। पुरुष कहे कि मन हमारा हो और स्त्री हमारे मनसे चले। मन हमारा और चलनेवाला दूसरा, यह अन्याय नहीं चल सकता। कबतक तुम दूसरोंको गुलाम बनाकर रखना चाहोगे कि वे तुम्हारे मनके अनुसार चलें? तो मनको स्वस्थ, सुन्दर बनाना पड़ेगा। जिस तरह मनमें प्रहर्षसे असुन्दरता आती है, उसी तरह उद्वेगसे भी आती है। आप एक कसौटी देखो। अपनी निन्दा सुनकर आपका मन कैसा होता है—'निन्दा चास्य हृदयं नोपहन्यात्।' यदि निन्दासे असन्तुलन हो गया तो आपसे काम बनानेवाले आपकी कमजोरीको पहचान लेंगे और आपकी जीहजूरी, चापलूसीसे अपना काम बनानेका प्रयास करेंगे। वे आपसे अनुचित काम भी करा लेंगे। आपके जीवनमें सन्तुलन नहीं रह जायेगा, वह एक ओर झुक जायेगा। आप तारीफ, चापलूसी और जीहजूरीकी तरफ झुक जायेंगे अर्थात् पसन्द करने लगेंगे। यह स्थिति अच्छी नहीं। किसीने कह दिया कि कौआ कान ले गया और डण्डा लेकर दौड़ पड़े कौएके पीछे। यह नहीं देखते कि हमारे कान हैं कि नहीं? हमारा कान अगर सही-सलामत है तो कौआ कैसे ले गया? तो निन्दा करनेवाले हजार निन्दा करें, यदि आपके अन्दर दोष नहीं, तो निन्दकोंकी निन्दा तो अपने-आप ही खत्म हो जायेगी। किन्तु यदि आप अच्छे नहीं और आपकी कोई तारीफ करता है, तो वह तारीफ आपके भीतर टिकेगी नहीं और आपका दोष जहाँ-का-तहाँ रह जायेगा। अतः 'न

प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य।' यदि प्रिय शब्द, प्रिय कर्म, प्रिय व्यक्ति और प्रिय भोग मिलें तो हर्षसे फूल नहीं जाना चाहिए। क्योंकि फूल जाना—सूज जाना भी एक दोष ही है। इसी तरह—'नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम्।' नापसन्द चीज मिले तो उद्विग्न नहीं होना चाहिए। 'स्थिरबुद्धिरसंमूढो'—बुद्धिमें, ज्ञानमें यहाँतक प्रतिकूल परिस्थितिमें भी स्थिरता चाहिए। और अच्छी-से-अच्छी परिस्थिति आनेपर भी उसमें सम्मूढ़ न हों तो ब्राह्मी स्थिति प्राप्त हो जाती है। ब्रह्मवेत्ता पुरुष इसीको जीवन्मुक्ति कहते हैं।

अब एक बात आपको और सुना दें। जो लोग चार, छह या आठ तरहकी मुक्ति मानते हैं—जैसे यह सद्योमुक्ति है, यह क्रममुक्ति है, यह जीवन्मुक्ति है, यह परलोकमुक्ति हे, यह सालोक्यमुक्ति है, यह सामीप्यमुक्ति है, यह सारूप्यमुक्ति है, यह सायुज्यमुक्ति है, यह सार्ष्टिमुक्ति है, यह एकत्वमुक्ति है—वे मुक्तिके रहस्यको बिल्कुल नहीं जानते। मुक्ति केवल एक है और वह है नासमझीसे, अज्ञानसे निवृत्ति। अविद्या-निवृत्तिसे उपलक्षित, मोह-निवृत्तिसे उपलक्षित अपने आत्माका नाम ही मुक्ति है, मोक्ष है। निस्सन्देह मैं मुक्त हूँ, मुक्ति हूँ—तब जब कि नासमझीसे पिण्ड छूट गया। गीता, शास्त्र, वेद, उपनिषद् और श्रीकृष्ण—ये सब हमको नासमझीसे छुड़ानेका प्रयास करते हैं। ये न पूजा करवाना चाहते हैं, न माला फिरवाना चाहते हैं। प्राणायामके द्वारा न दम घुटवाना चाहते हैं, न आँख बन्द करके ध्यान लगवाना चाहते हैं और न समाधि लगवाना चाहते हैं। केवल इतना चाहते हैं कि आपके भीतरकी जो नासमझी रह-रहकर आपको दुःख दे रही है वह मिट जाये। सत्सङ्गका फल केवल आपकी नासमझी मिटाना है। शास्त्रका यह तात्पर्य नहीं कि आपको कहीं अन्यत्र ले जाये, आपको कहीं अन्यत्र पहुँचा दे या आपको कुछ और बना दे।

●

प्रवचन : 10

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥ 5.20
बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥ 5.21
ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥ 5.22
शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥ 5.23

जैसा कि कल भी बताया गया भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि आप प्रियकी प्राप्ति करके अत्यन्त हर्षित और अप्रियकी प्राप्ति करके अत्यन्त उद्विग्न न हों। इसमें एक बातपर आप ध्यान दीजिये। वह यह है कि प्रिय और अप्रियकी प्राप्तिको मना नहीं किया गया, केवल हर्ष और उद्वेगको मना किया गया है। सत्पुरुष अथवा श्रेष्ठ पुरुषकी जो पहचान बतायी गयी है, उसमें यह नहीं कहा गया कि उसके जीवनमें प्रिय-अप्रिय नहीं आते। यह तो स्वाभाविक ही है कि जो उसके मनके अनुकूल होगा वह प्रिय होगा और जो उसके मनके प्रतिकूल होगा वह अप्रिय होगा। संसारमें सबके प्रिय-अप्रिय, शत्रु-मित्र, सुख-दुःख, और अनुकूल-प्रतिकूल होते रहते हैं। निर्माण तो केवल अपने मनका करना होता है, बाहरकी परिस्थितियोंका नहीं। यही आध्यात्मिक साधना है। साधक अपने मनको ही इतना पक्का कर लेते हैं कि चाहे जैसा आवेगा वैसा सहते जायेंगे, सँभालते जायेंगे, पार करते जायेंगे। यदि अपना हृदय ही अपने काबूमें नहीं रहा, उसमें शोथ हो गया तो फिर हम क्या कर सकते हैं? जिस प्रकार शरीरमें शोथका रोग होता है, उसी प्रकार जब संसारकी प्रिय वस्तुओंके प्राप्त होनेपर हृदय फूल जाये, तब समझिये कि वह रुग्ण हो गया। इसी तरह अप्रियकी प्राप्ति होनेपर जब हृदय सूख जाता है तब भी वह रोगी हो जाता है। ये सब मानस रोग है। इसलिए अप्रिय घटना घटित होनेपर, अप्रिय वस्तु या व्यक्ति मिलनेपर, अनचाही परिस्थितियाँ प्राप्त होनेपर मनुष्यको उद्वेग नहीं होना चाहिए। क्योंकि अत्यन्त हर्ष अथवा अत्यन्त उद्वेगमें बुद्धि ठीक काम नहीं करती। बहुत घबराहटमें भी बुद्धि बिगड़ जाती है और बहुत खुशीमें भी बुद्धि बिगड़ जाती है। शास्त्र किसीका हाथ पकड़कर काम करानेके लिए नहीं होते। ये न किसीका हाथ पकड़ते हैं और न किसीसे हाथ पकड़कर काम कराते हैं। 'वचनं ज्ञापकं न तु कारकम्'—वचन केवल आपको ज्ञान दे सकता है, आपसे काम करवा नहीं सकता। समष्टिमें प्रिय-अप्रियकी जो परिस्थितियाँ आती हैं, वे कुछ तो प्रकृतिसे आती हैं, कुछ प्रारब्धसे आती हैं, कुछ समाजसे आती हैं, कुछ ईश्वरसे आती हैं और कुछ अनिवर्चनीय अचिन्त्य कारणसे आती हैं। संसारमें सब कुछ हमारे ही करनेसे नहीं होता। इसलिए इसमें अपनेको ऐसा बना लेना चाहिए कि अत्यन्त हर्षमें फूल न उठें और अत्यन्त उद्वेगमें क्लान्त न हो जायें, श्रान्त न

हो जायें, गिर न जायें। सौ बातकी एक बात यह है कि हमारी बुद्धि बनी रहनी चाहिए, डाँवा डोल बुद्धिसे काम नहीं चलता। भली-भाँति ऊहापोह और पूर्वापर अर्थात् पहले-पीछेका विचार करके, अपने मनमें स्थिरता लानी चाहिए। निश्चय शब्दका अर्थ संस्कृत भाषामें होता है निचोड़ जगह-जगहसे चुन-चुनकर एक निष्कर्ष, एक निचोड़ निकालनेका नाम निश्चय होता है। चय माने चयन और निः माने निःशेषतया। जैसे कम्प्यूटरमें सारा विवरण ठीक-ठीक डाल दें तो वह उत्तर देता है वैसे ही हमारी बुद्धि भी भूत, भविष्यका पूर्णतया विचार करके किसी निश्चयपर पहुँच जाय तो वह स्थिर बुद्धि होती है।

दूसरी बात बतायी 'असंमूढ़'की। कहीं अटको मत, कहीं भटको मत। कहीं सटो मत, कहीं हटो मत। कुछ सटाओ मत, कुछ हटाओ मत। कहीं भी अपने मनमें सम्मोह नहीं होना चाहिए। जो कुछ भी पकड़ें विचारपूर्वक पकड़ें और जो कुछ भी छोड़ें विचारपूर्वक छोड़ें। मोहसे न तो पकड़ें और न मोहसे छोड़ें। क्योंकि मोह तमोगुण है, मोह मनुष्यको अन्धा बना देता है और मोहसे विचार नष्ट हो जाते हैं, भाई-भतीजेका पक्षपात भी मोह है, रिश्तेदार-नातेदारका पक्षपात भी मोह है। उससे बुद्धिमें न तो स्थिरता आयेगी और न असम्मोह आयेगा। भगवान्‌को मूढ़ पसन्द नहीं—'गच्छन्त्यमूढा पदमव्ययं तत्।' परमात्माकी प्राप्ति उसको होती है जो अमूढ़ होता है अर्थात् जो मूढ़ नहीं होता। पापोंसे वही छूटता है जो असंमूढ़ होता है—'असंमूढ़ः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते।' संमूढ तो पापोंमें फँसता ही जाता है अतः 'ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः' जो अनन्त है, अपने आत्मासे अभिन्न परब्रह्म परमात्मा है, उसको जानना चाहिए। उसको जानते ही उसमें स्थिति हो जायेगी—'यो हि ब्रह्मविद् भवति स ब्रह्मणि स्थितो भवति'—इसका अर्थ यह है कि आत्मा ब्रह्म है, निश्चितरूपसे ब्रह्म है परन्तु हम जानते नहीं कि ब्रह्म क्या है इसलिए अपनेको दूसरा समझते हैं, दूसरा मानते हैं। जीवनकी यह एक भूल है कि अपनेको सबसे, सर्वात्मासे एक न समझकर केवल देहसे एक समझते हैं। जिसमें सबका भला है उसीमें अपना भला है। सच्चा आत्महित सर्वहितमें और सच्चा सर्वहित आत्महितमें ही है। इसलिए अपने और परायेको अलग करके जो भलाईकी बात सोची जाती है, वह गलत होती है। उससे केवल हानि होती है, लाभ नहीं होता। पहले लाभ मालूम भी पड़े तो पीछे उससे जो हानि होनेवाली है, वह मालूम पड़ती है। अपने-परायेका जो डर बैठा है, वह झूठा है। आप डरते इसलिए हैं कि अपना पेट अलग और दूसरेके पेटको अलग मानते हैं। पेटके कारण ही अलग-अलग लोगोंके मनमें अलग-अलग डर पैदा होता है। यदि सबके पेटमें एक परमात्मा है—यह बात ध्यानमें बैठ जाये, ज्ञानमें आजाये, इसका निश्चय हो जाये तो आप देखेंगे सबमें आप हैं और आपमें सब। सच्चा सुख मनुष्यको तभी मिलता है, जब भेद-भ्रमकी निवृत्ति हो जाती है। भेद-भाव तो सर्वथा बाह्य है—

> **बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।**
> **स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥ 5.21**
> **ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।**
> **आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥ 5.22**

पहली बात यह है कि बाहरसे आकर जो वस्तुएँ हमें स्पर्श करती हैं, उनमें हम आसक्त न हों। स्पर्शको संस्कृतमें त्वाचप्रत्यय कहते हैं। त्वचासे जिसका अनुभव होता है उसे त्वाच कहते हैं। दुनियामें हम जिन चीजोंको टच करते हैं और दुनियाकी जो चीजें हमको टच करती हैं, चिपकती है उनमें आसक्ति नहीं होनी चाहिए कि हमको यही मिले, यही मिले। आप लोग तो बड़े अनुभवी हैं, जानकार हैं, सब समझते हैं। एक सज्जन इसलिए दु:खी हो रहे थे कि पहले वे लाख रूपयेकी मोटरपर चलते थे, अब उन्हें तीस पैंतीस हजारकी मोटरपर चलना पड़ता है। ड्राइवर है, दूसरी मोटर है, मकान भी है; परन्तु वे दु:खी इस बातसे हैं कि उनकी वह लाख रूपयेवाली मोटर अब नहीं रही। उनकी धारणा है कि जब वे लाख रूपयेवाली मोटरपर चलते थे, तब बड़े आदमी थे, किन्तु अब छोटी मोटरमें चलते हैं तो छोटे आदमी हो गये हैं। यहाँ आदमी बड़ा नहीं हुआ मोटर बड़ी हो गयी। उसके सामने आदमीका बड़प्पन खतम हो गया।

महात्मा गांधीजीने यह सिद्धान्त स्थापित किया कि जो बढ़िया कपड़ा पहनता है, वही सबसे बड़ा नहीं होता जो गाढ़ा (खद्दर) पहनता है वह सबसे बड़ा होता है। साधुओंने ऐसी-ऐसी स्थापना कर दी कि सवारीपर चलनेवाला साधु बड़ा नहीं, जो पैदल चले, वह साधु सबसे बड़ा। यह सब अपनी-अपनी मान्यताएँ होती हैं और जितनी मान्यताएँ पराधीन करनेवाली होती है, वही गलत होती है। जहाँतक जीवनमें स्वावलम्बन है, स्वाधीनता है, वहाँतक श्रेष्ठ है। अत: जो बाह्य स्पर्श हैं, इनमें कभी अपने मनको आसक्त न होने दें, सटने न दें; वे आयें और जायें—आयें और जायें।

तब मनुष्य सुखी कैसे होगा? 'आत्मनि यत् सुखम् तत् विन्दति'—अर्थात् मनुष्यके भीतर जो सुख है, उसी सुखका वह आस्वादन करता है, उसीका लाभ प्राप्त करता है। देखो एक स्त्री है जो पुरुषको देखकर सुखी होती है और एक पुरुष है जो स्त्रीको देखकर सुखी होता है। परन्तु वे स्त्री-पुरुष यह नहीं जानते कि उनके अन्दर क्या सुख है, जो एक दूसरेको देखकर सुखी हो रहे हैं। वस्तुत: धनी तो वह स्त्री है, जिससे पुरुषको सुख मिल रहा है और धनी वह पुरुष है जिससे स्त्रीको सुख मिल रहा है। परन्तु हमें अपनेमें सुख नहीं दिखायी पड़ता। हम अपने बारेमें अन्धे हो जाते हैं और दूसरोंके सम्बन्धमें सोचने लगते हैं कि अमुकमें बड़ा सुख है, अमुकमें बड़ा स्वाद है और अमुकमें बड़ा आनन्द है।

आध्यात्मिक दृष्टिकोण यह बताता है कि आप अपनी ओर देखिये, अपनेको देखना सीखिये। उपनिषद्का कहना है—'आत्मानं मन्वीत'—अपना मनन करो। 'आत्मानं पश्येत्, आत्मन्ये-वात्मानं पश्येत्'—अपने हृदयमें अपने-आपको देखो। तुम स्वयं ऐसे सुख हो जो दूसरेमें सुख मानकर भटक रहे हो, लटक रहे हो। इससे तुमने अपना तिरस्कार कर दिया है और दुनियामें सबसे बड़ा पाप है अपने हृदयमें बैठे हुए आत्मदेवका, परमात्माका तिरस्कार करना। 'आत्मनि यत् सुखं विन्दति'—जब हम बाहरसे सुख लेना छोड़ देते हैं, बाहरकी वस्तुओंमें जो आसक्ति है, उससे मुक्त हो जाते हैं तब हमारे भीतरका सुख प्रकट होता है। सच्चा सुख मिलनेमें बाधा बाह्य वस्तुओंका आकर्षण है। हमने एक सज्जनके घरमें देखा, नौ कुत्ते थे। एक-एक कुत्तेपर इतना खर्च होता था कि उससे नौ बालकोंको एम.ए, कराया जा सकता था। हमारा

कुत्तोंसे कोई बैर नहीं, न हम कुत्तोंकी निन्दा ही करना चाहते हैं। हम तो यह कह रहे हैं कि वे सब कुत्ते पूँछ हिला-हिलाकर उनके ऊपर चढ़ते थे, उनको चाटते थे। वे भी एकबार आइसक्रीम अपने मुँहमें डालें तो दूसरी बार कुत्तोंके मुँहमें डालें। दोनों मिल-मिलाकर आइसक्रीम खाया करते थे! कुत्ते उनसे इतना प्यार करते थे कि उनके कन्धेपर चढ़ जायँ, उनकी छातीसे लग जायँ, उनको चाट लें। कुत्तोंको उनके भीतर कोई सुख दिखायी पड़ता होगा, किन्तु कुत्तोंकी आँखें उनके अन्दर जितना सुख देख पाती थी उतना सुख वे अपने अन्दर नहीं देख पाते थे। इसको आप क्या बोलेंगे? यही न कि मनुष्य अपने भीतर नहीं बाहरकी ओर देखता है।

'पराञ्चिखानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्'—ब्रह्माजीने हमारे इन्द्रिय ऐसे बनाये कि ये दूसरेको देखते हैं, अपनेको नहीं देखते। आपकी आँखें बहुत अच्छी हैं परन्तु क्या उसने अपनी ही पुतली देखी है? आँखोंमें जो श्याम तिल है, इसने क्या कभी अपने आपको देखा है? तो आपकी दृष्टि-शक्ति अपनी आँखकी काली पुतलीको नहीं देख पाती, दूसरेकी भले देख ले। इसका मतलब हुआ कि जो सबसे नजदीक होता है, वह दिखायी नहीं पड़ता। भागवतमें बड़ी चतुराईके साथ यह बात कही गयी है कि जब हिरण्यकशिपु गदा लेकर भगवान् विष्णुको मार डालनेके लिए ढूँढ़ने लगा तो वे डर गये और उन्होंने यह सोचकर कि यदि मैं बाहर रहूँगा तो वह मुझे मारेगा, उसीके दिलमें घुस गये। जब वे उसके दिलमें बैठ गये तो हिरण्यकशिपु उनको पा नहीं सका। उसने समझा कि विष्णु मर गया। विष्णु नामकी कोई चीज दुनियामें है ही नहीं। मैंने इञ्च-इञ्च, कण-कण, क्षण-क्षण ढूँढ़कर देख लिया, कहीं भी विष्णु नामकी वस्तु नहीं। यह समझकर हिरण्यकशिपु लौट गया। तो जो चीज सबसे नजदीक होती है, बिल्कुल अपने पास होती है, सबसे ज्यादा अपनी होती है वह नहीं दिखती। कहा भी है—'घर आये नाग न पूजहिं बाँबी पूजन जाहिं।' जो लोग गंगाजीके किनारे रहते हैं स्नान करनेके लिए पुष्कर जाते हैं। क्यों? क्या गंगाजीका महत्त्व कुछ कम है? नहीं, वह अपने घरकी गंगा है और पुष्कर तो पराया है। पराये मालमें, परायी चीजमें भी रुचि होती है और अपनी विशेषता दिखायी नहीं पड़ती।

तो आत्मसुखकी प्राप्ति, अपने आनन्दकी प्राप्ति तभी होती है जब बाहरसे स्पर्श करनेवाले पदार्थोंके प्रति, उन पदार्थोंके प्रति जिनको इन्द्रियों द्वारा टच किया जाता है अथवा जो इन्द्रियोंको टच करते हैं, जिनका त्वचा-प्रत्यक्ष, ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष होता है उनमें जब आसक्ति नहीं होती। हमें आनेवालेके प्रति आसक्ति और जानेवालेके प्रति विरक्ति नहीं होनी चाहिए। जाओ विदा है, दोनोंमें समान रहें।

कोई आवे तो उसका स्वागत कर लेना चाहिए और जाने लगे तो थोड़ी देर उसके पीछे चलकर विदा कर देना चाहिए। महात्मा गाँधीने गीतापर जो टीका लिखी—टिप्पणी लिखी, उसका नाम उन्होंने अनासक्ति-योग रखा। अनासक्ति-योगको कोई निष्काम कर्मयोग, कोई ज्ञानयोग, कोई भक्तियोग और कोई कर्मयोग कहते हैं। कुछ भी कहो, शब्दोंका अपना महत्त्व है। शब्द-समूह हमेशा हमारी बुद्धिको समझ प्रदान करते रहते हैं। तो जब दुनियामें अनासक्ति हो जाती है तब—'स ब्रह्मयोग-युक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते।' जीवनमें सुखके

आस्वादनकी प्रक्रिया जाग्रत हो जाती है। असंग होनेपर ही हम कैसे नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त हैं,यह मालूम पड़ने लगता है। आप लोग अनुभवी है, भलीभाँति जानते हैं कि आपके जीवनमें कई ऐसे प्यारे आये होंगे, जिनको देखे बिना आँख नहीं मानती होगी। कई ऐसे लोग आये होंगे, जिनको देखकर आँख फेर लेनेका मन हुआ होगा, मुँह कड़वा हो गया होगा, जायका बिगड़ गया होगा, मन बिगड़ गया होगा, परन्तु अब वे कहाँ विलीन हो गये? न वे प्यारे रहे, न वे दुश्मन रहे, और आप ज्यों-का-त्यों बने हुए हैं। यही सृष्टिकी प्रक्रिया है, शैली है, रीति है। अबतक आपकी आँखोंके सामने कितने आये और गये किन्तु आँखें किसीके साथ नहीं गयी। आपके जीवनमें कितने ग्रन्थ आये और गये, शब्द आये और संगीत आये और गये, परन्तु वे कहीं आपके कलेजेमें चिपके नहीं। यह दुनिया ईश्वरकी है और ईश्वरकी इच्छाके अनुसार चल रही है। आप अनासक्त होकर उसका मजा लेते चलो। अनासक्त मनुष्य ही ब्रह्मयोगसे युक्तात्मा होता अर्थात् उसका मन, उसकी अन्तरात्मा ब्रह्मयोगसे युक्त हो जाती है। फिर उसको अक्षय सुखकी प्राप्ति होती है। जो अपने-आपसे सुखी होता है, वह हमेशा सुखी रहता है और जो दूसरेसे सुखी होता है, वह हमेशा सुखी नहीं रह सकता। जाग्रत्की चीज स्वप्नमें छूट जाती हैं, स्वप्नकी चीजें सुषुप्तिमें छूट जाती हैं, सुषुप्तिका आराम स्वप्नमें छूट जाता है और मनमाने स्वप्न जाग्रत्में समाप्त हो जाते हैं। यह सारी दुनिया ही छूटनेवाली चीजोंसे बनी है। जो दूसरी स्थितिसे, दूसरी वस्तुसे, दूसरे व्यक्तिसे प्रसन्न होगा उसकी प्रसन्नता उधार ली हुई प्रसन्नता होगी; अपने घरकी नहीं होगी, अपनी नहीं होगी। उधारको संस्कृतमें अध्याहार बोलते हैं। उधारकी प्रसन्नता आपको कभी सुखी नहीं कर सकती। जो आत्मसुखका आस्वादन करता है, उसको बाह्य स्पर्शसे वैराग्य होता है और जो बाह्य स्पर्शमें अनासक्त है, विरक्त है, उसको अपनी आत्माकी ब्रह्मताका बोध होता है। देखो एक बात इतनी सीधी है कि इसको विद्यार्थी भी, बच्चा भी समझ सकता है। वह यह कि हमें अपना आपा दीखता नहीं; बल्कि वह तो स्वयं देखता है, इतना सबको मालूम है। जब अपना आपा दीखता नहीं तो ये क्षण-क्षण भी नहीं दीख सकते, आयु भी नहीं दीख सकती, इसकी लम्बाई-चौड़ाई भी नहीं दीख सकती, इसका वजन भी नहीं दीख सकता। जब यह स्वयंमें दीखता ही नहीं, तब इसकी लम्बाई-चौड़ाई, और वजन कैसे दीखेगा? हम सौ-पचासकी आयुवाले हैं, साढ़े तीन हाथकी लम्बाई-चौड़ाईवाले हैं, और हमारा वजन मन-दो-मन है—यह कल्पना अपनी आत्माके साथ कैसे जुड़ेगी? जब देखनेवालेके साथ देश-काल-वस्तुका परिच्छेद नहीं जुड़ता तो देखनेवाला अपरिच्छिन्न अद्वितीय ब्रह्मके सिवाय और कुछ हो ही नहीं सकता। जहाँ संसारकी वस्तुओंसे अनासक्ति हुई और अस्पर्शयोगमें अवस्थित हो गये वहाँ ब्रह्मयोग-युक्तात्मा हो जायेंगे तथा अक्षय सुखकी प्राप्ति होगी। एक सुख वह होता है जो क्षयिष्णु है—जिसका क्षय हो जाता है। और, एक सुख वह होता है जो अक्षय है जिसका कभी क्षय नहीं होता। हम अपनेको नशेमें, मोहमें, भूलभूलैयामें डालकर सुखी होना चाहते हैं—'सुखं मोहनमात्मनः। निद्रालस्यप्रमादोत्थम्।' मैंने सुना कि आजकल जवान लोग पान ज्यादा खाने लगे हैं तो मुझे जिज्ञासा हुई और मैंने अपने एक बहुत प्यारे बालकसे पूछा कि तुम पहले तो इस आशंकासे पान नहीं खाते थे कि दाँत खराब हो जायेंगे अब क्यों खाते हो? उसने बताया कि 'आजकल पानकी दुकानपर एक नशेकी गोली

मिलती है। उसीको लेनेके लिए हम लोग पानकी दुकानपर जाते हैं। पानसे हमारा प्रेम नहीं।' तो उस नशेकी गोलीमें क्या है? निद्रा, आलस्य, प्रमाद। जो उस गोलीको खाकर सुखी होंगे उन्हें जिस दिन वह गोली नहीं मिलेगी, उस दिन उनका क्या होगा? गोली खानेसे जो सुख मिलेगा उससे तो उनका दिमाग ही खराब हो जायेगा। तो एक सुख वह होता है जो विषयों और इन्द्रियोंके संयोगसे—'विषयेन्द्रियसंयोगात्' प्राप्त होता है। वह रजोगुणी सुख है। वह पहले तो अच्छा लगता है, बादमें विरस हो जाता है। तीसरा सुख सत्त्वगुणी होता है, जो अच्छी-अच्छी आदतोंको डालनेसे मिलता है—'अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति'। परन्तु इन तीनों सुखोंको सच्चा सुख नहीं मानते, न निद्रा, आलस्य, प्रमादमें सच्चा सुख है, न विषय इन्द्रियके संयोगमें सच्चा सुख है और न अभ्यासजन्य सुख सच्चा सुख है। आप कितना अभ्यास करेंगे? हमने देखा, एक सज्जनको गीता इतनी कण्ठस्थ थी कि वे 'धर्म-क्षेत्रे'से प्रारम्भ करें और 'मतिर्मम' तक बिना रुके बोल जाँय। कभी अन्तसे शुरू करें तो प्रारम्भतक उलटी बोल जाँय। गीतामें कौन शब्द कितनी बार आया और कहाँ-कहाँ आया—यह भी उनको याद था। लेकिन जब उनकी मृत्युका समय आया तो उनका सारा अभ्यास छूट गया। वे श्लोक बोलना चाहते थे तो उनकी सारा अभ्यास छूट गया। वे श्लोक बोलना चाहते थे तो उनकी जीभ काम नहीं देती थी। उनकी स्मृति इतनी क्षीण हो गयी कि पूरा श्लोक नहीं बोल पाते थे। कहनेका मतलब यह कि यदि हम उच्चारण अथवा स्मृतिके अभ्याससे चाहें कि कोई चीज अक्षय हो जाये तो वह नहीं होगी। जो अक्षय है, वही अक्षय रहेगा और अक्षय केवल परमात्मा है। इसलिए—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्। 6.21

सुख ऐसा होना चाहिए कि उनका कभी अन्त न हो। 'आत्यन्तिकं'का अर्थ है जो अन्तका अतिक्रमण कर जाये। अर्थात् ऐसा सुख हो, जो कालसे अपरिच्छिन्न हो, अविनाशी हो। फिर 'बुद्धिग्राह्यम्' हो अर्थात् जो ज्ञानमात्रसे मिलता हो और जिसके लिए कहीं जाना-आना अथवा कुछ पाना आवश्यक न हो। जो सुख ज्ञानमात्रसे मिलेगा वह तमोगुणी नहीं होगा। तीसरा सुख है 'अतीन्द्रियम्' अर्थात् वह सुख जो विषयों और इन्द्रियोंके संयोगसे न मिलता हो, अपने आप मिलता हो।

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्॥ 6.23

हम ऐसे सुखी हो जायँ कि संसारका कोई भी दुःख हमारे साथ चिपके नहीं। हमको सुखके लिए मँगता न बनना पड़े। लोग कहते हैं 'हमारा नियम है हम किसीसे माँगते नहीं, हम मँगते थोड़े ही हैं, भिखारी थोड़े ही हैं।' भिखारियोंके प्रति लोगोंकी बड़ी ग्लनि होती हैं, बड़ी घृणा होती है। परन्तु आप विचार कीजिये हमारी इन्द्रियोंकी क्या स्थिति है? हमारे मनकी क्या दशा है? क्या हमारे मन और इन्द्रिय दूसरोंसे सुखकी भीख नहीं माँगते? तो हमें ऐसा सुख चाहिए जो अतीन्द्रिय हो, बुद्धिग्राह्य हो और आत्यन्तिक हो। ऐसा जो रजोगुण, तमोगुण, सत्त्वगुणसे रहित विलक्षण आत्मसुख है, ब्रह्मसुख है, वही अक्षय सुख है। मनुष्यको उस अक्षय सुखकी प्राप्ति होती है—'सुखमक्षयमश्नुते'। इसमें जो 'अश्नुते' शब्द है उसका अर्थ 'अश्नाति' नहीं होता। अश्नातिका अर्थ होता है खाना—'अशितं-नाशितं।' 'अशितं' माने भोजन और नाशितं माने नाश्ता।

'अश्नुते' क्रिया पदका अर्थ व्याप्ति है। जैसे लिपि-भेद होता है। अंग्रेजीकी लिपि अलग है, फारसीकी लिपि अलग है, नागरी लिपि अलग है। इस प्रकार भाषाओंकी भिन्न-भिन्न लिपियाँ होती हैं। परन्तु जिसका उच्चारण 'अ' होता है वह एक होता है। तो 'अश्नुते' का अर्थ यह होता है कि लिपिके आकारका भेद होनेपर भी 'अ' अक्षर है, नित्य है लिपि क्षर है और 'अ'से जिसका उच्चारण किया जाता है वह अक्षर है, अनश्वर है। तो 'अश्नुते'का तात्पर्य यह हुआ कि विषय बदलते हैं, इन्द्रियाँ बदलती हैं, मनोवृत्तियाँ बदलती हैं, वस्तु बदलती है, व्यक्ति बदलते है, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति बदलती है। समाधि और मूर्च्छा बदलती है; परन्तु सुख जैसा-का-तैसा रहता है क्योंकि वह अक्षर होता है। ऐसा कब होगा? ऐसा तब होगा जब अपना आत्मा ही सुखरूप होगा।

यह सर्वथा स्वतन्त्र और स्वावलम्बी बनानेकी विद्या है। आप अपने सुखकी ही बदल कीजिये। परायेके पीछे यह कहते हुए मत दौड़िये कि तू हमको सुख दे जा। यह हमारे अनुभवकी बात है कि आठ-आठ, दस-दस दिनकी रखी हुए बिल्कुल सूखी रोटियाँ जो खाने लायक नहीं, भूख लगनेपर उनको मुँहमें डाला और चुगलाया तो ऐसा रस निकला, ऐसा स्वाद आया कि उसके सामने ताजी रोटियाँ फीकी पड़ गयी। तो मनुष्यके मनमें यह भ्रम ही होता है कि अमुक ढंगकी वस्तु मिलेगी, अमुक ढंगके लोग मिलेंगे तभी हम सुखी होंगे। क्या आप बच्चों के साथ खेलकर सुखी नहीं हो सकते? क्या आप सामान्य लोगोंसे मिलकर उनके स्तरकी बात-चीत करके सुखी नहीं हो सकते? अरे भाई, उनके भीतर भी वही आत्मा है, वही परमात्मा है, जो तुम्हारे भीतर है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥ 5.22

श्रीकृष्णने गीतामें कितनी बढ़िया बात बतायी है। वे कहते हैं कि इस संसारमें जो भोग मिलते हैं वे अन्ततोगत्वा दुःखदायी होते हैं। हमारी आँखकी रोशनी जब एक सुन्दर आकृतिका दर्शन करेगी तभी उसकी ओर आकर्षित होगी। ये जो नाना प्रकारके पुष्प हैं, व्यक्तियोंके रूपमें भी पुष्प होते हैं, ये भी प्रकृतिके पुष्प ही हैं। यह स्त्री हैं, यह पुरुष है, यह लड़का है, यह लड़की है—इनका सुन्दर रूप देखनेपर हमारी आँख प्रसन्न होती हैं, एक बढ़िया-सी चिड़िया देखकर ख़ुश होती हैं, बढ़िया-सा कुत्ता देखकर प्रसन्न होती हैं। और भी बहुत सारी चीजें देखकर हमारी आँख खुश होती रहती है। किन्तु ये जो संस्पर्शज भोग हैं, वे बादमें दुःख देते हैं। अर्थात् दुःखके कारण हैं। इनसे जो फल पैदा होता हैं, वह दुःख होता है। क्योंकि एक जगह जो सुख मिलता है, वह फिर दूसरी जगह नहीं मिलता है, दूसरे समयमें नहीं मिलता और दूसरेसे नहीं मिलता। फिर उनकी याद करके हम अपना दिल ही तो जलाते रहेंगे।

दूसरी बात यह बतायी कि 'आद्यन्तवन्तः' अर्थात् ये भोग तो मेहमानकी तरह आये हुए हैं, इनका आदि भी है, अन्त भी है। इनसे प्रीति करना तो परदेशीसे प्रीति करने जैसा हैं। आज तो ये रास्ते पर मिले, प्याऊपर मिले, तालाबमें मिले, क्लबमें मिले, होटलमें मिले; बादमें फिर कभी मिलेंगे कि नहीं, कुछ ठिकाना

नहीं। ये तो मिलकर बिछुड़ने वाले हैं, और आगे दुःख देनेवाले हैं। जो फरा सो झरा, जो बरा सो बुताना—जो फलता है वह झड़ जाता है; जो जलता है, वह बुझ जाता है वह बिछुड़ जाता है—इसलिए क्यों इनसे सुखकी आशा करते हो?

अब तीसरी बात बताते हैं—'न तेषु रमते बुधः' समझदार आदमी उन भोगोंमें नहीं रमता। रमनेकी जगह तो केवल अपना आत्मा है। 'यथा सूत्रेण प्रबद्धो हि शकुनिर्दिशं दिशं पतित्वा अन्यत्रायतनं लब्ध्वा स्वबन्धनमेव उपाश्रयते'—उपनिषद्का कहना है कि एक चिड़िया सूतसे बँधी हुई है, वह फड़फड़ाती है। दाहिने जाती है, बायें जाती हैं, सामने जाती हैं, पीछे जाती है परन्तु सूतसे बँधी होनेके कारण कहीं दूसरी जगह नहीं जा सकती। अन्तमें जहाँ बँधी हुई हैं, वहीं आकर बैठ जाती है उसके फड़फड़ानेकी तकलीफ बिल्कुल मिट जाती है। इसी तरह—'प्राणबन्धनं हि सौम्य मनः' अपना मन अपने आत्माके साथ बँधा हुआ है। वह चाहे कितना भी भागनेकी कोशिश करे, आँखके दरवाजेसे भागे, कानके दरवाजेसे भागे, नाकके दरवाजेसे भागे, जीभके दरवाजेसे भागे, परन्तु वह भाग नहीं सकता। उसको कहीं भी शान्ति नहीं मिलेगी लौटकर वहीं आना पड़ेगा, जहाँ वह बँधा हुआ है। इसलिए सुप्रसिद्ध शायर जौकके शब्दोंमें—

जिस सिरका है यह बाल उसी सिरमें जोड़ दो।
दुनियासे जौक उलफते दामनको छोड़ दो।।

हमारे मनको शान्ति तभी मिलेगी, जब यह जहाँसे उठकर बाहर भागना चाहता है वहाँ निश्चल होकर बैठ जाये। यदि यह फड़फड़ानेमें, भागनेकी कोशिशमें शान्तिका अनुभव करना चाहेगा तो कभी शान्त नहीं हो सकता। तो भगवान्ने तीन बातें बतायीं। एक तो यह कि दुनियादार लोग जिसको सुख समझते हैं, उसीमें-से दुःख निकलता है। दूसरी यह कि ये आने-जानेवाले हैं, नाशवान् हैं। और, तीसरी यह कि इनमें बुद्धिमान नहीं फँसते। आप संसारका इतिहास देख जाइये, यहाँ जितने भी सच्चे, शिष्ट सत्पुरुष हुए हैं, वे इन भोगोंमें नहीं रमे। भोगमें रमकर मनुष्य सुखी नहीं हो सकता। सच्चा मनुष्य गुस्सा आनेपर सहनेकी कोशिश करता है, कुछ बोलता नहीं। किन्तु कोई गुण्डा होता है तो कहता है कि मैंने गुस्सा आनेपर बच्चूको खूब सुनाया। इन दोनोंमें-से आप किसको पसन्द करते है? अपने आपको तौल लीजिये। निश्चय ही आप गुस्सा सहनेवालेको पसन्द करते हैं—

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥

हम आपको पहले सुना चुके हैं कि गीता जंगलमें भागनेके लिए नहीं, जीवन-युद्धमें अग्रसर होनेके लिए हैं। अर्जुन जीवनयुद्धसे भागना चाहता था, किन्तु भगवान्ने कहा—नहीं, नहीं, तुम जीवनके इस युद्धसे, संग्रामसे पलायन नहीं कर सकते। पलायनवादी होना अच्छा नहीं। जो तकलीफ तुम्हारे सामने आयी है, उसका सामना करो। भागनेसे कैसे काम चलेगा? तुम अच्छे-से-अच्छेकी उम्मीद रखो और बुरे-से-बुरेका सामना करने के लिए तैयार हो जाओ—'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।' उठो जागो और बड़ोंके पास जाकर जानो

कि तुम्हारा क्या कर्त्तव्य है। हमको बचपनमें हमारे गुरुजीने एक मन्त्र बताया—'क्लैब्यं मा स्म गमः।' मैं कहता था कि 'मुझसे साधन नहीं होगा, आसन नहीं, प्राणायाम नहीं होगा। मेरा मन एकाग्र नहीं होगा।' इसपर गुरुजी बोलते थे—'क्लैब्यं मा स्म गमः।' अरे, नपुंसक मत बन। यह तो नामर्दका, कायरका काम है। तुम तो यह सोचो कि जो भी आपत्ति-विपत्ति या परिस्थिति हमारे सामने आयेगी, उसका हम डटकर सामना करेंगे, मुकाबला करेंगे, भागनेसे क्या होता है?

तो भाई, इसबातको आप ध्यानमें रखिये। पशुओंके मनमें काम, क्रोधका वेग आता है तो वे उसको तुरन्त चरितार्थ कर लेते हैं। उन्होंने कहीं हरी-हरी घास देखी और मनमें आया तो मुँह मार दिया, लेकिन पशुओंमें भी जो अच्छे कुत्ते होते हैं, उनके सामने भोजन रखा रहनेपर भी तबतक नहीं खाते, जबतक मालिक उनको खानेके लिए लिए न कहे। अच्छे कुत्तेका यही लक्षण है कि आपके घरमें खाने-पीनेकी बढ़ियासे बढ़िया चीजें रखी हों लेकिन वह अपनी मर्जीसे उसमें मुँह न लगावे। जर्मनीसे एक व्यक्ति आया था। उसके साथ उसका अल्सेशियन कुत्ता था। वह उसे जूता सूंघा देता और कह देता कि 'बैठो'। फिर जबतक वह लौटकर नहीं आता, उसका कुत्ता वहीं बैठा रहता। वह बिना दिये कुछ भी खाता नहीं था। कितनी वफादारी थी उस कुत्तेमें। परन्तु मनुष्य अपने मन और इन्द्रियोंको रोक नहीं सकता। कामका वेग आता है कि भोग लें, क्रोधका वेग आता है कि अमुक को सता लें, दुःख दे लें, वाणीसे क्रोध प्रकट कर लें, क्रियासे क्रोध प्रकट कर लें, मनसे अमुकका बुरा सोच लें, किन्तु वेग भले ही आवे, आप उसे सहनेके लिए तबतक सावधान रहें जबतक यह शरीर है। प्राक् शरीरविमोक्षणात्। यह सामर्थ्य मृत्युपर्यन्त तुम्हारे अन्दर रहे, जीवनके अन्तिम क्षणतक मनमें उत्साह बना रहे कि हम काम, क्रोधके वेगको सह लेंगे। हमारा संचालक राम होगा, हम सहज भावसे चलेंगे और काम, क्रोधके वेगका कोई प्रभाव हमपर नहीं पड़ेगा। यह असम्भव नहीं। जब काम, क्रोधका वेग आये तो किसी दूसरे श्रमके काममें लग जाओ, कुछ बढ़िया-सी बात पढ़ने लगो, परमात्माके स्वरूपका ध्यान करने लगो। कहीं-न-कहीं अपने मनको लगानेका प्रयास करो। उड़िया बाबाजी महाराज महाभारतका एक श्लोक बोलते थे—

वाचो वेगं मनसां क्रोधवेगं हिंसावेगमुदरोपस्थवेगम्।
एतान् वेगान् यस्तु सहेत धीरो निन्दा चास्य हृदयं नोपहन्यात्॥

जो मनके वेगको, वाणीके वेगको, क्रोधके, वेगको, पेटके वेगको, भोजनके वेगको, मूत्रेन्द्रियके वेगको सह लेता है वह महात्मा है। एक बात और बताते थे कि जब कभी अपनी निन्दा सुननी पड़े, परम्परया सुननी पड़े, साक्षात् सुननी पड़े तो इस संकल्पका अभ्यास होना चाहिए कि निन्दा हमारे दिलको चोट नहीं पहुँचा सकती। तो मनमें काम, क्रोधका वेग सहनेका उत्साह और अभ्यास रहना चाहिए तथा उसके संस्कारको ग्रहण न करनेकी सावधानी रहनी चाहिए। जो मनुष्य ऐसा है 'स युक्तः स सुखी नरः'—वही युक्त है, वही सुखी है।

तो गीताकी प्रणाली पलायनवादी नहीं। यह तो कहती है कि आप संसारमें रहकर ही अपनी

जीवन-यात्राको अविचल ले चलिये। गीताकी दृष्टिमें समाधिस्थसे भी श्रेष्ठ योगी वही है जो व्यवहारमें सम रहे। जो हिमालयमें न जाकर व्यवहारमें समदर्शी रहता है, वही गीताका सर्वश्रेष्ठ सत्पुरुष है—'स योगी परमो मतः।'

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।

मनुष्यके सामने सुख भी आवे, दुःख भी आवे, अपना भी मालूम पड़े, परायेका भी मालूम पड़े, परन्तु वह सबमें समान रहे—'समं पश्यति।' गीताका साम्ययोग है कि बराबर रहो, अविचल रहो। तुम्हारे कदम एक सरीखे पड़ें, गर्मी हो तब भी, सर्दी हो तब भी, आँधी-तूफान हो तब भी और शीतल, मन्द, सुगन्ध वायु चल रही हो तब भी। ऐसा मनुष्य ही सुखी होगा, शान्त होगा।

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥ 6.24

भगवान् कहते है कि तुम्हारा सुख बाहरसे तुम्हारे भीतर प्रवेश न करे, बल्कि भीतरसे बाहर आये। जैसे ज्वर दो तरहके होते हैं, एक बाहरसे चढ़ता है दूसरा भीतरसे आता है। एक ज्वरका नाम शैव और दूसरे ज्वरका नाम है वैष्णव। एक हाथ पाँव गर्म होकर आता है। दूसरा पहले दिलमें गर्मी पैदा करता है, फिर शरीरमें फैलता है। तो जो सुख बाहरसे भीतर प्रवेश करता है, वह आपको दबा देता है और जो सुख भीतरसे निकल कर बाहर आता है वह सारी सृष्टिमें फैल जाता है। फिर तो सुख-ही-सुख, आनन्द-ही-आनन्दका अनुभव होता है। वह अनुभव करता है कि आनन्दकी गंगा बह रही है, आनन्दके फुहारे छूट रहे हैं, आनन्दका समुद्र उमड़ रहा है, आनन्दके मेघ वर्षा कर रहे हैं।

मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः।
माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः॥
मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवँ रजः। मधु द्यौरस्तु नः पिता॥
मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः॥

बृहदारण्यक उपनिषद्में बीस-पच्चीस पदार्थोंका नाम लेकर यह बात बताई है कि पृथिवी मधु हैं, आकाश मधु है, मन मधु है, बुद्धि मधु है, सम्पूर्ण प्राणी मधु हैं। रात मधु है और प्रातःकाल मधु है। सम्पूर्ण भूतोंका आत्मा मधु है और गौ मधु है। तात्पर्य यह कि सर्वत्र मधु-ही-मधु आनन्द-ही-आनन्द है। बाहर आनन्द, भीतर आनन्द चारों ओर आनन्द-ही-आनन्द है। हमारी वनस्पतियाँ मधुमयी हैं, हमारी इन्द्रियाँ मधुमयी है। विषय मधुमय हैं, आत्मा मधुमय है—'एष ते आत्मा अन्तर्यामी अमृतः।' अरे, यहाँ दिल बिगाड़नेकी तो कोई जगह ही नहीं। अपने सुखका स्त्रोत भीतरसे फूटने दो, बाहरके गड्ढोंमें-से पानी भरनेकी जरूरत नहीं।

एक साधारण बात आपको सुनाता हूँ। हम लोग गाँवके रहनेवाले हैं। वहां सिचाई आदिके लिए कूओंसे पानी खींचते हैं। परन्तु कूएँकी एक विशेषता है कि जितना पानी उसमें-से निकालो उतना ही पानी

भीतरसे और आ जाता है। तो आपका यह हृदय भी सुखका कूप है। आप इससे सुख निकालकर जितना बाहर फेंकोगे, जितना ही दूसरोंको सींचोंगे, जितना ही बाहरवालोंकी प्यास बुझाओगे, उतना ही सुखका झरना आपके भीतर बहेगा, उतना ही सुख-स्वरूप परमेश्वरका अखण्ड प्रवाह आपके भीतर प्रवाहित होगा।

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।

आपका आराम कहाँ है? क्या आप अच्छे गुदगुदे बिस्तरपर सोते हैं तब आपको आराम मिलता है? कभी-कभी बम्बईवाले वृन्दावन आना चाहते हैं तो पूछ लेते हैं कि महाराज, वहाँ एयर कण्डीशन है कि नहीं? वैसे अब तो वृन्दावनमें भी एयर कण्डीशन है और लोगोंको सोने-बैठनेके लिए सुलभ होता है लेकिन एयर कण्डीशनके बिना नींद न आना और कमोडके बिना शौचाचार न होना कितनी पराधीनता है? यदि आपका आराम एयर कण्डीशनमें है, डनलपमें है, गद्देमें है, बिजलीमें है, पंखेमें है तो आपके भीतरका जो सुख है उसका क्या हुआ? क्या वह सूख गया?

योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।

तो अपने भीतर आराम करो और अपने भीतरसे सुख निकाल-निकालकर बाहर बाँटो। तुम जितना सुख बाँटोगे उतना ही सुख बढ़ेगा और यदि आराम करनेके लिए पराये घरमें जाओगे तो वहाँसे निकलना पड़ेगा और दुःख होगा। अतः अपने घरमें ही आराम करो। जिसको अपने अन्तरसे रोशनी मिलती है, उसीकी रोशनी सच्ची होती है। परायेके प्रभावसे जो रोशनी मिलती है वह गलत हो जाती है—

स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति।

तो ब्रह्मभूत योगी ब्रह्मनिर्वाणका अनुभव करता है। वस्तुतः ब्रह्माकार सुख किम्भूत किमाकार सुख नही होता। आत्माके भीतर आत्माका जो सुख है वही ब्रह्मसुख है। यदि तुम्हारे भीतर सुख है तो जहाँ जाओगे वहाँ सुखी रहोगे और जहाँ जाओगे वहाँ सुखी रहोगे। किन्तु यदि हमारे भीतर सुख नहीं, तो तुम कहीं भी, किसीसे भी कभी भी दुःखी हो सकते हो। यहाँतक कि तुम सुख पहुँचानेवालेसे भी दुःखी हो सकते हो। इस प्रकार गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण हमारे जीवनके लिए बड़ी-बड़ी काम की बातें बताते हैं।

●

प्रवचन : 11

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥ 6.24
लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥ 6.25
कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥ 6.26

भगवान् श्रीकृष्ण उस पुरुषका स्वरूप बताते हैं जिसे परमात्माका अनुभव होता है, ब्रह्मानुभूति होती है और जिसको शान्ति मिलती है। पहले श्लोककी पहली पंक्तिमें तीन बातें है—'योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः'—आपका आराम, आपकी ज्योति और आपका सुख। ये तीनों कहाँ हैं? यदि आपका आराम बाहर है, दूसरी जगह है, दूसरेके हाथमें है, आप पराधीन है तो न स्वयं आराममें रह सकते हैं और न अन्यको आराम दे सकते हैं। जो धनी होता है वह दूसरेको दे सकता है, किन्तु जिसके पास है ही नहीं, वह दूसरेको कैसे दे सकेगा? अतः जिसके पास स्वयंका आराम नहीं, वह दूसरेको आराम देना तो दूर उद्विग्न ही करेगा। कोई छटपटाता रहे, खाँसता रहे, खटपट करता रहे और दूसरेसे कहे कि आराम कीजिये, तो उसकी खटपट और खाँसनेसे दूसरेको आराम कैसे मिलेगा? दूसरेको आराम देनेके लिए स्वयं आराममें रहना आवश्यक होता है। आरामका अर्थ है सत्ता, ज्योतिका अर्थ है चित्, सुखका अर्थ है आनन्द और अन्तःका अर्थ है आत्मा, प्रत्यगात्मा, अन्तरात्मा। अपना आत्मा ही सुख है, अपना आत्मा ही आराम है और अपना आत्मा ही प्रकाश है। अब आप विचार कीजिये कि ज्ञान लेनेके लिए सुख पानेके लिए अथवा आराम करनेके लिए आप पराधीन हैं या स्वाधीन हैं? यदि पराधीन हैं तो जब आप स्वयं न प्रकाशमें रहेंगे, न आराममें रहेंगे तो आपको शान्ति कैसे मिल सकेगी! जिसका आराम, जिसका प्रकाश, जिसका आनन्द स्वाधीन है, स्वतन्त्र है वही सच्चिदानन्द ब्रह्ममें स्थित रहेगा और वही ब्रह्मभूत योगी है।

स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति।

इस बातको बहुत कम लोग समझते हैं कि 'सर्वं परवशं दुःखं' पराधीनता ही दुःख है। 'सर्वं आत्मवशं सुखम्' आत्माधीनता ही सुख है और 'एतद् विद्यात् समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः'—मनुजीके शब्दोमें यही सुख-दुःखका संक्षिप्त लक्षण है। यदि आप पराधीन हैं, आपके हृदयमें उद्वेग है, मलिनता है, दूसरेसे सुखकी आशा रखते हैं, तब आप शान्त नहीं। आप शान्त ब्रह्मानन्द-सुख-आराम एवं ज्योतिके समुच्चय सच्चिदानन्दस्वरूप आत्माका अनुभव करोगे तो ब्रह्मभूत हो जाओगे और फिर ब्रह्मनिर्वाण अर्थात् शान्ति-ही-शान्ति का साम्राज्य स्थापित हो जायेगा—

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥ 6.25

जो शब्दके बदले शब्द जानता है उसको शान्ति नहीं मिलती। पर्यायवाची शब्दोंके ज्ञानमात्रसे किसीको शान्तिका अनुभव नहीं हो सकता। किसीसे पूछा कि कुम्भ माने क्या? उत्तर मिला कि कलश। कलश माने क्या? घट। घट माने क्या? घड़ा। घड़ा माने क्या? तो बोला मैं नहीं जानता, आप जानें। तो, जो लोग काव्य, कोष और व्याकरण द्वारा एक शब्दके बदले दूसरा शब्द जानते हैं, उनको शान्तिकी प्राप्ति नहीं होती। शान्तिकी प्राप्तिके लिए ऋषि होनेकी आवश्यकता है। संस्कृतव्याकरणके अनुसार 'ऋषि तत्त्वार्थदर्शने'—ऋषि उसे कहते हैं जो तत्त्ववस्तुको देखता है, जिसको तत्त्वार्थ-दर्शन होता है। किसी भी चीजकी शक्ल-सूरत छोड़कर जो उनके उपादानका ज्ञान प्राप्त कर ले और इस बातको पहचान ले कि सबमें ब्रह्म है, सत् हैं, आनन्द है, उसको ऋषि कहते हैं। उस तत्त्वदर्शी ऋषिको ब्रह्मनिर्वाणकी प्राप्ति होती है। जो केवल शक्ल-सूरतको देखनेमें और नामोंको याद करनेमें संलग्न रहते हैं उनको ब्रह्मनिर्वाणकी प्राप्ति नहीं होती। शक्ल-सूरत तो बिल्कुल ऊपरी चीज है। कोई वस्तु त्रिकोण है कि चतुष्कोण, यह उसका आकार हुआ, आकृति हुई और लाल है कि पीली, यह उसका रंग-रूप हुआ। रंग-रूप आकृति दूसरी चीज है। ये दोनों तत्त्वमें उभारी जाती हैं, अध्यारोपित होती हैं। सोनेमें आप जेवर बनाते हैं तो कंगन बना या कुण्डल—ये दोनों उसको आकृतियाँ हैं और उसपर पच्चीकारी या पालिश करनेसे उसकी शक्ल-सूरत उभरती है, आकृति पृथक् होती है और रूप-रंग पृथक् होता है। 'अनारोपिताकारं तत्त्वम्'—तत्त्व वह होता है जिसमें आकारका आरोप नहीं। जो न सोना है, न कंगन, न कुण्डल है, न सिल्ली, न चूर्ण है न द्रव्य; सबसे अलग एक तेजोमय धातु है, वह तत्त्व है। जो उस सोनेको पहचानता है, वह उससे बने हुए कंगन, कुण्डल, हार आदिको भी पहचान लेता हैं, किन्तु जो सोनेको नहीं पहचानता उसके लिए उससे बने आभूषण नकली सोनेके हैं या असली सोनेके और उसकी क्या कीमत है, इसकी कोई परख नहीं। वह आभूषणोंकी शक्ल-सूरत, डिजाइन देखकर ही उनपर मुग्ध हो जायेगा और जिसकी कोई कीमत नहीं, उसकी बहुत बड़ी कीमत चुकायेगा। कीमत रुपये-पैसोंके रूपमें ही नहीं होती, अपना जो परिश्रम है, अपनी जो बुद्धि है, प्रतिभा है, अपना जो जीवन है वह सबसे अधिक मूल्यवान् है। उसको खचना, शून्य कर देना ही सबसे बड़ी कीमत है। 'ख' माने शून्य और रचना माने बनाना, इस प्रकार खर्चना माने तिजोरी खाली कर देना, अपने जीवनकी पूँजी नष्ट कर देना। किसके लिए कि जिसका कोई मूल्य नहीं। मूल्याङ्कन नहीं उसके लिए। तो ब्राह्मी स्थिति, ब्राह्मी शान्ति, ब्रह्मानन्द, ब्रह्मज्ञान उन लोगोंको मिलता है जो किसी पदार्थकी शक्ल-सूरतमें, आकृति-विकृतिमें नहीं फँसते बल्कि उसकी असलियत, असल तत्त्वको पहचानते हैं। 'न सलति इति असलम्'—जो निर्गत नहीं होता, भागता नहीं, परिवर्तित नहीं होता उसका नाम होता है असल। मूल धातुसे ही सलिल शब्द भी बनता है। जो असल वस्तुको देखते हैं उन्हें ब्रह्मनिर्वाणकी प्राप्ति होती है। उसके लिए चार पहचान बतायीं—'क्षीणकल्मषाः, छिन्नद्वैधा, यतात्मानः और सर्वभूतहिते रताः'। वे व्यवहारमें सर्वभूतहितरत होते हैं सबकी भलाई करते हैं। सबकी भलाईमें ही अपनी भलाई है, यह बात हम

आपको अनेक बार बता चुके हैं। सबका आत्मा अपना आत्मा है और अपना आत्मा सबका आत्मा है। अपना अहित करोगे तो सबका अहित अवश्यम्भावी है। 'सर्वभूतहिते रता:'का अर्थ है स्वसहित संसारके सभी प्राणियोंके हितमें तत्पर रहो तब परमसुख परम शान्तिकी प्राप्ति होगी। यदि कहो कि सबके हितमें कैसे लगें तो उसका उपाय बताया—यतात्मान:। अपनी इन्द्रियों, अपने मनको नियन्त्रणमें, काबूमें रखो। इन्द्रियों, मनको काबूमें रखनेका मतलब उनको मारना नहीं। यदि इनको मारना ही इष्ट होता तो ये आपको दिये ही न जाते। इन्द्रिय और मन मारनेके लिए नहीं, काम लेनेके लिए हैं। इनसे काम तभी ठीक लिया जाता है, जब ये काबूमें रहें, नियन्त्रणमें रहें, जैसा कि पहले भी कहा 'यतात्मान:'का अर्थ है कि जब हम चाहें न बोलें तो वाणी न निकले। इस प्रकारके नियन्त्रणके लिए व्यवस्थाकी, मर्यादाकी, प्रबन्धकी आवश्यकता है। यह नहीं कि जीभ बोलने लगी तो घड़ी आगे बढ़ गयी। घड़ीने समयका उल्लंघन कर दिया और जीभ बोलती रह गयी। जैसे घड़ीकी सूई व्यवस्थित रूपसे चलती है वैसे ही जीभ भी व्यवस्थित रूप से हिले, पाँव भी व्यवस्थित रूप से चलें और हाथ भी व्यवस्थित रूपसे काम करें। जब हम काम करना चाहें तभी काम हो और जब बन्द करना चाहें तभी बन्द हो। इस प्रकार मत दौड़ो कि जब रुकनेका समय आवे तो रुक ही न सको। तुम्हारी मोटर इतनी तेज नहीं चलनी चाहिए कि काबू से बाहर हो जाये। उसे जहाँ रोकना है वहाँ वह रुक जानी चाहिए। तो 'यतात्मान:'का तात्पर्य है कि हमारा मन, हमारी इन्द्रियाँ हमारे अधीन हों। जो बोलना उचित हो वही हम बोलें। जो करना उचित हो वही करें। जहाँ जाना चाहिए वहाँ जायें। किसी भी अनुचित दिशाकी ओर हमारा मन, इन्द्रिय और बुद्धि न ले जायें, हम 'यतात्मान:' होनेपर ही सबका भला कर सकते हैं और 'सर्वभूतहिते रता:' वही हो सकते हैं जो अपनेको काबूमें, नियन्त्रित और मर्यादित रखते हैं। अच्छा जो कर्ममें कोई दोष न रहे—यह हुआ 'सर्वभूतहिते रता:' और मन इन्द्रियोंमें कोई दोष न रहे—यह हुआ 'यतात्मान:'। परन्तु ऐसा कैसे होगा? तो बोलते हैं कि 'छिन्नद्वैधा:'। द्विधा, द्वि-विधा, दुविधा। कभी-कभी लोग दाहिने जाय कि बायें जायें—इसका निश्चय करनेमें भी देर करते हैं। एक पिता अपने दो बच्चोंका भेद बताते हुए कह रहे थे कि व्यापार-सम्बन्धी निर्णय लेनेमें एकको जहाँ सात दिन लगते हैं वहाँ दूसरा वही निर्णय दो मिनटमें कर लेता है। यह पहले ही दिन जो बात कह देता है, उसको समझकर निश्चयपर पहुँचनेमें दूसरे लड़केको सात दिन लगाने पड़ते हैं। दोनों लड़के एक ही माता-पिताके हैं, एक ही वातावरणमें पले हैं, लेकिन उनके निश्चयमें बड़ा अन्तर पड़ जाता है। जो निश्चय नहीं कर सकेगा कि दाहिने जाना है कि बायें, सामने जाना है कि पीछे उसको द्विधा या दुविधा बनी रहेगी, द्वैध बना रहेगा, संशय बना रहेगा।

एक आदमी नदीमें तैर रहा था। उसको यह तो मालूम था कि इसी नदीके किनारे हमारा घर है और घर पहुँचना है। पर तैरते-तैरते उसको यह ख्याल नहीं रहा कि उसका घर नदीके दाहिने है या बायें? अब वह थोड़ी देर बायीं ओर तैरे फिर दायीं ओर तैरने लगे। जब उसकी दुविधा दूर हुई तभी वह घरकी दिशाकी ओर तैरकर पार हुआ और घर पहुँचा। तो, सबकी भलाई करनेके लिए अपने मन और इन्द्रियोंपर काबू होनेके साथ-साथ निश्चयात्मक ज्ञान होना जरूरी है—'छिन्नद्वैधा:।' दुविधा या संशय तो बड़ा भारी पाप हैं 'संशयात्मा

विनश्यति, नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः'—ये गीताके ही वाक्य हैं। संशय एक प्रकारकी निद्रा ही है। जिस धातुसे 'शयन' शब्द बनता है, उसी धातुसे सम् उपसर्ग जोड़कर संशय शब्द बनता है। 'सम्+शयः=संशय।' तो संशय माने शयन-निद्रा। जब मनुष्य इस प्रकारके संशयमें अपना जीवन व्यतीत करता है कि यह कर्तव्य है या अकर्तव्य, यह भोक्तव्य है या अभोक्तव्य, तो उसका जीवन ठीक व्यतीत नहीं होता। अनिश्चयात्मक जीवनमें मन और इन्द्रिय वशमें नहीं रहते और उसके द्वारा लोकोपकार भी नहीं होता। तो, यह संशय कैसे मिटे? इसका उत्तर दिया कि 'क्षीणकल्मषाः लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणम्।' इसमें 'लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणं' तो है फल और 'क्षीणकल्मषाः'का अर्थ है जिसके मनमें पापवासना नहीं, जो 'अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा'—कर्मसे, मनसे, वाणीसे किसीका भी बुरा नही चाहता। तो तात्पर्य यह कि पहले अपने मनकी पापवासना नष्ट हो। फिर दुविधा अथवा संशय समाप्त हो, मन-इन्द्रियाँ वशमें हों, सबकी भलाईके लिए काम किया जाये। तब 'लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणम्'—ब्रह्मनिर्वाणकी प्राप्ति होती है।

अब जब आप जीवभावको छोड़कर ब्रह्मभावमें शान्त हो गये, लीन हो गये और ब्रह्मनिर्वाणकी प्राप्ति हो गयी तब—

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥ 5.26

काम और क्रोधका आना बुरा नहीं, इनके वशमें हो जाना बुरा है। काम-क्रोध तो हमारे अन्तःकरणमें बीजरूपसे मौजूद हैं और अन्तःकरण हमारे शरीरके भीतर है। इतना सुरक्षित अन्तःकरण इसीलिए प्राप्त हुआ है कि हम किसीसे बचना चाहते हैं और किसीको पाना चाहते हैं। ऐसी स्थितिमें हमारे मनमें कभी कामना या क्रोध न आये यह सम्भव नहीं। अतः काम, क्रोध आजायें तो ऐसा नहीं समझ लेना कि आप नीच हो गये, हीन हो गये, गिर गये। बल्कि यह प्रयत्न करना चाहिए कि यदि काम-क्रोध आजायें तो उनपर विजय प्राप्त करें। उनके अनुसार हम नहीं चलें, हमारे अनुसार वे चलें। हम कामको जान-बूझकर भगवान्‌की ओर लगा दें,क्रोधको जान-बूझकर बुराईके निवारणकी ओर लगा दें और इस प्रकार अपने हृदयको शुद्ध कर लें—

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।

कभी-कभी तो काम आनेपर जान-बूझकर क्रोध बुला लीजिये, तो काम भाग जायेगा। यह काम-निवारणकी युक्ति है। इसी प्रकार कभी क्रोध आये तो वह काम बुलानेपर भाग जायेगा। ये दोनों परस्पर ऐसे हैं कि एकके आनेपर दूसरा चला जाता है। वृन्दावनमें एक सज्जन हमारे पास बहुत ज्यादा बैठते थे। हम जानते थे कि अमुक व्यक्ति आजाये तो ये चले जायेंगे। इसलिए उनके आनेपर हमारे एक मित्र अमुक व्यक्तिको बुला लेते और वे उनको देखते ही चले जाते। अमुक व्यक्ति भी कैसे जायेंगे यह हमें मालूम था। वे हमारे हाथमें अखबार देखते ही अथवा कमरेमें रेडियोकी आवाज सुनते ही उठकर चले जाते थे। उनको अखबार, रेडियो दोनों पसन्द नहीं थे, बस उन्हें हाथमें देखा और भागे। असलमें मनुष्य को मालूम होना चाहिए। तो काम-क्रोधादिकी दवा यह नहीं कि हम उनको छोड़ दें। इनका प्रयोग औषधके रूपमें करना चाहिए। आप क्रोधपर

कामका, कामपर क्रोधका और काम-क्रोधपर लोभका प्रयोग करें। आप इस प्रकार सोचें कि यदि यह भोग हम करेंगे और इस जगहपर क्रोध करेंगे तो हमारी आमदनीमें बाधा पड़ेगी। हमारा जो मुनाफा है वह कम हो जायेंगे। इसी तरह कामका प्रयोग करनेसे क्रोध,लोभ दूर हो जाते हैं। ऐसा करनेपर आप देखिये कि ये जो दोष हैं वे औषधके रूपमें आपके जीवनमें आने लगेंगे। इसलिए हमेशा प्रयत्नशील रहिये और अपने मनको काबूमें रखिये। वस्तुत: सारी साधना ही समझदारीकी है। जो नासमझ हैं, वे करोड़ों ध्यान करें, समाधि लगावें, उनकी बेवकूफी तो बनी ही रहेगी। किन्तु जो समझदार हैं, वे अपनी प्रज्ञासे, अपनी बुद्धिसे उस लाभको अनायास प्राप्त कर लेंगे, जो दूसरेको बहुत बड़ा प्रयास करनेपर मिलता है। वास्तवमें प्रज्ञा, बुद्धि, समझदारी बहुत बड़ी वस्तु है। हमारे यहाँ प्रज्ञा, बुद्धि, ज्ञान और ब्रह्मविद्याका जितना बड़ा आदर है, उतना विश्वसृष्टिके किसी भी धर्ममें नहीं। कुछ भी हो जाये, पर हमारी बुद्धि नष्ट न हो। दुर्भाग्यवश लोग नशा पीकर, भावनाके आवेशमें अथवा अन्य अनेक साधनोंसे अपनी बुद्धिको दबाते हैं, नष्ट करते हैं। किन्तु ऐसा करना नहीं चाहिए। बुद्धि रही तो सब कुछ रहा, बुद्धि गयी तो सब कुछ गया। अत: हमें 'विदितात्मनाम्' बनकर रहना चाहिए।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ॥
यतेन्द्रियमनो - बुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः॥ 5.27-28

सदा मुक्तका अर्थ है कि आप हमेशा मुक्त हैं। आप यह कल्पना छोड़ दें कि जब समाधिमें जायेंगे तब मुक्त होंगे या जब ब्रह्मलोकमें जायेंगे तब मुक्त होंगे, या जब ब्राह्मी स्थिति होगी तब मुक्त होंगे। बन्धन माने हमारी बुद्धिका दोष। अज्ञानके सिवाय, नासमझीके सिवाय बन्धनका और कोई कारण नहीं। यह तो— 'प्रज्ञापराध एव एषः'—हम जिसको दु:ख कहते हैं वह हमारी समझका कुसूर है, हमारी प्रज्ञाका अपराध है। समझदारीके साथ प्रकाश रहता है, वहाँ न अन्धकार है और न दु:ख। समझ ही प्रकाश है, समझ ही परमानन्द है। इसलिए जिसकी बुद्धि निरन्तर जगमगाती रहती है, झिलमिल करती रहती है उसके लिए चारों ओर सुख-ही-सुख हैं।

तो अब एक बात यह है कि यदि श्रम करते हैं तो थोड़ा विश्रामका भी ध्यान रखें—'स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्च।' हमारे जीवनमें एक ऐसा अभ्यास चाहिए, एक ऐसी दृष्टि चाहिए कि हम बिना किसी वस्तुको पकड़े भी, बिना कोई काम किये भी रह सकें। अपने जीवनमें थोड़ा-सा समय ऐसा होना चाहिए, जब हम कर्मसे, विषयोंके दर्शनसे निवृत्त होकर अपने स्वरूपमें शान्त बैठें। जो दिन भर काम तो करता है, लेकिन जिसके जीवनमें समयपर सोनेकी व्यवस्था नहीं, वह ठीक-ठीक काम नहीं कर सकता। श्रमके लिए विश्राम चाहिए। जब जीवनमें अनेक प्रकारके उपद्रव, विक्षेप सहन करते हैं तो थोड़ा-सा समय निरुपद्रव, शान्तिके लिए भी चाहिए। अपनी दृष्टिको बहिर्मुखी होनेसे बचाकर थोड़ी देर शान्त होकर बैठ जाइये। सांस बराबर हो, शरीर बराबर हो और इन्द्रिय, मन, बुद्धि भी बराबर हो। जो अपने जीवनमें श्रम और विश्राम दोनोंको सन्तुलित

रखता है, श्रम ठीक करता है, विश्राम ठीक करता है, जागता ठीक है, सोता ठीक है, व्यवस्थापूर्वक जीवन-यापन करता है, वह हमेशा मुक्त ही है, कभी आबद्ध नहीं होता।

पाँचवें अध्यायके अन्तमें भगवान् श्रीकृष्णने जो बात बतायी है, वह बहुत बढ़िया है। आप ध्यान दो—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥ 5.29

शान्ति तो सबको चाहिए, उद्वेग किसीको भी पसन्द नहीं। असलमें उद्वेग अपनी वस्तु नहीं, वह तो गुंडेकी तरह आता है और फिर भाग जाता है। कोई भी मनुष्य चाहे कि हम केवल उद्विग्न जीवन व्यतीत करेंगे तो वह वैसा कर नहीं सकता। कोई कहे कि हम हमेशा असत्य ही बोलेंगे तो वह बोल नहीं सकता। हम एक सज्जनके घर गये। वे बोले कि 'महाराज! मैं झूठ-ही-झूठ बोलता हूँ।' मैंने कहा कि आप जो इस समय बोल रहे हैं, यह क्या है? क्या यह सत्य नहीं? इसपर वे सज्जन चुप हो गये। यदि कोई निरन्तर झूठ बोले तो क्या होगा? यदि वह मुँहको नाक और नाकको मुँह कहेगा तो लो उसकी भाषा नोट कर लेंगे और आपसमें कहेंगे कि भाई, जब यह मुँह बोले तो नाक समझना और नाक बोले तो मुँह समझना। असत्य बोलकर कोई अपना जीवन-यापन नहीं कर सकता। उसको सत्य बोलना ही पड़ेगा। इसी प्रकार किसीका जीवन निरन्तर हिंसामय नहीं हो सकता किन्तु अहिंसामय रह सकता है। चोरीका जीवन हमेशा नहीं रह सकता किन्तु साधुताका जीवन हमेशा रह सकता है। परिग्रहका जीवन हमेशा नहीं हो सकता किन्तु अपरिग्रहका जीवन हमेशा हो सकता है। यही सद्गुणका स्वभाव है, उसकी विशेषता है।

शान्ति आत्मधर्म है, आत्मस्वभाव है, आत्मगुण है। आप निरन्तर शान्त रहिये। अशान्तिको तो जबरदस्ती पकड़ना पड़ता है। किन्तु शान्तिके लिए कुछ करना नहीं पड़ता, कुछ समझना अवश्य पड़ता है। आपको कई दिन सुना चुका हूँ कि सिर्फ समझ लेनेसे, जान लेनेसे, केवल ज्ञानमात्रसे ही यह मालूम पड़े कि अमुक वस्तु हमको मिली है, तो वह ज्ञान होनेके पहले भी अज्ञान कालमें भी मिली हुई ही थी। वेदान्त-दर्शनका यह कहना है कि आप भूल गये हो, इसीलिए अमुक वस्तु आपको नहीं मिली। वह आपकी जेबमें पहलेसे ही थी, अब याद आनेसे आपको मिल गयी।

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।

आप परमात्माको पहचानो, वह हमारा सुहृद् है। इसको ऐसे समझो कि किसी विद्यालयमें कोई सज्जन गये। उन्होंने सब विद्यार्थियोंको देखा। एक विद्यार्थी बड़ा स्वस्थ, बड़ा सुन्दर, बड़ा प्रतिभाशाली लगा। उनको कोई लड़का नहीं था। उन्होंने मनमें ही उसे गोद लेनेका निश्चय कर लिया और विद्यालयके अध्यक्षसे कहा कि उस गरीब बच्चेके खाने-पीने-रहने आदिकी सब व्यवस्था कर दो, उसका सारा खर्च हमारे यहाँसे आयेगा। जब वह लड़का पढ़-लिख लिया तब उन्होंने उसको बुलाया। वह डरने लगा कि इतने बड़े आदमीके पास मैं कैसे जाऊँ! उसको तो यह भी मालूम नहीं था कि उसका जीवन-निर्वाह कौन करता है। परन्तु जब वह गया तो उन्होंने उसको अपने बराबर बैठाया और बताया कि मैंने जिस दिन पहले-पहल तुमको देखा था, उसी दिन

तुमको अपना पुत्र बना लिया था। तुम तो मेरे पुत्र हो। अब उस लड़केको यह ख्याल आया कि अरे, मैं तो बहुत दिनोंसे इनका पुत्र हूँ, आत्मीय हूँ, प्रेम-पात्र हूँ। फिर वह आनन्दमें भर गया। इसी तरह हमारे भगवान् हैं, परमेश्वर हैं, जो सबके सुहृद हैं, सबकी भलाई चाहते हैं। श्रीरामानुजाचार्यजीने अपने व्याख्यानमें एक उदाहरण दिया है। पिता और पुत्र एक नावसे एक ही घाटपर उतरे। परन्तु बहुत दिनोंसे बिछुड़े होनेके कारण एक दूसरेको पहचानते नहीं थे। सामान रखनेमें लड़ाई हो गयी। पुत्र कहे हमारा, पिता कहे हमारा। जब किसी तीसरे व्यक्तिने जो उन दोनोंको लेनेके लिए आया था, उनका परस्पर परिचय कराया तब उन्हें पता चला कि वे एक दूसरेसे मिलनेके लिए ही आये हैं फिर वे आपसमें मिल गये। यह कथा षड्गोपाचार्यकी गीतिमें भी है। द्रविणाचार्यकी भी यह उक्ति है। शङ्कराचार्यने ठीक यही उपाख्यान 'बृहदारण्यक उपनिषद्'के भाष्यमें दूसरे ढंगसे लिखा है। उनका कहना है कि एक राजकुमार बचपनमें चोरी चला गया था। वह डाकूओंमें रहा, उन्हींमें बढ़ा। कुछ लक्षणोंके आधारपर कभी पहचान लिया गया और उसे बताया गया कि तुम तो राजकुमार हो। वह राजकुमार तो पहलेसे ही था। उसे मालूम पड़ा और अपने राजकुमारपनेका अनुभव हो गया। तो 'सुहृदं सर्वभूतानां'—ईश्वर हमारा सुहृद है, मित्र है। वह सोते-जागते, सपना देखते, रणमें, वनमें, सर्वत्र हमारी मदद करता है। आवश्यकता ईश्वरको सुहृद् बनानेकी नहीं, उसके सुहृद्पनेको जाननेकी है। किसीने कहा कि ईश्वर किसी-किसी बड़े आदमीका होता होगा। बोले—नहीं, वह सबका सुहृद् है। कितने आश्वासनकी बात है। जो लोग अपने पापसे, तापसे, उद्वेगसे, दोषोंसे बहुत व्याकुल हैं, उन्हें निराश न होकर यह निश्चय करना चाहिए कि ईश्वर उनका भी मददगार है, मित्र है, भला चाहता है। यह जाननेमात्रसे ही उनको आश्वासन मिलेगा। लोग कहते हैं कि वैदिक धर्ममें, हिन्दू धर्ममें पापोंकी चर्चा बहुत है। ठीक है, पापोंकी बात है, परन्तु उसके साथ-साथ आश्वासनकी भी तो बात है। कोई चाहे कितना भी पापी हो किन्तु एक राम नाम, एक ज्ञान, एक भाव, स्मृति उसका कल्याण कर देगी। मनुष्यके कल्याणके लिए इतना बड़ा आश्वासन अन्य धर्मोंमें मिलना बड़ा मुश्किल है। हमारा धर्म तो आश्वासनका धर्म है।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।

परमेश्वर यज्ञ और तपस्याका भोक्ता है। यज्ञका फल या तो उसको मिलता है जो यज्ञ करता है अथवा उस देवताको मिलता है जिसके उद्देश्यसे यज्ञ किया जाता है। परमेश्वर कर्ताके अन्दर अन्तर्यामी रूपसे बैठा है और भोक्ताके अन्दर भोक्ताके रूपमें भी बैठा हुआ है। असलमें हमारा आत्मचैतन्य ही अन्त:करणमें प्रवेश करके अहंको कर्ता बना देता है और वही अपने मनसे बनाये हुए देवताके शरीरमें प्रवेश करके उसको भोक्ता बना देता है। देवतामें भोक्तारूपसे और अन्त:करणमें कर्तारूपसे एक ही परमेश्वर बैठा हुआ है। जो भोक्तृदेवतावच्छिन्न चैतन्य है, वही कर्तृजीवावच्छिन्न चैतन्य है। 'भोक्तारं यज्ञतपसां'का दूसरा अर्थ ऐसे समझो कि आप जो दूसरोंको लिखते हैं, दूसरोंका उपकार करते हैं, भला करते है, उसका नाम ही यज्ञ है। और, आप अपने-शरीरमें जो संयम करते हैं, उसका नाम तप है। तो, स्वयं अपनेको संयममें रखिये और दूसरोंको सुख पहुँचाइये। निश्चय ही इसका उपभोग ईश्वर करेगा। ईश्वर ही आपके शरीरमें बैठकर आपके संयमका स्वाद लेता

है और सामनेवालेके शरीरमें बैठकर उसके सुखका आस्वादन करता है। वह सबका स्वामी **सर्वलोकमहेश्वर** है। उसके लिए अपना काम ठीक कीजिये। ईश्वर कैसे प्रसन्न होगा, इसकी चिन्ता किये बिना आप इस बातपर दृष्टि रखिये कि आपका अन्तःकरण कितना निर्मल है और आप किस प्रकार पवित्र हृदयसे काम कर रहे हैं। फिर ईश्वर तो आपका सुहृद है ही और आपको केवल ज्ञानमात्र हो जानेसे ही शान्ति मिलेगी—'ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।' ऐसे ही अवसरके लिए भगवान्‌का यह वचन है—

तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्यसि शाश्वतम्।

यही गीताके अन्तमें है। गीताका उपसंहार इस प्रकार है—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥ 18.78

गीताकी यह जो फलश्रुति है, उसमें यह नहीं कि आप गीता पढ़ेंगे तो आपको यह फल मिलेगा, बैकुण्ठ मिलेगा, अथवा आप मरनेके बाद मुक्त हो जायेंगे। यह भी नहीं कि आप गीता पढ़ेंगे तो आपको समाधि लग जायेगी। ऐसी कोई भी बात नहीं। तब क्या है? यही कि आप जो साधन कर रहे हैं, कर्म कर रहे हैं, उपाय कर रहे हैं, वही योग है—'योगः संहननोपायः' योग शब्दका अर्थ है जोड़ना, योग शब्दका अर्थ है उपाय, योग शब्दका अर्थ है करना। तो योगेश्वरका तात्पर्य है कि आप जो कर्म कर रहे हैं, उसका प्रवर्तक ईश्वर है, उसका निर्वाहक ईश्वर है, उसका फलदाता ईश्वर है। आप तीन बातोंपर ध्यान रखें, जो कर्म आप कर रहे हैं उसकी प्रेरणा देनेवाला परमेश्वर है, उसको निभानेवाला परमेश्वर है और पूरा करनेवाला भी परमेश्वर है। आप तो अर्जुनकी तरह हाथ-पाँव बिल्कुल ठीक रखकर धनुष-बाण हाथमें लेकर, लक्ष्यवेधके लिए तैयार रहिये। तात्पर्य यह कि आपके रूपमें जीव कर्म करनेके लिए उद्यत है और प्रेरणा, निर्वाह तथा पूर्णता प्रदान करनेके लिए परमेश्वर प्रस्तुत है। फिर तो इस लोकव्यवहारमें आपको श्रीकी प्राप्ति होगी, विजयकी प्राप्ति होगी, भूति अर्थात् वैभवकी प्राप्ति होगी और आप एक निश्चयात्मिका स्थितिमें चलेंगे। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि मेरा निश्चय, मेरा ज्ञान, मेरी बुद्धि वहीं होगी जहाँ मेरी प्रेरणा होगी। इसीलिए सञ्जय बोलते हैं कि जहाँ श्रीकृष्ण प्रेरक हैं, निर्वाहक हैं, पूर्णताका दान करनेवाले हैं और जीव अपने कर्तव्यमें परायण है, अपने कर्तव्यका पालन कर रहा है वहाँ शङ्काकी कोई बात नहीं। वहाँ तो श्री है, विजय है वैभव है, ध्रुव नीति है और वहीं भगवान्‌का ज्ञान भी है।

●

प्रवचन : 12

भक्तिका स्वरूप

संस्कृतमें भक्ति शब्दके मुख्य रूपसे तीन अर्थ होते है—एक तो 'भजनं भक्तिः'—प्रेमपूर्वक भगवान्के भजनका नाम भक्ति हैं। दूसरा 'भञ्जनं भक्तिः' भञ्जो आमर्दने धातुसे भक्ति शब्द बनता है। दुनियामें जो आसक्ति है उसको भञ्जन करने तोड़देनेका नाम भक्ति है। और, तीसरा है, 'भागो भक्तिः'—अपनेको ईश्वरके भागके रूपमें अनुभव करना कि हम ईश्वरके अंश है—इसका नाम भक्ति है। शण्डिल्यने भक्तिका यह लक्षण किया है कि ईश्वरके प्रति परम अनुरागका नाम भक्ति है। नारदजीने भक्तिका लक्षण दो प्रकारसे किया है—'सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा अमृतस्वरूपा च।' वे कहते हैं कि भक्ति परमात्मामें परम प्रेम-स्वरूप है। कहीं कस्मै पाठ है तो कहीं अस्मिन् पाठ है। अस्मिन्का अर्थ यह है कि जो भगवान् हमको दीख रहा है, उसमें परम प्रेम ही जिसका रूप है वह भक्ति है। जो भक्तिका रूप है परम प्रेम और वह दीखनेवाले भगवान्में होता है। आँखसे दीख रहा हो, चाहे मनमें दीख रहा हो, दीखना आवश्यक है। जो बिल्कुल दृश्य नहीं, मनसे जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती, बुद्धि जिसको सोच भी नहीं सकती, उससे प्रेम नहीं होता। प्रेम तो उससे होता है जो हमारी आँखोंके सामने, हमारे मनके सामने प्रकट हो! प्रेमके लिए तो आँखोंके सामने एक सीधा-सादा सच्चा विषय चाहिए। इसलिए नारदजीने भक्तिका लक्षण करते हुए कहा कि हमारे सामने जो परमेश्वरका रूप है इसमें परम प्रेम होगा। यह है साधन भक्ति और दूसरी है—'अमृतस्वरूपा च'—भक्तिका स्वरूप है अमृत और रूप है प्रेम। यह फलरूपा भक्ति है।

जब भक्तिके सम्बन्धमें हम चर्चा करते हैं तो पहली बात आती है श्रवणकी। दुनियामें कोई अभीष्ट (इष्ट) चलते-फिरते दीख रहा हों तो उसको देखकर भी भक्ति कर सकते हैं। कभी उसका स्पर्श हो जाये तो गद्गद् हो जायेंगे, उससे प्रेम हो जायेगा। प्रेम तो जिनको आँख नहीं, उनको भी होता ही है। पर वह प्रेमास्पदका स्पर्श करके या उसकी मीठी-मीठी आवाज सुनकर होता है। कोई सुगन्ध सूँघने अथवा कोई स्वाद चखनेपर भी प्रेम हो जाता है। प्रेम केवल आँखकी अपेक्षा नहीं करता। केवल आँखवाले ही प्यार करते हों, यह कोई नियम या मर्यादा नहीं। बिना आँखवाले भी प्रेम तो कर ही सकते हैं। परन्तु ईश्वरसे प्रेम करना हो तो वह न चामसे छूआ जा रहा है, न जीभसे चखा जा रहा है, न नाकसे सूँघा जा रहा है। फिर ईश्वरसे प्रेम कैसे हो? ईश्वरको 'यह' बनानेके लिए श्रवणकी आवश्यकता होती है। दर्शनशास्त्रका नियम है कि जो वस्तु नित्य-परोक्ष हो, सर्वथा परोक्ष हो, उसका ज्ञान वाक्य-प्रमाणके द्वारा होता है। और नित्य-अपरोक्ष रहकर भी शब्द-प्रमाणके द्वारा ही होता है। जैसे हमारा आत्मा नित्य-अपरोक्ष है, परन्तु इसका जो ब्रह्मपना है वह अज्ञात है। उसके ज्ञानके लिए वाक्यकी आवश्यकता पड़ती है। तो, चाहे ईश्वर-विषयक ज्ञान हो, चाहे आत्माका ब्रह्मविषयक ज्ञान हो, ये

दोनों श्रवणसे ही प्राप्त होते हैं। इनकी प्राप्तिके लिए श्रवणके सिवाय कोई दूसरा उपाय नहीं। जब हम भगवान्के गुणानुवाद-माहात्म्यका श्रवण करते हैं तब उनके दर्शनकी इच्छा उत्पन्न होती है। हम बचपनमें सुना करते थे कि महात्मा गाँधी नामके एक व्यक्ति हैं, वे सत्य और अहिंसाके पुजारी हैं, सत्याग्रही हैं, उनके अन्दर बड़े-बड़े सद्गुण हैं! उनके दर्शनकी इच्छा हुई और मैं वाराणसीसे वर्धा गया, सेवाग्राम गया। जब दर्शन किया तब पता चला कि वे कैसे हैं। जब वस्तु अपनी आँखोंके सामने नहीं होती और उसके माहात्म्यका श्रवण होता है, तब उसके दर्शनकी, उससे मिलनकी इच्छा होती है और उससे प्रेम भी होता है।

हम ईश्वरको दोनों तरहसे नहीं पहचानते। वह हमारी इन्द्रियोंसे नहीं दीखता, तब भी नहीं पहचानते और हजारों रूपोंमें दीख रहा है, किन्तु हमें उसकी पहचान नहीं, इसलिए दिखायी देनेपर भी हम उसको नहीं पहचानते। इस कारण उससे न तो प्रेम हो पाता है, न भक्ति हो पाती है। अतः परमेश्वरके प्रति प्रेम और भक्तिके लिए श्रवणकी आवश्यकता है। सुनो, समझो और उससे प्रेम करो। दुनियामें प्रेमभक्तिके मजहब बहुत हैं। यहाँतक कि बौद्ध और जैन भी, जो एक ईश्वरको स्वीकार नहीं करते, सद्गुणसम्पन्न, पवित्र और बुद्धत्वको प्राप्त जीवको ईश्वर कहते हैं। जो सद्गुणसम्पन्न शुद्ध इकाईके रूपमें होता है उसको वे तीर्थङ्कर कहते हैं। उनके यहाँ चौबीस तीर्थङ्कर होते हैं। वे लोग भी बुद्धकी, महावीर स्वामीकी, अपने तीर्थङ्करोंकी भक्तिका वैसा ही वर्णन करते हैं जैसा हमलोग अपने एक ईश्वरकी भक्तिका वर्णन करते हैं। उनके हमारे भक्ति-वर्णनमें कोई अन्तर नहीं। हम बोलते हैं—'जगन्नाथस्वामी नयनपथगामी भवतु मे।' और वे बोलते हैं—'महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे।'

तो भक्ति बौद्धों और जैनियोंमें भी है। ईसाई और मुस्लिम मजहब तो भक्तिसे भरपूर ही हैं। बाइबिल और कुरानशरीफ एक ईश्वरकी भक्तिका ही प्रतिपादन करते हैं। गुरुग्रन्थसाहिब और जन्दावेस्ता भी भक्तिसे भरपूर हैं। हमको दिखायी न देनेवाले परोक्ष ईश्वरके प्रति भक्तिका उदय श्रवणके सिवाय और किसी साधनसे नहीं हो सकता। यदि हम किसी मूर्तिकी पूजा कर रहे हैं तो वह मूर्ति पत्थर है, सोना है, चाँदी है, ताँबा है, किसकी मूर्ति है और उसमें ईश्वर है या वह स्वयं ईश्वर—यह सब भी कानसे सुनना ही पड़ता है। बिना श्रवणके कोई मूर्तिका दर्शन करे तो उसमें उसका ईश्वर-भाव नहीं हो सकता। इसलिए भक्तिका मूल रूप श्रवणमें ही निहित है। श्रवण क्या करता है? कि किसी-न-किसी रूपमें प्रेम तो आपके हृदयमें है। यदि बीज नहीं हो तो काम नहीं बने। आसक्ति सबके हृदयमें रहती है। कोई बच्चेसे आसक्ति करता है। कोई शरीरसे आसक्ति करता है कोई अपनी योग्य वस्तुसे आसक्ति करता है। आसक्ति अन्तःकरणका सहज स्वभाव है। तो संसारमें जो आसक्ति है, उसकी जगहपर ईश्वरमें आसक्ति उत्पन्न करनेके लिए श्रवणकी आवश्यकता पड़ती है। जो ईश्वरके बारेमें श्रवण नहीं करेगा, उसके हृदयमें भगवान्की भक्ति नहीं आयेगी। एकान्तमें बैठनेपर भी, जप करनेपर भी, ध्यान करनेपर भी जितना आपको मालूम है, वही बात आपके दिमागमें घूमेगी, उससे अधिक जानकारी नहीं प्राप्त हो सकेगी। अद्भुत बात यह है कि जहाँ बौद्ध और जैनोंका एक-एक व्यक्ति ईश्वर है और वे भी दुनियामें बहुत थोडे हुए है तथा ईसाई, मुसलमानका ईश्वर निराकार है, वहाँ वैदिक धर्मके अनुसार ईश्वरको न

एक व्यक्तिमें सीमित रखा गया है और न उसको केवल निराकार करके छोड़ दिया गया है। हमारी जो एक-एक व्यक्तिमें, जातिमें, मजहबमें आसक्ति है और जिसके कारण हम बहुत अनर्थ करते हैं, मोहवश भाई-भतीजोंके प्रति, अपने मजहबवालोंके प्रति पक्षपात करते हैं और मजहबी लड़ाइयाँ लड़ते हैं, यह सब ईश्वरका रहस्य न जाननेके कारण ही है। मजहबकी आसक्ति, जातिकी आसक्ति, पन्थकी आसक्ति, राष्ट्रकी आसक्ति, भाषाकी आसक्ति मनुष्यकी बुद्धिको संकीर्ण बना देतो है, उदीर्ण नहीं होने देती। यहाँ तक कि भक्ति-सम्प्रदायोंमें भी ईश्वर और ईश्वरकी पूजाको एकांगी बनाकर लड़ाई करनेकी प्रवृत्ति आ जाती है। किन्तु हमारे वैदिक धर्मका जो परमेश्वर है, वह बहुत उदार है। अर्थात् वह सबमें है, सब जगह है और सबका संचालन कर रहा है। गीता कहती है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥ 18.46

संसारके समस्त प्राणी जिससे प्रेरित होकर अपने-अपने कर्ममें प्रवृत्त हो रहे हैं, जिससे चींटी चल रही है, चिड़िया उड़ रही है, मछली तैर रही है और मनुष्य नाना प्रकारके कर्म कर रहा है, जिससे पंखा चल रहा है, बल्बमें रोशनी हो रही है, हीटर जल रहा है, रेफ्रीजेटर ठण्डा कर रहा है, अलग-अलग यन्त्र अपना-अपना काम कर रहे हैं और जिसके द्वारा सम्पूर्ण भूतोंकी प्रवृत्ति हो रही है, जो—'अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानां'—सबके भीतर रहकर सबका संचालन कर रहा है, वही ईश्वर है किन्तु ईश्वरके इस रूपका पता तो प्रायः सभी ईश्वरवादियोंको है। हमारे ईश्वरकी विशेषता यह है कि 'येन सर्वमिदं ततम्'—वह केवल सबका संचालन ही नहीं करता, सब रूपोंमें भी वही है। कुछ लोग प्रश्न करते हैं कि ईश्वर यदि सबका संचालन करता है तो बुराइयोंका भी संचालन वही करता होगा। किन्तु ऐसी बात नहीं। आप देखो कि बिजलीका पंखा जब कभी खट-खट बोलने लगता है या उसमें-से आग निकलने लगती है तो वह पंखेका दोष है या बिजलीका? निश्चय ही वह यन्त्रकी त्रुटि होती है, मशीनकी खराबी होती है, बिजलीका दोष नहीं होता। तो सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमेश्वर तो सबको एकरस शक्ति देता है, ज्ञान देता है, सत्ता देता है, आनन्द देता है। किन्तु जिसका अन्तःकरण शुद्ध है, उसको सद्गुणकी प्रेरणा मिलती है। आप ईश्वरसे क्या लेते हैं, यह आपके अन्तःकरणपर निर्भर करता है। परन्तु इसके आगे जो बात कही गयी है वह और बड़ी है—'येन सर्वमिदं ततम्—येन उपादानभूतेन ईश्वरेण इदम् सर्वं वस्त्रेषु सूत्रवत् ततम्'—जैसे कपड़ेमें सूत होता है इसी प्रकार यह जो विश्वरूपी वस्त्र है, इसमें सूत तथा ताना और बाना सब कुछ वही परमेश्वर है। इस प्रकारकी व्याख्या दुनियाके किसी भी दूसरे धर्ममें स्वीकार नहीं की गयी। इसका फल यह हुआ कि उनके यहाँ न तो मूर्तिपूजाकी मान्यता हुई और न अवतारकी क्योंकि जब ईश्वर सर्वरूप है तब मूर्तिके रूपमें भी वही है। यहाँतक कि यह पेड़ भी ईश्वर है, ईश्वर ही पेड़के रूपमें प्रकट हुआ है, इससे भी प्यार करो। वृन्दावनमें एक सज्जन थे, वे जब किसी बगीचेमें जाते थे तो पेड़के साथ लिपट जाते थे और कहते कि 'प्रभु! तुम इस रूपमें आये हो! तुम गर्मी सहते हो, सर्दी सहते हो, खड़े रहते हो किन्तु हमलोगोंको सुख पहुँचानेके लिए

छाया देते हो, फल देते हो।' इसमें न मजहबका भेद है न जातिका, न प्रान्तका भेद है न राष्ट्रका, न भाषाका भेद है। एक ईश्वर ही सबके रूपमें प्रकट हो रहा है। निमित्त कारण भी वही है माने सबका संचालक वही है और उपादान कारण भी वही है अर्थात् सब रूपोंमें वही बना हुआ है।

आपु अमृत आपै अमृतघट, आपहि पीवनहारि।
आपै ढूंढे आपै ढुंढावे आपै ढूँढनहारि॥

वही अमृत है, वही अमृतघट है, वही पीनेवाला है। वह स्वयं ढूँढता है, स्वयं ढूँढा जा सकता और स्वयं ढूँढनेवाला है। परमेश्वरके इस रूपमें न लोक-परलोकका भेद है, न मैं और तूका भेद है और न शत्रु-मित्रका भेद है। ऐसा है सर्वात्मा ईश्वरका यह स्वरूप। इस प्रकार दर्शनपूर्वक जो ईश्वरकी भक्ति है, इसीको दर्शनशास्त्र बोलते हैं। पहले ईश्वरका दर्शन करो—एक सबके संचालक रूपमें, दूसरा सर्वरूपमें। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—'सर्व सर्वगत सर्व उरालय।' परमेश्वर ही सब है, सबमें है और सबके हृदयमें रहता है।

यदि यह बात ध्यानमें आ जाये कि ईश्वर जड़-चेतन, चर-अचर सबमें है, वही चलनेवाला है और वही चलानेवाला है तो मानव-समाजका दृष्टिकोण इतना उदार हो जायेगा कि भाषाका पक्ष लेकर मानवताका, मजहबका पक्ष लेकर धर्मका, प्रान्तका पक्ष लेकर, राष्ट्रका पक्ष लेकर विश्वका और दृश्य प्रपञ्चका पक्ष लेकर अदृश्य परमात्माका तिरस्कार नहीं किया जा सकेगा। क्योंकि ये सब परमेश्वरके ही स्वरूप है।

अब भक्तिका स्वरूप क्या है इसपर विचार करें। 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।' गीता कहती है कि हमें भक्तिमें पूजा उसीकी करनी है जो सबमें है, सबका संचालक है और सर्वरूप है। हम एक महात्माके पास बैठे थे। हमारे एक साथी घास नोचने लगे। वे महात्मा किसी आसनपर नहीं, धरतीपर ही बैठते थे। जब हमारे साथीने कुछ हरी-हरी दूब नोच ली, तब वे बोल पड़े, अरे क्या करते हो? देखो यह परमेश्वर माटीमें-से निकलकर कैसे हरी-हरी घासके रूपमें आया है। इसको यदि गाय चरेगी तो दूध बनेगा। वह दूध मनुष्य पायेगा तो उससे वीर्य बनेगा। उस वीर्यसे मनुष्यका निर्माण होगा। यह माटी मनुष्यरूप धारण करनेके लिए दूब बनी है। तुम इसको नोचकर फेंक दोगे तो फिर इसको दूब और मनुष्य बननेमें वर्षों लग जायेंगे। तुम बड़े आदरके साथ धरतीपर पाँव रखो, यह सोचकर कि धरतीभी परमेश्वर है। मुँहसे आवाज निकालो परन्तु यह सोचकर बोलो कि जिससे हम बात कर रहे हैं उसमें भी परमेश्वर है इतना ही नहीं, तुम्हारी बात जो पास-पड़ोसमें सुन रहे हैं, उनमें भी परमेश्वर है। महात्माने कहा कि हमारी जीभसे जो आवाज निकलती है, मीठी-मीठी या कड़वी-कड़वी, उसको यहाँ रहनेवाले कीड़े, फतिङ्गे भी सुनते हैं। उनके कानमें भी हमारी आवाज कर्ण-कर्कश होकर कटु होकर नहीं जानी चाहिए; क्योंकि वे भी परमेश्वर हैं। तो, ईश्वर सबमें है, ईश्वर सब है, ईश्वर सबसे परे है और ईश्वर अपने-आपमें है। हम आपको श्रीमद्भागवतकी बात सुनाते हैं। उसके ग्यारहवें स्कन्धमें यह प्रश्न उठा कि ईश्वर सबमें है तो अपने-आपमें है कि नहीं? उत्तर मिला कि अपनेमें भी है । जब सबमें है तो अपनेमें क्यों नहीं होगा! तो बोले ठीक है हम आकाशमें अच्छे-अच्छे शब्द बोलकर, वायुमें सुगन्ध

फैलाकर, अग्निमें हवन करके, जलमें पवित्र वस्तुएँ डालकर, पृथिवीको स्वच्छ रखकर इन सबके रूपमें भगवान्‌की पूजा करेंगे। परन्तु अपने रूपमें जो परमेश्वर है, उसकी पूजा कैसे करें? तो इसका उत्तर मिला कि अपनेको भी कष्ट मत दो—'भोगैरात्मानमात्मनि'—अपने हृदयमें भगवान्‌की पूजा ऐसे करो कि जैसे बाहर ईश्वरको भोग लगाते हो, वैसे भीतरवाले ईश्वरको भी भोग लगाओ। उसको भी जल दो, अच्छा रूप दो, अच्छे शब्द दो, स्पर्श दो, अच्छा भाव दो। पूजा करनेके लिए ईश्वर केवल बाहर ही नहीं होता, भीतर भी होता है। अपनेको ठीक ढंगसे रखकर ईश्वरकी पूजा करनी चाहिए। जो लोग अपनेको तकलीफ देते हैं, उनकी निन्दा तो गीतामें आप पढ़ते ही है—

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान् विद्ध्यासुरनिश्चयान्॥ 17.6

हमारे शरीरमें परमेश्वर रहता है। जब हम शरीरको तकलीफ देने लगते हैं तो अपने हृदयमें रहनेवाले परमेश्वरको तकलीफ देते हैं। तब पूजाकी पद्धति क्या है? आप सर्वधर्म-सम्मेलन कर लीजिये और उसमें सब धर्म समान हैं, इसकी खूब प्रेमसे चर्चा कर लीजिये। सब धर्मोंमें उत्तम-उत्तम बातें है और वे मनुष्य-जीवनका निर्माण करती है। परन्तु हमारे वैदिक धर्ममें जहाँ यह चर्चा है कि ईश्वरकी पूजा कैसे करना वहाँ यह कहते हैं चूँकि सब ईश्वर है, सबका अन्तर्यामी ईश्वर है, सबसे परे ईश्वर है और अपना आत्मा ही ईश्वर है—इसलिए ईश्वरकी पूजा करते समय यह ध्यान रखो कि किस ईश्वरकी पूजा कर रहे हो? सर्वात्मा ईश्वरकी पूजा कर रहे हो तो एक चिड़ियाका भी तिरस्कार नहीं करना चाहिए, चींटीका भी तिरस्कार नहीं करना चाहिए। जिसका तिरस्कार होता है उसका अहित नहीं होता, जिस शरीरसे तिरस्कार की भावना निकलती है, उसका अहित होता है। इसलिए अपनेको ठीक-ठीक रखना ही, अपनेको सत्कर्म, सद्भावसे, सद्विचारसे सम्पन्न रखना ही ईश्वरकी पूजा है।

हमारा ईश्वर केवल वैकुण्ठमें ही नहीं, धरतीपर भी है। केवल निराकार ही नहीं आकार भी वही है। वह सर्व है, सर्वान्तर्यामी है, सर्वातीत है, अद्वितीय है, अपने आत्मासे अभिन्न है। जब परमात्माका ऐसा स्वरूप है तब उसकी पूजा भी वैसी ही होना चाहिए। असलमें ईश्वर बाहरसे आवे यह जरूरी नहीं। परन्तु हमारे भीतरसे ईश्वर निकले यह बहुत जरूरी है। वह सबसे नजदीक है। तो वहींसे उसे प्रकट भी होना चाहिए। जब हम कोई कर्म करें, तो इस प्रकार करें कि जो हमारे भीतर ईश्वर है, वह हमारे कर्ममें प्रकट हो जाये। हमें यह ध्यान रहे कि जो काम हम कर रहे हैं, यह ईश्वरकी प्रेरणासे कर रहे हैं। इसको निबाहनेकी शक्ति भी ईश्वर ही दे रहा है और इसका फल भी ईश्वर ही है। तो अपने मर्ममें ईश्वरको अवतीर्ण कर लेना, यही उसकी पूजा है और यही कर्मयोगका स्वरूप है। बाहरसे बुलाकर, अध्याहार करके, ईश्वरको अवतीर्ण नहीं करना अपितु अपने भीतर जो अन्तर्यामी, अपने आत्मामें परमात्मा है उसको प्रकट करना है। जब आप कोई कर्म करें तो उसमें अपने सच्चिदानन्दको डाल दें, उसका खूब मजा लें और फिर उस कर्मको सबके प्रति अर्पित कर दें। उसके फलको अपनी ओर न खीचें, अपितु जो कर्म करें उसका फल सबको दें। आप कपड़ा बनाइये किन्तु

उसका पैसा केवल आपके घरमें आये यह नहीं होना चाहिए। होना यह चाहिए कि सबको पहननेके लिए कपड़ा मिले। आप लोहा बनाइये, रुई बनाइये, गेहूँ, चावल, जौ आदि अन्न पैदा कीजिये परन्तु उस उत्पादनका उद्देश्य व्यक्तिगत सुख, व्यक्तिगत सुविधा, व्यक्तिगत आनन्द न होकर सबका हित हो। अपने कर्ममें ईश्वरको प्रकट कर देना कर्मयोग है और अपने प्रेममें ईश्वरको प्रकट कर देना ही सबसे प्रेम करना है। यह कोई स्वार्थी प्रेम नहीं, अपने सुख और कामोपभोगके लिए प्रेम नहीं है। तो, अपने कर्ममें ईश्वरको प्रकट करके उसके द्वारा ईश्वरसे ही प्रेम करनेका नाम ज्ञान है। ईश्वर आपकी बुद्धिके पीछे बैठा है, वह बुद्धिमें आकर ईश्वरको ही देख रहा है और ईश्वरके लिए ही विचार कर रहा है। आपके काममें ईश्वर है, आपके प्यारमें ईश्वर है, आपके विचारमें ईश्वर है और आपकी एकाग्रतामें ईश्वर है। आप अपनी एकाग्रतामें ईश्वरको प्रकट करेंगे तो उसका नाम योग होगा। आप अपने विचार में ईश्वर प्रकट करेंगे तो उसका नाम ज्ञान होगा। आप अपने प्रेममें ईश्वरको प्रकट करेंगे तो उसका नाम भक्ति होगा और आप अपने काममें ईश्वरको प्रकट करेंगे तो उसका नाम कर्मयोग होगा। कर्मका यह मतलब नहीं कि आप झाड़ू लगाते है कि वेदका पाठ करते हैं। आप बहुत बड़े वैज्ञानिक हैं कि बहुत बड़े वैदिक है, आप बहुत बड़े व्यापारी है कि बहुत बड़े सैनिक है। आप कोइ भी काम करें तो उसमे हस्तपादादिका संचालन तो होता ही है। कहीं हाथ हिलता है, कहीं पाँव हिलता है, कहीं जीभ हिलती है। तो शरीरमें हिलनारूप जो कर्म हो रहा है इसमें क्या श्रेष्ठ है और क्या कनिष्ठ है, इसका विचार नहीं है। एक आदमी हाथसे सफाई कर रहा है, एक मशीन चला रहा है। एक शास्त्र लिख रहा है, एक सेवा कर रहा है। देखना यह है कि जो कर्म वह कर रहा है, किसलिए कर रहा है?

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।

गीता कहती है कि अपने कर्मसे उस परमेश्वरकी आराधना करो। तुम जो कर्म कर रहे हो, वह केवल परमेश्वरकी अर्चनाके लिए हो। चलते समय भी यह ख्याल रखो कि तुम्हारे पाँवोंकी ध्वनि ईश्वरको कर्कश न लगे। तुम्हारे बोलनेकी आवाज ईश्वरको कटु न लगे। जो भी काम करो इतनी सुन्दरतासे अपने प्यारे ईश्वरके लिए करो कि वह मुग्ध हो जाये। हम जैसे टेलीफोनपर बात करते हैं। जब अपने मित्रका टेलीफोन होता है तो मीठी आवाजमें बात करते हैं ओर जो पसन्द नहीं होता, उसको डाँट देते हैं। अपना मित्र खाने बैठा हुआ हो तो हँस-हँसकर उसको खिलाते हैं और यदि अपना मित्र न हो तो उपेक्षासे, बहुत गम्भीर होकर शिष्टाचारवश उसको खिलाते हैं। असलमें सभी तो तुम्हारे प्यारे हैं। तुम्हारे घरमें जो भी जिस किसी भी रूपमें आया है, वह तुम्हारे प्यारेके रूपमें ही तो है। तो, भक्तिका स्वभाव है, स्वरूप है कि, स्वकर्मणा अपने कर्मके द्वारा 'तमभ्यर्च्य' ईश्वरकी अभ्यर्चा कीजिये।

अब ऐसा कर्म करनेका अधिकारी कौन है इसपर विचार कीजिये। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अथवा बौद्ध, जैन, मुसलमान और ईसाई इनमें-से उस कर्मको करनेका अधिकारी कौन है? भक्तिका जो स्वरूप आपको बताया गया है, वैसी भक्ति कौन करे? इसका समाधान भगवान् करते हैं कि देखो कर्ताके साथ कोई विशेषण अथवा उपाधि लगानेकी जरूरत नहीं। 'सिद्धिं विन्दति मानवः' यह कर्म मानवके लिए है।

भगवान्‌की आराधनाकी, भक्तिकी, पूजाकी यह पद्धति मनुष्यमात्रके लिए है। यहाँ अधिकारी अनधिकारीका कोई प्रश्न नहीं। श्रीमद्भागवत, उपनिषद्‌ गीता, सब-के-सब बताते हैं, कि सब कुछ भगवान्‌का ही स्वरूप है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म। सद् हि इदं सर्वम्। चिद् हि इदं सर्वम्। आत्मैवेदं सर्वम्। स एवेदं सर्वम्। अहमेवेदं सर्वम्। ब्रह्मैवेदं सर्वम्।'

श्रुतियाँ घोषणा करती है कि सबके रूपमें परमात्मा ही है। गीता भी यही कहती है—सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः। मया ततमिदं सर्वम्।'

सब भगवान्‌का स्वरूप है। श्रीमद्भागवत भी यही प्रकट करता है कि देखो बालक ब्रह्मरूप है। श्रीकृष्ण ही ग्वालबाल बन गये। बछड़े भी कृष्ण, ग्वाले भी कृष्ण, उनके छीके भी कृष्ण, उनके कपड़े भी कृष्ण, उनकी लठिया भी कृष्ण, उनका खाना-पीना भी कृष्ण अर्थात् सबके रूपमें भगवान् श्रीकृष्ण प्रकट हुए हैं। आप जब यह श्रवण करेंगे तब भगवान्‌में भक्ति होगी। सारे श्रीमद्भागवतके श्रवणका सङ्कल्प यही है—

यथा हरौ भगवति नृणां भक्तिर्भविष्यति।
सर्वात्मन्यखिलाधार इति संकल्प्य वर्णय॥

मनमें यह सङ्कल्प करो कि सर्वात्मा भगवान्‌में हमारी भक्ति होवे। हम भक्ति किस रूपमें कर रहे हैं, इसका ध्यान न रखकर हमारे हृदयमें भक्ति है कि नहीं, यह देखनेकी आवश्यकता है। एक तो हम किसी लालसे, कालेसे, पीलेसे, नाटेसे, लम्बेसे, मोटेसे, दुबलेसे भक्ति न करें। यह देखें कि हमारे सामने जो भी है भगवान्‌का स्वरूप है और हम भक्तिपूर्वक अनुभव करें कि प्रभु, तुम यह रूप धारण करके आये हो। सन्त नामदेवकी रोटी कुत्ता उठाकर ले गया और घी लेकर यह कहते हुए उसके पीछे दौड़े कि प्रभु चुपड़ लेने दो। उनको कुत्तेके रूपमें ईश्वर दिखाई पड़ा। तो हमारा ईश्वर यह है—'देख मौतका रूप धरे, मैं नहीं डरूँगा तुमसे नाथ।' भगवान् मृत्युका रूप भी धारण करके आवें तो उनके प्रति भक्ति बनी रहे। और, हम समझते रहें कि वे तो हमारे मित्र ही हैं।

एक सज्जन सुनाया करते थे कि एकबार दो मित्र कहीं यात्रा कर रहे थे। रातका समय था और वे बहुत बीहड़ जंगलमें भटक गये। उन्होंने आपसमें परामर्श किया कि हममें-से एक सोवे और एक जागे। तो एक सो गया और दूसरा जागता हुआ बैठ गया। थोड़ी देरमें वह क्या देखता है कि एक साँप फन फैलाये फुफकारता हुआ आ रहा है। उसने अपना डण्डा बजाया और फटकारा कि दूर रहो। साँप वहीं रुक गया और बोला कि हमको इसका रक्त चाहिए, इसने हमको मारा है, हमारा खून बहाया है, हम इसका खून बहावेंगे। मित्रने कहा कि तुमको खून ही चाहिए, तो इसको छूओ मत। उसने अपनी जेबसे चाकू निकाला और मित्रके शरीरमें थोड़ा-सा घाव करके रक्त निकाला और पत्तेपर साँपके सामने रखकर बोला कि लो तुम्हें खून चाहिए था तो लेकर लौट आओ। मित्र बिल्कुल आँख बन्द किये पड़ा रहा। जब वह उठा, तब उसने पूछा कि क्यों भाई, जब मैंने तुम्हारे शरीरमें चाकू लगाया तो कैसा लगा? उसने कहा कि मैंने आँख खोलकर देखा कि तुम हो, तुम्हारे हाथमें चाकू है तो मैंने सोचा कि मेरा अहित होनेवाला नहीं, कुछ-न-कुछ हित ही होगा। फिर मैंने आँख बन्द कर ली

और मैं सो गया। सारी बात उसको मालूम थी। यह हुई एक मित्रकी मित्रपर विश्वासकी बात। किन्तु इससे यह तात्पर्य निकलता है कि जब ईश्वर जैसा मित्र हमें मिला है, तब हमको प्रत्येक परिस्थितिमें उस पर भरोसा रखना चाहिए।

मैंने कहीं पढ़ा था कि एक दम्पती पानीके जहाजमें यात्राकर रहे थे। मार्गमें बड़ा भारी तूफान आया। पत्नीको डर लगा किन्तु पति बिलकुल नहीं डरे और अपना काम करते रहे। पत्नीने पूछा कि इतना बड़ा तूफान आया है, जहाज ऊपर-नीचे हो रहा है, लेकिन तुमको डर नहीं लगता? पति चुपचाप उठा। उसने अपनी जेबमें-से पिस्तौल निकाली और पत्नीकी छातीपर लगाता हुआ बोला कि तुमको इससे डर लगता है? पत्नी बोली कि नहीं, पिस्तौल क्या करेगा? यह तो तुम्हारे हाथमें है। तब पति बोला कि जब मेरे हाथमें पिस्तौल देखकर तुमको डर नहीं लगता तो ईश्वरके हाथमें तूफान देखकर क्यों लग रहा है? वह भी तो हमारा मित्र है, हितैषी है। जब उसके हाथमें तूफान है तो हमको डरनेकी क्या आवश्यकता है?

तो भाई, ईश्वरकी आराधना और उससे प्रेम इस प्रकार करो कि सबकुछ सर्वात्मा परमेश्वरका स्वरूप है। उसके प्रति हमारी भक्ति और प्रीति बनी रहे। इसीलिए श्रीमद्भागवतका कहना है—

यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपूरुषे।
भक्तिरुत्पद्यते पुंसः शोकमोहभयापहा॥ भा०1.7.7

आप भगवान्‌का चरित्र श्रवण कीजिये। संस्कृतमें श्रूयमाणानाम्‌का अर्थ है श्रवणसमकालम् अर्थात् सुनते समय ही। श्रीमद्भागवतके एक-एक शब्द ज्यों-ज्यों आपके कानमें पड़ेंगे त्यों-त्यों आपके हृदयमें भक्ति प्रकट होगी और जब भक्ति प्रकट होगी तो तीन चीजें मिट जायेंगी। जब आपकी आसक्तिका मुँह कानके रास्ते मोड़ दिया जायेगा और भगवत्कथा आपके कानमें पड़ेगी और हृदयमें श्रीकृष्णका प्रेम उदय होगा तो तत्काल तीन बातें आपके जीवनमें नहीं रहेंगी। एक तो आपके मनमें जो पिछली बातोंके लिए शोक होता है— हमारा यह चला गया, हमारे पास यह नहीं रहा, उसका निवारण हो जायेगा। पीछेकी जो बातें है, वह अच्छी हों तो भी आपको तकलीफ देती हैं कि अब वे नहीं रहीं और बुरी क्यों किया? भूतकी बातोंको अधिक स्मरण करना ही शोक है। शोक भूतवृत्ति होता है। आप पिछली बातोंको याद कर-करके शोकग्रस्त हो जाते हैं। किन्तु जब भगवान्‌की याद आयेगी तो वह शोक मिट जायेगा। दूसरी यह कि आप भविष्यकी बातें सोच-सोचकर उनके लिए भयभीत हो जाते हैं। अच्छी बातकी भी कल्पना करें तब भी उसमें विघ्न न पड़ जाये यह भय ही है। और बुरी बातोंकी कल्पना करें तब तो फिर कहना ही क्या है! या तो आपके भूत लगा हुआ है अर्थात् भूतकालकी बातें आपके दिमागमें अधिक रहती है—जैसे कोई आदमी रास्तेमें चल रहा है और उसका पाँव पीछेकी ओर फिसल जाये तो वह गिर पड़ता है, वैसे ही भूतकालकी बातें जब ज्यादा याद आती हैं तो आदमीको गिरा देती है और जब आदमीका पाँव आगेकी ओर ज्यादा फिसल जाता है तब भी वह गिर पड़ता है। इसलिए मनपर भूत, भविष्यकी बातोंका बोझ लेकर मत चलिये। मोहके दल-दलमें मनुष्यका पाँव फँसता है। भयकी कल्पनासे मनुष्य शोक करने लगता है। लेकिन जब भगवान्‌की भक्ति आती है तब न भूतका शोक होता है, न

भविष्यका भय होता है और न वर्तमानका मोह होता है। उस समय हमारा हृदय अपनेमें ही विद्यमान ईश्वरको पकड़कर आनन्दसे भरपूर हो जाता है। इसीसे श्रीमद्भागवत और दूसरे शास्त्रोंको कहना है कि आप श्रवण कीजिये। श्रवणके साथ-साथ हमारी वाणी भी भगवान्‌के गुण वर्णन करे—

दुरवगमात्मतत्त्वनिगमाय तवात्ततनोश्चरितमहामृताब्धिपरिवर्तपरिश्रमणाः।
न परिलषन्ति केचिदपवर्गमपीश्वरते।

भक्तलोग कहते हैं कि हमको मोक्ष नहीं चाहिए। महात्मालोग कहते हैं—'मोक्षेणारसिकेन किम्।' उस मोक्षको लेकर हम क्या करेंगे जो मरनेके बाद मिलता हो। हमको तो वह मोक्ष चाहिए जिससे इसी समय हमें परमानन्दका अनुभव हो। हम सत्यसे वञ्चित न रहें—'असतो मा सद्गमय।' हम अन्धकारमें न भटकें—'तमसो मा ज्योतिर्गमय' और हम मृत्युके फन्देमें न रहें, इसी जीवनमें अमृतत्वको प्राप्त करें। तो—'न परिलषन्ति केचिदपवर्गमपीश्वर ते।' हमें मोक्ष भी नहीं चाहिए, अपवर्ग भी नहीं चाहिए।

यदनुचरितलीलाकर्णपीयूषविप्रुट्सकृददनविधूतद्वन्द्वधर्मा विनष्टाः।

भगवान्‌के चरित्रकी एक बूँद, एक फुहिया, एक सीकर, जब कानमें पड़ती है तो मनुष्यका मन परम पवित्र, परम पावन होकर एक अखण्ड आनन्दमें, परमानन्दमें डूब जाता है। और जब आपके हृदयमें परमानन्द प्रकट हो गया तो आनन्दपूर्वक बोलिये, आपके बोलनेसे आनन्द बरसेगा। आप आनन्दसे स्पर्श कीजिये। आपके हाँथमें-से आनन्दके झरने बहेंगे। आप जहाँ-जहाँ चलेंगे वहाँ-वहाँ पृथिवी आनन्दित होगी। आप जो-जो करेंगे, वह लोगोंके लिए आनन्दका उद्‌गम होगा, उत्स होगा, स्रोत होगा। इसलिए अपने हृदयमें भगवान्‌को, भगवान्‌की भक्तिको, भगवान्‌की प्रीतिको बैठा लीजिये। आपके समस्त कर्म-कलापसे, यहाँतक कि आपकी साँससे भी प्रेम और आनन्दकी वर्षा हो, इसीका नाम भक्ति है। भक्ति आपके हाथसे भी हो, आपके पाँवसे भी हो, आपकी वाणीसे भी हो। यही भक्तिका स्वरूप है।

●

गीता-दर्शन

(३)

गीता अध्याय - 6

स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

संकलनकर्त्री

श्रीमती सरला बसन्तकुमार बिरला

प्रस्तुति

परमपूज्य महाराजश्रीके प्रवचनोंको सुननेका अवसर वर्षोंसे प्राप्त हो रहा है। यह मेरे लिए सौभाग्यकी बात है कि मुझे उसने इतना आकर्षित किया अब मैं अपना अधिक-से-अधिक समय उस ओर लगाती हूँ। टेप रिकार्ड सुनती हूँ, लिखती हूँ। छपने योग्य बनानेमें जितने अधिक समय और श्रमकी आवश्यकता होती है उसे करनेमें आनन्दका अनुभव करती हूँ। इसमें मुझे जो रस मिलता है-निश्चित ही वह उस प्रवचनकार विभूतिकी कृपा है। गृहस्थीमें लिप्त रहकर इस प्रकार भगवत्प्राप्ति हो रही है इसमें मेरे पतिदेवका पुण्य, सहिष्णुता सहायक है।

इतने बड़े काममें कुछ त्रुटियोंका रह जाना मेरी ग्रहण-शक्तिपर निर्भर करता है और उससे विज्ञ पाठकोंको कुछ क्षोभ हो सकता है। अतः वे सारग्राही नीरक्षीर विवेकी विद्वान् इसकी अच्छाइयोंका वरण करें—जो महाराजश्रीका प्रसाद है : आपके समक्ष प्रस्तुत है।

—सतीश

गीता अध्याय-6

प्रवचन : 1

प्रपन्नपारिजाताय तोत्रवेत्रैकपाणये।
ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः॥

वेद और गीतामें एक अन्तर यह है कि वेद अपौरुषेय ज्ञान है और ऋषि उनका दर्शन करते हैं। वेदमें वक्ताकी प्रधानता नहीं होती, मन्त्रकी प्रधानता होती है। एक ही विशेषता है वेदकी और वह है उसके ज्ञानकी विशेषता। उसमें न श्रोताकी विशेषता है और न वक्ताकी। वह अद्वैत ज्ञानका सूचक है और स्वयंमें अद्वैत है।

गीतामें ज्ञानकी विशेषता तो वही है जो वेदमें है। परन्तु उसमें उत्तम वक्ता और उत्तम श्रोता इन दोनोंकी विशेषता और बढ़ गयी है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण वक्ता हैं और भगवान्‌के ही एक रूप अर्जुन श्रोता हैं। **सत्त्वमेकं द्विधा स्थितम्**—एक ही सत्ता, एक ही वस्तु नर-नारायण दोनोंके रूपमें स्थित है। रथ एक है शरीर, उसमें चेतन एक है ब्रह्म और वही एक रूपसे वक्ता हो रहा है तथा दूसरे रूपसे श्रोता हो रहा है। वही नारायण है और वही नर है। नर अर्जुन है तथा नारायण श्रीकृष्ण।

किसी-किसीका जीवनरथ कामके वशमें हो जाता है और उसका सारथि काम बन जाता है। काम कहाँ रहता है? इन्द्रियमें रहता है, मनमें रहता है और बुद्धिमें रहता है—

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।

जब काम बुद्धिको, मनको, इन्द्रियोंको अपने वशमें कर लेता है, मनुष्य रामके चलाये नहीं चलता, कामके चलाये चलने लगता है, तब उसकी प्रेरणाका स्रोत मलिन हो जाता है। जब हमारी बुद्धिका प्रेरक, मनका प्रेरक, इन्द्रियोंका प्रेरक नारायण होता है, राम होता है, कृष्ण होता है, हम सचमुच **धियो यो नः प्रचोदयात्** से प्रेरणा ग्रहण करते हैं, **अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्** ईश्वर हमारे भीतर रहकर हमें प्रेरणा प्रदान करता है, तब हम ठीक रास्तेसे सन्मार्ग पर चलते हैं। कठोपनिषद्‌का यह प्रसंग सदा याद रखने योग्य है कि **आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च** आत्मा रथी है और शरीर रथ है। **इन्द्रियाणि हयानाहुः** इन्द्रियाँ घोड़े हैं। **मनः प्रग्रहमेव च** मन बागडोर है। इसमें वासुदेव भगवान् श्रीकृष्ण सारथिके रूपमें बैठे हैं। कहाँ बैठे हैं? बुद्धिमें **बुद्धिं तु सारथिं विद्धि**। तो हम अपनी बुद्धिके अन्तरालमें बैठे हुए भगवान्‌की प्रेरणा ग्रहण करने लगें—इसकी योग्यता प्रदान करती है यह गीता माता।

मैं आपको पहले सुना चुका हूँ कि संसारका कोई मजहब बुद्धिको इतना आदर नहीं देता, जितना आदर वैदिक धर्म और भगवद्गीता देती है। अन्य सब धर्म चाहे वह इस्लाम हो, क्रिश्चियन हो, जैन हो, बौद्ध हो या सिक्खधर्म हो विश्वासकी प्रधानतासे चलते हैं। जो मजहब किसी एक व्यक्तिके द्वारा चलाया हुआ होता है, वह उसी व्यक्तिके प्रति विश्वास करनेके लिए बाध्य करता है। किन्तु वैदिक धर्म एक व्यक्तिके प्रति विश्वास करनेके लिए बाध्य नहीं करता। वह सच्चे ज्ञानके प्रति, परमार्थके ज्ञानके प्रति विश्वास करनेके लिए प्रेरित करता है। यह भारतीय संस्कृतिकी विशेषता रही है कि वह बुद्धियोगका आदर करती है—**बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव** बुद्धियोगका आश्रय लो। **ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।** मैं बुद्धियोग देता हूँ। तो इन वचनोंसे यह सिद्ध होता है कि बुद्धियोगसे भगवान् मिलते हैं और भगवान् प्रसन्न होकर बुद्धियोग देते हैं। अब आप बताइये संसारका ऐसा कौन-सा मजहब है, जो बुद्धिको, बुद्धियोगको इतना अधिक आदर देता हो?

अब आप दूसरी बातपर ध्यान दें। ज्ञान अकृत्रिम होता है, अनिर्मित होता है, अपौरुषेय होता है। पुरुषके द्वारा निर्मित ज्ञानको पौरुषेय बोलते हैं। पुरुष चाहे ईश्वर हो, चाहे अवतार हो, चाहे देवदूत हो, कोई भी ज्ञानका निर्माता नहीं होता। ईश्वर भी नहीं और साक्षात् भगवान् राम-कृष्ण भी नहीं। एक अद्भुत लीला है यह। यदि ईश्वर ज्ञान बनायेगा तो प्रश्न उठता है कि ज्ञानसे बनावेगा या अज्ञानसे? ज्ञान बनानेके पहले ज्ञान होगा या नहीं? ईश्वर ज्ञानस्वरूप होगा या अज्ञानस्वरूप होगा? इसलिए ज्ञानका असली स्वरूप वह है जो अपने अनेक हिस्सोंके बावजूद एक है, अखण्ड है। ज्ञानके ही एक हिस्सेका नाम जीव है, ज्ञानके ही एक हिस्सेका नाम जगत् है। सम्पूर्ण रूपोंमें ज्ञान-ही-ज्ञान प्रकट हो रहा है। ऐसा सिद्धान्त संसारके किसी मजहबका नहीं। यह केवल भारतीय धर्म भारतीय संस्कृतिका ही सिद्धान्त है कि शुद्ध ज्ञान ही जगत् बनता है। यह सब शुद्ध ज्ञानका ही विलास है। यदि भारतीय संस्कृतिको समझना हो तो ज्ञान किसीने कभी बनाया है, यह बात भूल जाओ। किसी भी कालमें, भूगोलके किसी भी देशमें, सातवें आसमानमें या धरतीपर, किसी व्यक्तिविशेष द्वारा ज्ञानकी उत्पत्ति की गयी है या ज्ञान उत्पन्न हुआ है यह बात प्रमाणित नहीं हो सकती। ज्ञान स्वतः सिद्ध है, सहज है, अपौरुषेय है। मैं फिर कहूँगा कि ज्ञानके सम्बन्धमें यह धारणा विश्व-सृष्टिके किसी भी धर्म अथवा मजहबमें नहीं है।

अब एक दूसरी बातपर ध्यान दो। ईश्वरने सृष्टि बनायी है—यह तो सब मानते हैं। किसी-किसी मजहबमें नहीं भी मानते। जैन धर्म ईश्वरको नहीं मानता, सृष्टिको अनादि मानता है और कहता है कि सृष्टि कर्म-प्रभावसे चलती है। बौद्ध धर्म भी ईश्वरको नहीं मानता। वह परमतत्त्वको शून्य मानता है। परन्तु भक्ति जैन-बौद्ध दोनों धर्मोंमें है। भक्तिका भी भेद होता है। **बुद्धं शरणं गच्छामि** अथवा **ॐ नमो अरिहंताणं** इन वचनोंसे सिद्ध होता है कि वे व्यक्ति-विशेषको, बुद्धको, अर्हन्‌को; तीर्थङ्करको जो कि स्वयं अनेक जन्ममें पवित्र हुए हैं, सर्वस्व मानकर उनकी उपासना करते हैं। चौरासी जन्मोंमें रहनेके बाद बोधिसत्त्व जब शुद्ध होकर वीतराग बुद्धत्वको प्राप्त हुए तो उन्हींकी भक्ति बौद्ध धर्ममें की जाने लगी। ईसाई धर्ममें ईश्वर है, इस्लाम धर्ममें ईश्वर है। सिक्ख धर्ममें भी ईश्वर है। परन्तु वे ऐसा मानते हैं कि ईश्वरने सृष्टि बनायी। अब आप ध्यान दो। वैदिक

धर्मका सिद्धान्त यह है कि ईश्वरने सृष्टि बनायी ही नहीं, अपितु स्वयं सृष्टि बन गया। इससे फलितार्थमें, निष्कर्षमें बड़ा भारी भेद होता है। जिस प्रकार कुम्हार घड़ा बनाकर उसे बाजारमें बेचनेके लिए भेज देता है अथवा सुनार जेवर बनाकर दूसरोंके पहननेके लिए दे देता है, उस प्रकार ईश्वर सृष्टि बनाकर अपनेसे अलग नहीं करता। दार्शनिक भाषामें ईश्वर विश्वका निमित्त कारण ही नहीं, उपादान कारण भी है। यही वैदिक धर्मकी विशेषता है जो और कहीं नहीं है। ईश्वर केवल कुम्हार ही नहीं, माटी भी है। जिस माटीसे घड़ा बनता है, वह ईश्वर है और घड़ा तथा घड़ेका एक-एक टुकड़ा भी ईश्वररूप है। ईश्वर केवल सुनार ही नहीं, सोना भी है। जेवर चाहे उसकी शक्ल-सूरत कुछ भी हो, कड़ा हो, कुण्डल हो, हार हो सब-का-सब स्वर्ण ही है। तात्पर्य यह कि ईश्वर ही देवता है, दानव है, पशुपक्षी है, मनुष्य है, स्त्री-पुरुष है। वही अमीर-गरीब है और वही चींटी-हाथी है। ईश्वरने किसी दूसरे मसालेसे यह सृष्टि नहीं गढ़ी। अपितु वह स्वयं स्वरूपमें प्रकट हुए है। यह सिद्धान्त आप विश्वके किसी भी धर्ममें नहीं प्राप्त करेंगे।

मैं आपको एक बात और बड़े प्रामाणिक रूपसे सुना देता हूँ। आजसे लगभग दो सौ वर्ष पहले निर्मित कालिका पुराण और मुरुतन्त्रको छोड़कर किसी भी प्राचीन ग्रन्थमें वेदमें, ब्राह्मणमें, उपनिषद्‌में, श्रौतसूत्रमें, कल्पसूत्रमें, धर्मसूत्रमें, गृह्यसूत्रमें, स्मृतिमें, अट्ठारहों पुराणोंमें, प्राचीन तन्त्रमें हिन्दू शब्दका प्रयोग कहीं भी नहीं हुआ। हम एक जातिके लिए, एक आचार्यके अनुयायियोंके लिए, भूगोलके एक सीमित क्षेत्रके लिए धर्मका निरूपण नहीं करते। हमारा जो धर्म है, वह समग्र मनुष्यमात्रके लिए है। हमारा धर्म शब्द निरुपपद है, उसका उपपद नहीं है। तात्पर्य यह है कि धर्म शब्दसे पहले उसको संकीर्ण बनानेके लिए किसी भी शब्दका प्रयोग नहीं हुआ। जैसे—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः। चोदनालक्षणार्थो धर्मः। धारणात् धर्मः।

आज मैंने भारतीय संस्कृतिकी विशेषताके बारेमें चार बातें बतायीं। हमारा धर्म जातिका धर्म नहीं, व्यक्तिका धर्म नहीं, राष्ट्रका धर्म नहीं, समग्र पृथिवीका धर्म है। **माता पृथिवी पुत्रोऽहम् पृथिव्या** पृथिवी मेरी माता है, मैं पृथिवीका पुत्र हूँ। जो ईश्वरको मानते हैं, वे ईश्वरको एक मानते हैं। यह 'एक' शब्द भी अपनी एक अपूर्वता लेकर संस्कृत भाषामें बना है। **इण् गतौ, एति अन्वेति, अनुगच्छति एति एकः**। जो दो में जाता है, तीनमें जाता है, चारमें जाता है; जिसके रहे बिना, जिसकी अनुगतिके बिना संख्या बनती ही नहीं, उनका नाम एक है। अब इस बातको ईश्वरमें लीजिए। ईश्वर एक है। ईश्वर दो में है, एक एक दो। ईश्वर तीनमें है—एक-एक-एक तीन। ईश्वरके बिना कोई वस्तु बनती ही नहीं।

तो भाई, गीताके पाँचवें अध्यायके अन्तमें आपने सुना कि मुक्त कौन है? **विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः**—यह मुक्तकी परिभाषा है। आप एक बातपर केवल ध्यान दें। मरनेके बाद स्वर्ग मिलेगा, बहिश्त मिलेगा अथवा यह मिलेगा, वह मिलेगा, इसका कोई महत्त्व नहीं। आपके लिए इसी जीवनमें फायदेकी बात है विगतेच्छा-भय-क्रोध होना, रागद्वेष-भयरहित होना। क्रोधमें द्वेष है। भयका नाम सीधा-सादा है। जो इच्छावान् होगा, वह उसकी इच्छा करेगा जिससे उसका राग होगा। जिसके मनमें किसीसे राग नहीं, किसीके

प्रति द्वेष नहीं, क्रोध नहीं और भय नहीं, वह सदा मुक्त है, इसी जीवनमें मुक्त है। मरनेके बादकी मुक्ति सही है, परन्तु यह भी सही है कि जो इस जीवनमें मुक्त है, वही बादके जीवनमें मुक्त है। जो इस जीवनमें बँधा हुआ है, वह अगले जीवनमें भी बँधा रहेगा। अब साधनकी बात देखो--

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥ 5.29

यह बात भी दूसरे मजहबोंमें नहीं कि परमात्माको केवल जानने मात्रसे शान्तिकी प्राप्ति होती है **ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।** कोई कहता है कि मेरे पास आओ, तुम्हें शान्ति मिलेगी। कोई कहता है कि मेरी बात मानो, तुम्हें शान्ति मिलेगी। कोई कहता है कि मेरे अनुयायीके पीछे चलो, तुम्हें शान्ति मिलेगी। केवल जान लो, पहचान लो। जानना और पहचानना एक ही बात है।

अब आपको तीन बात सुनाते हैं। ईश्वर भोजन क्या करता है? **भोक्तारं यज्ञपतसां** यह यज्ञ और तपस्याका भोजन करता है। ईश्वर क्या करता है? **सर्वलोकमहेश्वरम्** सम्पूर्ण विश्वसृष्टि पर शासन। वह शास्ता है। तीसरी बात यह है कि उसका स्वभाव कैसा है? **सुहृदं सर्वभूतानां** वह सबका सुहृद् है। इन तीनों बातोंको आप केवल जान लो, पहचान लो और अनुभव करो।

पहले ईश्वरके भोजनकी बात सुनाते हैं। उसका आहार यज्ञ और तपस्या है। यज्ञ माने दूसरोंको खिलाना—यह सीधा सादा अर्थ है यज्ञका। उसमें सामग्री इकट्ठा करके शूद्र खाता है। उत्पादन, वितरण और विनिमयके द्वारा वैश्य खाता है। रक्षा करके क्षत्रिय खाता है। वेदमन्त्र पढ़कर ब्राह्मण खाता है। सबके अपने-अपने कर्त्तव्य कर्मोंके पालन द्वारा यज्ञ सम्पन्न होता है। इसका अर्थ यह है कि सबको भोजन देना ही ईश्वरको खिलाना है। ईश्वर अपने लिए थाली लगाकर, मेजपर बैठकर, अलगसे भोजन नहीं करता। आप जो यज्ञ करते हैं, आप जो दूसरोंको खिलाते हैं, वही ईश्वर भोजन है। यज्ञमें पशुओंका भी हिस्सा होता है, पक्षियोंका भी हिस्सा होता है। गायको भी हिस्सा देते हैं, कौएको भी देते हैं, दिशाओंको भी देते हैं। यज्ञमें वायुका भी अंश है, वह सुगन्ध जो फैलती है। अग्निका भी अंश है, अग्निमें जो हवन करते हैं। जलका भी अंश है, तर्पण जो करते हैं। पृथिवीका भी अंश है, भोग जो लगाते हैं। शुद्ध मन्त्रोंका जो उच्चारण होता है, वह आकाशका अंश हैं। आप यज्ञ करो अर्थात् सबको भोजन दो, पानी दो, शुद्ध वायु दो। अपने मुँहसे अपशब्दका, अशुद्ध शब्दका उच्चारण मत करो। अपने मनसे किसीके प्रति दुर्भाव मत करो। अपनी बुद्धिसे किसीके अहितकी बात मत सोचो। यह यज्ञ है। ईश्वर यही खाता है। यदि आप यज्ञ कर रहे हैं तो ईश्वर आपके घरमें रोज भोग लगाता है, रोज भोजन करता है तो **भोक्तारं यज्ञतपसां** ईश्वर दो चीज खाता है, यज्ञ और तपस्या। यज्ञका अर्थ हैं दूसरोंका उपकार करना, दूसरोंको खिलाना, दूसरोंकी सेवा करना। तपस्याका अर्थ है कमसे-कममें अपना गुजर-बसर कर लेना। अपना निर्वाह थोड़ेसे-थोड़में हो, यह तप है और दूसरोंका अधिक-से-अधिक भला किया जाये; यह यज्ञ है।

आप अपने जीवनमें ईश्वरको भोग लगाना चाहते हैं तो यज्ञ कीजिये। भोग थालीमें नहीं लगता, पैसा

फेंकनेसे नहीं लगता, अक्षत चढ़ानेसे नहीं लगता। सबका भला कीजिये और स्वयं स्वल्प-से-स्वल्पमें निर्वाह कीजिये, यही ईश्वरका प्रिय भोग है।

दूसरी बात—**सर्वलोकमहेश्वरम्**। ईश्वर सबका स्वामी है, सबका प्रशासन करता है। उसके ऐश्वर्यको समझो।

अब तीसरी बात। ईश्वर सम्पूर्ण प्राणियोंका सुहृद् है **सुहृदं सर्वभूतानां** सौहार्द्र ही ईश्वरका धर्म है। सौहृद ही उसका स्वभाव है। वह सबके हृदयोंमें रहता है और सबके हृदयोंको निर्मल बनाता है। जब जलमें फिटकरी पड़ती है तो जलके मलको दूर कर देती है। ऐसे हृदयमें ईश्वरका प्राकट्य होनेपर हृदयकी मलिनता दूर हो जाती है। असलमें, ईश्वर हमारे हृदयमें रहकर हृदयकी मलिनताको दूर करता रहता है। ऐसे ईश्वरको जाननेपर शान्ति मिलती है **ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति**। अत: आप भी उसको जानो, आपको शान्ति मिलेगी।

यहाँ पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ और अब छठा अध्याय प्रारम्भ होता है। भगवान् बिना पूछे ही अर्जुनको उपदेश दे रहे हैं। यह है सौहार्द भगवान्‌का। धर्मशास्त्रमें नियम यह है कि जब कोई धर्मकी बात पूछे तभी उसको बताना चाहिए, अन्यथा वह मानेगा नहीं और तिरस्कार कर देगा। क्योंकि वह वासनाके वशमें हैं, अहंकारके वशमें है। यदि किसीको उसके झुके बिना और पूछे बिना उपदेश किया जाता है तो वह उसे स्वीकार नहीं करता है। अत: जो नम्र हो और जिज्ञासु हो, उसे ही धर्मकी बात बतानी चाहिए। परन्तु यदि कोई बहुत अपना हो, वात्सल्यभाजन हो, पुत्र हो, शिष्य हो तो उसके हितकी बात बिना पूछे भी बता देनी चाहिए। नम्रता उसके लिए भी आवश्यक है। पुत्र अथवा शिष्य यदि जिज्ञासु न हो तब तो उन्हें धर्मोपदेश किया जा सकता है, लेकिन नम्र न हो तो धर्मोपदेश नहीं देना चाहिए। भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनकी नम्रताको देख चुके हैं—

शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।

इस कथनके द्वारा अर्जुनने अपनी नम्रता प्रकट की है। वह नभ्र हो गया। पानी-पानी हो गया। इसलिए पाँचवें अध्यायके अन्तमें अर्जुनके प्रश्न न करने पर भी भगवान् स्वयं बोले। जब करुणा बढ़ती है तब वह कोई अपेक्षा नहीं रखती और स्वयं उसकी धारा प्रवाहित होने लगती है। भगवान् अपने आप उपदेश करने लगते हैं—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥ 6.1

देखो, एक लोक-व्यवहार है। पहले जब वर्णाश्रम-धर्मकी महिमा थी तो लोग संन्यासी और योगीको बड़ा मानते थे। यह प्रसिद्धि थी कि एक तो संन्यासी न होनेपर भी योगाभ्यासी है, वह बड़ा है। यहाँ तक कि जो आसन बाँधकर निष्क्रिय होकर बैठ गया वह योगी घोषित हो गया। कुछ आसन, कुछ प्राणायाम और कुछ प्रत्याहार करना आ गया तो योगिराजकी उपाधि मिल गयी। आजकल बम्बई आदि बड़े शहरोंमें जब स्त्रियाँ

मोटी हो जाती हैं तब वे हेल्थसेन्टरमें जाकर कुछ आसन सीख आती हैं तो उसका नाम 'योगा' बोलती हैं। किन्तु थोड़ी-सी कसरत सीख लेनेका नाम योगा या योग नहीं, आसन-प्राणायाम आदि योग नहीं, योगके अंग हैं। योगी दूसरोंसे कैसा व्यवहार करे, इसका नाम है यम अर्थात् सत्य, अस्तेय आदि। इसी प्रकार योगी स्वयंमें कैसा व्यवहार करे, वह है नियम अर्थात् शौच, तपस्या, सन्तोष, ईश्वर-प्रणिधान आदि। योगी स्वयंमें नियमसे रहे, दूसरोंसे सत्य, अहिंसाका बर्ताव करे और शरीरको आसनसे ठीक रक्खे, यह अन्तरङ्ग योग हुआ। सबसे पहले लोकव्यवहार बादमें स्वयंका नियमन और फिर शरीरकी सम्भाल। उसके पश्चात् प्राणोंको साध ले, प्रत्याहार द्वारा इन्द्रियोंको साध ले और धारणासे मनको एक स्थानमें स्थित करे। मनको अमुक समयतक स्थापित करनेका नाम ध्यान है। जिस वस्तुमें ध्यान लगे उसमें तन्मय हो जानेका नाम है समाधि। इन सारी अवस्थाओंकी विवेकख्याति होकर अपने स्वरूपमे स्थित होना द्रष्टाका स्वरूपावस्थान ही योग है। जैसा कि बताया गया—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि—ये योगके आठ अंग हैं और योग इनसे विलक्षण है।

जो आसन बाँधकर, आँख बन्द करके, साँस रोककर बैठ जाये वह योगी है और सबसे श्रेष्ठ है। इसी प्रकार जो निरग्नि है, रोटी बनाकर नहीं खाता, अग्निसम्बन्धका परित्याग कर चुका है वह संन्यासी है और वह भी सबसे श्रेष्ठ है। उपनिषदोंमें अग्नि शब्दका अर्थ स्त्री है—**यौषावावगौतमाग्नि** छान्दोग्योपनिषद्में स्त्री ही अग्नि है। जो स्त्रीसे सम्बन्ध त्याग करके गृहस्थाश्रमका भोग विलास छोड़ देता है उसको बोलते हैं निरग्नि। तो इस मान्यताको कि गृहस्थाश्रम छोड़कर निरग्नि हो जानेवाले संन्यासी बाबा और निष्क्रिय हो जानेवाली योगी बहुत अच्छे हैं, श्रीकृष्ण भगवान् स्वीकार नहीं करते। यह क्रान्ति है, इन्कलाब है श्रीकृष्णका। वे कहते हैं कि नहीं, नहीं; संन्यासी बाबा हांनेसे, स्त्रीमात्रका परित्याग करनेसे अथवा केवल आसन बाँधकर, शरीर स्थिरकर योगी होनेसे कोई बड़ा नहीं हो जाता। बड़ा होनेके लिए गेरुआ कपड़ा पहनना या आसन साध लेना पर्याप्त नहीं। तब क्या करना चाहिए? देखो, हम एक ऐसा आदमी बताते हैं, जिसमें संन्यास भी है और योग भी है। वह आसन बाँधकर बैठा हुआ नहीं, काम कर रहा है। वह पत्नीत्यागी भी नहीं, गृहस्थाश्रममें है। अपने सारे कर्तव्य कर्मोंको पूरा करता है, इसलिए अक्रिय नहीं है। वह कर्मत्यागी नहीं, परन्तु योगी है; भार्यात्यागी नहीं, परन्तु संन्यासी है। अब प्रश्न उठा कि ऐसी क्या विशेषता है जो गृहस्थाश्रमका त्याग किये बिना संन्यासी, कर्मत्याग किये बिना योगी हो गया? तो बोले कि वह बुद्धियोगी है उसमें बुद्धि है। बुद्धिकी विशेषता ही सर्वोपरि विशेषता है। पत्थर जड़ वस्तु है, एक जगह पड़ा रहता है, कोई काम नहीं करता। तो उसमें क्या विशेषता है? विशेषता तो तब है, जब वह अपने कर्तव्य कर्मको ठीक ढंगसे करे। **यः कर्म करोति स योगी**—जो कर्म करता है, वह योगी है। ठीक है; किन्तु भाई, कर्म करनेका कोई तरीका, कोई मर्यादा भी तो होनी चाहिए। उसके लिए दो मर्यादाएँ बना दीं। वह यह कि **कार्यं कर्म करोति**। पहली बात यह कि जो अपना कर्तव्य कर्म है, वही करे, सब कर्म नहीं। कर्म तो चिड़िया भी करती है। कर्तव्यमें दो बातें हैं—एक तो निषिद्धका त्याग और दूसरे विहितका

अनुष्ठान। अनुशासनके अनुसार कर्म करना चाहिए। अनुशासन माने शास्त्रका अनुशासन, गुरुका अनुशासन, ईश्वरका अनुशासन, परिवारका अनुशासन, समाजका अनुशासन। वासनाके वेगमें अनुशासनका उल्लङ्घन नहीं करना चाहिए। कार्यका अर्थ है कि जो कर्तव्य हैं, उन्हें करो और अकर्त्तव्यका परित्याग कर दो। अब देखिये, काम करता हुआ योगी अपने कर्त्तव्यका पालन कर रहा है। इस बातको आप शास्त्रकी इस भाषाके अनुसार मिला लीजिये कि मुक्ति किसे होती है यह धर्मशास्त्रमें है। एक तो जो योगी अथवा संन्यासी होता है, उसको मुक्ति होती है। दूसरे जो युद्धभूमिमें छाती तानकर खड़ा हो जाता है—**रणे चाभिमुखे हतः** और शत्रुके आक्रमणका सामना करते हुए मरता है वह भी मुक्त होता है। क्योंकि वह अपने कर्तव्यका पालन कर रहा है। कर्तव्यका पालन करते हुए मरना—मुक्तिका साधन है।

अब बोले कि कर्म करनेवाला संन्यासी कैसे हुआ? उसने पत्नी आदिका तो परित्याग किया नहीं तो बताते हैं—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।

मैं आपके कामकी एक बात सुनाता हूँ। पहले दर्शनशास्त्रकी बात कुछ अधिक आ गयी। आप काम करते हैं, किसीको एक गिलास पानी पिलाते हैं, बहुत बढ़िया है। कभी झाड़ू लगाते हैं, कभी रसोई बनाते हैं। आप कपड़ा बनाते हैं, लोहा बनाते हैं, अन्न पैदा करते हैं, दूसरोंकी भलाईके काम करते हैं। अभावग्रस्तोंको निवास-स्थान देने, भोजन देने, औषधि देने, वस्त्र देने, सत्संग देने आदिसे भी तो बुद्धि शुद्ध होती है। दूसरोंको मनोरञ्जन देना, अन्न देना जीवन देना, ज्ञान-चित्त् देना, आनन्द देना—ये सब बुद्धि शुद्ध करनेके साधन हैं। आप अच्छे काम करते हैं, बहुत बढ़िया बात है किन्तु एक बातपर ध्यान दीजिये। जबतक आपको आनन्द देनेका कुछ फल नहीं मिलता, तबतक आप अपनेको सफल नहीं मानते, कृतकृत्य नहीं मानते। आप तो काम करनेका फल चाहते हैं। जनसेवी हैं तो कुर्सी चाहते हैं, और कुछ नहीं तो आपकी प्रशंसा पत्र-पत्रिकाओंमें छपे, यह चाहते हैं, यश चाहते हैं, कीर्ति चाहते हैं। अधिक नहीं, तो कोई शाबाशी दे, तारीफ करे, माला ही पहननेको मिल जाये। तात्पर्य यह कि जबतक कुछ लौकिक फल हमारे कामका न मिले, तबतक हम अपने कर्मको सफल नहीं समझते। किन्तु ऐसा करके हम अपने कर्मकी कीमतको खो देते हैं। प्यासेको पानी पिलाना, भूखेको अन्न देना, नंगेको वस्त्र देना, ये स्वयंमें बहुत बढ़िया काम हैं। उनसे आपके हृदयमें आनन्द आना चाहिए, पवित्रता आनी चाहिए, अन्तःसुखका विकास होना चाहिए। यह ध्यान रहे कि विकास स्वाधीन सुखका हो, पराधीन सुखका नहीं। जो सुख माला पहननेपर, तारीफ सुनने पर, ऊँची कुर्सी मिलनेपर; सेवाके बदले पैसा मिलनेपर, धरती मिलनेपर मिलता है, वह स्वाधीन सुख नहीं। किसी फरिश्तेने आकर कहा अब तुमको स्वर्ग मिलेगा और आप सुखी हो गये। किन्तु स्वर्ग मिलनेकी बात सुनकर जो सुख मिलता है, वह सच्चा सुख नहीं। सच्चा सुख तो वह है कि जो कर्म आप करते हैं, उस कर्ममें आपको सुख मिले।

तो संन्सायी कौन है? वह है जो बादमें मिलनेवाले फलका आश्रय न ले—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।

हम यह नहीं कहते कि आपको कर्मफल न मिले। खूब मिले। परन्तु आप उसके आश्रित न हो जायँ। अन्यथा कभी शंका हो जायेगी कि फल नहीं मिलेगा तो क्या होगा? विपरीत फल मिलेगा तो क्या होगा? होना यह चाहिए कि आपका जो सत्कर्म है, वह बना रहे, नष्ट न हो जाये। फल न मिलने पर भी आपको यह सन्तोष रहे कि आपने अच्छा काम किया है। आपको ग्लानि न हो, आपका दिल मैला न हो। आप यह देखिये कि जिस क्षणमें कर्म कर रहे हैं, उस क्षणमें आपको पूर्णताका अनुभव हो रहा है कि नहीं?

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्म कर्म समाधिना॥

यह ब्रह्म कर्म-समाधि है। जो काम आप कर रहे हैं वह काम आपके अपने व्यक्तित्व; आपकी अपनी शक्ति, अवस्था, बुद्धि और आपके ज्ञानके अनुरूप होना चाहिए और उसमें आपको पूर्णताका अनुभव करना चाहिए। आप कर्मफलपर मत जाइये। उसकी चिन्तासे तो आपका पाँव फिसल गया क्योंकि आप जो कर्म कर रहे हैं, उस कर्मकी ओर नहीं देख रहे अपितु उससे आगे होनेवाले फलके आश्रित हो गये हैं। यदि आप अच्छा काम कर रहे हैं तो अच्छा काम करना स्वयंमें फल है। अच्छा काम करना सत् है। अच्छा काम करना ज्ञान है और अच्छा काम करना आनन्द है। अच्छा काम करना सच्चिदानन्द है। जो फलका आश्रय लिये विना कर्म करता है वह संन्यासी है और कर्ता भी है। वह पत्नीत्यागी भी नहीं और कर्मत्यागी भी नहीं। किन्तु गृहस्थाश्रममें रहता हुआ अपनी शक्ति, अपनी बुद्धि, अपनी सद्भावना, अपने ज्ञानके अनुसार कर्म करता हुआ पूर्ण है। जो स्वयंमें आनन्दका अनुभव करता हुआ कर्म करेगा, उसके फलमें भी आनन्द-ही-आनन्द रहेगा। उसे फलकी ओर देखनेकी कोई जरूरत नहीं। आनन्दका फल आनन्द है। जो अपने कर्मका सुख नहीं ले रहा अपने ज्ञानकी पवित्रताका अनुभव नहीं कर रहा, अपने सद्भावको नहीं देख रहा, वह चाहे गेरुआ कपड़ेवाला संन्यासी हो अथवा योगी हो, उसका काम अधूरा हो जता है।

यह गृहस्थाचार है। श्रीकृष्ण भगवान् गृहस्थाचार्य हैं और गृहस्थोंको काम करनेकी तरकीब बताते हैं कि कैसे काम करना चाहिए।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

●

प्रवचन : 2

अब हम गीताके छठे अध्यायमें प्रवेश करते हैं। हम जो संगीत गावें, उसका कुछ अर्थ भी होना चाहिए और उसमें आनन्द भी आना चाहिए। केवल ताल-लय-स्वरकी जो गति है, उससे विश्राम मिलता है, शक्तिकी वृद्धि होती है और उसमें जो अर्थामृत होता है वह शाश्वत प्रेरणा देता है। इसलिए संगीतमें केवल ताल लाय स्वरका ही समावेश नहीं होना चाहिए। उसमें अर्थका भी, अभिप्रायका भी सन्निवेश होना चाहिए। भगवान् श्रीकृष्ण संगीत-विद्यामें बड़े निपुण थे। उनकी वंशी तो प्रसिद्ध ही है। परन्तु केवल बाँसुरी नहीं उसके साथ गीता भी है। उनके जीवनमें एक ओर वंशी है, दूसरी ओर गीत है। आप जानते होंगे एक बार श्रीकृष्णपर इन्द्र प्रसन्न हुए। यह कथा महभारतमें है। इन्द्र हैं तो श्रीकृष्णसे छोटे, परन्तु श्रीकृष्णमें मानवता है और इन्द्रमें देवत्व है। इसलिए इन्द्रने श्रीकृष्णसे कहा कि वर माँगो। श्रीकृष्णने कहा कि मेरी और अर्जुनकी मैत्री सर्वदा बनी रहे, हमारी मित्रता अटूट-अखण्ड हो। इन्द्रने कहा—'तथास्तु'। इन्द्रके पुत्र हैं अर्जुन। आप एक सम्बन्धपर विचार करें। इन्द्र हाथके अधिष्ठातृ देवता हैं। सब इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ देवता होते हैं। इसको आप ऐसे समझें कि जैसे आँख है। उससे आप सब लोग दीख रहे हैं। परन्तु यदि आँखका अधिष्ठातृ देवता सूर्य न हो या प्रकारान्तरसे सूर्यका प्रकाश न मिलता हो—चाहे बिजलीमें, चाहें आगमें, चाहे चन्द्रमामें—तो आपकी आँख किसी वस्तुको नहीं देख सकती। आँख अध्यात्म इन्द्रिय है। जो रूप दीखता है वह अधिभूत है और सहायक अनुग्राहक सूर्य देवता है। जैसे आँखका देवता सूर्य है वैसे ही हाथका अनुग्राहक देवता इन्द्र है। इन्द्रका पुत्र है अर्जुन। कर्मके देवताके साथ अर्जुनका सम्बन्ध है। वह यदि कर्मत्याग कर देगा तो अपने मूलतत्त्वकी ही उपेक्षा कर देगा। इसलिए अर्जुनके जीवनमें कर्म होना आवश्यक है।

एक दूसरी बात देखें। ईश्वर अपने लिए करण सुरक्षित नहीं रखता। करण माने औजार। वह बिना किसी दूसरी वस्तुकी मदद लिए ही आनन्द स्वरूप है। जैसे आपके यहाँ घी है। वह गेहूँकी मदद लेकर, चावलकी मदद लेकर या शक्करकी मदद लेकर ही स्वाद दे सकता है। घीको स्वाद देनेके लिए मददगारकी जरूरत पड़ती है। परन्तु ईश्वरको अपना काम करनेके लिए किसी सहायककी आवश्यकता नहीं पड़ती, उसके यहाँ बन्धन नहीं। ईश्वर जब कोई काम करता है तो वह किसीके अन्तःकरणमें ही बैठ जाता है। ईश्वरने अपने लिए रहनेका कोई मकान नहीं बनाया। जितने भी अन्तःकरण हैं, सब ईश्वरके मकान हैं। जितने भी कण हैं वे ईश्वरके आवास हैं। जितने भी क्षण हैं, उनमें ईश्वर चमाचम चमक रहा है। प्रत्येक क्षण ईश्वरका प्रकाश है। प्रत्येक कण ईश्वरका आविर्भाव है। प्रत्येक मन ईश्वरका निवासस्थान है।

हमारे अन्तःकरणमें बुद्धिकी उपाधिसे बैठने हैं भगवान् श्रीकृष्ण—**बुद्धिं तु सारथिं विद्धि**। हमारे हृदयमें उचित-अनुचितका निर्णय करनेके लिए श्रीकृष्ण विराजमान होते हैं और उनकी बात सुनने और माननेके लिए हमारा ही मन बैठता है। मनमें जो भगवत्प्रकाश है, चैतन्य है; उसका नाम अर्जुन है और बुद्धिमें जो भगवत्प्रकाश है, चैतन्य है; उसका नाम श्रीकृष्ण है। प्रत्येक हृदयमें श्रीकृष्ण और अर्जुनका निवास है और वे सबको मार्गदर्शन देते हैं। पर उस मार्गदर्शनको दुर्योधन नहीं सुन पाता, अर्जुन सुन पाता है। अर्जुन सरल है। अर्जुन शब्दका अर्थ

नीलकण्ठने, महाभारतके उद्योगपर्वमें 'ऋजुत्वात् अर्जुनः' किया है। अर्जुन ऋजु है, सरल है। जो दावपेचसे बात करता है वह अर्जुन नहीं होगा। व्यवहारमें दावपेच नहीं चाहिए। सरलता चाहिए। सीधे चलो। टेढ़े मत चलो। वामपन्थसे मत चलो, सीधे चलो। किसीको भूलभुलैयामें डालना या स्वयं पड़ जाना आत्माके सहज स्वभावके विपरीत है।

अब मैं आपका ध्यान एक सहज बातपर आकर्षित करता हूँ। एकदम सहज बात है, टेढ़ी नहीं। आपका जीवन दो तत्त्वोंसे बना दीखता है। वे कौन-से दो तत्त्व हैं? कर्म और ज्ञान हैं। आँख ज्ञान है और पाँव कर्म है। आप आँखसे देखते हैं और पाँवसे चलते हैं। इसी तरह ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान हैं और कर्मेन्द्रियाँ कर्म हैं। प्रत्येक मनुष्यका जीवन बिना दावपेचके सहजभावसे दो तत्त्वोंका प्रकाश है, अभिव्यक्ति है। आपके शरीरमें दो तत्त्व जाहिर हैं—दो तत्त्वोंका इजहार है। आप समझते हैं और करते हैं, करते हैं और समझते हैं। करते-करते समझ बढ़ जाती है और समझते-समझते उसके अनुसार करने लगते हैं। जीवनमें ज्ञान और कर्मका सङ्गम है। इसको संस्कृतभाषामें समुच्चय बोलते हैं। बिना ज्ञानके कर्म अन्धा है। बिना कर्मके ज्ञान पङ्गु है—लँगड़ है। सांख्यदर्शनमें एक दृष्टान्त है। इसे 'अन्ध-पङ्गु-न्याय' बोलते हैं। एक था अन्धा। वह जाना चाहता था बदरीनाथ पर रास्ता कौन बतावे? एक था लँगड़ा। वह भी जाना चाहता था बदरीनाथ, पर चल नहीं सकता था। तब दोनोंने आपसमें मित्रता जोड़ ली। अन्धेके कन्धेपर लँगड़ा बैठ गया। लँगड़ा रास्ता बताता जाये क्योंकि उसके आँख थी और अन्धा चलता जाये क्योंकि उसके पाँव थे। दोनों बदरीनाथ पहुँच गये।

हमारे जीवनमें कर्म अन्धा होता है। एक तो हम बिना सोचे-समझे, चाहे जो कुछ करनेके लिए उद्यत हो जाते हैं। दूसरे, हम सोचते-समझते तो बहुत हैं, परन्तु करते कुछ नहीं। जब इन दोनोंका मेल मिलता है, तब हमारा जीवन ठीक-ठीक चलता है। हमारे जीवनकी गाड़ीके ये दो पहिये हैं। योगवासिष्ठके प्रारम्भमें ही यह प्रश्न आया है। आसमानमें चिड़िया तभी उड़ती है जब उसके दोनों ओर पंख हों। एक पंखसे चिड़िया उड़ नहीं सकती। इसी प्रकार ज्ञान और कर्मके समन्वयसे ही मनुष्यके जीवनका रथ बिल्कुल ठीक चलता है। जिस प्रकार गाड़ीके दो पहिये होने चाहिए, उसीप्रकार आदमीके दो पाँव। एक पाँवसे कैसे चलेंगे? चलनेके लिए दो पाँव होने चाहिए, काम करनेके लिए दो हाथ होने चाहिए, देखनेके लिए दो आँख होनी चाहिए, सुननेके लिए दो कान होने चाहिए। अस्तु; जीवनमें दो वस्तु आवश्यक है—एक बुद्धि और दूसरा कर्म।

कभी-कभी दोष कर्ममें भी आजाता है और बुद्धिमें भी आ जाता है। दोनोंमें समरसता आवश्यक है। बुद्धिसे संगत कर्म करें और कर्मसे संगत बुद्धि रखें। बुद्धि और कर्ममें वैसी ही मित्रता होनी चाहिए, जैसी मित्रता श्रीकृष्ण और अर्जुनमें है। श्रीकृष्ण और बलराममें मतभेद है परन्तु श्रीकृष्ण और अर्जुनमें मतभेद नहीं। महाभारत तथा भागवतमें बलरामजीका जो अन्तिम जीवन है, वह श्रीकृष्णसे किञ्चित् पृथक् हो गया है। परन्तु अर्जुनका जीवन निरन्तर श्रीकृष्णके साथ मिला हुआ है। आप कोई काम करते समय सीधी-सी बात देखिये। उसमें आपकी बुद्धिका विरोध तो नहीं? यदि है तो उसको अनुकूल बनाइये। यह देखिये कि आप जो कुछ सोचते हैं, उसमें कर्तव्यपालनका विरोध तो नहीं? बुद्धि और कर्म दोनोंका एक साथ मिलकर काम करना

अनिवार्य है, उनमें मतभेद नहीं होना चाहिए। समझ श्रीकृष्णकी और कर्म अर्जुनका। दोनोंके समुच्चय—दोनोंके सामञ्जस्यसे ही सफलता मिलती है। उनमें किञ्चित् भी अटपटापन नहीं होना चाहिए।

अब एक दूसरी बात लेते हैं। **अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।** पहले बुद्धिके दोषका निराकरण हो और पीछे कर्मके दोषका निराकरण हो। बुद्धि भोगकी ओर झुकती है। हम ट्रेनसे चलते हैं तो किस-किस स्टेशनपर पानी, दूध, भोजन मिलेगा, यह सोच लेते हैं। बुद्धिका झुकाव भोगकी ओर होता है, परन्तु कबतक? जबतक भोग न मिले। भोग मिलनेके बाद बुद्धि वहाँसे सिमट जाती है। संस्कृतमें एक न्याय है—**वस्तुपक्षपातो हि धियां स्वभावः**—बुद्धिका स्वभाव है कि जिस चीजको वह सच समझ लेती है उसे किसीके कोटि यत्न करनेपर भी छोड़ नहीं सकती। वह अपने समझे हुए सत्यका पक्षपात करती है। हम अपने मित्रको चोरीका अभियोग लगनेपर भी अदालतसे छुड़ानेका प्रयत्न करते हैं। उसके लिए खर्च करते हैं, श्रम करते हैं, सिफारिश करते हैं। लेकिन सब करनेके बावजूद यदि सजा हो जाती है तो मनमें कहीं-न-कहीं यह बात फुर जाती है कि इन्होंने चोरी तो की ही थी। सत्यका, यथार्थका पक्षपात करना प्रत्येक बुद्धिका स्वभाव है। किन्तु पक्षपात रखते हुए भी बुद्धि वहाँ झुक जाती है, जहाँ तृष्णा होती है। तृष्णा बुद्धिका दोष है और कर्तव्यपथसे विचलित हो जाना कर्मका दोष है। कर्तव्य भी कर्म है और अकर्तव्य भी कर्म है। दोनों हैं। परन्तु तृष्णाका समावेश हो जाना बुद्धिका दोष है। इसलिए गीता **अनाश्रितः कर्मफलं**—इस अर्द्धालीमें बुद्धिके दोषका निवारण करती है और 'कार्यं कर्म करोति यः' में 'कार्यं' पदका प्रयोग करके कर्मके इस दोषका कि उसमें अकर्तव्यका समावेश न हो जाय, निवारण करती है। धृतराष्ट्रने संजयको पाण्डवोंके पास भेजा और सन्देश दिया कि श्रीकृष्णसे जाकर कहो, ये युद्ध टालनेका प्रयास करें। श्रीकृष्णने कहा कि सत्यको, न्यायको, धर्मको छोड़कर युद्ध न हो, इसके लिए हम प्रयास क्यों करें? सत्य छूट जाय, न्याय छूट जाय, यथार्थ छूट जाय, हित छूट जाय तो शान्ति कैसी? मैं आपको तीन सूत्र सुनाता हूँ। जैनधर्मका सार है अहिंसा, बौद्धधर्मका सार है करुणा; दोनों बड़े अच्छे हैं। किसीको लेश-मात्र ताप या तकलीफ दिये बिना हम अपने आत्मामें स्थित हो जायँ, यह जैनधर्मका सार अहिंसा है। बौद्धधर्मका सार है कि हम केवल लोगोंको दुःख पहुँचानेसे ही नहीं बचें, बल्कि हमारे हृदयमें करुणा उमड़ पड़े और हम दूसरोंको यहाँ तक कि पशु-पक्षियोंको भी दुःखी न देख सकें और उन्हें अपने हृदयसे लगा लें।

इसी प्रसंगमें तीसरी बात देखें। हमारे वैदिक धर्मका सार है हित। **यदेव हिततमं**—यह उपनिषद् बोलती है। किसीका आपरेशन न करना पड़े यह बहुत बढ़िया बात है, इस भावनामें अहिंसा है। रोगीको ऐसी दवा दे दो कि उसे दर्द न मालूम पड़े, आराम मिले, यह करुणा है। किन्तु आपरेशन करनेसे दुःख दूर हो जाय तो आपरेशन करो, मीठा खिलानेसे दुःख दूर हो जाय तो मीठा खिलाओ, कड़वा खिलानेसे दुःख दूर हो तो कड़वा खिलाओ—यह वैदिक धर्म है। सृष्टिके अनादि अनन्त शाश्वत इतिहासमें अनेक बार युद्ध और शान्तिके प्रसङ्ग आते हैं। काल अनादि है और हमेशा चलता रहता है। इसमें भिन्न-भिन्न प्रकारके प्रसङ्ग आते रहते हैं इसमें सबके हितकी जो दृष्टि है वही वैदिक धर्म है। अहिंसासे सबका भला हो तो ठीक है, करुणासे सबका भला करो। सबकी भलाईके लिए आवश्यकता हो तो हिंसा, आवश्यकता हो तो अहिंसा, आवश्यकता हो तो करुणा

और आवश्यकता हो तो कठोरता करो। हित करुणामें भी है और कठोरतामें भी! आप श्रीरामचन्द्रका चरित्र देख लें; श्रीकृष्णका चरित्र देख लें, वे हितप्रधान हैं। श्रीरामचन्द्रके चरित्रमें आपको करुणा भी मिलेगी, गीधपर कितनी करुणा है उनकी। किन्तु आपको उनके चरित्रमें करुणाके साथ-साथ कठोरता भी मिलेगी। बड़ी भारी कठोरता मिलेगी। श्रीरामचन्द्र स्वजन निष्ठुर हैं। उन्होंने भरतके प्रति, सीताके प्रति, लक्ष्मणके प्रति स्वयं अपने प्रति कुछ कम कठोरता नहीं की। परन्तु उनकी कठोरतामें हितकी दृष्टि है। इसीप्रकार उनकी कोमलतामें भी हितकी दृष्टि है। भवभूतिने कहा—

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि को नु विज्ञातुमर्हति॥

अर्थात् लोकोत्तर पुरुषका चित्त कठोर भी होता है और मृदु भी होता है, परन्तु उनमें हितका वियोग कभी नहीं होता। उनका मन सदा-सर्वदासे हितसे संयुक्त रहता है। श्रीकृष्णने संजयसे कहा धृतराष्ट्रसे कह देना कि—

कृष्णो धनञ्जयस्यात्मा कृष्णस्यात्मा धनञ्जयः।

अर्जुनके आत्माका नाम कृष्ण है और कृष्णके आत्माका नाम अर्जुन है। एक ही आत्माके दो नाम हैं— कृष्ण और अर्जुन, नर और नारायण! **सत्यमेकं द्विधा स्थितम्।** तो, दोष जो आजाते हैं उनको पहचाननेके लिए बुद्धिकी आवश्यकता होती है। मैं बार-बार कहता हूँ कि दुनियाके सारे मजहब श्रद्धाप्रधान हैं और गीताधर्म बुद्धिप्रधान है। ज्ञानका तात्पर्य केवल आत्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान, अद्वैतज्ञानसे ही नहीं है। उस लौकिक बुद्धिसे भी है जो परमार्थको साथ लेकर चलती है। वह चलती है लोकमें, किन्तु परमार्थको छोड़कर नहीं, साथ लेकर चलती है। पहले बताया गया कि बुद्धिका दोष है तृष्णा। तृष्णाका मूल है काम-लोभ। काम-लोभका मूल है संकल्प। इनकी भी वंश-परम्परा होती है और उनका वर्णन वैसे ही होता है जैसे भाटलोग हमारी पूर्वपीढ़ीका वर्णन करते हैं। एक बार यह जाननेकी आवश्यकता पड़ी कि हमारे पूर्वज हिमालयका कछार छोड़कर कितने पहले काशीनरेशके पास आये थे। तो भाटोंकी विरुदावली देखी गयी और पता चला कि हमारे पूर्वज हमसे पन्द्रह पीढ़ी पहले काशीनरेशके पास आये थे। तो, देखो, हमारे मनमें हिंसा आती है; हमारे मनमें तृष्णा आती है। हिंसा क्रियामें होती हैं, क्रोध मनमें होता है और द्वेष संस्कारमें रहता है। हिंसाकी अपेक्षा क्रोध अन्तरङ्ग है और क्रोधकी अपेक्षा द्वेष अन्तरङ्ग है। क्रोध जलाता है और द्वेष सुलगता है। हिंसा दूसरेको जलाती है। यदि आप हिंसा रोकना चाहते हों तो वह केवल पुलिस और कानूनसे नहीं रुकेगी। तब रुकेगी जब लोगोंके मनमें क्रोध कम होगा। इसी तरह चोरी-बेइमानी कब रुकेगी? चोरी-बेइमानी क्रिया है। यह भी पुलिससे, कानूनसे नहीं रुकेगी? तभी रुकेगी जब लोगोंके मनमें लोभ कम होगा। ऐसी ही बात अनाचार-व्यभिचार क्रियामें है। उसे फौज नहीं रोक सकती। फौज भी अनाचारी-व्यभिचारी हो जाती है। पुलिस भी हो जाती है। सरकार भी हो जाती है। डाकू लोग भी अपना झुण्ड बना लेते हैं। व्यभिचारी लोग भी अपना चकला चलाते हैं। एक जुट बना लेते हैं। लोभी लोगोंका भी गुट होता है। लोभियोंका गुट, कामियोंका गुट, क्रोधियोंका गुट बना जाता है।

हमारे आयुर्वेदके अनुसार जो चिकित्सा होती है उसमें एक होती है व्याधिप्रत्यनीक चिकित्सा और दूसरी

होती है हेतुप्रत्यनीक चिकित्सा। जैसे किसीको जल्दी सर्दी हो जाती है। उसे एक दवा खिला दी, इन्जेक्शन दे दिया, सेंक कर दिया और सर्दी मिट गयी तो यह व्याधिप्रत्यनीक चिकित्सा हुई। हेतुप्रत्यनीक चिकित्सा वह होती है, जो हमेशाके लिए दोषको मिटानेका प्रयास करे। अपना अध्यात्मशास्त्र भी चिकित्साशास्त्र है। इसके भी चिकित्साके समान ही चार भेद होते हैं। यदि आप हिंसा मिटाना चाहते हैं तो क्रोध कम कीजिये। क्रोध कम करना चाहते हैं तो किसी व्यक्तिसे, जातिसे; सम्प्रदाय अथवा राष्ट्रसे द्वेष मत कीजिये।

अब आगे आपको बताते हैं कि किसी कर्मसे भी द्वेष मत कीजिये। नहीं तो वह कर्म जिसके अन्दर दीखेगा। उसीसे आपका द्वेष हो जायेगा। गीतामें है—

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।

तात्पर्य यह कि किसी भोगसे द्वेष मत कीजिये। किसी वस्तुसे द्वेष मत कीजिए। किसी चीजको देखकर आपके हृदयमें आग न जले। हमारे कर्ममें जो चोरी-बेइमानी होती है वह क्यों होती है? लोभकी अधिकतासे होती है। कामकी पूर्ति और दूसरी अपूर्ति। कामनाकी पूर्ति होनेपर लोभ होता है और अपूर्ति होनेपर क्षोभ होता है—**कामात् क्रोधोऽभिजायते।** कामके दो बेटे हैं—लोभ और क्रोध। पूरा हुआ तो लोभ और पूरा न हुआ तो क्रोध। भगवान् कहते हैं कि यदि तुम फल पर ही दृष्टि रखोगे तो पराधीन हो जाओगे। फल पराधीन है, कर्म स्वाधीन है। जो तुम कर सकते हो वह करो। कोई बीमार है। वह मरे नहीं, यह आपके हाथमें नहीं है। यदि आप यह चाहते हैं कि वह कभी नहीं मरे तो शास्त्रके विपरीत इच्छा करते हैं। वह एक-न-एक दिन मरेगा और आपको दुःखी होना पड़ेगा। तो कर्म कीजिए। कर्म करना, कर्तव्यपालन करना आपका धर्म है; परन्तु उसका फल समाजके हाथमें छोड़िये।

प्रसङ्गवश एक बात सुना देता हूँ। जो वर्तमान 'हिन्दू' शब्द है, यह किसी जातिका वाचक नहीं। 'हिन्दू' जाति नहीं होती, जाति तो मनुष्य होती है। 'आकृतिग्रहणाज्जतिः' है। आपको देखकर कौन बता सकता है कि आप किस जातिके हैं? किन्तु मनुष्य जातिसे सब परिचित हैं। हिन्दू शब्द किसी विशेष सम्प्रदायका भी वाचक नहीं, न शाङ्कर सम्प्रदायका, न रामानुज सम्प्रदायका और न किसी अन्य सम्प्रदायका। जो किसी एक आचार्यके द्वारा प्रवृत्त होता है, उसका नाम सम्प्रदाय होता है। जैसे मोहम्मदीय सम्प्रदाय है, बौद्ध सम्प्रदाय है, जैन सम्प्रदाय है। अब आप बतलाइये कि हिन्दुत्वका प्रचलन किसने किया? इसपर बड़े-बड़े शास्त्रार्थ हो चुके हैं। सर्वसाधारणको मालूम नहीं। जब श्री बिरलाजीने अपनी संस्थाका नाम 'आर्यधर्म-सेवा संघ' रखा, तब काशीमें यह विचार हुआ कि 'हिन्दूधर्म-सेवा संघ' नाम रखा जाय। जब काशीमें पण्डितोंने वर्णाश्रम-संघकी स्थापना की तो इसपर विचार हुआ कि वर्णाश्रम संघ नहीं, 'हिन्दूसंघ' नाम रखा जाय। करपात्रीजीने मेरे सामने ही धर्म-संघ बनाया। विद्वानोंने बहुत विचार किया कि हिन्दूधर्म नाम क्यों न रखा जाय। किन्तु कोई शास्त्रीय आधार नहीं मिला। तो हिन्दू न जाति है, न सम्प्रदाय। यदि चोटीवालेका नाम हिन्दू तो बिना चोटी संन्यासी लोग भी तो हिन्दू होते हैं, तो क्या जनेऊवाला हिन्दू है? नहीं, नहीं, बिना जनेऊके भी हिन्दू होते हैं। उसका लक्षणार्थ यही है कि एक समाज भिन्न-भिन्न आचार, भिन्न-भिन्न धर्म, भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय और भिन्न-भिन्न प्रकारसे रहनेवाले समुदायका नाम हिन्दू है। इसके अतिरिक्त यह न जाति है, न सम्प्रदाय, न वर्ग है और न लिङ्ग ही है।

अच्छा, आपको यदि हित करना हो तो क्या आप चाहते हैं कि आप पराधीन न हों, काम करके मूर्ख न

बनें, दुःखी न हों। हम सीधी-सीधी बात कर रहे हैं। पराधीन होना मूर्ख होना है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं— बाबा, तुम कर्मके आश्रय हो, कर्मके कर्ता हो। बुद्धिसे कर्म तो तुम करो, लेकिन तुमको फलके अधीन न होना पड़े, इसका ध्यान रखो। चोरी-बेइमानी अकार्य है। हिंसा अकार्य है। व्यभिचार-अनाचार अकार्य हैं। यह अकार्य तुम मत करो, लेकिन कार्य करो। यह पहली भूमिका है कि तुम्हारे कर्ममें कर्तव्यका समावेश हो। दूसरी बात यह है कि आप कर्म करके बन्धनमें न पड़ें। कर्ममें पाँच दोष हैं और उनके निवारणके लिए गीतामें चार विद्याओंका उपदेश है। विद्या अविद्याको तो निवृत्त करेगी ही। विद्यामात्र ही अविद्याकी निवृत्तिमें उपयोगी है। आपके कर्ममें नासमझी एक दोष है। आप बिना समझे-बूझे कर्ममें लग जाते हैं। ऐसे बिलमें हाथ डाल देते हैं, जहाँसे खींच न सकें। हम लोग बचपनमें गाँवमें खेल खेला करते थे। एक यह था कि छोटे मुँहवाले मिट्टीके बर्तनमें कुछ खानाः रखकर, थोड़ी दूर बैठ जाते। कुत्ता आता देखता कि खानेकी चीज रखी है तो उसमें अपना मुँह डाल देता और सिर फँस जाता। वह भोजन तो कर लेता लेकिन जब उस बर्तनसे सिर निकालने लगता तो निकलता ही नहीं। तो ऐसे कर्ममें अपनेको नहीं फँसाना जहाँसे निकल नहीं सकते। ऐसा करना तो कुँएमें गिरना है, नासमझी है। ठीक वैसे ही जैसे मदारी छोटे मुँहके बर्तनमें चने रखकर मिट्टीमें गाड़ देते हैं। बन्दर आता है और उसमें हाथ डाल देता है। मुट्ठीमें चना भर लेता है। जब उसकी मुट्ठी खाली थी तब तो बर्तनमें चली गयी और जब उसमें चना भर लिया तो वह बर्तनमें-से निकलता नहीं। इतनेमें मदारी बन्दरको पकड़ लेता है और उसे मदारीके पराधीन होना पड़ता है। तो, ऐसे कर्ममें हाथ नहीं डालना, जिसके आप आश्रित हो जायँ। कर्म आपके आश्रित रहे। आप जब चाहें, दोनों हाथ उठाकर खड़े हो जायँ और कर्म छोड़ दें। यह कैसे होगा? कर्म सम्बन्धी दोषोंका निवारण होने पर। कर्म करनेमें एक तो नासमझी दोष है। इसको शास्त्रकी भाषामें अविद्या बोलते हैं। दूसरा दोष है कर्मका अभिमान। हम यह करेंगे, वह करेंगे। **यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः**—हम अज्ञानसे विमोहित होकर ही अभिमान करते हैं।

तो, कर्ममें जब अभिमानका मिश्रण होता है, अविद्याका मिश्रण होता है, तब फँसाव होता है, बन्धन लग जाता है, फन्दा लग जाता है और जब अभिमान आता है तब कर्म व्यक्तिगत हो जाता है। वह 'सर्वजनहिताय' नहीं होता, 'सर्वजनसुखाय' नहीं होता, उसमें अपने लिए व्यक्तिगत सुख-स्वार्थ मिल जाता है। कर्मका तीसरा दोष है राग। किसीके रागमें आकर कर्ममें पक्षपात करना। जैसे आजकल अखबारोंमें शब्द चलता है भाई-भतीजावाद। अपने रिश्तेदारों, नातेदारों और सगे-सम्बन्धियोंको जोड़कर उनके राममें फँस गये कि जो उचित कर्तव्य था वह भूल गये, उनका घेरा बन गया, सीमा बन गयी। वे जो काम सम्पूर्ण देशके लिए करते, सम्पूर्ण जनताके लिए करते वह काम अपना विस्तार छोड़कर, विशालता छोड़कर एक घेरेमें आ गया। कर्मका चौथा दोष है द्वेष। किसीको नीचा दिखानेके लिए काम करना। उसका जो उद्देश्य है, बहुत बुरा है। कर्ममें पाँचवाँ दोष है, उसमें इतना डूब जाना कि ईश्वर, विश्व, मानवता, यहाँ तक कि अपने परिवार और सगे-सम्बन्धियों आदि सबको भूलकर केवल मूर्खतामें डूब गये। उनके चारों ओर डरका, भयका वातावरण बन गया। भयभीत होकर काम करना कर्मका पाँचवाँ दोष है। इसके लिए गीतामें विद्याका उल्लेख है। गीता विद्या है। गीता बुद्धि है। गीता ज्ञान है। वह आपको इन पाँचों गल्तियोंसे बचाती है। विद्या है, ज्ञान है माने आप अपने कर्ममें ये पाँच गल्तियाँ

न करें। इन त्रुटियोंका आपके कर्ममें समावेश न हो। इसके लिए भगवान्ने चार विद्या बतायी। एक तो आपके कर्ममें औचित्य होना चाहिए। इसको गीतामें धर्मविद्या बोला गया है। दूसरे, आप जो कर्म करें, उसमें अभिमान न हो, घमण्ड न हो, हेकड़ी न हो। इसको मिटानेके लिए गीतामें शरणागति विद्या है। तीसरी ऐश्वर्य विद्या है। ईश्वरके बड़प्पनकी ओर देखो तो तुम्हारे अपने बड़प्पनका अभिमान मिट जायेगा। अब आप इनको क्रमसे ले लो। यदि उचित कर्म करोगे तो निर्भय हो जाओगे। जो ठीक-ठीक काम करता है उसको कहींसे भय आ ही नहीं सकता। इसीको धर्मविद्या कहते हैं। ऐश्वर्य विद्या यह है कि ईश्वरके बड़प्पनका ख्याल रखो। पाँच मिनट, दस मिनट शान्तिसे बैठ जाओ और अपने मैंको ईश्वरके साथ मिला दो, उनके सामने अर्पित कर दो, उनके चरणोंमें गिर जाओ। अंशको अंशीसे मिला दो। यह शरणागति विद्या है। जो भाई-भतीजोंसे पक्षपात और परायोंसे द्वेष होता है, उसको मिटानेके लिए गीतामें चौथी वैराग्य-विद्या है। एक विद्या और है। वह है ब्रह्मविद्या अर्थात् अविद्याको-भ्रान्तिको, समूल मिटानेवाली विद्या—जिसमें अज्ञान नामकी चीज नहीं रहती और भयका अस्तित्व नहीं रहता। यह ब्रह्मविद्या प्राप्त कर लेनेसे आपको इसी जीवनमें तीन फल मिलेंगे।

अभयं प्रतिष्ठां विन्दते—पहले आपको अभयकी प्राप्ति होगी। दूसरे आपको स्वातन्त्र्य मिलेगा, पराधीनता मिट जायेगी। स्वातन्त्र्य ही सुख है। और तीसरी वस्तु प्राप्त होगी समझकी निर्मलता। एक विज्ञानसे सर्वविज्ञान। यह एक ऐसा तत्त्व है, जिसको जान लेनेसे कुछ भी अनजाना नहीं रह जाता। तो ब्रह्मविद्याका परिणाम है ज्ञानकी पूर्णता, पूर्ण स्वातन्त्र्य और पूर्ण निर्भयता। आप उस जीवनकी कल्पना भी करें। गीतामें समाधि लगाकर हमेशाके लिए संसारसे उठ जानेवाले योगका वर्णन नहीं। छठे अध्यायमें ध्यान कैसे लगायें, इसका वर्णन है। इसका नाम ही है ध्यानयोग। परन्तु यह ध्यान किसलिए? अंग है कि अंगी है? ध्यान ही लक्ष्य है या ध्यान लक्ष्यकी प्राप्तिका साधन है? निश्चय ही यहाँ जो ध्यान है, वह लक्ष्य नहीं; लक्ष्यकी प्राप्तिका साधन है। इसलिए भगवान्ने कहा परमयोगी कौन? आप गीताके छठे अध्यायमें ढूँढ़ लेना—**स योगी परमो मतः।** एक योगी है, जो ध्यान करता है, ध्यानी है, ध्यानयोगी है, लेकिन परम-योगी कौन है? गीता कहती है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥ 6-32

श्रीमधुसूदन सरस्वती कहते हैं कि भाई, यह तो समाधि-योगीसे भी बड़ा योगी है, परमयोगी है। कौन? जो दूसरेके सुखमें मिल गया है, दूसरेके दुःखमें मिल गया है। जैसे मनुष्य स्वयं अपने दुःख दूर करनेका प्रयत्न करता है, वैसे वह सबका दुःख दूर करनेका प्रयास करे। जिस तरह वह स्वयं सुखी होनेका प्रयास करता है, वैसे ही सबको सुखी करनेका प्रयास करे। वही परमयोगी है। गीता हिमालयकी गुफामें जंगलमें ले जाकर पीठकी रीढ़ सीधी करके, आँख बन्द करके, प्राण निश्चल करके, मनको निस्संकल्प करके, हमेशा समाधिमें बैठाये रखनेवाला योग नहीं बताती। गीता तो वह योग बताती है, जिससे व्यवहारमें हम अपने कर्मको इस प्रकार कर सकें कि उसमें मूर्खता न हो, पराधीनता न हो और मृत्यु आदिका कोई भय न हो।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

प्रवचन : 3

ऐसी बुद्धि, जिसमें उचित बातके लिए प्रेरणा न हो, जीवनमें उपयोगी नहीं और ऐसा कर्म, जो बुद्धिके विरुद्ध हो—स्वयं कर्ताकी ही बुद्धि जिसको स्वीकार न करे, वह मनुष्यको पशु बना देता है। जीवनमें दु:ख क्यों है? इसलिए कि हमारी बुद्धि कुछ अलग बताती है और हम काम कुछ अलग करते हैं। जब बुद्धि और कर्ममें मेल नहीं होता, तब जीवनमें तीन बातें आती हैं। एक तो बुद्धि अपना तिरस्कार नहीं कर पाती। बुद्धिके विरुद्ध कर्म करनेपर वह अपना अपमान नहीं सह सकती और मूर्च्छित हो जाती है। संस्कृतमें मूर्ख शब्दकी व्युत्पत्ति ही मूर्च्छा है। 'मूर्च्छति इति मूर्खः'—जो मूर्च्छित हो गया, उसका नाम ही मूर्ख है। दूसरी बात आती है, बुद्धि और कर्मके अलगावसे भयकी। आदमी अक्लमन्दीसे काम नहीं करता तो वह डरने लगता है। उसके मनमें बेचैनी आजाती है। तनाव आजाता है। बुद्धि और कर्ममें विरोध होनेपर तीसरी बात आती है दु:खकी। इसलिए बुद्धि और कर्मका समन्वय होना चाहिए। समन्वय शब्द वेदान्तियोंका है। इसलिए यहाँ समन्वयके स्थानपर 'समुच्चय' शब्दका प्रयोग किया जाये तो उपयुक्त है। लौकिक ज्ञान, आत्मिक ज्ञान और व्यवहार ज्ञानके लिए कर्म तथा बुद्धिका समुच्चय अनिवार्य है। यदि आप ज्ञान और कर्मको ठीक-ठीक मिलाकर जीवनका संचालन कर रहे हैं तो सफलता निश्चित है। प्रसंगवश एक बातकी ओर आपका ध्यान आकृष्ट करता हूँ, वैसे आप भी जानते हैं। नशा शरीरके लिए जहर होता है कि नहीं, यह तो डाक्टर लोग बता सकते हैं; परन्तु बुद्धिके लिए जरूर जहर होता है। वह बुद्धिके लिए विष है और उसके प्रभावसे बुद्धिका नियन्त्रण छूट जाता है। और कल ही आपको सुनाया था कि साधुके वेशमें रहनेवाले एक सज्जन विदेशमें नशा पीकर अनाप-शनाप बोलने लगे, उद्दण्डता करने लगे। इसका अर्थ है कि नशा पीनेसे बुद्धि अपने काबूमें नहीं रहती और मनुष्य अकर्मण्य हो जाता है। जब बुद्धि ही काबूमें नहीं रहेगी तो वह ठीक-ठीक कर्म कैसे करेगा? इसलिए व्यावहारिक बात बतायी। **न शं यया सा नशा**—जिससे शान्ति कभी नहीं मिल सकती, उसका नाम नशा है।

अब आगे यह बात बताते हैं कि संन्यास और योगका समन्वय कैसे होता है? संन्यासी त्यागी होता है ओर योगी कर्मका अनुष्ठाता!, दोनोंमें क्या मेल है? त्याग एक तो बाहरका होता है, एक भीतरका। यदि बाहरका त्याग नहीं है, परन्तु भीतर त्यागकी तैयारी बनी हुई है तो त्याग आपके अन्तरमें निवास करता है। जब त्याग आपके अन्तरमें निवास करता है तो आप अपनेमें-से हीनताका भाव निकाल दीजिए। दो दिन पहले आपको सुनयाा था कि केवल पत्नीका परित्याग करनेसे, अग्निस्पर्शका परित्याग करनेसे कोई संन्यासी नहीं हो जाता। केवल कर्मत्याग करनेसे कोई समाधिस्थ योगी नहीं हो सकता। इसके लिए भीतर एक ऐसी वस्तु रहती है, जिसके सम्बन्धमें सतत सावधान होनेकी आवश्यकता है—

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
नह्यसंन्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन॥ 6.2

यह आपको सुना चुका हूँ कि कर्मयोग करते हुए भी, बुद्धि-योग करते हुए भी यदि आप केवल फल-ही-फल चाहते हैं तो कृपण हैं—**कृपणाः फलहेतवः**। आप कर्म करें, कपड़ा बनावें, लोहा बनावें; परन्तु जब वस्तु बने तब उसको केवल अपने लिए मत रखें। उसे सबके लिए फैला दें। ऐसा करनेपर आप द्वारा निर्मित वस्तुओंका उपयोग व्यक्तिगत उत्कर्षके लिए न होकर विश्वात्मा प्रभुकी सेवाके लिए हो जायेगा।

अब गीताकी एक विशेषता देखो। यज्ञ-याग करनेवाले कर्म-काण्डी लोगोंपर ध्यान दो। ऐसा मत समझना कि मैं किसी दूसरे कर्मकाण्डीकी बात कह रहा हूँ। मैं भी भूतपूर्व कर्मकाण्डी हूँ। मुझे कर्मकाण्डके विधि-विधानकी जानकारी है। जानकारी ही नहीं उनका क्रियात्मक अनुभव है। मैंने स्वयं कर्मकाण्डके अनुष्ठान किये-कराये हैं। यहाँ भगवान् कर्मकाण्डी-धर्म और गीता-धर्म, इन दोनोंका फर्क बता रहे हैं। दोनोंमें विलक्षणता क्या है? जब किसी देवताकी पूजा करनी होती है, होम करना होता है, स्वर्गकी प्राप्तिके लिए यज्ञ-याग करना होता है तो उसमें एक सङ्कल्प करना पड़ता है। मैं अमुक गोत्रवाला अमुकका आत्मज अमुक व्यक्ति स्वर्गादि सुखकी प्राप्तिके लिए यह यज्ञ कर रहा हूँ। आरोग्यकी प्राप्तिके लिए, दीर्घायुकी प्राप्तिके लिए, पुत्रकी प्राप्तिके लिए, व्यक्तिगत सम्पदाकी प्राप्तिके लिए यह अनुष्ठान कर रहा हूँ। यह हुआ कर्मकाण्ड। भगवान् कहते हैं कि कर्मकाण्डके अनुष्ठानमें जिस ढंगका संकल्प किया जाता है, उस ढंगका संकल्प गीताधर्मके लिए करनेकी आवश्यकता नहीं। कर्मकाण्डी लोग ऐसा मानते हैं कि पुत्रकी प्राप्तिके लिए, धनकी प्राप्तिके लिए, दीर्घायु-आरोग्यकी प्राप्तिके लिए, स्वर्गादि सुखकी प्राप्तिके लिए जो अनुष्ठान किया जाता है, उसमें यदि संकल्प नहीं किया गया तो उसके बिना वह अनुष्ठान निरर्थक हो जाता है। यह सकाम कर्मकाण्डी पद्धति है। किन्तु गीता-धर्मकी पद्धति यह है कि पहले विवेक करो और फिर विवेकसे कर्मके प्रयोजनको समझो। प्रयोजन दूसरी वस्तु है और संकल्प दूसरी वस्तु है। चार बातें समझनेकी होती हैं। एक यह कि अमुक कर्म हम कर सकते हैं कि नहीं। बड़ी भारी फैक्टरी तो खोल दी, परन्तु उसके लिए न धन है, न योजना है, न बुद्धि है, न आदमी है। अतः पहले उसका प्रयोजन समझना आवश्यक है। फिर यह देखना चाहिए कि हमारे पास काम करनेका सामर्थ्य है कि नहीं, योग्यता है कि नहीं। इसे कहते हैं अधिकारीका विचार, योग्यताका विचार, क्षमताका विचार। हिन्दीमें जो 'सक्षम' शब्द चलता है, वह संस्कृत भाषाकी दृष्टिसे गलत होता है। संस्कृतमें सक्षम शब्द है परन्तु वह क्षमाशीलके लिए है और समर्थके अर्थमें केवल 'क्षम' है। तो, यह देखो कि अमुक कर्मके लिए हमारी क्षमता कितनी है, अपनी क्षमतापर विचार करो।

दूसरे, उसके प्रयोजनपर दृष्टि डालो और यह देखो कि अमुक कर्म करते हुए हम कहाँ पहुँचेंगे? यह नहीं कि हाथमें लठिया उठायी और पानी पीटने लगे। किसीने पूछा कि यह क्या कर रहे हो? तो बोले, यह मत पूछो। हम कोई सकाम कर्म थोड़े ही करते हैं, निष्काम कर्म कर रहे हैं। भाई, निष्काम कर्मका अर्थ निरर्थक पानी पीटना नहीं होता, वह तो सप्रयोजन, लोकोपकारी, विश्वात्मा परमात्माकी सेवाके लिए होता है। आजकल ऐसे-ऐसे निष्कामकर्मी पैदा हो गये हैं जिनके बच्चोंकी पलटन खड़ी हो जाये। उनसे पूछो कि इतने बच्चे कैसे

हो गये तो बोलेंगे कि निष्काम भावसे। दुकानपर बैठते हैं। छलसे, कपटसे, बेइमानीसे, धोखा देकर ग्राहकोंकी गाँठ काटते हैं और कहते हैं कि हम तो निष्काम भावसे करते हैं। ऐसे निष्काम भावसे तो सावधान रहना चाहिए। कर्मके पीछे कामसंकल्प, भोगसंकल्प नहीं होना चाहिए। परन्तु अपनी योग्यताका, क्षमताका, प्रयोजनका विचार अवश्य होना चाहिए।

तीसरे, उस कर्मकी क्या रूपरेखा होगी, इसपर भी विचार होना चाहिए। चौथी बात है कर्मके परिणाम अथवा उसकी परिणतिपर विचार। प्रत्येक कर्मका परिणाम होता है, उसकी परिणति होती है। कर्म हमें एक स्थानपर पहुँचाता है।

इन चारों बातोंको वेदान्तमें, दर्शनशास्त्रमें अधिकारी, विषय, प्रयोजन एवं सम्बन्ध—इन चार शब्दोंसे बोलते हैं। जो काम हम कर रहे हैं, उसको करनेकी योग्यतापर विचार। फिर किस प्रयोजनसे कर रहे हैं, इससे विश्वकी कौन-सी सेवा होगी इसका विचार। दुनियामें इसकी माँग है कि नहीं, यह भी देख लेना चाहिए। वस्तु तो आप बहुत बढ़िया बना रहे हैं, लेकिन संसारके बाजारमें उसकी माँग ही न हो, खपत ही न हो तो आपका व्यापार किस कामका? तो पहले अपनी योग्यता और बादमें कामका प्रयोजन। फिर कामकी रूपरेखा और इस कामसे हमारे प्रयोजनकी पूर्ति कहाँतक होती है; इन चार बातोंका विचार करते तब कर्म करना चाहिए।

अब प्रश्न उठता है कि इन चारों बातोंका विचार करके कर्म प्रारम्भ करनेमें संकल्पका त्याग कहाँ हुआ? इसका उत्तर यह है कि हम जो व्यक्तिगत सुख और स्वार्थमें प्रवृत्त हो रहे थे, उसका संकल्प नहीं है। गोस्वामी तुलसीदासजीके शब्दोंमें विभीषण बोलते हैं कि—

महाराज राम पहं जाउँगो।
सुख स्वारथ परिहरि करिहउँ सोई,
जेहि साहिबहि सुहाउँगो।

मैं भगवान् रामके पास जाऊँगा और वहाँ अपने सुख, अपने भोग, अपनी कामनापूर्तिके लिए, अपने स्वार्थके लिए काम नहीं करूँगा। मैं ऐसा काम करूँगा कि अपने स्वामी श्रीरामचन्द्रको अच्छा लगूँ। यदि मैं अपने स्वार्थके लिए अपने सुखके लिए श्रीरामचन्द्रजीके पास जाऊँगा तो मनमें कपट हो जायेगा। मैं केवल उनकी सेवा करना चाहता हूँ, मेरा अपना कोई स्वार्थ नहीं। स्वार्थ माने बटोरना। स्वार्थमें अर्थ है और सुखमें कामना है, कामभोग है। विभीषणजी कहते हैं कि न हमको धन चाहिए, न भोग चाहिए। केवल राम भगवान्की प्रसन्नता चाहिए। इसी तरह कर्ताके मनमें विश्वात्माकी, परमात्माकी प्रसन्नताका भाव होना चाहिए। उसे तो **स्वस्त्यस्तु विश्वस्य**-सम्पूर्ण विश्वका कल्याण हो, यह सोचना चाहिए।

अब आपको संकल्पकी बात सुनाता हूँ। सम्यक्त्वकी कल्पना ही संकल्प है। वक्ता लोग कभी-कभी कथामें कल्पभेदकी बात सुनाते हैं। रामकथाको लीजिए। वह महाभारतमें दूसरी तरहसे, भागवतमें दूसरी तरहसे, वाल्मीकि रामायणमें दूसरी तरहसे और अध्यात्म रामायणमें दूसरी तरहसे है। इधर बंगालमें जो कृत्तिवासी रामायण चलती है, उसमें दूसरी तरहसे है। इसीप्रकार जैनोंमें दूसरी, बौद्धोंमें दूसरी, कम्बनकी दूसरी

और रंगनाथन्की दूसरी है। बोले भाई, राम तो एक हुए, उनकी कथामें भेद क्यों? इसका समाधान गोस्वामी तुलसीदासजी करते हैं—

कल्पभेद हरि चरित सुहाए।
भाँति अनेक मुनीसन्ह गाए॥

कल्पभेदसे रामकथामें भेद है। अब इस कल्पपर विचार कीजिए। एक तो इसका अर्थ कालका एक भाग है। कालमें युग है, मन्वन्तर है, कल्प है, महाकल्प है। कल्पका दूसरा अर्थ है कविका सङ्कल्प। एक कवि रामके चरित्रकी जिस विशेषताका वर्णन करना चाहता है, उसकी अपने मनमें कल्पना करता है। भगवान्के लिए की हुई कोई भी कल्पना मिथ्या नहीं होती। काल अनादि है, अनन्त है और भगवान् सर्वात्मा हैं। किसीके मनमें ईश्वरसम्बन्धी कोई भी कल्पना आती है तो वह कहाँसे आती है? अवश्य ही सर्वात्मा भगवान्ने कभी-न-कभी वैसा चरित किया होगा, तभी वह कल्पनाशील कविके मनमें प्रकट होती है। **नह्यसंन्यस्त-सङ्कल्पः** हम अच्छाईकी कल्पना तो करते ही रहते हैं, कोई-कोई कल्पना करते-करते जिद्दी भी हो जाते हैं। किन्तु **बुद्धेः फलमनाग्रहम्** यदि भगवान्ने आपको बुद्धि दी है तो आप जिद्दी मत बनो। जिद्दी होना बुद्धिमान्की पहचान नहीं।

तो, संकल्पकी बातपर आइये। कोई पिछली बात आपको बहुत अच्छी लगती है और आपके मनमें संकल्प होता है कि वैसी ही अब फिर हो, किन्तु वह नहीं होती तो आप दुःखी हो जाते हैं। यह दुःख कहाँसे आया? आपके मनने भूतको दुहरानेका प्रयास किया। भूत माने तो आप जानते ही हैं—जो बीत गया। कई लोगोंको निद्रामें, तन्द्रामें भूत-प्रेतका दर्शन होता है। पिछली बातें भूतकी तरह ही दिखायी पड़ती हैं। कोई कहता है कि तीस-पैंतीस वर्ष पहले हमारे एक सम्बन्धीकी मृत्यु हो गयी थी। परन्तु अब भी उनकी याद करके हमको रातमें नींद नहीं आती। ऐसे लोगोंको यही उत्तर दिया जाता है कि आपको भूत लगा है। विवेकसे काम लीजिए और भूतके शोकको मनसे निकाल दीजिए। भूतके शोककी तरह भविष्यका भय होता है। एक वैज्ञानिकने बहुत परिश्रम करके यह सिद्ध किया था कि पाँच करोड़ वर्ष बाद, जहाँ आज हिमालय है, वहाँ समुद्र लहराने लगेगा। यह क्या है, यह भविष्यका भय ही तो है। अभीसे हम यह उपाय करें कि समुद्र हिमालयको न डुबो दे। ऐसा इसीलिए हुआ कि उस वैज्ञानिककी बुद्धिके पाँव बहुत आगेकी ओर फिसल गये। तो, जिसका पाँव बहुत आगे फिसल जाता है या बहुत पीछे फिसल जाता है, वह गिरता है। आप कर्म करते समय सावधानी बरतें। पीछेकी बातोंके संकल्प और बहुत आगेकी बातोंके संकल्पसे बचें। एक बात और है। चलते समय जहाँ हैं, वहीं आपके पाँव गड़ जायें तो यह हो जायेगा वर्तमानमें मोह। भूतका शोक होता है, भविष्यका भय होता है और वर्तमानका मोह होता है। यहाँ संकल्प पदसे तीनोंको ग्रहण करना चहिए। यही बढ़िया है। आगे जो आयेगा, वह बढ़िया नहीं होगा। यह सोचना ठीक नहीं। देखो इस बढ़ियाको। यह पाँवके नीचेसे सरक रहा है। क्या इसे अपने सिरपर लादकर ले चलोगे? इस तरह जिन्दगी नहीं चलती। यदि आपको योगी होना है, बुद्धि-योगी होना है तो भूत-भविष्यमें अथवा वर्तमानमें सम्यक्त्वकी कल्पना करके आबद्ध मत हो जाइये—

नह्यसंन्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन।

जिसने सङ्कल्पका संन्यास नहीं किया वह योगी नहीं हो सकता। योगी तभी संन्यासी है, जब उसने अपने सङ्कल्पका संन्यास कर दिया है। अब बताते हैं कि आपके जीवनमें केवल कर्म ही नहीं चाहिए, विश्राम भी चाहिए और केवल विश्राम ही विश्राम नहीं चाहिए, कर्म भी चाहिए। आपको सुनाया था, यह आत्मा व्यवहारमें दो रूपसे प्रकट हो रहा है। ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा संसारका ज्ञान होता है। कर्मेन्द्रियोंके द्वारा ज्ञात विषयकी प्राप्तिके साधन होते हैं। जैसे आँखसे कश्मीर देखनेकी इच्छा होनेपर आपको पाँवसे चलना पड़ेगा। पाँवसे चलना कर्म हुआ और आँखसे देखना ज्ञान हुआ। इस प्रकार मनुष्यका जीवन ज्ञान-कर्मात्मक है।

जीवन ज्ञान-कर्मात्मक होनेके कारण श्रम और विश्राम उसके दो रूप हैं। जो रातमें ठीक-ठीक नींद नहीं लेगा, वह दिनमें जागकर ठीक-ठीक काम नहीं कर सकेगा और जो दिनमें ठीक-ठीक काम नहीं करेगा, उसको रातमें नींद नहीं आयेगी। जैसे दिनके बाद रात और रातके बाद दिन है, वैसे ही श्रमके बाद विश्राम और विश्रामके बाद श्रम है। इसी तरह जीवनमें संग्रह और त्याग भी है। यदि आप केवल संग्रह करोगे और त्याग नहीं करोगे तो वह संग्रह इतना फैलेगा कि आपको फाड़ देगा और केवल त्याग करोगे तथा संग्रह नहीं करोगे तो त्याग करनेके लिए आपके पास कुछ रहेगा ही नहीं। इसलिए संग्रह और त्याग, कर्म और ज्ञान, विश्राम और श्रम इन सबके द्वारा जीवन चलता है। यही लोकव्यवहार है। हम उस ज्ञानकी चर्चा नहीं कर रहे, जो पारमार्थिक है, और जिसमें ज्ञाता एवं ज्ञेयका, ईश्वर एवं जगत्का भेद ही नहीं है। यहाँ तो करने-करानेवाला व्यावहारिक ज्ञान है। यदि आप 'आरुरुक्षु' हैं—चढ़ना चाहते हैं तो कर्मकी साधना कीजिए। फिर जब आपकी कर्म-साधना पूरी हो जाय तब आप शान्तिका आश्रय लीजिए। आप अपने जीवनमें रिटायर्ड होने—अवकाश प्राप्त करनेका संकल्प कभी करते हैं या नहीं—यह एक प्रश्न है। एक जवान मेरे पास आया और बोला कि महाराज, मेरी उम्र चालीस वर्षकी हो गयी है। पिताजी न तो मुझे गद्दीपर बैठने देते हैं और न मुझे चाबी देते हैं। यदि पिताजी बीस वर्ष और रह गये तो मेरा क्या होगा? तब तक मैं हो जाऊँगा साठ बरसका और पिताजी ही जायेंगे अस्सी बरसके। मुझे तो काम करनेका कोई अवसर ही नहीं मिलेगा।

असलमें जैसे-जैसे काल बदला है, वैसे-वैसे कर्मकी पद्धति भी बदलती है। नये-नये कर्म आते हैं और उनको करनेकी नयी-नयी शैलियाँ आती हैं। हमारे पास आनेवाले जवान डाक्टर पुराने डाक्टरोंके बारेमें अपनी राय जाहिर करते हुए कहते हैं कि जो लेटेस्ट साइंस है, वह हम जानते हैं। पुराने डाक्टर तो बूढ़े हो गये हैं, वे नहीं जानते। इसलिए आपसे निवेदन है कि आप नयी पीढ़ीका भी आदर कीजिए। आरुरुक्षुके लिए, उन्नतिकी ओर अग्रसर होनेवालेके लिए, बचपनसे जवानीकी ओर बढ़नेवालेके लिए, जवानीसे प्रौढ़ताकी ओर जानेवालेके लिए कर्मकी प्रधानता होनी चाहिए। फिर जब योगकी सिद्धि प्राप्त हो जाय तो जीवनमें शान्ति भी होनी चाहिए। कर्मप्रधान जीवन है युवाका और शान्ति प्रधान जीवन है वृद्धका। आप कर्म कीजिए, परन्तु यदि आप वृद्ध हैं तो आपमें शान्ति अधिक होनी चाहिए और युवा हैं तो आपमें शान्ति सहित कर्म अधिक होना चाहिए। यदि जीवनको बुद्धिपूर्वक नहीं व्यतीत किया जायेगा तो वह मरणके समान हो जायेगा।

योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते।

इसमें जो 'योगारूढ़' शब्द है, यह लोकमें परिचित नहीं है। रथारूढ़, अश्वारूढ़, आदि शब्द तो परिचित हैं। अब देखिये कि योगारूढ़ किसको कहते हैं।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥ 6.4

इसमें तीन बातें कही हैं। 'यदा' शब्दका अर्थ देश अथवा काल नहीं है। यदा शब्दका तात्पर्य है चित्तवृत्तिकी वह दशा, जिसमें मन परिवर्तित हो जाये। असलमें परिवर्तन मनमें होता है। तो, योगारूढ़के मनमें तीन बात आनी चाहिए। एक तो कर्मासक्ति न हो, दूसरे भोगासक्ति न हो और तीसरे अपने संकल्पोंपर काबू रखनेकी शक्ति हो।

अब इनपर जरा विस्तारसे विचार करें। कर्म करने और कर्मासक्तिमें फर्क है। इसी प्रकार भोग करने और भोगासक्तिमें भी फर्क है। हमारे एक मित्र हैं, जो हमसे बड़ी ईमानदारीसे बात करते हैं। उनकी स्त्री चल बसीं। पुत्र भी नहीं, पुत्री भी नहीं। कोई भी उत्तराधिकारी नहीं है। हमसे मिलनेके समय उनके पास बीस हजार रुपये थे, फिर बीस लाख हुए, पाँच करोड़ हुए, अब कितने हैं, नहीं बताते। दिनभर कमाईमें लगे रहते हैं। कहते हैं महाराज काम किये बिना मन नहीं मानता, पर मैं किसलिए इकट्ठा कर रहा हूँ, यह समझमें नहीं आता। वे दान नहीं करते, परोपकारका काम नहीं करते, विद्यालय नहीं बनाते, गरीबोंको नहीं बाँटते, केवल इकट्ठा कर रहे हैं। उसमें भी जो बिना हिसाबका है, वह बड़ा दुःखदायी है। वे कहते हैं कि मैं तो कर्मके साथ ऐसे सट गया हूँ, चिपक गया हूँ कि उसको छोड़ नहीं सकता। यह हुई कर्मासक्ति।

अब एक दूसरे सज्जनकी बात सुनाता हूँ। उनकी भोगमें रुचि है। बीमार पड़ते हैं, दवा खाते हैं। भोगका सामर्थ्य कम हो जाये तो उसको बढ़ानेके लिए प्रयास करते हैं। भोगके बिना रह नहीं सकते। भोगके बहुत भेद होते हैं पर हम उनका वर्णन करके कथा नहीं बढ़ाना चाहते। लोग निषिद्ध कर्मोंमें रुचि रखकर अनुशासन भंगकर शिष्टानुशिष्ट रीतिसे न चलकर, संसारका संहार करके भी भोग मिले तो उसके लिए तैयार रहते हैं। महर्षि व्यास कहते हैं कि दूसरेको दुःख पहुँचाये बिना कोई भोगी नहीं हो सकता—

नानुपहत्य भूतानि भोगः संभवति।
भोगमनुविवर्धन्ते रागाः तेषां कौशलानि च॥

जितना-जितना भोग करेंगे, उतना-उतना भोगका कौशल बढ़ेगा। सच-झूठकी तो भगवान् जाने, पर मैंने इन्दौरके एक सज्जनके बारेमें सुना था। उनकी भोगमें ऐसी रुचि थी कि उन्होंने विदेश जाकर किसी पशुका प्रजनन-सामर्थ्य अपने शरीरमें प्राप्त कर लिया था। इसी तरह एक राजाके बारेमें यह सुना था कि वह बार-बार खाता है और बार-बार वमन कर देता है। लेकिन फिर भी उसकी खानेकी रुचि कम नहीं होती। यह है भोगासक्ति।

अब तीसरी बात संकल्पोंकी देखो। भोग उतना ही करना चाहिए, जितना जीवन निर्वाहके लिए आवश्यक हो। यदि उसको निरन्तर बढ़ाते जाओगे तो उसकी सीमा नहीं रहेगी। फिर उसमें अपने-पराये और

उचित-अनुचितका विचार सब कुछ छूट जायेगा। भोगकी वासना बढ़ती जानेपर क्या खाने और क्या नहीं खानेका विवेक नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। जब अपने निज-विवेकका आदर नहीं किया जाता तब वह साथ छोड़ देता है। भर्तृहरिने कहा है कि 'विवेक भ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः।' जिसका विवेक नष्ट हो जाता है, उसका पतन सब ओरसे हो जाता है।

अब कर्म और भोग, इन दोनोंकी बात छोड़कर जरा भीतर घुसें। क्योंकि कर्म और भोग दोनों बाह्येन्द्रियोंसे ही होते हैं। अब जरा अन्दर झाँककर देखो कि मनकी क्या हालत है? वहाँ तो जय जय सीताराम है। लोग लाटसाहबके कुत्तोंके बारेमें बहुत जानते हैं, परन्तु अपने मनके संकल्पोंसे परिचित नहीं रहते। जब लोग निकम्मे बैठते हैं तब यह कब कहाँ क्या मोड़ दे देगा, यह बताना कठिन है। अकर्मण्यता-निकम्मेपनमें ही दिमागमें बुराई फलती-फूलती है। सब अकेलेमें बैठनेके अधिकारी नहीं होते हैं। इसलिए गीता योगसाधनाकी आवश्यकता बताते हुए संकल्पका संन्यास करनेकी बात कहती है। कर्मासक्तिमें न फँसो, भोगासक्तिमें न फँसो और अपने संकल्पोंके निवारणकी सामर्थ्य रक्खे। मैं जिनके पास योग सीखनेके लिए जाता था, उन्होंने कहा बैठो और पूछा कि आसन लगाकर कितनी देर बैठ सकते हो? मैंने कहा घण्टेभर। वे बोले कि ऐसे नहीं। पहले दिन तुम दस मिनट बैठो। एक सप्ताहतक प्रतिदिन दस-दस मिनट अविचल बैठनेका अभ्यास करो। इसी तरह दूसरे सप्ताह पन्द्रह-पन्द्रह मिनट और तीसरे सप्ताह बीस-बीस मिनट बैठो। फिर प्रति-सप्ताह पाँच-पाँच मिनट बढ़ाते जाओ। जब आधा घण्टा हो जाये तो चार सप्ताहतक उसे कायम रक्खो। फिर दूसरे महीनेसे पाँच-पाँच मिनट बढ़ाते हुए एक घण्टा पूरा करो। आसनमें सुख आना चाहिए—'स्थिरसुखमासनम्।' आप लोगोंने योगदर्शनका नाम सुना होगा। वह साँपकी तरह लेटने और गर्दभासन, ऊष्ट्रासन आदि करनेकी कला नहीं सिखाता। यह सब न तो योगदर्शनमें है और न योगभाष्यमें। आसन तो सुखासन होना चाहिए और उसमें अचलता आनी चाहिए, स्थिरता आनी चाहिए। सिद्धासन भी आसन है, पद्मासन भी आसन है, स्वस्तिकासन भी आसन है और वीरासन भी आसन है। जिस आसनमें आप खूब आनन्दसे, आरामसे बैठ सकें, आपके दोनों घुटने धरती छू लें और पीठकी रीढ़ सीधी रहे और मुद्रा शान्त रहे, वही उपयुक्त आसन है। हर समय हिलते रहनेसे आसन नहीं लगता। मनके अचल होनेके बाद शरीरकी अचलताका जो विज्ञान है, वह साधकके लिए उपयोगी नहीं है। पहले शरीरकी अचलता हो, फिर मनकी अचलता हो। क्योंकि हम जहाँ हैं, वहाँसे ही साधन प्रारम्भ होता है। आप बैठनेका अभ्यास कीजिए, चुप रहनेका अभ्यास कीजिए, आँख स्थिर रखनेका अभ्यास कीजिए। आप अपनी आँखकी पुतलीको एक दिनमें पाँच मिनट स्थिर करके बैठ जाइये, वह खुली हो चाहे बन्द हो। आप देखेंगे कि आपका मन चंचलता छोड़कर आपकी गोदमें बैठ जाता है। आँखकी पुतली हिलनी नहीं चाहिए। आप कुर्सीपर बैठते हैं, पाँव हिलाते रहते हैं। आसनपर बैठते हैं, पाँव हिलाते रहते हैं। थोड़ी देर भी स्थिर नहीं बैठ सकते। यदि आप चञ्चलताके वशमें हो गये हैं तो चञ्चलता आपसे क्या कराके छोड़ेगी यह कहा नहीं जा सकता। हमारा जो 'भोजन' शब्द है, उसका संस्कृत भाषामें मजाक उड़ाया गया है। उसे कहते हैं—**'गलबिलाधः संयोगरूपव्यापारः।'** यह गलेका जो बिल है, इसके भीतर किसी चीजको भेजनेका नाम

भोजन है। तो भोजन किस चीजका करें? जो मुँहमें जा सके, उसको खा लें? ऐसा तो तभी हो सकता है जब विवेक भ्रष्ट हो जायेगा। कहाँ जाये, कहाँ न जाये? जहाँ पाँव घुस सके वहाँ चले जायँ? क्या करें, क्या न करें? अगर न करना होता तो ईश्वर हाथ क्यों बनाता? इसलिए हाथसे जो कर सकते हैं, करें? जेब काट सकते हैं तो काट लें? यह सब विवेकहीनताकी बातें हैं। आपने ईश्वरकी दी हुई विवेकशक्तिका तिरस्कार किया है तो अपराध किया है। इसलिए विवेकका आदर करनेके लिए ध्यानका अभ्यास करना चाहिए। आपके जीवनमें जो चञ्चलताकी पराधीनता आगयी है, उसपर काबू पानेके लिए स्थिरता अनिवार्य है। संसारमें स्थिरताके बिना कुछ नहीं हो सकता। यह जो भोगकी पराधीनता आगयी है कि खाये बिना नहीं रह सकते, पीये बिना नहीं रह सकते, पहने बिना नहीं रह सकते, उसने मनुष्यको नीचे गिरा दिया है। यह तो देखो कि तुम उसके बिना नहीं रह सकते तो वह भी तुम्हारे बिना नहीं रह सकता है क्या? तुम चायके बिना नहीं रह सकते, पर चाय तुम्हारे बिना रह सकती है कि नहीं? तुम्हारा जो एकांगी प्रेम ईश्वरसे होना चाहिए था, वह चायसे हो गया? धन तो तुम्हारे बिना भी था और आज भी है। वह तुमको नहीं पहचानता है कि तुम उसके धनी हो। इसलिए तुम्हारा उसके प्रति एकांगी प्रेम होता है। जड़ वस्तुओंसे जितना प्रेम होता है, उतना वही होता है। एकांगी प्रेमका यही नमूना है। जिसप्रकार मछली पानीके बिना मर जाती है, चकोर चन्द्रमाके बिना मर जाता है, उसी प्रकार क्या आप चायके बिना मर जायेंगे? यह आपका प्रेम है? नहीं, यह तो जड़ता है।

तो भाई कर्मको, भोगको और संकल्पको वशमें करनेके लिए पौरुषकी आवश्यकता है। गीता पौरुषका ग्रन्थ है। प्रारब्धका ग्रन्थ नहीं। जो हमारे प्रारब्धमें होगा सो हो जायेगा, यह गीता नहीं बोलती। जो प्रकृतिमें होगा वह हो जायेगा—यह गीता नहीं बोलती। वह बोलती है कि आपको अपने व्यक्तिगत जीवनमें पौरुषनिष्ठ होना चाहिए—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥ 6.5
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मनाजितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥ 6.6

आप अपना उद्धार अपने आप कीजिए। अपने आपसे दुश्मनी मत कीजिए। यदि धरतीपर गिर पड़े हो तो कोई दोष नहीं। गिरना कोई अपराध नहीं, अपराध तो गिरकर न उठना और उठकर आगे न बढ़ना है। आप गिर पड़े हैं, इसकी कोई परवाह नहीं। यही तो भक्तोंका आश्वासन है। यही आध्यात्मिक साधना है। आपके मनमें चाहे कितना भी पतन आगया हो, वह आपको कहता है कि उद्धरेत्—उद्धार करो। यह नहीं कि गिरनेपर कोई दूसरा आकर आपको उठावे। गुरुजी उठा दें, ईश्वर उठा दे, प्रारब्ध उठा दे। गीता कहती है कि 'उद्धरेदात्मनात्मानम्'—तुम स्वयं अपनेको ऊपर उठाओ, अपना उद्धार करो।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

प्रवचन : 4

जैसा कि कल संक्षेपमें बताया गया, भगवद्गीता पौरुष-प्रधान शास्त्र है। प्रारब्धके अनुसार जैसा हो रहा है, वैसा होने दो—यह बात गीताको मान्य नहीं। प्रारब्ध बनानेवाले तो हम ही हैं। हमने पहले जो कर्म किया, उससे प्रारब्ध बना, अब नया कर्म करेंगे तो नया प्रारब्ध बनेगा। कर्ममें तीव्रता हो तो वह तत्काल प्रारब्ध बन जाता है। प्रारब्ध दूसरे जन्ममें बनता हो, ऐसा नहीं—

त्रिभिर्वर्षैस्त्रिभिर्मासैस्त्रिभिर्पक्षैस्त्रिभिर्दिनैः ।
अत्युत्कटैः पापपुण्यैरिहैव फलमश्नुते ॥

अत्यन्त उत्कट पाप अथवा अत्यन्त उत्कट पुण्य, इसी जीवनमें फलदानोन्मुख हो जाता है, फलका निर्माण कर देता है। इसलिए प्रारब्ध हमारे प्रतिकूल है—ऐसा सोचकर, हाथपर-हाथ रखकर, बैठ नहीं जाना चाहिए। जिस प्रकार गीतामें श्रीकृष्ण अर्जुनसे कह रहे हैं कि **उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवासादयेत्;** उसी प्रकार योगवासिष्ठके मुमुक्षु व्यवहार-प्रकरणमें वसिष्ठजीने श्रीरामचन्द्र भगवान्से कहा है। मनुष्यको अपना प्रयत्न ईश्वरेच्छापर नहीं छोड़ना चाहिए, क्योंकि ईश्वरने अपना अन्तःकरण अलग नहीं रखा। जीवके अन्तःकरणकी तरह ईश्वरका अन्तःकरण नहीं होता। इसलिए ईश्वर स्वयं कोई संकल्प नहीं करता। वह तो अपने भक्तके संकल्पके साथ ही अपना संकल्प मिला देता है। इसलिए यदि आप पूरे हृदयसे कोई काम करनेके लिए तत्पर होते हैं तो ईश्वरकी शक्ति, ईश्वरकी सहायता आपको प्राप्त होती है। कालवादी लोग ग्रह और कर्मको मानते हैं। गणितशास्त्र कालवाद है और फलितशास्त्र प्रारब्धवाद है। दोनोंके सिद्धान्त अलग-अलग हैं। भागवतमें तो इस प्रसंगको लेकर एक अध्याय ही है। ग्यारहवें स्कन्धके तेइसवें अध्यायमें बताया है कि ग्रह और काल किसीको दुःख नहीं देते। **मनः परं कारणमामनन्ति**—केवल अपना मन ही अपनेको दुःख देता है।

तो मनुष्यको सावधान हो जाना चाहिए। हमारा पड़ोसी हमारा उद्धार करेगा, देवदूत हमारा उद्धार करनेके लिए आयेगा अथवा भाग्यसे हमारा उद्धार होगा—यह धारणा ठीक नहीं। आप स्वयं अपने उद्धारके लिए प्रयत्नशील हो जाइये। 'उद्धरेत्' उत्-हरेत्की सन्धिसे बना है, जिसका अर्थ है कि तुम दूसरेके हाथमें पड़ गये हो। उसको झटक दो, दूसरेके हाथसे अपनेको छीन लो। उद्धरेत् 'उत् धरेत्' और 'उत् हरेत्' दोनोंसे बनता है। 'हृ'धातु और 'धृ'धातु दोनोंका क्रिया पद होता है+'हरेत्' और 'धरेत्' तथा 'उत्' उपसर्ग लगनेपर 'उद्धरेत्' बनता है। यदि तुम अपना भला स्वयं नहीं करते तो तुमको दूसरेके ऊपर भरोसा करनेका कोई हक नहीं। वैसे भरोसा करना, विश्वास करना भी अपना पौरुष ही है। विश्वास करो कि ईश्वर तुम्हारा भला करेगा। यह विश्वास जीव ही कर सकता है। विश्वास करना जीव-धर्म है। जीव अपने धर्मका पालन करेगा, विश्वास करेगा तो ईश्वरकी कृपा उसके ऊपर उतरेगी।

अब गीता कहती है कि **नात्मनमवसादयेत्** अपनेको अवसन्न नहीं करना चाहिए। प्रसन्न शब्दका प्रयोग तो आप लोग करते ही हैं। जैसे प्रसन्न है, विषण्ण है, वैसे ही अवसन्न है। **नात्मानमवसादयेत्** का अर्थ है अपनेको गिरओ मत, अपनेको बिखेरो मत—अपनेको विकीर्ण मत करो। जब हम अपनेको हड्डी-मांस चामके कूड़ेमें कैद कर देते हैं तब अपने आपको गिरा देते हैं। तुलसीदासजीने कहा है कि—

चेतन अमल सहज सुखरासी।

आप चेतन हो, निर्मल हो, सहज सुखराशि हो, किन्तु आपने अपनेको कहाँ गिरा दिया है? चेतन होते हुए भी जड़में गिरा दिया है। निर्मल होते हुए भी मलिनताके गड्ढेमें गिरा दिया है। सहजसुखराशि होते हुए भी दु:खोंके नीचे दबा दिया है। इसीलिए भगवान् कहते हैं कि उठो। श्रुति बोलती है—

उत्तिष्ठित जाग्रत प्राप्यवरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया॥
दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति।

सावधान! उठो। जागो। बड़ोंके पास जाकर जानो। अपने आपको सन्नद्ध कर लो। अवसादन क्या है? हमारी नागरिकता पुरुषोत्तमके विश्वकी की है। हम उस विश्वके नागरिक हैं जिसके स्वामी पुरुषोत्तम हैं, भगवान् हैं। यदि विश्व गया तो हम राष्ट्रके हो जायेंगे। राष्ट्र गया तो प्रान्तके हो जायेंगे। प्रान्तीयता गयी तो जिलेके हो गये, जिला गया तो गाँवके हो गये और गाँव गया तो घरके हो गये। विश्व-मानवता गयी तो जातीयतामें आबद्ध हो गये। इस प्रकार संकीर्ण बन जाना और एक दायरेमें बँध जाना ही अपनेको अवसन्न करना है। यह बात राष्ट्रकी दृष्टिसे, जातिकी दृष्टिसे, उम्रकी दृष्टिसे, कालकी दृष्टिसे, बड़ी क्रान्तिकारी है। आजकलके क्रान्तिकारी लोग बहुत सोचेंगे तब उनको यह बात मालूम पड़ेगी। हम अपनेको सौ दो सौ, तीन-चार सौ वर्षकी संस्कृतिके भीतर बाँध लेते हैं। अधिक-से-अधिक दो हजार, पाँच हजार, दस हजार वर्षकी बातोंकी ओर हमारा ध्यान जाता है। किन्तु काल अनादि है, अनन्त है। वह वर्षोंकी सीमामें नहीं बाँधा जा सकता। इसलिए **नात्मानमवसादयेत्** का अर्थ है कि आप अपनेको उम्रकैद मत करो। इस शरीरके पहले भी आपका जीवन रहा है और इस शरीरके बाद भी आपका जीवन रह सकता है। आप पिता और पितामह आदिके रूपमें पहले भी थे। तथा पुत्र-पौत्रादिके रूपमें बादमें भी रहेंगे। आप अपनेको परम्पराके किसी एक अंशके साथ मत बाँधिये, कालकी सीमामें मत बाँधिये, देशमें मत बाँधिये, जातिमें मत बाँधिये, मजहबमें मत बाँधिये। अपने आपको परमेश्वरमें मिला दीजिए। तभी **नात्मानमवसादयेत्** की उक्ति सार्थक होगी।

देखो, आपके मनमें कभी-कभी आता है कि हम पुण्यात्मा हैं और कभी-कभी आता है कि हम पापी हैं। कोई धनी हो, चाहे गरीब हो, उसको कभी मनमें आता है कि हम सुखी हैं और कभी मनमें आता है कि हम दु:खी हैं। जो सब तरहसे सम्पन्न हैं, जिनके पिता हैं, पुत्र हैं, जिनका शरीर स्वस्थ है, वे लोग भी कभी-कभी अपनेको दु:खी अनुभव करने लगते हैं। वैसा ही यदि वे लोग हमेशाके लिए मान लें तो अवसादन हो गया। मैं सुखी हूँ, मैं दु:खी हूँ, मैं पुण्यात्मा हूँ, मैं पापी हूँ, मैं शत्रु हूँ, मैं मित्र हूँ—इस प्रकारकी एक वृत्ति उड़ती हुई आयी और आपने अपनेको उसके वशमें कर दिया।

अब **आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुः**को लीजिये। इसमें जो बन्धु शब्द है, वह बड़ा ही प्यारा है। बंगला भाषामें बन्धु शब्दका प्रयोग बड़े प्रेमसे करते हैं। प्रियतमके लिए बन्धु शब्दका प्रयोग होता है। रासलीलामें गोपियोंने श्रीकृष्णके लिए एक बार बन्धु शब्दका प्रयोग किया—

प्रेष्ठो भलांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा

बन्धु शब्दका अर्थ भाई नहीं, आत्मा है। अपना आत्मा ही बन्धु है, हितकारी है, सुहृद् है, परम प्रियतम है और अपना आत्मा ही शत्रु है। अपनेको सुख कौन देता है? अपना आत्मा। अपनेको दुःख कौन देता है? अपना आत्मा। जो सतावे सो शत्रु—'सातनात् शत्रुः' संस्कृतमें शासन शब्द है और जो प्रेमसे बाँधले, उसका नाम बन्धु—'बध्नाति इति बन्धुः'। जो इतना प्रेम करे, इतनी सेवा करे कि विरक्तको रागी बना ले और परायेको अपना बना ले, उसको बोलते हैं बन्धु। तो भगवान्‌ने सूत्र रूपसे इसकी व्याख्या कर दी कि कौन आत्मा अपना बन्धु है, हितकारी है और कौन आत्मा अपना शत्रु है।

अब ज्ञानको भी कुछ मिश्रण चाहिए। ज्ञान जहाँ भव-रोगका नाश करनेके लिए विष है, वहीं योगवाही भी है। ज्ञान योगके साथ मिल गया तो समाधि लग गयी, भक्तिके साथ मिल गया तो वासना मिट गयी और धर्मके साथ मिल गया तो दुश्चरित्रता दूर हो गयी। ज्ञान सबका सहायक भी है और स्वयंमें महान् प्रज्वलित अग्नि भी है। यदि आपने अपने जीवनको संयममें नहीं रखा, स्वच्छन्द बना लिया तो ज्ञान दग्ध कर देगा। इसलिये उसको बुद्धियोग चाहिए—

बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव।

यदि आप बुद्धिसे चलेंगे तो पाप-पुण्य नहीं लगेगा। राग-द्वेष नहीं होगा, सुख-दुःख नहीं होगा और नरक-स्वर्ग नहीं मिलेगा। यदि आप बुद्धिसे चलेंगे तो इसी जीवनमें जीवन्मुक्त होकर रहेंगे।

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥ 6.7

'शीतोष्णसुखदुःखेषु जितात्मनः, मानापमानयोः प्रशान्तस्य, परमात्मा समाहितः।' परमात्मा आपके पास है। परमात्मा केवल सत्ययुगमें मिलता है—इस प्रकार परमात्माको समयमें बाँधना अज्ञान है। परमात्मा केवल वैकुण्ठमें मिलता है—इस प्रकार स्थानविशेषमें परमात्माको बाँध देना अज्ञान है और परमात्मा अमुक रूपमें ही मिलता है—इस प्रकार किसी अकारमें परमात्माको बाँध देना भी अज्ञान है। परमात्मा तो हर जगह मिलता है, हर समय मिलता है और हर रूपमें मिलता है।

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि

इस बातको दूसरे मजहबवाले नहीं समझते। हमारे वेद-शास्त्रोंकी यह प्रतिज्ञा ही है कि एकके विज्ञानसे सर्वका विज्ञान हो जाता है। यदि एक तत्त्व ही सब न होता तो एकके विज्ञानसे सर्वका विज्ञान कैसे होता? परमात्मा लोहेकी तरह है, परमात्मा मिट्टीकी तरह है और परमात्मा सोनेकी तरह है। जैसा कि उपनिषदोंमें वर्णन है, जिस तरह मिट्टीकी बनी सब चीजें मिट्टी हैं, सोनेसे बनी सब चीजें सोना हैं और लोहेसे बनी सब चीजें लोहा हैं, उसी तरह परमात्मासे ही सब चीजें बनी हैं और सबकी सब परमात्मा हैं। परमात्मा केवल

सिरजनहार–बनानेवाला ही नहीं, सबके रूपमें बननेवाला भी है। उसके रूपमें भी वही है, तुम्हारे रूपमें भी वही है। सबके रूपमें वही है। परमात्माके ही सब रूप हैं।

तो भाई मेरे परमात्माका जो विज्ञान है, यह हमको समताकी समत्वकी शिक्षा देता है। इस पर बहुत जोर है भगवान्‌का। आप गीतामें जगह-जगह देखेंगे। गीता कोई बहुत बड़ी पुस्तक नहीं। महाभारतमें तो एक लाख श्लोक हैं, स्कन्दपुराणमें अस्सी हजार हैं, भागवतमें अट्ठारह हजार हैं, किन्तु गीतामें कुल सात सौ श्लोक हैं और इनमें बारम्बार 'शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः,' 'मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय, शीतोष्णसुखदुःखदा' आदिका उल्लेख आता है। भगवान् कहते हैं कि जीवनमें ठण्डी, गर्मी, सुख, दुःख आते रहते हैं। इनमें अपने मनको काबूमें रखो। घबराओ मत। ठण्डी आयी है चली जायेगी, गर्मी आयी है चली जायेगी। आज सुख आया है यह भी चला जायेगा, हमारे एक मित्र हैं। उनके घरमें बड़े-बड़े सुन्दर अक्षरोंमें 'यह भी न रहेगा' लिखा हुआ है। मतलब यह कि न यह फर्श रहेगा, न यह फर्नीचर रहेगा, न यह दीवार रहेगी, न यह बचपन रहेगा और न यह जवानी रहेगी। इसलिए अपने मनको ठण्डीके अधीन मत करो, गर्मीके अधीन मत करो। एक गरीब आदमी ठण्डके दिनोंमें रेलवे स्टेशनके प्लेटफार्म पड़ा था। उसके पास एक छोटी-सी गुदड़ी थी। जब सिर ढके तो पाँव उघर जायें और पाँव ढके तो सिर उघर जायँ। बड़ा परेशान था बेचारा। उधरसे एक फकीर निकला। उसने कहा क्या परेशानी है? कहा—महाराज! पाँव ढकता हूँ तो सिर उघर जाता है और सिर ढकता हूँ तो पाँव उघर जाते हैं, ठण्ड लग रही है। फकीरने कहा कि तुम्हारी यह गुदड़ी तो बड़ी हो नहीं सकती इसलिए तुम्हीं अपनेको सिकोड़ लो। पावोंको जरा समेट लो। जब पाँव सिकुड़ेंगे तब सिर भी गुदड़ीसे ढक जायेगा। तो यदि आपकी जरूरतें इतनी बढ़ गयी हैं कि आमदनीसे पूरी नहीं होतीं और अपनी आमदनी आप बढ़ा नहीं सकते तो खर्च घटा दीजिये। उसके लिए दुःखी होनेका तो कोई कारण नहीं। क्या आपसे कम साधनवाले लोग दुनियामें नहीं रहते? जिनके पास आप जैसा मकान नहीं, मोटर नहीं, वस्त्र नहीं, खाना नहीं, पीना नहीं, वे लोग क्या दुनियामें जिन्दा नहीं रहते? उनके घरमें क्या शादी नहीं होती? उनके घरमें क्या बेटा नहीं होता? मनको काबूमें रखो। 'सर्वं सुखमयं जगत्'—इस दुनियामें सुख ही सुख है। गर्मी आयेगी, जायेगी। ठण्डी आयेगी, जायेगी। सुख-दुःख आयेंगे, जायेंगे। हमने ऐसे कितने ही दिन देखे हैं। हमारे बाबा बताते थे कि गाँवमें पहले धान पैदा नहीं होता था। इसलिए जिस दिन घरमें भात बनता, उस दिन बच्चे ताली बजा-बजाकर नाचते थे कि आज भात खानेको मिलेगा। अब तो पहले जिन खेतोंमें गेहूँ पैदा होता था, वहाँ धान पैदा होने लगा। चावल-ही-चावल होता है, समय बदल गया। हमारे पितामहके समयमें एक रुपयेका एक मन गेहूँ मिलता था। अब समय बदल जानेपर एक रुपयेका सेर भर मिलता है। तो जैसे-जैसे समय बदलता है उसके अनुसार रहना पड़ता है। अपने मनको काबूमें रखो, वह समयके साथ स्वयं जुड़ जायेगा। यदि ऐसा नहीं करोगे, तो जब समय पीछे जायेगा तब मनको भी पीछे जाना पड़ेगा और वह दुःख पायेगा।

अब **मानापमानयोः प्रशान्तस्य** के द्वारा भगवान् बता रहे हैं कि जीवनमें कभी मान मिलता है, कभी अपमान मिलता है। इन दोनोंमें मनुष्यका मन शान्त रहना चाहिए। हमारे मनुजी केवल हिन्दू-धर्मके ही व्याख्याता नहीं, सम्पूर्ण मानव समाजके धर्मके व्याख्याता हैं। मनुने जो कुछ भी कहा है, वह औषध है—

यत्किञ्च मनु वदत तद् भेषजम्। वे कहते हैं कि मानमें लाभ है, यह सोचना गलत है और अपमानमें हानि है, यह सोचना भी गलत है। उनका पूरा श्लोक इस प्रकार है—

सम्मानात् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत् विषाद इव।
अमृतस्येव चाकांक्षेदवमानं द्विजोत्तम॥

ऐसा क्यों? इसलिए कि '**अवमानात् तपोवृद्धिः सम्मानात् तपसः क्षयः**'—जब आप सम्मान ग्रहण करते हैं तब आपके पुण्यकी पूँजी क्षीण हो जाती है और जब आप अपमान स्वीकार कर लेते हैं तो आपके पापकी पूँजी घट जाती है। पाप दुःख देते हैं और पुण्य सुख देते हैं। देखो, कैसी युक्ति है मनुजीके वचनोंमें। वस्तुतः सम्मानसे जो सुख होता है वह तात्कालिक होता है और उससे पुण्यकी पूँजी घटती है। वैसे ही जैसे बढ़िया होटलमें रहनेसे पैसा खर्च हो जाता है। भक्तके लिए भी बिल्कुल यही बात है। श्रीचैतन्य महाप्रभुके अनुयायी प्रबोधनान्दजी सरस्वती वृन्दावनमें वास करनेकी विधि बताते हुए कहते हैं—'**भ्रातस्तिष्ठ तले-तले विटपिनाम्**'—पेड़ोंके नीचे रह जाओ। '**ग्रामेषु भिक्षामट**'—गाँवमें माँगकर खा लो। **स्वछन्दं पिव यामुनं जलमलं चीराणि कन्थां कुरु।** चीरका कन्था बनाकर तन ढँक लो और **सम्मानं कलयाति घोरगरलं नीचापमानं सुधाम्।** सम्मानको जहर और अपमानको अमृत समझो।

श्रीराधामुरलीधरौ भज सखे वृन्दावनं मा त्यज।

ऐसे भक्तोंके लिए धन और धरतीका क्या महत्त्व है? हानि और लाभका, सुख और दुःखका, मान और अपमानका क्या मूल्य है? मनुष्यको शानमें आकर काम नहीं बिगाड़ना चाहिए। व्यापारी तो अपनी कमायीकी ओर देखता है। ग्राहक कड़वा बोलता है कि मीठा बोलता है, इससे उसका क्या मतलब? वह तो कहता है कि—अरे भाई, कड़वा बोल ले, लेकिन माल खूब खरीद ले। तो, **मानापमानयो प्रशान्तस्य** में दो बातें बतायीं। एक तो मन काबूमें हो, दूसरे शान्ति बनी रहे। सर्दी-गर्मी आती-जाती रहती है। सुख-दुःख आते-जाते रहते हैं। मानापमान होता रहता है। यदि लोगोंका मन अलग-अलग न होता, मान्यता अलग-अलग न होती, तो सब लोग आपके विचारोंका ही आदर करते। लेकिन आदर भी क्यों करते? यही कहते कि जैसे तुम्हारे विचार वैसे हमारे विचार। हम तुम बराबर।

तो, मनुष्य कभी-कभी वस्तुसे राग-द्वेष करने लगता है। प्रत्येक वस्तु दवा होती है। प्रत्येक घास दवा होती है। प्रत्येक अक्षर मन्त्र होता है। प्रत्येक व्यक्तिमें कोई योग्यता होती है। उसका ठीक-ठीक उपयोग करना चाहिए। हमने पचीस-तीस वर्ष पहले एक बहुत बड़ी प्रसिद्ध धार्मिक संस्थामें एक गुण्डा नौकर देखा था। उसको वे लोग पाँचसौ रुपये प्रतिमास देते थे। उसको दूसरे गुण्डोंसे निपटनेके लिए रखा गया था। वहाँ एक मुकदमेबाज नौकर भी था। वह रोज अपना बस्ता लेकर अदालतमें पहुँच जाता। उसकी पहचान पुलिसवालोंसे थी, अंदालतवालोंसे थी। संस्थावाले उनकी योग्यताका उपयोग करते थे। तो, आप किसीको अयोग्य क्यों समझते हैं? मनुष्य अयोग्य नहीं होता। वस्तु निरर्थक नहीं होती। किसी अक्षरको काटते क्यों हैं? उसका उपयोग कीजिए।

जब किसी व्यक्तिका किसी वस्तु विशेषमें आग्रह हो जाता है, तब मानापमान उपस्थित होता है। वह

वस्तु मिले तो मान, न मिले तो अपमान। इसी प्रकार किसी-किसीको भोगमें आग्रह हो जाता है। आये दिन रसोइयेपर नाराज होते रहते हैं। आज उड़दकी दाल क्यों नहीं बनी? यह नहीं कि उनकी जीभको उड़दकी दालकी जो आदत पड़ गयी है, उसको रोकें। अरे बाबा! एक दिन नहीं मिली तो क्या हो गया? मैंने एक घरमें देखा कि पन्द्रह रसोइये थे। पूछा कि इतने रसोइये क्यों? तो बोले कि महाराज, घरमें पन्द्रह बच्चे हैं और वे पन्द्रह तरहका भोजन बनानेको कहते हैं। एक रसोइया तो केवल दूधके लिए है। बच्चे अपनी-अपनी रुचिका भोजन नहीं पाते तो थाली उठाकर पटक देते हैं और रसोइयेपर बरस पड़ते हैं। यह है भोजनके आग्रहका परिणाम। असलमें भोगका जो आग्रह है वह दुःखदायी होता है। शृंगारमें मैच करनेवाली चीजोंका जो आग्रह है वह यदि पूरा न हो तो और भी दुःख देता है। अभी दो-तीन महीने पहलेकी ही बात है। मैं ऋषिकेशके समीप गंगालहरीमें ठहरा था तो वहाँ एक सज्जन आये उनके साथ उनकी आठ-दस वर्षकी लड़की भी आयी थी। वह बोली कि स्वामीजी! हमारी माँ अंग्रेजी ढंगका बाल नहीं रखने देतीं। इसलिए बड़े-बड़े बाल रखने पड़ते हैं और साथी लड़कियाँ पकड़कर खींच लेती हैं। बार-बार कंघी करनी पड़ती है। इनकी सेवा करनी पड़ती है। आप इनको कह दीजिए कि यह मुझे बाल कटवानेकी स्वीकृति दे दें। अब मैं किसीको ब्रह्मज्ञानकी बात सुनाऊँ, योग और भक्तिकी चर्चा सुनाऊँ या बाल रखनेकी पद्धति बताऊँ? मुझे कहना पड़ा कि अच्छा तुम कटवा लेना। बोली—नहीं, ऐसे काम नहीं चलेगा, आप लिखकर दो, मैं अपनी माँको दिखाऊँगी। तो लिखकर देना पड़ा उसको। यह है शृंगारका आग्रह। इसी तरह कपड़ेका आग्रह होता है। लोग इसमें अपना मान समझते हैं। लेकिन इसमें मान नहीं है। मान करना माने अपनेको सीमित बना देना, अपनी एक नाप बना देना, एक तौल बना देना। एक बात आपको डाक्टरोंके मानकी सुनावें। एक बड़े सेठको दिल्लीमें आपरेशन करवाना था। उन्होंने पता लगवाया कि कौन डाक्टर उनका आपरेशन ठीक करेगा। एक डाक्टरने कहा कि मैं दो सौ रुपये लूँगा। दूसरेने कहा कि मैं पाँच सौ लूँगा। तीसरेने कहा कि मैं एक हजार लूँगा। चौथेने कहा कि मैं पाँच हजारसे कम नहीं लूँगा। उससे अधिक फीस किसी और डाक्टरने नहीं माँगी। सेठजीने उसी बड़ी फीसवाले डाक्टरसे आपरेशन कराया। कहनेका मतलब यह कि डाक्टरकी योग्यताका निर्णय कैसे हुआ? उसकी होशियारी, उसकी जानकारीसे? नहीं, उसके पैसोंसे उसकी योग्यताका निर्णय हुआ।

जब हम मान करते हैं तो हमें मानमें भी समान होना चाहिए और अपमानमें भी समान होना चाहिए। एक सज्जनने मुझसे कहा कि स्वामीजी, जब मेरे सामने कोई झूठ बोलता है तो मालूम पड़ता है कि वह मेरा अपमान कर रहा है। उसके झूठ बोलनेपर मुझे बड़ा दुःख होता है। मैंने कहा कि भलेमानुष; तब तो तुम हमेशा दुःखी रहोगे। उन्होंने कहा कि ऐसा क्यों कहते हैं आप? मैंने उत्तर दिया इसलिए कहता हूँ कि दुनियामें बहुत लोग झूठ बोलते हैं। तुम्हारे सामने सैंकड़ों आ-आकर झूठ बोलेंगे और तुम दुःखी होनेवाले अकेले रहोगे। मेरे भाई, वे झूठ बोलते हैं तो बोलने दो। तुम तो मानो कि 'तेरे भावे जो करे, भलो बुरो संसार।' तुम क्या सबकी जीभ पकड़ोगे, सबको चाँटा लगाओगे? सबके लिए जलोगे? तुम्हारे घरमें भी तो दस तरहके लोग रहते हैं। सब तुम्हारे मनके थोड़े ही हैं। तो, अशान्तिके कारणोंके उपस्थित होनेपर भी, मानापमान प्राप्त होनेपर भी आप अपने मनको अशान्त मत कीजिए, उसको जहाँ-का-तहाँ रहने दीजिए और गर्मी-सर्दी जो भी आवे उसे सह लीजिए।

गर्मी-सर्दी प्रकृतिसे आती है। सुख-दुःख अपने बने हुए स्वभावसे आते हैं और मानापमान अपनी मान्यतासे प्राप्त होते हैं। इनके चक्करमें न पड़कर अपने मनको काबूमें रखिये, शान्त रहिये। परमात्मा आपके दिलमें बैठा हुआ है—**परमात्मा समाहितः।** देखो कितनी सीधी बात है। इसमें ब्रह्मज्ञान प्राप्त करनेकी बात नहीं है। समाधि लगानेकी बात नहीं है। गोलोक ब्रह्मलोकमें जानेकी बात नहीं है। यज्ञ-याग करनेकी बात नहीं है। इसके लिए न धर्मात्माओंकी तरह यज्ञ करना है, न भक्तोंकी तरह परलोक, बैकुण्ठ या गोलोकमें जाना है, न योगियोंकी तरह समाधि लगानी है और न ब्रह्मज्ञानियोंकी तरह घटाकाश, मठाकाशका विचार करना है। करना केवल इतना ही है कि सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख और मान-अपमानके उत्पादक तत्त्वों अर्थात् प्रकृति, स्वभाव एवं मान्यताको समझकर अपने मनकी शान्ति बनाये रखना है। एक सज्जनने पत्र लिखकर मुझे अपने यहाँ बुलाया है। उसको आज ही यह उत्तर देनेका विचार हुआ है कि जब शरीर स्वस्थ लगता है तब तो मन होता है कि तुम्हारे यहाँ आजायँ, किन्तु जिस दिन शरीर बिगड़ता है, उस दिन मन होता है कि न जायँ। ऐसी स्थितिमें कौन-सा निश्चय तुमको लिख भेजूँ? समयपर जैसा होना होगा, वैसा हो जायेगा। तो अपनी बुद्धिको, विचारको कभी नहीं छोड़ना चाहिए। विचारमें परमात्मा है, हृदयमें परमात्मा है। यदि तुम्हारे जीवनमें कोई निश्चित पदार्थ, समाहित पदार्थ है तो वह परमात्मा ही है। उसके सिवाय और कुछ नहीं है। जब अपने निश्चयमें कोई गलती मालूम पड़ जाये तो उसे छोड़ देनी चाहिए। अपनी गलतीपर अड़े रहनेकी कोई जरूरत नहीं। अपनी रहनी इस तरह बनाओ कि अच्छा भाई, वैसा नहीं, ऐसा ही सही।

यह बात ध्यानमें रखो कि आपकी तृप्ति कहाँ है? आपकी स्थिति कहाँ है? आपका चरित्र कैसा है?

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥ 6.8

यदि मनुष्यके मनमें स्वार्थ न हो, भोगकी वासना न हो, तो वह योगी है। कई लोग योगीके बारेमें जो यह सोचते हैं कि वह कहीं हिमाचलकी गुफामें रहता है और पीतलको सोना बना देता है तो बिलकुल गलत सोचते हैं। आप जो समझते हैं कि जिसने आसमानमें हाथ मारा और हीरा-मोती निकाल दिया वह योगी है तो गलत समझते हैं। उसको योगी नहीं कहते। क्या आप समझते हैं कि योगी आँखको नाक और नाकको कान बना देगा? वेदको परम प्रमाण माननेवाले भगवान् शंकराचार्यने एक जगह दृढ़तापूर्वक कहा है कि—

न हि श्रुतिशतैरपि घटः पटयितुं शक्यते।

अर्थात् एक हजार वेदके मन्त्र पढ़े जाँय तब भी घड़ा कपड़ा नहीं बन सकता। वस्तुका स्वभाव अन्यथा नहीं हो सकता। जो लोग यह मानते हैं कि आसमान भभूत बरसाता है और गोलोककी बनी हुई रबड़ी-मलाई भरुये (कुल्हड़) में आती है उनकी बुद्धिको धन्यवाद! ऐसे बुद्धिसागरोंको क्या कहा जाय जो मानते हैं कि योगी लोग हाथ मारते हैं आसमानमें और घड़ी, जंजीर, जेवर, मंगलसूत्र आदि पैदा हो जाते हैं। मेरे भाई, वे पैदा नहीं होते, कहींसे चोरी करके, अथवा खरीदकर आते हैं। तो छोड़िये उस चमत्कार दिखानेवाले तथाकथित योगियोंकी बातोंको। सच्चे योगी कई प्रकारके होते हैं। एक योगी वह है, जो अपने ज्ञान-विज्ञानमें तृप्त है। उसकी तृप्ति कहाँ है? उसके अपने हृदयके भीतर है। उसमें जो ज्ञान-विज्ञान है, उसकी जो परमात्माके बारेमें जानकारी

और अनुभव है, उसीमें वह तृप्त है। दूसरी पहचान योगीकी यह है कि वह कूटस्थ है अर्थात् प्रलोभनोंसे अविचल है। जब सुनार लोग जेवर गढ़ते हैं, उसे लोहेकी निहायपर हथौड़ेसे पीटते हैं, उस निहायपर कूट-कूटकर न जाने कितने जेवर बने, कितनोंपर हथौड़ोंकी चोट पड़ी, परन्तु वह निहाय ज्यों-की-त्यों है। जेवर बनते-बिगड़ते रहते हैं। हथोड़ोंकी चोट कभी पड़ती है कभी नहीं पड़ती, वह जैसा-का-तैसा रहता है। उसी प्रकार कूटस्थ योगी अपने स्वरूपमें स्थित रहता है। ऐसे समझो कि जिसप्रकार चित्रकूट, त्रिकूट अथवा पहाड़का शिखर वर्षा, सर्दी, गर्मीमें जैसा-का-तैसा रहता है वैसा ही कूटस्थ रहता है क्योंकि वह मूल पुरुष है।

तीसरी पहचान है योगीकी कि उसका चरित संयमित तथा वह विजितेन्द्रिय होता है। इन्द्रियाँ उसकी अविजित नहीं होती। वह हिमालयकी गुफामें नहीं रहता, आप लोगोंमें रहता है। बनारसमें चार योगी चार स्थानोंपर रहते थे। एक तो पुलिसकी चौकीके सामने बैठा रहता था। दूसरा दालमण्डीके नुक्कड़पर रहता था। तीसरा श्मशान घाटपर रहता था और चौथा बाजारोंमें घूमा करता था। इनको किसीसे कोई मतलब नहीं था कि कौन कैसा है?

तो 'समलोष्टाश्मकाञ्चनः' योगीके लिए मिट्टीका डला, पत्थरका टुकड़ा और सोना सब बराबर है। उसको पत्थरसे मकान नहीं बनाना, मिट्टीसे खेती नहीं करनी और सोनेका जेवर नहीं बनाना। उसके सामने अप्रयोजकत्व है। जब प्रयोजन ही नहीं, लेन-देन ही नहीं, तब वह क्यों किसीकी चिन्ता करे? जो योगी बाजारमें रहता है और अपना व्यवहार चलाता रहता है, उसे देखकर गृहस्थ लोग कभी-कभी कहते हैं कि बाबाजी, तुमको यहाँ आनेसे क्या मतलब? बड़ी विचित्र बात है। वे तो स्वयं अपनेको सत्सङ्गसे, सद्भावनासे, सद्विचारसे वञ्चित रखनेकी बात कहते हैं। एक सज्जनने कहा कि महाराज! ब्रह्म बोलकर बताया जा सकता है क्या? नहीं भाई, नहीं बताया जा सकता। उपनिषदोंमें ऐसा ही है। तब आप क्यों बोलते हैं? लो, हम चुप हो जाते हैं। चुप होनेसे हमारा क्या नुकसान हुआ? थोड़ी देरमें फिर बोले, नहीं महाराज! कुछ उपदेश कीजिए। तो यह स्थिति है।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥ 6.9

इसका तात्पर्य है कि अपने बचाओ। पक्षी मत बनो। आदमी धरतीपर रहनेके लिए है। जो पक्षपात करता है, वह पक्षी हो जाता है। जिसमें पक्ष हो, उसका नाम पक्षी। भलेमानुष निष्पक्ष होते हैं। उसे कहते हैं कि वह निष्पक्ष है। कोई सुहृद् है, भला करता है। कोई मित्र है, स्नेह करता है। कोई अरि है शत्रुता कर रहा है। कोई उदासीन है, उसे किसीसे मतलब नहीं। कोई पंचायत करनेके लिए पहुँच जाता है। किसी-किसीका यह स्वभाव होता है कि यदि सड़कपर दो आदमी आपसमें लड़ रहे हों, तो वे मोटर रोककर उनकी लड़ाई छुड़ानेके लिए जाते हैं और पिटकर आते हैं। असलमें मनुष्यके मनमें इतना आग्रह रहता है कि वह किसीके समझानेसे उसको नहीं छोड़ता। हम तो अपनी मध्यस्थ बननेकी वासना पूरी करनेके लिए ही उसे समझाने जाते हैं।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

प्रवचन : 5

गीता कहती है कि आप अपने जीवनके व्यवहारमें एक ऐसी बुद्धि बनाइये, जो अनुकूल-प्रतिकूल समयपर बिगड़े नहीं, एकरस रहे। जिसकी बुद्धि बिगड़ गयी उसका जीवन बिगड़ गया। जीनेकी कला, उत्तम-से-उत्तम कला यह है कि किसी भी प्रसंगपर बुद्धि भ्रष्ट न हो। आपको किसीने गाली दी और आप भी गालीके बदले गाली देने लगे तो समझिये कि आपकी बुद्धिमत्ताने आपका साथ छोड़ दिया और आप उसी स्तरमें चले गये जैसा स्तर गाली देनेवालेका है। यह तो गालीकी बात है। नीतिशास्त्रमें ऐसा लिखा है कि यदि कोई ज्यादा तारीफ करने लगे तो समझना कि वह अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहता है। **दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा**—दिल्लीके बादशाह या जगत्‌के स्वामी—कहने वाले जो खुशामदी लोग हैं, वे आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों अपनी तारीफ करनेकी कीमत ले लेंगे। खुशामदी लोग जिसकी तारीफ करते हैं, उसका महान् शोषण करते हैं। यह बात हमने राजा-रईसोंके संग रहनेपर देखी है। तो होना यह चाहिए कि तारीफ सुनकर आपकी बुद्धि फूल न जाये और गाली सुनकर आपकी बुद्धि गाली न देने लगे। आप अपने सामनेवालेकी बराबरीमें न जाँय, अपनी बुद्धिको सम रखें। यही गीता द्वारा समर्थित शिष्टानुशिष्ट जीवनकी पद्धति है।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥ ९॥

विशिष्ट अर्थात् विशेष शिष्ट व्यक्ति वही है जिसकी बुद्धि प्रत्येक परिस्थितिमें सम रहती है, बिगड़ती नहीं। बुद्धि स्वर्गमें उड़ नहीं जाती और नरकमें गिर नहीं पड़ती। वह नशेमें धुत शराबियोंकी तरह न तो बहिश्त देखने लगती है और न दोजखसे डरती है। इस संसारमें तरह-तरहके लोग होते हैं और तरह-तरहके लोग मिलते रहते हैं। परन्तु उनको देखकर अथवा उनके सम्पर्कमें आकर हमारी बुद्धिपर कोई प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए। हमारी बुद्धिका जो सौन्दर्य है वह उसकी समतामें है। 'स' का संस्कृत भाषामें एक अर्थ होता है सौन्दर्य और 'म' माने शोभा। तो 'सम' का यह तात्पर्य है कि आपकी बुद्धिका सौन्दर्य लुप्त न होने पावे, वह सुन्दर रहे। बुद्धि तब बिगड़ती है, जब गुस्सा आता है। उस समय आपको तकलीफ तो होगी, लेकिन शीशेके सामने जाकर खड़े हो जाइये, फिर देखिये कि आपका चेहरा कैसा हो गया है, आपकी भौंह कैसी हो गयी है, आपकी नाक कैसी हो गयी है। गुस्सेके समय आपका चेहरा पहले लाल होता है, पीछे काला हो जाता है। आपकी बुद्धि जब अपना सौन्दर्य खो देती है तब आपका शरीर भी अपना सौन्दर्य खो देता है। अगर आपकी बुद्धि बिगड़ जायेगी तो आपका योगी होना भी कोई काम नहीं करेगा।

अब 'सम'में जो 'म' है। उसका दूसरा अर्थ देखो। म माने लक्ष्मी। माधव माने लक्ष्मीपति। मतलब यह कि आपकी बुद्धिमें जो लक्ष्मी है, उदारता है, वह न खोवें। आप शत्रुके प्रति भी उदार हों, मित्रके प्रति भी उदार

हों। उदारता आपका सद्‌गुण है। पहले मैं दण्डी था। दण्डियोंमें यह मर्यादा है कि किसको प्रणाम करें, किसको न करें। मैंने उड़िया बाबाजीसे पूछा कि मैं क्या करूँ? तो बोले कि, प्रणाम सबको करना चाहिए। प्रणाम करना सद्‌गुण है, विनय है। वह अपने पास बना रहना चाहिए।

तीसरी बात देखो। 'सम' माने समान। संस्कृतमें समानका अर्थ होता है, मान सहित प्रमाणयुक्त अर्थात् हमारी बुद्धि प्रामाणिक रहनी चाहिए। उचित-अनुचितका विचार करके जो उचित हो उसे ही ग्रहण करना चाहिए। बुद्धिका यह कर्तव्य है कि वह उचितका परित्याग कभी न करे उसके सामने चाहे कोई भी हो, कैसी भी परिस्थिति हो। जिसने उचितका छोड़ दिया, जिससे औचित्य अलग हो गया, उसके जीवनमें कोई रस नहीं रहेगा—

अनौचित्यादृते नास्ति रसभङ्गस्य कारणम्।

कविलोग रसभंगका एक ही कारण मानते हैं अनौचित्य। उनका कहना है कि अनौचित्य न होनेपर रसभंग कदापि नहीं होता।

हमारे जीवनमें एक मानक होना चाहिए। व्यापारी लोगोंके पास तौलनेका जो बाट होता है, वह बिल्कुल ठीक होता है। हमने बचपनमें अपने गाँवके एक बनियेसे सुना था कि बेटा, मुनाफा तो तौलनेमें जितनी चतुराई की जाय, उसमें है। हमने भी तराजूसे तौला है। घरमें अनाज पैदा होता था, इसलिए कभी-कभी तौलना पड़ता था। तौलते समय जरा-सी मुट्ठी दबा देनेपर तराजू बिल्कुल टेढ़ा हो जाता है। इसी तरह कपड़ा बेचनेवाले व्यापारी गजसे कपड़ा नापते हैं तो कपड़ा बचा लेते हैं।

तो हमारी बुद्धिका जो मानक है, वह बिल्कुल बराबर रहना चाहिए। हम नाप-तौलमें, विचारमें, औचित्यमें गड़बड़ न करें। यह विशिष्ट व्यक्तिकी पहचान है। जैसा कि पहले भी बताया गया, पुरुषार्थ चार होते हैं। उनमें-से एक होता है अर्थ। अर्थ माने धन। यह धन मनुष्यका समग्र जीवन नहीं है, अपितु जीवनके एक अंशका नाम धन है। वह बाहर रहकर मनुष्यकी सेवा भी करता है और अभिमान भी बढ़ाता है। वह चाहे द्रव्यके रूपमें हो, अन्नके रूपमें हो अथवा मकान आदिके रूपमें हो। उसका अस्तित्व शरीरके बाहर है। किन्तु पुरुषार्थ-चतुष्टयमें जो काम है, वह शरीरसे बाहर नहीं होता। धनकी अपेक्षा काम अन्तरङ्ग है। कामना मनमें रहती है। अन्त न तो काम-पिपासाका है और न धन-पिपासाका। व्यास भगवान् कहते हैं कि प्यासका अन्त नहीं—**अन्तो नास्ति पिपासायाः**। हमको यह चाहिए, वह चाहिए, इसमें सुख है, उसमें सुख है। दोनोंकी भूख बढ़ती जाती है। अन्तर इतना ही है कि अर्थ बाहरसे बढ़ता जाता है, प्यास भीतरसे बढ़ती जाती है। तो जिन्दगीमें इन दोनोंकी होड़ लग गयी है। इसलिए उनपर काबू रखना चाहिए।

तीसरा पुरुषार्थ है धर्म। यह कहाँ रहता है? बुद्धिमें रहता है। यही योग्य और अयोग्यका, उचित और अनुचितका निर्णय करता है। धर्म बुद्धिमें रहकर अर्थ और काम दोनोंके विस्तारको धारण करता है और उनपर नियन्त्रण रखनेकी कला सिखाता है। अधिक धन अथवा अधिक भोगवासना जीवनकी कला नहीं है। जीवनकी सच्ची कलाका निवास तो सम बुद्धिमें है। आप विशिष्ट पुरुष तभी बन सकेंगे जब आपकी बुद्धि

ऊबड़-खाबड़ नहीं होगी। अर्थ और काम तो आते-जाते रहते हैं। बुद्धिका धर्म है कि वह उनके आनेके दिन भी ठीक रहे और जानेके दिन भी ठीक रहे। मिलनेमें भी ठीक और बिछुड़नेमें भी ठीक। इसलिए हमारे भगवान् श्रीकृष्ण अपने भक्तोंकी बुद्धिमें बैठकर काम करते हैं। देवता लोग हाथमें लठिया लेकर अपने भक्तोंकी रक्षा नहीं करते। वे जिसकी रक्षा करना चाहते हैं, उसको सद्बुद्धि दे देते हैं, युक्ति बता देते हैं। देवता दीखता नहीं और हमारा मङ्गल हमारे सामने आ जाता है। देवताका यह स्वभाव है कि वह हमारी बुद्धिको ठीक करता है, प्रेरणा देता है, स्फुरणा प्रदान करता है, मार्ग बताता है—

न हस्ते यष्टिमादाय देवा रक्षन्ति साधकम्।
यं तु रक्षितुमिच्छन्ति सुबुद्ध्या योजयन्ति तम्॥

हम बुद्धि सम्बन्धी बातोंका ज्यादा विस्तार नहीं करना चाहते। कई विद्वानोंका तो ऐसा विचार है कि गीतामें प्रधानता न ज्ञानयोगकी है, न भक्तियोगकी, न सांख्ययोगकी, न कर्मयोगकी, न अनासक्तियोगकी, न पूर्णयोगकी, न राजयोगकी और न राजधिराजयोगकी, विशेषता है तो केवल बुद्धियोगकी। यदि आप बुद्धियुक्त हैं तो पाप-पुण्यसे बचनेका उपाय आपको मालूम है—

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।

यदि आप बुद्धियोगी हैं तो सुख-दुःखसे बचनेका उपाय आपको मालूम है—

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।

तो पाप-पुण्यसे, नरक-स्वर्गसे, राग-द्वेषसे, सुख-दु:खसे बचनेका उपाय जिस बुद्धिको मालूम है, वही बुद्धि ठीक होती है और सारी गीतामें उसीका वर्णन है।

तो कहनेकी बात यह थी कि गीतामें जो योग है, वह समाधि लगानेके लिये नहीं। वह द्रष्टाके स्वरूपमें अवस्थित होनेके लिए भी नहीं। योगियोंने गीताको अपने पक्षमें लेनेके लिए उसके साथ थोड़ी जबरदस्ती की है। जो समबुद्धि पुरुष है, वह कहाँ है। गीतामें जो योग है, वह तो बुद्धिको सम रखनेका उपाय है। हमारी बुद्धि दुकानमें, आफिसमें, हल चलाते समय, खेती करते समय, यज्ञ-योग करते समय अर्थात् सब प्रकारके व्यवहार-कालमें ठीक रहे, इसीके लिए गीता योगका उपदेश करती है—अपनी बुद्धिको सम रखनेका उपाय बताती है।

इस संसारमें चाहे कितना भी और कैसा भी व्यावहारिक व्यक्ति हो, वह अपनी बुद्धिको ठीक रखना चाहता है। इसलिए गीताका उपदेश सबके लिए और सर्वकालके लिए है। गीता केवल वर्णाश्रमी—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्रके लिए नहीं, केवल हिन्दुओंके लिए भी नहीं, केवल भारतीयोंके लिए भी नहीं, वह तो समस्त विश्ववासियोंके लिए है। क्योंकि बुद्धिकी आवश्यकता तो सार्वदेशिक है, सार्वभौम है, सार्वकालिक है। सबको सब जगह और सर्वकालमें बुद्धि चाहिए।

भगवान् केवल किसी जातिविशेषके लिए, प्रान्तविशेषके लिए अथवा देशविशेषके लिए नहीं बोलते। वे सेठके लिए भी बोलते हैं, श्रमिकके लिए भी बोलते हैं। धनीके लिए भी बोलते हैं, गरीबके लिए भी बोलते

हैं। वे हिन्दुस्तानीके लिए बोलते हैं। पाकिस्तानीके लिए भी बोलते हैं। कई हिन्दुस्तानी लोग जो यह समझते हैं कि भगवान् हमारा ही पक्षपात करेंगे पाकिस्तानीका नहीं करेंगे, केवल हिन्दुओंका पक्षपात करेंगे, मुसलमानका नहीं करेंगे, वे ठीक नहीं समझते। भगवान्की वाणीकी विशेषता ही यह है कि वह सबके कल्याणके लिए होती है।

अब जो अपनी बुद्धिको ठीक रखना चाहता है, वह कैसे ठीक रखे, इसकी एक साधनकला गीतामें देखिये—

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥ 6.10

ये साधन हिमालयकी गुफामें जानेके लिए नहीं, आकाशमें उड़नेके लिए भी नहीं; केवल बुद्धिको ठीक करनेके लिए, समबुद्धि बनानेके लिए हैं। आप ध्यान दो, भगवान्की वाणीमें एक बात देखो। आप सबके साथ मिलते हो, परन्तु एक बात छोड़ते जा रहे हो और वही जीवनकी कला है। आप दिनभर सबसे मिलते हैं, शत्रुसे मिलते हैं, मित्रसे मिलते हैं, धनसे मिलते हैं, व्यापारसे मिलते हैं, देश-विदेशसे मिलते हैं, किन्तु अपने आपसे नहीं मिलते! आपका यह एकांगी व्यवहार ही, जो आपको अपने आपसे नहीं मिलने देता, आपके जीवनमें विकलता लानेवाला है।

योगी युञ्जीत सततं आत्मानं अर्थात्—योगी अपने आत्माके साथ सतत योग करे। तो, योगीका अपना वियोग ही कहाँ हुआ है जो वह योग करे? इसका तात्पर्य यही है कि मनुष्यके पास दूसरोंसे अलग होकर थोड़ी देर अपने बारेमें शान्तिपूर्वक सोचने-विचारने और देखने-सुननेका समय होना चाहिए। **आत्मानं युञ्जीत** का अर्थ है आत्म निरीक्षण—आत्मयोग कीजिए। इसके लिए उपनिषद्‌में आज्ञा है कि भगवान्के नामका उच्चारण कीजिए। सबसे अलग होकर अपने आपमें बैठिए। ॐ—यानी प्रणव मन्त्रका लम्बा उच्चारण करते हुए जपिए। वह मन्त्र बाहरसे प्रारम्भ होगा और भीतर जाकर समाप्त होगा। आप अन्तर्मुख हो जायेंगे। यह एक युक्ति है।

अभिप्राय यह है कि आप किसी भी तरह दूसरी चीजोंको, दूसरे लोगोंको देखना छोड़कर, अपनी ओर देखिए। अपने साथ जुड़ जाइए। स्थिति यह है कि आप अपनेको छोड़कर दूसरेके साथ जुड़ गये हैं। आत्मा अनात्माके साथ जुड़ गया है, चेतन जड़के साथ सम्बद्ध हो गया है। आनन्द दुःखके साथ और स्व परके साथ बँध गया है। तो पहली बात यह है कि योगी अथवा योगार्थी, जो चाहता है कि उसकी बुद्धि ठीक रहे, वह थोड़ी देर तक अपने आपपर विचार करे, दूसरेपर नहीं।

यदि कहो कि अच्छा एक-दो दिन अथवा जब समय मिलेगा, तब अपने आपपर विचार कर लेंगे तो भगवान् कहते हैं कि नहीं **सततं** अर्थात् निरन्तर इसकी साधना करो। योग मरनेके लिए नहीं होता, करनेके लिए योग होता है। जो लोग निरन्तर शब्दका अर्थ चौबीसों घण्टे समझते हैं, उनकी समझ तो बहुत अच्छी है। लेकिन जीवनमें नींद भी तो है। यदि जागना है तो नींद भी लेना है। मनुष्यके जीवनमें खाना है, पीना है, चलना है, अर्थ है, धर्म है, काम है। तो सततंका अर्थ है लगातार।

अब आपको एक दूसरा अर्थ भी सुनाते हैं। रोज थोड़ा-थोड़ा समय निकालिए। काम करनेका तो बहुत समय है, थोड़ा शान्तिसे बैठनेका समय भी निकालिए। आप सौ रुपयोंमें दस, पाँच अथवा एक रुपया दान करते हैं। कुछ-न-कुछ दिये बिना लेना बनता नहीं। जो देगा नहीं, उसका लेना बन्द हो जायेगा। यह प्रकृतिका नियम है। देकर ही ले सकते हैं।

तो, आप अपने चौबीस घण्टेके समयमें-से पाँच मिनटमें एक मिनटके हिसाबसे चौबीस मिनट ईश्वरके लिए निकालिए। अच्छा; चौबीस मिनट जाने दीजिए, चौदह मिनट ही निकालिए। बिलकुल शान्त। उस समय संसारकी किसी भी वस्तुके साथ आपका सम्बन्ध न फुरे। आप क्या ऐसे व्यस्त हो गये हैं कि जड़ताको पाँच मिनटके लिए भी नहीं छोड़ सकते? बाहरसे आनेवाले दु:खदायी पदार्थोंसे अपनेको कुछ क्षणोंके लिए भी अलग नहीं कर सकते? यह काम सततं, लगातार, रोज-रोज होना चहिए। इससे बड़ा लाभ होता है।

एक मनुष्य था, उसने दस पन्ने रोज पढ़नेका नियम लिया। तीन सौ पन्नोंकी पुस्तक एक महीनेमें पूरी हुई। बारह महीने लगातार उसने नियम पालन किया तो हजारों पन्ने पढ़ गया। अगर यही नियम उसने दस वर्षों तक पालन किया तो देखो कितना बड़ा पण्डित हो गया। केवल दस पन्ने प्रतिदिन पढ़नेसे। तो आप भी प्रतिदिन अपना दस मिनट शान्तिसे व्यतीत करें तो एक महीनेमें तीन सौ मिनट शान्तिके इकट्ठे कर सकते हैं। इसी प्रकार बारह महीनोंमें तथा वर्षोंमें आपको प्रभूत शान्तिकी प्राप्ति हो जायेगी।

दूसरा प्रश्न यह है कि यह आत्मचिन्तन कहाँ बैठकर किया जाय? इसका उत्तर यही है कि आप अपने किसी भी प्यारे इष्टसे मिलते हैं तो कहाँ मिलते हैं? न मुसाफिरखानेमें मिलते हैं, न पार्कमें। एकान्तमें मिलते हैं। अत: प्रभुसे भी एकान्तमें मिलिए—पाँच मिनट, दस मिनट। एकान्तको 'रहसि' भी कहते हैं। 'रहसि' उलट दो तो रहका हर हो जाता है। तो एकान्त शिवरूप है।

दूसरी बात यह हे कि चलते-फिरते मत मिलिए, 'स्थित:'—बैठकर मिलिए। देखो कितनी बातें बतायीं। जिससे मिलना है उसका नाम बता दिया—**आत्मानम्**। कितने समय मिलना है **तो सततं**—रोज-रोज बताया। कहाँ मिलना है तो कहा कि एकान्तमें और कैसे मिलिए तो बताया कि खड़े-खड़े, चलते-फिरते नहीं, बैठकर मिलिए। मिलनेकी इन प्रणालियोंकी चर्चा वेदान्तोंमें भी आती है। वेदान्त-दर्शनका सूत्र है—

आसीनः सम्भवात्।

आपको परमात्मासे साक्षात्कार करना है, तो सोते-सोते मत कीजिए, क्योंकि उसमें लय हो जानेकी सम्भावना है। आँख बन्द हो जायेगी तो मन लीन हो जायेगा। चलते-चलते इसलिए मत मिलिए कि उसमें ठोकर लग जानेकी, विक्षेप उत्पन्न हो जानेकी सम्भावना है। इसलिए बताया कि सोते हुए नहीं, चलते हुए नहीं, खड़े-खड़े भी नहीं, एकाकी बैठकर मिलिए। एकाकीका अर्थ है अकेले। नौकर-चाकर दस-पाँच खड़े हों और जब घंटी बजायी तब वे दौड़कर आगये। तो ये जो सेवक लोग हैं, वे मनुष्यको पराधीन बना देते हैं। यह जीवनकी कला नहीं है।

यदि साधनमें भी आप स्वावलम्बी नहीं बनते हैं—एकाकी, असहाय नहीं होते तो आपको सफलता

नहीं मिल सकती। आपको एक आदमी जोरसे पंखा झल रहा है और आप ध्यान करने बैठे हैं, तो आपका ध्यान नहीं लग सकता। इसी प्रकार ध्यान करनेसे हमको अमुक चीज मिलेगी—इस प्रकारका चिन्तन भी ध्यानमें बाधक है।

तीसरी बात यह है कि आसपास कुछ किसमिश रख लिया, शक्कर रख ली, चूर्ण रख लिया, दवाएँ रख लीं, पीनेकी चीजें रख ली, खानेकी सामग्री रख ली, तो आपको लाभ नहीं मिलेगा। आनन्द ध्यानके लिए आपका एकाकी, निराशी और अपरिग्रही होना अनिवार्य है। उसके लिए न सहायक चाहिए, न सामग्री चाहिए और न वह करनेसे आपको अमुक लाभ होगा—यह विचार चाहिए।

आप लोग करो तो योगाभ्यास और चाहो कि हमारा चाम चिकना हो जाये, पेट छोटा हो जाये और कमर पतली-पतली हो जाये तो आपका साधन और उसका फल परस्परविरुद्ध धर्माश्रयी हो जायेगा। आप कर रहे हो आन्तर अभ्यास, योग साधन और उसका फल ला रहे हो बाहर। असलमें साधन किया जाता है बाहर और उसका फल होता है अन्तरमें। इस बात पर लोगोंका ध्यान नहीं जाता। जो नुमायशी लोग हैं, जिसका प्रदर्शन भरी सभामें किया जाता है, वह शरीरके लिए ठीक होगा—आपका कोई रोग दूर कर देगा, पर योगका वास्तविक फल बुद्धिका शोधन नहीं होगा।

अच्छा अब आप 'यतचित्तात्मा'को लीजिए। जिस समय आप अपने आपमें बैठें, उस समय आपका मन, आपकी इन्द्रियाँ नियमित हों। बैठनेका स्थान भी शुद्ध होना चाहिए—

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः। 6.11

× × ×

उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥ 6.12

आप जहाँ बैठकर खाते हैं, सोते हैं, तमोगुणी-रजोगुणी कार्य करते है, वहाँ बैठकर भी योग नहीं करना चाहिए। यदि कहो कि यहाँ बैठकर दानादि पुण्य-कर्म करते हो, वह स्थान कैसा हो, तो दान करना दूसरी कक्षा है और बुद्धिका शुद्ध रखनेके लिए अभ्यास करना दूसरी कक्षा है। स्थान पवित्र होना चाहिए, जहाँ जूठा न गिरा हो, भोग-वासना और लोभ-वासनाके संस्कार न हों। शान्त, एकान्त और पवित्र स्थान होना चाहिए।

बैठनेके आसनकी भी प्रतिष्ठा करनी चाहिए। बार-बार आसन हटाना ठीक नहीं है। जैसे मूर्तिमें देवताकी प्राण-प्रतिष्ठा होती है वैसे ही आसनकी भी प्रतिष्ठा करनी चाहिए। आसन स्थिर हो और अपना हो, परायेका न हो। उसपर दूसरेके बैठनेका संस्कार न हो। आदमी जहाँ बैठता है वहाँ उसके शरीरमें-से तन्मात्राएँ निकलकर व्याप्त हो जाती हैं। ध्यानके लिए दूसरेका घर भी न हो तो अच्छा है। अपना घर हो, नदी-तट हो, पर्वत हो, वन हो तो ध्यानमें सहायक हैं।

अब बुद्धिकी शुद्धिकी बात लीजिए। क्या कभी आप सोचते हैं कि अमुक दवा खायेंगे तो बुद्धि ठीक हो जायेगी? दूसरा कोई आकर आपके सिरपर हाथ रख देगा और आपकी समाधि लग जायेगी? यदि आप ऐसा सोचते हैं तो वह बिलकुल गलत है। यदि कोई कहे कि हमारा मन स्वभावसे ही स्थिर रहता है तो

पहले मनको चंचल करो और चंचल करके फिर उसका नियन्त्रण करो। मनकी ये स्वाभाविक शान्ति तुमको धोखा देगी।

योगका उद्देश्य मनकी स्वाभाविक एकाग्रता नहीं, मनका नियन्त्रण है। मन काबूमें रहना चाहिए। इस समय वह स्वाभाविक शान्त हो और अगले क्षण स्वाभाविक चिन्तन करने लगे, तब क्या करोगे? योगका लक्ष्य मनका मारण नहीं, निष्क्रियकरण नहीं, अपितु वशीकरण है। योगाभ्याससे निकम्मापन नहीं आता, कर्मशक्तिका उदय होता है। कर्मशक्तिके साथ-साथ नियन्त्रणशक्ति आती है, बुद्धिशक्ति आती है, संकल्पशक्ति आती है। जीवका जीवन ईश्वरका जीवन हो जाता है।

अब ध्यानाभ्यासके लिए बैठना किस प्रकार चाहिए वह भी बताते हैं। आसनमें भी समता होनी चाहिए। ऊपर कपड़ा, कपड़ेके नीचे मृगचर्म और मृगचर्मके नीचे धरतीपर कुश। नीचेसे ऊपर चलें तो धरती, कुश, मृगचर्म और वस्त्र—यह क्रम होना चाहिए। कुश धरतीका बेटा है। कुशपर बैठनेसे साधकके शरीरकी जो साधनजन्य शक्ति है, उसको पृथिवी खींचती नहीं। जैसे लकड़ीपर खड़े होकर बिजलीका काम करनेसे बिजली करंट नहीं मारती, खींचती नहीं; वैसे ही धरतीपर बैठकर साधन करें तो कुश होना चाहिए।

मृगचर्मके बारेमें एक बात धर्मानुसार बताते हैं। मृगचर्म साधन करनेके लिए तो ठीक है, परन्तु भोजन करनेके लिए ठीक नहीं। यदि कहो कि मृगचर्म पवित्र है तब उसपर बैठकर भोजन करनेमें क्या हानि है? नहीं, वह भोजन करनेके लिए अशुद्ध है। उसपर बैठकर भोजन करनेसे लौकिक हानि तो यह है कि उसमें जो रोयें होते हैं वे किसी-न-किसी प्रकार निकलकर तुम्हारे भोजनमें पड़ जायेंगे। इसी तरह उसको पवित्र मानकर उसपर सोवोगे तो उसके रोयें आँखमें पड़ेंगे, नाकमें पड़ेंगे। उसमें जो धूल भरी हुई है, वह घुसेगी और चाम तो चाम ही है।

शास्त्रीय दृष्टिसे उसमें एक लौकिक लाभ है। मृगचर्मपर बिच्छू नहीं चढ़ते, साँप नहीं चढ़ते, कीड़े-मकोड़े नहीं आते। तो आप जब एकाग्र होकर बैठना चाहते हो तो साँपसे, बिच्छूसे, कीड़े-मकोड़ोंसे रक्षा करनेके लिए मृगचर्म आवश्यक है। वह जितने अंशमें विहित है उतने ही अंशमें पवित्र है। उसके अतिरिक्त उसमें कोई पवित्रता नहीं है।

मुझे इतने व्याघ्रचर्म और मृगचर्म मिले हैं कि उन सबको मिलाकर गद्दे-जैसा मोटा बिछौना बना लें। किसीने चार-चार मृगचर्मोंको एकमें जोड़कर बड़ा बना दिया। अब मैं उसका क्या करूँ? दो-चार दिन सोकर देखा तो अनुभव हुआ कि वह सोनेके लिए नहीं है। एकके घर गया तो उसने भोजन करनेके लिए मृगचर्म बिछा दिया यह समझकर कि बड़ा पवित्र है इसपर बैठकर स्वामीजी भोजन करेंगे। किन्तु उसपर बैठकर भोजन करना अच्छा नहीं लगा।

अब आइये, आसनकी पद्धतिपर। आसन लगाते समय आपका शरीर सम होना चाहिए। कोई-कोई आसन लगाकर हिलते-झूमते रहते हैं। हमने ऐसे सिद्ध योगी भी देखे हैं, जो खड़े रहते हैं। कभी दायें घूमते हैं, कभी बायें घूमते हैं। किन्तु गीताकी पद्धतिके अनुसार, शरीर और सिर दोनोंको एक सीधी रेखामें होना चाहिए।

मैंने देखा है, जिन्होंने जीवनभर भगवान्की पूजाका नियम निभाया है, वे सुखी रहे। अपने जीवनको सुखी रखनेकी कला, तटस्थ रखनेकी कला समता है। जीवनमें समता रहेगी तो बुद्धिमें भी समताका उदय होगा, समताका आदर होना चाहिए। जहाँ ममता ज्यादा होती है, वहाँ समता नहीं होती। ममता और समतामें विरोध है। यदि ममताको ईश्वरके साथ जोड़ दिया जाये, तो संसारमें भी समता रहेगी।

भक्ति-सिद्धान्त यह है कि ममता, ईश्वरमें रहे, और ज्ञान-सिद्धान्त यह है कि ममता किसीमें न हो। समता नहीं होगी, ममता होगी तो बुद्धि ठीक नहीं रहेगी, कभी-न-कभी जरूर गड़बड़ा जायेगी।

अब गुरुओंकी बात सुनाते हैं। आप लोग चमत्कार मत मानना। मुझे एक ऐसे साधु मिले, जिन्होंने मेरे सिरपर हाथ रखा और हमारे मुँहसे भगवान्के नामका उच्चारण होने लगा। बादमें बन्द हो गया। मैंने पूछा कि अब? साधु बोले कि क्या मैं तुम्हारे सिरपर बराबर हाथ रखे रहूँगा? तुमको स्वयं यह साधन करना पड़ेगा। दूसरेपर भरोसा कबतक करोगे।

एक दूसरे साधुको मैंने देखा। उनके शरीरपर जहाँ भी कान लगाओ, वहाँसे भगवान्के नामका उच्चारण होता था। उनके पाँवोंमे-से भी होता, तलवोंमें-से भी होता। लेकिन प्रश्न उठता है कि जब हम स्वयं अभ्यास नहीं करेंगे तो दूसरेके शरीरसे होनेवाला भगवान्नामका उच्चारण हमारे किस काम आवेगा। हमें तो अपनी ही निष्ठामें स्थिर होना होगा।

आसनके लिए धरती सम हो, ऊँची-नीची न हो शरीर भी सम तथा पवित्र हो। यदि आपको अपने भीतर पवित्रताकी संवित् न हो तो आपका आसन लगाना, बैठना बेकार हो जायेगा। आप यह ध्यान कर सकते हैं कि आपके शरीरपर सूर्यकी किरणोंसे अमृत गिर रहा है और वह आपको बाहर-भीतरसे पवित्र कर रहा है। आप अपने सिरमें सहस्रदल कमलका ध्यान करके उसके ऊपर हमारे गुरु बैठे हैं और उनके चरणारविन्दसे हमारा सिर पवित्र हो रहा है—ऐसा ध्यान कीजिए। आप यह भी ध्यान करें कि आपके अन्दर जो शक्ति है—मूलाधारसे लेकर सहस्रार-पर्यन्त—उसमें-से एक शक्तिकी धारा निकल रही है, बौछार निकल रही है और आपको पवित्र कर रही है—जैसे भी हो अपने आपको पवित्र कर लीजिए।

जिस प्रकार एक पतिव्रता स्त्री अपने पतिके पास शरीरको स्वच्छकर, सुन्दर वस्त्र धारणकरके जाती है, वैसे ही आप भी परमात्माके पास चलें। चाहे जिस अवस्थामें रहने और पास जानेकी पद्धति ईश्वरके सामने नहीं चल सकती। शहरमें जाते हैं तब तो लोगोंको दिखानेके लिए सोलहों शृङ्गार करके जाते हैं, और घरमें रहते हैं तो मैला-कुचैला पहनते हैं। नहीं अपने घरमें भी, पवित्रता और सुन्दरतापूर्वक रहना चाहिए। यदि आपका पति आपकी सुन्दरता नहीं देखेगा तो क्या गाँवके लोग देखेंगे? आपको किसे आकृष्ट करना है? किसकी आँख अपनी ओर खींचनी है? तो आप पवित्र हो जाइये। आपके हृदयकी पवित्रता ही आपको परमात्माके साथ मिला देगी।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

प्रवचन : 6

योगका उद्देश्य है दुःखीको सुखी करना। योगाचार्य पतञ्जलिके सम्बन्धमें यह प्रसिद्ध है कि उन्होंने शरीरके मलको दूर करनेके लिए चरकके नामसे आयुर्वेदशास्त्रका, वाणीके मलको दूर करनेके लिए महाभाष्यका और चित्तके मलको दूर करनेके लिए योगदर्शनका निर्माण किया। मन निर्मल हो, शरीर स्वस्थ हो और वाणी पवित्र हो—ये तीन गुण यदि मनुष्यमें हों तो उसके जीवनको पूर्ण कह सकते हैं। ब्रह्म होने, ब्रह्मसुखमें जाने और समाधि लगाने-वाली बात अलग है।

मुझे एक महात्माने बताया था कि 'मैं जीवनमें तीन बातें देखना चाहता हूँ—शरीर स्वस्थ रहे, चरित्र पवित्र रहे और मनमें सबके प्रति सद्भाव रहे। यदि किसीमें ये तीन बातें हैं तो मैं उसके जीवनको उत्तमोत्तम माननेको तैयार हूँ।' तो, बुद्धिको ठीक-ठीक रखनेके लिए थोड़ी देरतक एकान्तमें बैठकर उसका पर्यवेक्षण करना चाहिए। उसकी जाँच-पड़ताल पूरी तरह कर लेनी चाहिए। यह कब, कहाँ, किस कारणसे अभिमान करती है, फँस जाती है, जलने लगती है, वासनासे विवश होकर गलत रास्तेपर चलने लगती है, यह देखनेकी बात है।

यदि आप थोड़ी देर बैठकर बुद्धिके बारेमें विचार नहीं करेंगे तो वह गलत हो जायेगी और उसके गलत होनेके कारण सारा जीवन गलत हो जायेगा। बुद्धि शुद्ध रहनी चाहिए। अतः मनुष्य बुद्धिसे विचलित न हो, इसके लिए योगकी आवश्यकता होती है। योग बुद्धिको ठीक करनेका उपाय है।

यह विडम्बना देखो कि मनुष्यके शरीरमें किसी रोगकी सम्भावना हो जाये तो वह पहलेसे ही उसकी दवा करता है। डाक्टर लोग तो मनुष्यको डरा-डराकर भी अपनी जीविका चलाते हैं। आपमें-से कोई डाक्टर हो तो माफ करें। किसीको छींक आयी, खाँसी हुई, तो डाक्टर कहते हैं कि अभीसे दवा करो नहीं तो दमा हो जायेगा। दमा तो पता नहीं कहाँ है, भय उसका जरूर पैदा कर देते हैं। मनुष्य अपने शरीरसे भी जो महत्त्वपूर्ण वस्तु अन्तःकरण है, बुद्धि है उसकी स्वस्थताके लिए मनुष्य प्रयत्नशील नहीं है।

अतः मनुष्यको बुद्धिकी, अन्तःकरणकी और मनकी स्वस्थताके लिए अवश्य प्रयत्नशील होना चाहिए। मनुस्मृतिमें, याज्ञवल्क्यस्मृतिमें, भागवतमें, महाभारतमें यह बात आती है कि मनुष्य प्रातःकाल उठकर आत्मचिन्तन करे। मनुस्मृतिका श्लोक देखिए—

ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत्।
कायक्लेशांश्च तन्मूलान्वेदतत्त्वार्थमेव च॥ मनुस्मृति 4.92

मनुष्यको प्रातःकाल अपनी कायाके क्लेशका चिन्तन कर लेना चाहिए। यह देखना चाहिए कि क्या

खानेसे तबीयत बिगड़ती है, क्या न खानेसे अच्छी रहती है, कौन-सा काम हमारे शरीरके लिए अनुकूल है, कौन-सा प्रतिकूल है, कैसी बात मुँहसे निकलनेपर मनमें ग्लानि होती है, इत्यादि। मनुष्यको अपने चरित्रके सम्बन्धमें, दुःख-दारिद्र्यके सम्बन्धमें अवश्य ही विचार करना चाहिए। प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर ईश्वरसे यह प्रार्थना करनी चाहिए कि प्रभो, हमें याद रहे कि आप हमारा आचरण और हमारे मनकी वासनाओंको देख रहे हैं। आज दिनभरके लिए हमको वरदान दे दीजिए कि हम भीतर-बाहरसे ठीक रहे। केवल एक दिनके लिए ही नहीं, यह वरदान प्रतिदिनके लिए माँगते रहो।

आपको पुलिसके सामने, अफसरके सामने, सरकारके सामने झुकनेमें तो मजा आता हो, किन्तु सर्वशक्तिसम्पन्न ईश्वरके सामने प्रणत होनेमें क्यों हेठी मालूम पड़ती है? ऐसे लोग भी होते है, जो गुण्डोंकी खुशामद तो करते हैं, किन्तु ईश्वरसे कहते हैं कि हम तुमसे कुछ माँगते नहीं। वे जानते हैं कि ईश्वर बेचारा कुछ नुकसान तो करेगा नहीं, इसलिए कह देते हैं कि हम तुमसे कुछ माँगते ही नहीं।

यदि आप कदाचित् ईश्वरको न मानते हों, तो भी दृढ़तासे प्रतिज्ञा कीजिए कि आजके दिन मैं किसीका बुरा नहीं करूँगा, झूठ नहीं बोलूँगा, मौन रहूँगा। मौन रहना भी धर्म है। बोलनेकी आवश्यकता हो तभी बोलना चाहिए। जबरदस्ती किसीके मुकद्दमेमें गवाही देने नहीं पहुँचना चाहिए। आवश्यक हो तब सत्य बोलना चाहिए। धर्मका यह नियम है कि—

नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः।
जानन्नापि हि मेधावी जडवल्लोकमाचरेत्॥ मनुस्मृति 2.110

बिना पूछे किसीको उपदेश न करो। यदि कोई पूछता हो, पर बेकायदे डण्डा लेकर खड़ा हो जाये और कहे कि यह बात तुम्हें बतानी ही पड़ेगी तो भी नहीं बताना चहिए। रामचरितमानसमें एक प्रसंग है कि बिना नमस्कार किये पूछनेवालोंको बिलकुल नहीं बताया गया। अतः प्रश्नकर्ताको नम्र होना पड़ता है।

आपको कितनी भी जानकारी हो परन्तु उनके सामने बिलकुल अनजानकी तरह हो जाना चाहिए, जो कायदेसे न पूछते हों या पूछते ही न हों। यह मनुजीका कथन है। मैं मनुजीका नाम लेकर आपकी बुद्धिपर कोई दबाव नहीं डालना चाहता, लेकिन बात आपके ध्यानमें रहनी चाहिए।

तो योगाभ्यास किसलिए? अपनी बुद्धिको, चरित्रको ठीक करनेके लिए। प्रातःकाल उठिये, प्रतिज्ञा कर लीजिए कि आजके दिन चाहे कुछ भी हो जाये, परन्तु किसीको अपशब्द नहीं कहेंगे, बुरा नहीं कहेंगे, किसीका अपमान नहीं करेंगे, किसीको हानि नहीं पहुँचायेंगे। पहले प्रातःकाल प्रतिज्ञा कीजिए। फिर सायंकाल दृढ़तासे बैठिये और निरीक्षण कीजिए कि आज मैंने जो प्रतिज्ञा की थी, प्रार्थना की थी, भगवान्के चरण-स्पर्शके साथ-साथ शपथ ली थी, वह ठीक-ठीक पूरी हुई कि नहीं? यदि नहीं हुई तो पछताइये, पश्चाताप कीजिए और आगे ऐसा नहीं करेंगे—इसकी प्रतिज्ञा कीजिए।

तो, अपने ऊपर नियन्त्रण करनेके लिए नियमका और दूसरोंसे व्यवहार करते समय यमका पालन करना चाहिए। नियम और यमसे ही इस लोकमें प्रतिबन्ध अथवा नियन्त्रण स्थापित होता है। सत्य, अहिंसा,

अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच यम हैं। मनमें किसीके प्रति क्रोध हो अथवा किसीको हानि पहुँचानेकी भावना हो, तो अहिंसाका व्रत आवश्यक है।

जो बहुत बोलते हैं, जिनकी जुबान काबूमें नहीं, वे झूठ जरूर बोलते हैं। यदि कोई ऐसा समझता है और बोलता है कि मैं झूठ कभी नहीं बोलता, तो यह भी एक झूठ है। ऐसा कौन होगा कि जिसकी जीभने कभी-न-कभी धोखा न दिया हो? तो, सच बोलना तथा किसीको तकलीफ न पहुँचाना, सत्य और अहिंसा है।

किसीका माल या किसीका हक न हड़पना अस्तेय है और आवश्यकतासे अधिक संग्रह न करना अपरिग्रह है। अधिक संग्रह मनको विक्षिप्त कर देता है। अपने हककी वस्तु भी आवश्यकतासे अधिक संग्रहीत करना परिग्रह और न करना अपरिग्रह है।

योगकी बात आप जानते ही हैं। ये पाँच यम समाजके साथ बर्ताव करनेके लिए हैं और अपने लिए पाँच नियम हैं। पवित्रताके नियम, तपस्याके नियम, स्वाध्यायके नियम, संतोषके नियम और ईश्वर-प्रणिधान अथवा ईश्वर-चिन्तनके नियम—ये पाँचों नियम मनुष्यके जीवनमें होने चाहिए। यम और नियम योगके अनिवार्य अंग हैं।

अब और भीतर चलिए। शरीर, प्राण और इन्द्रिय—इन तीनोंकी शुद्धिके लिए तीन साधन हैं। शरीरके लिए आसन, प्राणके लिए प्राणायाम और इन्द्रियोंके लिए प्रत्याहार। यम बहिरंग है, समाजमें है। नियम अपने जीवनमें है। आसन अपने शरीरमें है। प्राणायाम प्राणमें है और प्रत्याहार इन्द्रियोंमें है।

अब उससे भी अन्तरंग देखो। फैले हुए देशमें मनको समेटना धारणा है। कालमें फैले हुए मनको समेटना ध्यान है और वस्तुओंमें फैले हुए मनको समेटना समाधि है। इन सबका क्रम होता है। सबके सम्बन्धमें समझदारी होती है। आज्ञाकारी लोग दूसरे होते हैं, समझदार लोग दूसरे होते हैं। उनका भी स्तर होता है। जो हर बातको समझ लेना चाहते हैं, उनकी स्थिति अलग होती है। आप क्या कोई व्यापार करते हैं तो बिना समझे-बूझे कर लेते हैं? फिर योगाभ्यास बिना समझे-बूझे कैसे कर लेगें? बुद्धिका तिरस्कार करके तो कुछ भी नहीं हो सकता—

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥ 6.13

अब आपको आसन, प्राणायाम और प्रत्याहारकी बात सुनाता हूँ। हमारे योगदर्शनमें तीन-तीनका विभाग है। जैसे शरीर, प्राण और इन्द्रिय। प्रमाण भी तीन हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। दुःख भी तीन हैं—आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक। समाधि भी तीन है—मूढ़, क्रिया और भोग। मूढ़ समाधि है आसनमें, क्रिया समाधि है प्राणायाममें और भोग समाधि है प्रत्याहारमें। यह समझदारीकी बात है। जो लोग योगमें रुचि रखते हैं, उनकी समझमें आयेगा। अवस्था तीन प्रकारकी होती है—मूढ़, विक्षिप्त और शान्त। मनुष्य मूढ़ हो जाता है—बेहोश हो जाता है, विक्षिप्त हो जाता है—अत्यन्त चंचल हो जाता है, और शान्त हो जाता है। ये तीनों स्थितियाँ प्रकृतिकी हैं।

जब हम शरीरको शान्त करते हैं—एकदम स्थिर तो उसका उपाय क्या है? उसके लिए एक आधिदैविक युक्ति सुनाता हूँ। जहाँ बैठकर भजन करना हो, वहाँ पहले पृथिवीसे प्रार्थना कर लीजिए—

पृथिवि त्वया धृता लोका देवि त्वं विष्णुना धृता।
त्वञ्च धारय मां देवि पवित्रं कुरु चासनम्॥

'हे पृथिवी माता, तुम तीनों लोकोंको धारण करनेवाली हो और तुम्हें भगवान् विष्णु धारण करते हैं। तुम हमको अपनी गोदमें ले लो। हमारा यह आसन पवित्र हो जाये। इस प्रार्थनासे आपको बड़ी भारी शक्ति मिलेगी। लोग हाथमें जल लेकर चारों ओर छिड़कते हैं और संकल्प करते हैं।'

अपसर्पन्तु ते भूताः ये भूताः भूमिसंस्थिताः।
ये भूता विघ्नकर्तारस्ते नश्यन्तु शिवाज्ञया॥

यहाँ यदि कोई प्राणी हों, चढ़ आये हों, घुस आये हों तो आसनके नीचे उनकी हिंसा न हो जाये और जो विघ्न करनेके लिए आनेवाले हों, उनका नाश हो जाये। उसका आशय यही है कि भजन निर्विघ्न होकर करना चाहिए।

अब एक दूसरी आधिदैविक बात सुनाता हूँ। जो लोग अपने मनसे केवल किताबोंमें पढ़कर साधना करने बैठ जाते हैं, उन्हें यह सब बातें मालूम नहीं हैं। ध्यानके लिए स्थिरतासे बैठना आवश्यक है।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरम्।

शरीर, सिर और गर्दन—इन तीनोंको सम होना चाहिए, अचल होना चाहिए। शरीर स्थिर होगा, तभी प्राण स्थिर होंगे इन्द्रियाँ स्थिर होंगी और मन स्थिर होगा। यदि मनको ही चंचल रखेंगे तो प्राण भी स्थिर नहीं होगा, इन्द्रियाँ भी स्थिर नहीं होंगी और शरीर भी स्थिर नहीं होगा।

इनके लिए एक आधिदैविक उपाय सद्गुरु लोग अपने शिष्योंको बताते हैं। वह उपाय यह है कि आप थोड़ी देरके लिए यह ध्यान कीजिए कि आपके शरीरके भीतर शेषनाग है। शेषनागका रंग सफेद—श्वेतवर्ण होता है। तो, भगवान् शेषनाग आपके शरीरके भीतर हैं और फन फैलाकर बैठे हैं। उनकी गोदमें भगवान् विष्णु हैं, उनके सिर पर पृथिवी है और वे बिलकुल स्थिर हैं। अब यदि शेष भगवान् हिलेंगे तो विष्णुकी योगनिद्रा टूटेगी और पृथिवीमें भूकम्प आवेगा।

इस प्रकार शेष भगवान् बिलकुल अचल होकर आपके शरीरमें विद्यमान हैं। अब आपके मनमें जितनी देर तक शेषनागके इस रूपका ध्यान रहेगा, उतनी देर आपका शरीर स्थिर हो जायेगा और जब स्थिर रहेगा अभ्यास हो जायेगा तब आपका योगाभ्यास सिद्ध हो जायेगा। आप अभी करके देख लीजिए। जितनी देर आपका शरीर सीधा और स्थिर रहेगा, उतना ही अभ्यास आपका बढ़ेगा।

तो शरीरमें स्थिरता आवश्यक है। वही बुद्धिको शुद्ध करनेका साधन है। बुद्धिकी शुद्धि आपके व्यापारके लिए भी लाभदायक है। आपकी बुद्धि शुद्ध होगी, स्थिर होगी तो आप जिस विषयमें भी सोचना प्रारम्भ करेंगे, बिल्कुल ठीक-ठीक सोच सकेंगे। कभी-कभी तो आपकी बुद्धिमें वैसी बातें भी आने लगेंगी,

जिनको आपने न सुना और सोचा। बुद्धि शुद्ध होनेपर अत्यन्त प्राचीन कालके विचारोंके ब्राडकास्ट भी सुनायी पड़ने लग सकते हैं। श्रीरामने, महर्षि वसिष्ठने, श्रीकृष्णने, जो कुछ कहा था, वह सब आकाशमें भरा हुआ है। शुद्ध बुद्धि उन विचारोंको पकड़ सकेगी।

अमेरिका, चीन और रूस आदिमें फैलाये जा रहे विचारोंको जैसे आपका रेडियो ग्रहण करता है, वैसे ही आपकी शुद्ध बुद्धि यह ग्रहण कर सकती है कि अमुक विषयपर उनके क्या विचार हैं? अपने देशके पतञ्जलि, पाणिनी, व्यास तथा शुकदेव आदिने जो विचार प्रकट किये, वह भी आपकी शुद्ध बुद्धि ग्रहण करने लगेगी। चमत्कार प्रदर्शनीमें नहीं, बुद्धिमें है।

यदि आप स्थिरतापूर्वक भगवान्‌के नामका उच्चारण करते हैं और बिलकुल कायदेसे करते हैं तो उससे भी आपकी बुद्धि शुद्ध होती है। कोई-कोई कहते हैं कि हमारा मन स्थिर नहीं होता। यह चिन्ताकी बात नहीं है। सिद्धान्तकी बात यह है कि जो साधन हैं, मन स्थिर होनेके बाद करने के नहीं हैं। मनको स्थिर करनेके लिए ही ये साधन किये जाते हैं। आप यदि साधन और साध्यको उलट देंगे और यह सोंचेगे कि पहले मुनाफा हो लेगा तब व्यापार करेंगे, तो यह ठीक नहीं है। पहले व्यापार किया जाता है, फिर उसका लाभ मिलता है। वैसे ही पहले योगाभ्यास किया जाता है और बादमें उसका फल मिलता है।

आप बोलते हैं राम, राम, राम, राम! एकके बाद दूसरा, दूसरेके बात तीसरा और तीसरेके बाद चौथा। बोलनेमें क्रम होता है। एक कालसे जिह्वामें क्रिया होती है। जब कालके क्रमसे जिह्वामें नाम— उच्चारणकी क्रिया होने लगेगी तो श्वासकी गति भी नियमित हो जायेगी। जीभको कायदेसे हिलानेके लिए जो प्राणशक्ति काम करेगी, वह प्राण भी आपके बिल्कुल ठीक-ठीक हो जायेंगे। आपका मन इतना तो लगा कि आपकी जीभ राम-राम बोल रही है। नामोच्चारण करते हुए आपकी जीभ हिलती है, उठती है और बैठती है।

तो, भगवान्‌के नामका जप एक क्रिया-योग है। क्रिया-योग होनेके कारण यह जिह्वाकी गतिको नियमित करता है और उससे प्राणकी गति भी नियमित हो जाती है। वास्तवमें जो भगवान्‌के नामका जप करते हैं, उनको अलगसे प्राणायाम करनेकी जरूरत ही नहीं है।

जपकी एक बात और सुनो। लोग शिकायत करते हैं कि जब जप करने बैठते हैं। तो मनीराम कहीं और चल देते हैं। कोई बात नहीं, मनको भागने दो। उसके भागनेसे डरनेको जरूरत नहीं। क्योंकि क्रियायोग जीभसे भगवान्‌का नाम बोलने पर होता है। मनके अभ्यासका नाम क्रियायोग नहीं है, जीभके अभ्यासका नाम क्रियांयोग है।

फिर भी मनकी बात लो। आप 'राम'का उच्चारण कीजिये, ऐसे कीजिये कि 'रा' बोलनेके बाद 'म'से पहले जो 'अ' है, वह इतना लम्बा हो जाये कि 'म' बोलनेमें पाँच-दस सेकेण्डकी देरी लग जाये—रा..म। अब आप बताइये कि 'र' और 'म' के बीचमें आपने जो अवकाश, जो काल निकाला, उसमें आपका मन कहाँ था? निश्चय ही 'र' और 'म' की सन्धिमें आपका मन संयत हो गया। अब आप इसको और बढ़ा

दीजिये, क्रमशः बढ़ाते जाइये तथा बारम्बार अभ्यास कीजिये, फिर आपका मन संयमित हो जायेगा। ये सब मन लगानेकी युक्तियाँ होती हैं।

एक युक्ति और देखिये। आप जिस मालापर जप करते हैं, उसका प्रत्येक मनका आँखसे देखते जाइये और 'राम-राम' करते जाइये। मैं यहाँ उदाहरणके लिए 'राम-राम' बोलता हूँ। आप 'कृष्ण-कृष्ण' जपिये, 'शिव-शिव' जपिये या और कोई नाम जपिये। बात एक ही है।

नामको लम्बा करनेसे क्रियामें कालका योग हो गया। उसमें देशयोग भी कर सकते हैं। नामका उच्चारण नाभिसे, हृदयसे, अथवा कण्ठसे करनेपर देशयोग हो जाता है और यदि उसमें कोई ध्यान आ जाय तो वस्तुयोग हो जायेगा। तो नाम-जपके माध्यमसे कालयोग, देशयोग, क्रियायोग और वस्तुयोगकी प्राप्ति एक साथ हो गयी। योग माने कसरत करना नहीं होता। परमात्माके साथ जुड़ना होता है।

अब आगे देखो, प्राणायाममें आसन क्या है? प्रकृतिके तीन स्तर हैं—तमस्, रजस् और सत्त्व। आसन तमस्का निरोध करता है, प्राणायाम रजस्का निरोध करता है और प्रत्याहार सत्त्वका निरोध करता है। शरीर, प्राण और मनमें शरीरसे सूक्ष्म प्राण है, प्राणसे सूक्ष्म मन है। यह मन इन्द्रियोंमें असाधारण करणके रूपमें रहता है। आँखमें मन हो तब दीखता है। कानमें मन हो तब सुनता है।

सम्भव है यह बात किसी-किसीकी समझमें न आवे। उन्हें भी सुननेमें संस्कार पड़ेगा। एक बार सुनेंगे। दुबारा सुनेंगे, तिबारा सुनेंगे तो फिर समझमें आ जायेगा। आप जो जानते हैं, वही आपको सुनाया जाये तो लगेगा कि कुछ नहीं सुनाया गया। किन्तु आपको जो ज्ञात नहीं है, वह सुनेंगे तो आपका ज्ञान बढ़ेगा। थोड़ा धैर्य रखना चाहिए। ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि वह हमारे ज्ञानकी सीमाके भीतर नहीं है इसलिए सुनना व्यर्थ है।

आसनसे पञ्चभूतका नियन्त्रण होता है और उनमें जो क्रिया होती है, उसका नियन्त्रण प्राणायामसे होता है। प्राणायाममें तीन मुख्य हैं। एक प्राणायम भस्त्रिका होता है। जैसे लोहारकी धौंकनी चलती है, वैसे ही उसमें साँसको चलाना पड़ता है। दूसरा प्राणायाम उज्जायी होता है और तीसरा प्राणायाम सूर्यभेदी होता है। और भी बहुत भेद होते हैं प्राणायामके। पर उनमें तीन मुख्य हैं और वे चार तरहके होते हैं।

साँसको बाहरसे लेना, भीतर रोकना और फिर निकालना, यह कोई बड़ी बात नहीं। बड़ी बात यह है कि उसमें मात्रा होनी चाहिए। यदि साँसको दो मात्रामें भरें, तो आठ मात्रामें रोकनेका प्रयास करें और फिर चार मात्रामें निकालें। इसको ऐसे समझिये कि यदि दो सेकेण्डमें साँस लें तो आठ सेकेण्ड उसको रोकें और फिर चार सेकेण्डमें निकालें। यह क्रम है उसका।

इसमें जो मुश्किल बात है, उसकी ओर आपका ध्यान दिलाते हैं। दो सेकेण्डमें भरना भी आसान है और आठ सेकेण्ड रोकना भी आसान है। लेकिन चार सेकेण्डमें निकालना बड़ा मुश्किल है। नियन्त्रण न होनेपर वह फकसे निकल जाता है। प्राणायाममें नियन्त्रणकी मर्यादा वहीं होती है, जहाँ आप साँसको कायदेसे निकलने देते हैं। चौथा प्राणायाम वह है जिसमें साँसको बाहर ही रोक लेते हैं भीतर लेते ही नहीं।

प्राणयामका अर्थ शरीर अथवा उसके अंग-विशेषका व्यायाम नहीं है। शरीरमें जितनी भी क्रियाएँ होती

हैं—जैसे उँगली हिलती है, हाथ हिलते हैं—वह सब प्राणकी शक्तिसे होता और प्राणपर नियन्त्रण प्राणायामसे होता है। लकवा लग जानेपर, हाथ रहता है और हिलानेका मन भी करता है, परन्तु हिलाये हिलता नहीं। इसीलिए कि प्राणशक्ति निष्क्रिय हो जाती है।

अच्छा, इच्छा होनेपर भी हाथ नहीं हिलते और हाथ हो न हो, तब हिलेगा क्या? जब हाथ, प्राणशक्ति और संकल्प तीनों रहते हैं तब कोई क्रिया ठीक-ठीक होती है। तो आसनसे शरीर-शक्तिका और प्राणायामसे क्रिया-शक्तिका नियन्त्रण होता है।

अब कुछ प्रत्याहारकी बात भी सुनाते हैं। योगीके लिए भोजनकी भी जरूरत होती है। उसे ठीक-ठीक भोजन भी चाहिए। उसका भोजन उसकी अपनी दृष्टिसे पवित्र होना चाहिए। उसके लिए ज्ञान उधार लेनेकी जरूरत नहीं। किन्तु इसका यह मतलब नहीं कि यह भोजन करनेमें स्वतन्त्र है और जो चाहे, वह खा सकता है।

भोजनके सम्बन्धमें शास्त्रकी समाजकी, जातिकी, सम्प्रदायकी मान्यताएँ हैं, सार्वभौम मान्यता भी है। इसलिए आप अपने मनकी स्वतन्त्रतासे किसी वस्तुको पवित्र मान लेंगे तो आपका मन कमजोर पड़ जायेगा। आपको कभी-न-कभी खटकेगा कि मैंने जो अमुक वस्तु खायी, वह पवित्र नहीं है अथवा जो अमुक आचरण किया, वह पवित्र नहीं है।

तो, इन्द्रियोंके सम्बन्धमें एक बात देखो। गुरुजन लोग जो बताते हैं, वही सुनाता हूँ। 'सा दृष्टिः सूक्ष्मलक्ष्या' आपकी आँख खुली हो, कोई हर्ज नहीं। ध्यानके सम्बन्धमें आपने कबीरकी उक्ति सुनी ही होगी—**आँख न मूँदौं साँस न रूँधौं।** तो आँख बन्द करनेकी जरूरत नहीं। हृदयमें स्थित आत्मा परमात्माके ज्ञानका लक्ष्य ठीक होना चाहिए। चित्तमें किसी भी वस्तुकी वासना न हो। इस प्रकारकी दृष्टिको पूर्व दृष्टि बोलते हैं।

अब दूसरी दृष्टि हो। कोई दृश्य दिखायी नहीं पड़ा रहा है, आँख बन्द है। इन्द्रियाँ हैं, पर उनका विषय नहीं है। कान है, पर शब्द नहीं है। आँख है, पर रूप नहीं है। नाक है, पर गन्ध नहीं है। त्वचा है परन्तु स्पर्श नहीं है। केवल ज्ञानका ज्ञान है।

सा दृष्टिर्यत्र नान्यत् सकलमविकलं ब्रह्म प्रत्यक् प्रशान्तम्।

अब तीसरी दृष्टि देखो। आँख चाहे बन्द हो, चाहे खुली हो। उसको अप्रतिहत दृष्टि बोलते हैं। खुली आँख, बन्द आँख, अधखुली आँख। भाई मेरे, कभी-कभी जागते हुए बैठनेका अभ्यास करो। सोकर बैठना दूसरी चीज है, बैठे हुए सो जाना दूसरी चीज है और सोते-सोते बैठे रहना दूसरी चीज। अर्थात् सावधानी चाहिए। रोम-रोम सावधान रहे, स्थिर रहे।

सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्।

नासिकाग्रका अर्थ है, जहाँ नाक समाप्त होती है। उसका जो ऊपरी हिस्सा है जहाँ दोनों भौहें आकर मिलती है। नाकके बाहरी हिस्सेको नासिकाग्र नहीं बोलते, भीतरी हिस्सेको बोलते हैं। उसको संप्रेक्ष्य

भली-भाँति देखकर। काशी कहाँ है तो दोनों भौहेंके बीचमें है। उसको आज्ञाचक्र बोलते हैं। तो 'दिशश्चानवलोकयन्' इधर-उधर न देखकर आँखकी पुतलीको जहाँ-की-तहाँ स्थिर करके ध्यान करना।

आँखकी पुतलीपर दबाव नहीं डालना चाहिए। उसपर जोर डालोगे तो आँखमें दर्द होगा, सिरमें दर्द होगा, गर्मी बढ़ जायेगी। इसलिए आँखकी पुतलीपर जोर दिये बिना, उसे जहाँ-की-तहाँ छोड़कर ज्ञानदृष्टिको नासिकाग्रमें लगाना, अन्य किसी ओर नहीं देखना। ऐसा आप केवल पाँच मिनट कीजिये। चौबीस घण्टे करनेकी बात अभी नहीं कहते।

जब इसमें रसका विकास होगा, मजा आवेगा तब जीवनमें तीन चीजें बढ़ेगी—एक तो आपकी जीवनी-शक्ति बढ़ेगी, दूसरे आपकी ज्ञान-शक्ति बढ़ेगी और तीसरे बिना संग्रह, बिना भोग तथा बिना क्रियाके ही आपके जीवनमें आनन्दका विकास होगा। आप आनन्दमें पराधीन नहीं रहेंगे, ज्ञान आपको छोड़ेगा नहीं और जीवनी-शक्ति बढ़ती जायेगी, चरित्र शुद्ध होगा। आप दुनियाके सामने अपनी बुद्धिको ठीक लगा सकेंगे। जैसे आप पन्द्रह मिनटमें भोजन करते हैं और उस भोजनकी शक्ति आपको छह घण्टोंतक काम देती है। वैसे ही आप पाँच मिनट शान्त होकर बैठेंगे तो चौबीस घण्टोंतक स्वस्थ प्रसन्न रहेंगे।

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः। 6.14

गीता कहती है कि अपने मनको शान्त रखो। यदि किसीपर गुस्सा करके आओगे और यह कहते हुए आओगे कि तू घरसे निकल जा, मैं तेरा मुँह देखना नहीं चाहता तो क्या होगा? ऐसी मनःस्थितिमें जब ध्यान करने बैठोगे जिसको तुम घरसे निकालना चाहते थे, वह तुम्हारे दिलमें आकर दीखने लगेगा और तुम्हारा ध्यान नहीं लगेगा।

आप किसीको अपने दिलसे निकालना चाहें, तो उसके लिए बड़ा सीधा-सा उपाय हम आपको बताते हैं। अपने दोनों अंगूठेके नाखूनोंको आपसमें भिड़ा दीजिये। वे ढीले न पड़ने पावें इसका ख्याल रखिये। जब आप दूसरेकी ओर ध्यान देंगे तो ये ढीले पड़ जायेंगे। इसी तरह आपके मुखमें जो अवकाश है, आकाश है, उसमें आपके ऊपर-नीचेके दाँत आपसमें मिलें नहीं और ओठ बन्द रहे, सटे रहें। ओठोंको सटाकर दाँतोंको अलग कर दीजिये और जीभको न ऊपर छूने दीजिये, न नीचे छूने दीजिये, मुँहके भीतर अधरमें लटका दीजिये ऐसा पाँच मिनट करके देखिये, आपका मन दूसरी ओर कहीं नहीं जायेगा। यदि दूसरी ओर जायेगा तो आपकी जीभ पट्टसे नीचे गिर जायेगी।

ये सब युक्तियाँ हैं, मन एकाग्र करनेकी, मनकी अशान्तिको, बेचैनीको दूर करनेकी। आपको मालूम है कि मन कभी थकता नहीं। उसको कभी-कभी विषयान्तर चाहिए। जैसे खीर खाते-खाते बीचमें चटनी भी खा लेते हैं, ऐसे ही ब्रह्मचिन्तन करते-करते यदि मन उसमें न लगे तो बीच-बीचमें प्रेमका भी चिन्तन कर लेना चाहिए, काव्यका भी चिन्तन कर लेना चाहिए।

दर्शनशास्त्र पढ़नेमें मन न लगे तो काव्यशास्त्र पढ़ लेना चाहिए। ब्रह्मसूत्र शांकर-भाष्य पढ़नेमें मन न लगे तो राम-चरित्र, कृष्ण-चरित्र पढ़ो, भागवत पढ़ो, रामायण पढ़ो। उसमें भी मन न लगे तो कालिदासको

पढ़ो, कालिदासमें भी मन न लगे तो 'प्रेम पत्तनम्' पढ़ो और भी कोई सत्साहित्य पढ़ो। तात्पर्य यह है कि आवश्यकतानुसार समय-समयपर मनके विषयोंको बदलते जाओ। इसमें कोई हर्ज नहीं है। हर्ज है, इस दुनियाका चिन्तन करनेमें हमारा पड़ोसी ऐसा है। हमारा सम्बन्धी ऐसा है उनकी बेटी ऐसी है। उनकी बहू ऐसी है। हे भगवान्, क्या लेना--देना है, इन बातोंसे तुमको? पराई चर्चा करके अपने मनको खराब न करो। अपने लक्ष्यको सामने रखो। अपने आत्माको, अपने मनको, प्रशान्त कर लो। यदि कहो कि यदि मनसे सोचेंगे नहीं तो कुछ काम बिगड़ जायेंगे तो इसकी जिम्मेवारी भगवान् लेते हैं और कहते हैं—'विगतभीः' भय छोड़ दो। भय कमजोरी है।

एक सिद्धान्त ऐसा है और बढ़िया सिद्धान्त है कि ईश्वरकी देख-रेखमें, ईश्वरकी मर्जीसे, ईश्वरकी शक्तिसे और ईश्वरमें सारी घटनाएँ घटित हो रही हैं। अतः निर्भय हो जाओ, शान्त हो जाओ, तुम्हारी कोई हानि होनेवाली नहीं। पीछेकी घटनाएँ शोक देती हैं, आगेकी घटनाएँ भय देती हैं और वर्तमानमें हम जो सुन्दरताको, अच्छाईको बाहरी दुनियामें रख देते हैं, यह हमको बहुत तकलीफ देती है। अतः 'ब्रह्मचारिव्रतेस्थितः' अर्थात् हमें सच्चाईका अनुसन्धान करना चाहिए।

मनः संयम्य मच्चितो युक्त आसीत मत्परः। 6.14

जैसे घोड़ेकी बागडोर अपने हाथमें रखते हैं, वैसे ही मनको अपने हाथमें रखना चाहिए। एक कहावत है कि किसी बादशाहको हाथीपर बैठा दिया गया। उसने कहा इसकी लगाम हमको दो। जवाब मिला कि हुजूर हाथीको लगाम नहीं होता। इसपर वह बादशाह कूद पड़ा हाथीसे और बोले ऐसे जानवर पर मैं बैठता नहीं, जो मेरे हाथमें न हो। तो, 'मनः संयम्य'। संयमका अर्थ होता है संयत करना, नियन्त्रणमें रखना। इसके साथ-साथ तुम्हारी जो स्थिति है उसको भगवान्में रखो।

मनको चंचल न होने देना, बिखरने न देना और चित्तको भगवान्में रखना, युक्त होकर बैठना-ये दोनों दो चीजें हैं। 'मत्परः' माने भरोसा भगवान्का रखो, चित्तको भगवान्में स्थित करो, मनको काबूमें रखो और शान्त होकर बैठ जाओ—यही योगाभ्यास है। यह साधन चाहे आप पाँच मिनट कीजिये, दस मिनट कीजिये, परन्तु कीजिये प्रतिदिन। इससे आपकी बुद्धि शुद्ध हो जायेगी।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥ 6.15

और यदि आप हमेशा ऐसा करेंगे तो आपको शान्ति मिलेगी। परन्तु इसमें साधक-बाधक तत्त्व भी होते हैं। 'नात्यश्नस्तु योगोऽस्ति'—जो ज्यादा खायेगा वह योग नहीं कर सकता। 'न चैकान्तमनश्नतः'—जो बिल्कुल नहीं खायेगा वह भी योग नहीं कर सकता; क्योंकि बिल्कुल नहीं खायेगा तो कमजोर हो जायेगा। उसमें आसन—प्राणायाम करनेकी शक्ति ही नहीं रहेगी।

यह शरीर पञ्चभूतसे बना है। इसे पञ्चभूतका भोजन चाहिए। मिट्टीसे बने शरीरको, मिट्टीसे बना हुआ अनाज चाहिए। पानीसे बने शरीरको पीनेके लिए पानी चाहिए। गर्मीसे बने शरीरको गर्म रखनेके लिए सूर्यकी

रोशनी चाहिए, आग चाहिए। हवासे बने शरीरको साँस लेनेके लिए हवा चाहिए। आकाशसे बने शरीरको घूमनेके लिए अवकाश चाहिए और ईश्वरसे बने जीवनको पूर्णताके लिए ईश्वर चाहिए। तो, ज्यादा नहीं खाना, पर खाना छोड़ना भी नहीं।

निरोग कौन रहता है? वह रहता है जो हितकारी भोजन करता है, मिताहार करता है। भोजनमें एक दिन ज्यादा, एक दिन कम ऐसा नहीं होना चाहिए। उसका परिमाण, उसकी मात्रा होनी चाहिए।

पथ्यांशी व्यायामी स्त्रीषु जितात्मा

योगी पथ्य भोजन करे, आवश्यक व्यायाम करे और कामके प्रवाहमें बह न जाये। जो इन नियमोंका पालन करता है, उसको रोग नहीं होता। यह रोगसे बचनेका उपाय है। इसके साथ एक बात और है कि योगसाधक किसीसे द्रोह न करे। यदि द्रोह करेगा तो द्रोहकी आगमें वह खुद जलेगा।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥ 6.16

बहुत सोनेवाले पर भी तमोगुण हावी हो जाता है। लोग जो सोनेका समय होता है, जब चिड़िया तक सोती है, उसमें तो जागते हैं और जब सब प्राणी सूर्यकी रोशनीमें क्रियाशील होते हैं, तब सोते हैं।

किसीसे पूछा—क्यों भाई! सूर्यकी रोशनीके साथ तुम जग जाते हो न?

बोले—'हाँ हाँ' हमेशा सूर्यकी रोशनीके साथ जागता हूँ।

फिर पूछा—सूर्यकी रोशनी किधरसे आती है?

बोले—वह तो पश्चिमकी ओरसे आती है।

तो जो प्रकाशका आदर नहीं करता, वह ज्ञानका आदर भी नहीं करेगा, अपने गुरुका भी आदर नहीं करेगा। सूर्य सारी दुनियाको प्रकाश देनेके लिए उदित होता है। वह ज्ञानका प्रकाशक है। आप उसके सामने खड़े होकर उसको हाथ नहीं जोड़ते, तो आप किसी विद्वान्का, गुरुका, ज्ञानदाताका आदर क्या करेंगे?

प्रकाशका आदर होना चहिए। बहुत सोना नहीं, बहुत जागना भी नहीं। जल्दी सोना और जल्दी जागना। नियमित सोना और नियमित जागना। यह योगीका धर्म है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

प्रवचन : 7

यह आपको बताया जा चुका है कि वेदको श्रुति कहते हैं और गीताको स्मृति। श्रुतिमें वक्ताकी प्रधानता नहीं होती, वचनकी प्रधानता होती है। सच तो यह है कि उसमें वाच्यकी प्रधानता नहीं होती, क्योंकि जिस वस्तुका वर्णन है वह वचनसे अतीत है। वचनका विषय नहीं होता। वक्तासे विलक्षण अर्थका बोध और वाच्यसे भी विलक्षण अर्थका बोध वचनके द्वारा होता है। यह श्रुतिकी विशेषता है। वह स्वयं अपने तात्पर्यका इशारा करके शान्त हो जाती है।

स्मृतिमें वक्ताकी महिमा होती है, वचनकी महिमा होती है, उसके वाच्यार्थकी महिमा होती है तथा उसमें जो निश्चय किये जाते हैं उनकी महिमा है। गीतारूप स्मृतिका वक्ता कैसा है, तो प्रपन्नपारिजात है। प्रपद माने पाँवके दोनों पञ्जे और प्रपन्न माने पकड़नेवाला। तो आप भी दोनों हाथसे श्रीकृष्णके पाँवको, भगवान्के चरणारविन्दको पकड़ो। वे कल्पवृक्ष हैं। उनसे जो चाहो मिलेगा। अर्थ चाहो, धर्म चाहो, काम चाहो, मोक्ष चाहो, सब मिलेगा। वे अपने हाथमें संयम और शासन दोनों लिए हुए हैं, तोत्र है और वेत्र है—घोड़ोंकी बागडोर है और चाबुक है। आप उनको अपने जीवनका सारथि बना लो तथा अपने इन्द्रियोंके संयमकी बागडोर और शासन—दोनों उनके हाथमें सौंप दो। उनपर उनके ज्ञानकी मुहर लगा दो।

भगवान्के पास ज्ञानमुद्रा है। उसका एक अर्थ यह है कि उनका हाथ ज्ञानमुद्रामें है। दूसरा अर्थ यह है कि भगवान् अपने ज्ञानकी मुहर लगा रहे हैं, यह देख रहे हैं कि उनके ज्ञानके अनुसार तुम्हारा जीवन है कि नहीं?

उपनिषद् गाय है और गोपाल कृष्ण उनमें-से गीतामृतका दोहन कर रहे हैं। साधारण गाय-सरीखी गाय नहीं, उपनिषद् है, दूध सरीखा दूध नहीं, अमृत है और ग्वाले-सरीखा ग्वाला नहीं, वह संयमी है तथा चाबुक हाथमें रखता है। जिसके जीवन-रथके सारथि भगवान् श्रीकृष्ण हैं उसका परम मङ्गल है। आज यह पुनरावृत्ति इसलिए करनी पड़ी कि एक श्रोताने इसके लिए आग्रह किया था।

तो, आपके व्यवहारमें दूसरेको असुविधा पहुँचानेवाले, दुःख पहुँचानेवाले तत्त्व न हों। व्यवहारमें तीन बातोंका ध्यान रखना चाहिए—एक तो किसीको दुःख न पहुँचे, दूसरा कोई बेवकूफ न बने और तीसरा किसीके चरित्रका नाश न हो। चरित्र हनन न करना सत् है, बेवकूफ न बनाना चित् है और दुःख न पहुँचाना आनन्द है। तो सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—यह सच्चिदानन्दमय व्यवहार है।

धनसे दूसरेको दुःख पहुँचाना स्तेय और परिग्रह है, न पहुँचाना अस्तेय और अपरिग्रह है। कामसे दूसरेको दुःख पहुँचाना अनाचार-व्यभिचार है, न पहुँचाना ब्रह्मचर्य है। लोभ और क्रोधसे दूसरेको दुःख पहुँचाना हिंसा है और न पहुँचाना अहिंसा है। झूठ बोलकर दूसरेको बेवकूफ बनाना असत्य है, न बनाना सत्य है।

आपके व्यवहारमें सच्चिदानन्द उतरना चाहिए। इसकी एक रीति यह है कि व्यवहारको नेति-नेति मानकर अपने स्वरूपमें बैठ जाया जाये और दूसरा यह है कि व्यवहारको ही सम्हाल लिया जाये। यह गीतारूपी स्मृतिके वक्ता लोकनायक श्रीकृष्णका उपदेश है।

परमहंस शुकदेव, वामदेव, ऋषभदेव आदि महात्माओंको लोकनायक नहीं कहा जाता। श्रीकृष्ण इसलिए लोकनायक कहलाये कि वे केवल समाधि, तत्त्वज्ञान अथवा वैकुण्ठकी प्राप्तिके लिए साधन नहीं बताते, अपितु सबके लिए और सार्वकालिक धर्मोपदेश देते हैं।

तो यमका पहला योग यह है कि आप दूसरेको असुविधा मत पहुँचाइये। आपका टेपरिकार्डर बोल रहा हो और उससे किसीको एकाग्रतामें, ध्यानमें, चिन्तनमें बाधा पड़ रही है तो उसे बन्द कर दीजिए। आप जोर-जोरसे पाठ कर रहे हों, कीर्तन कर रहे हों और उससे दूसरेकी शान्तिमें बाधा पड़ती हो तो आपका पाठ और कीर्तन ठीक नहीं। मस्जिदके सामने बाजा बजाना बिलकुल गलत है। यह पहला योग है।

दूसरा योग यह है कि आप अपने चरित्रसे अपनेको हानि मत पहुँचाइये। पवित्रता, तपस्या, स्वाध्याय, सन्तोष और ईश्वर-प्रणिधान ये पाँच नियम चरित्रको उज्ज्वल बनानेके साधन हैं। ईश्वर-प्रणिधानका अर्थ यह होता है कि आप काम सब कीजिए, पर अपने व्यक्तिगत सुख-स्वार्थके लिए नहीं, परमेश्वरके लिए।

अब तीसरा योग लीजिए। अपने शरीरको ऐसा रखिए कि वह थोड़ी देरके लिए चुप हो जाया करे। शरीर हिलता रहता है, पर भीतर हिले तो हिले, बाहर न हिले। इसका नाम आसन है। इससे यह होता है कि आपका शरीर पञ्चभूतके साथ एक हो जाता है। इससे आपमें व्यापकता आती है। यहाँ तक कि भूख-प्यास भी नहीं लगती। क्षुत्पिपासाकी सिद्धि हो जाती है। शरीर जबतक भीतरसे हिलता रहता है, तबतक हम दूसरेसे सुख लते हैं और जब स्थिर हो जाता है तब स्वयं सुख लेना प्रारम्भ होता है।

समाधि माने यह है कि जैसे मरनेपर आदमीको कब्रमें गाड़ दिया जाता है, वैसे ही आसन द्वारा अपने शरीरको पञ्चभूतमें दफना देना। आसनकी सिद्धि माने शरीरकी समाधि। उसके बाद प्राणायामके द्वारा अपनेपर विजय कीजिए। इसमें जो भीतरकी क्रिया होती है, उसकी समाधि लग जाती है। समष्टीकरणमें आपके करणकी समाधि लग जाती है। शरीर स्थूल है, उसकी अपेक्षा प्राण सूक्ष्म है।

इसके बाद इन्द्रियोंका नम्बर आता है। इन्द्रियोंकी समाधि लगती है, उनके अपने-अपने गोलकमें। पञ्चतन्मात्रासे एक हो जाना, इन्द्रियोंको पञ्चतन्मात्रामें दफना देना समाधि है। तो, आँखमें देखनेकी जो शक्ति है, वह आँखमें रहे और कानमें सुननेकी जो शक्ति है वह कानमें ही रहे। इसी तरह अपनी अल्प-ऐन्द्रियक शक्तियोंको उनके गोलकमें ही रोकना चाहिए। ऐसा थोड़ी देर करने पर भी आपका सामर्थ्य बढ़ेगा, शक्ति बढ़ेगी और ज्ञान बढ़ेगा। इसीको प्रत्याहार कहते हैं।

हमारा चरित्र जब दूसरेको हानि पहुँचाता है तब यम नहीं रहता और जब स्वयंमें असंयम करता है तब नियम नहीं रहता। जब शरीर हिलता है तब आसन नहीं रहता और जब इन्द्रियाँ बाहरसे यातायात करती हैं तब

उनको रोकनेकी शक्ति नहीं रहती। आप चाहे जहाँ चले जायें, आपकी इन्द्रियोंको आपके काबूमें रहना चाहिए। यह इन्द्रियसमाधि है।

शरीर-समाधि, क्रिया-समाधि और इन्द्रिय-समाधि प्रत्याहार है। प्रत्याहार माने आहारके प्रतीप, प्रतिकूल अर्थात् उलटा। इन्द्रियाँ जो विषयोंका आहार कर रही हैं, उसको थोड़ी देर बन्द कर देना प्रत्याहार है। इसमें एक बात मालूम पड़ जाती है।

किसी सेठको एक नौकर रखना था। उसने विज्ञापन निकाला कि घरेलू नौकर चाहिए। कई नौकर इन्टरव्यू—साक्षात्कारके लिए आये। सेठने एकसे कहा कि एक गिलास पानी लाओ। वह ले आया। सेठने कहा—फेंक दो। फेंक दिया। क्यों फेंका? आपने कहा इसलिए फेंक दिया। इसी तरह दूसरे और तीसरे नौकरोंने किया। अब एक ऐसा आया कि जब उससे पूछा गया कि तुमने पानी क्यों फेंका? तो बोला हमारी गलती है सरकार! सेठने निर्णय दिया कि यही नौकर रखने लायक है। तो,

गुण तुम्हार समुझहिं निज दोषू।
सपनेहुँ नाहिंन आन भरोसू॥

इन्द्रियाँ अपनी आज्ञाकारिणी होकर रहें, अपनी गलतीको अपनेतक सीमित रखें और मालिकके सिरपर न डाल दें। जिस सेवकसे यह आशंका है कि वह अपने मालिकको ही दोषी बना देगा वह सेवा कैसे करेगा? एक बात और। नौकरका यह काम नहीं कि वह दिनभर हाथमें कुछ रखे और मालिकके सामने बार-बार मुँहमें डालकर लाता रहे। दिनभर पिक्चर देखता रहे, विविध-भारती सुनता रहे। उसे तो मालिकके सामने सावधान रहना चाहिए, संयमसे रहना चाहिए। इसीका नाम प्रत्याहार है।

प्रत्याहारका अर्थ है कि हमारा जो द्रष्टा है, साक्षी है, अन्तर्यामी है, परमेश्वर है, उसके प्रति हमारे सब कर्म समर्पित हों और इन्द्रियाँ संयममें स्थित रहें। हमारी इन्द्रियाँ संसारका भोग करनेके लिए नहीं, प्रत्याहार करनेके लिए हैं। तो प्रत्याहारके फलस्वरूप जो शरीर-समाधि, क्रिया-समाधि, इन्द्रिय-समाधि लगती है, उसका स्वरूप देखिये। सात्त्विक तन्मात्राओंमें इन्द्रियोंकी समाधि होती है, राजस तन्मात्रामें क्रियाकी समाधि होती है और तामस तन्मात्रामें शरीरकी समाधि होती है। अब मनका नम्बर है।

थोड़ीसी बात धारणाकी सुनाते हैं। योग माने आप लोग कोई किंमभूत किमाकार पदार्थ न समझें। आप एक बात मान सकते हैं क्या, कि जितनी देर तक आप यहाँ कुर्सीपर बैठे हैं, इतनी देर तक आपका मन इस बगीचेके बाहर न जाये? कर सकते हैं ऐसा? यदि कर सकते हैं तो इसीका नाम धारणा है।

यौगिक धारणा यह होती है कि आप अपने इस साढ़े तीन हाथके शरीरके भीतर कोई एक ऐसी जगह चुनिये, भले ही हृदयको, कण्ठ हो, आज्ञाचक्र हो, दोनों भौंहोंके मध्य हो, या सिर हो और वहाँ अपने मनको इस प्रकार स्थिर कीजिए कि वह कहीं बाहर न जाये। थोड़ी देरमें आपकी समाधि लग जायेगी। मनको स्थान ही क्यों, किसी रूपमें रोकिये, अरूपमें रोकिये समाधि लग जायेगी। यह सरल-सरल योगाभ्यासकी रीति है।

देश, काल और पात्र तीनों ही मनकी कल्पना हैं। तो, कल्पनाका निरोध करके अकल्पित वस्तुमें मनका स्थिर होना समाधि है और उस स्थिरताको देखनेवालेका नाम है द्रष्टा। द्रष्टाको न दूसरा जीव मालूम पड़ता है, न जगत् मालूम पड़ता है और न ईश्वर मालूम पड़ता है। वह अपने आपमें स्थित रहता है। इसका नाम है द्रष्टाका स्व-स्वरूपमें अवस्थान। यह अष्टांग योगकी संक्षिप्त व्याख्या हुई।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥ 6.18

तो आपको तीन बातें बतायीं। आपका चित्त पहले अपने नियममें, नियन्त्रणमें हो। यह नहीं कि आपके न चाहनेपर भी वह दुश्मनमें घरमें, पराये घरमें चला जाये।

आपके घरसे नौकर गायब हो गया। पूछा कि कहाँ गया तो वह पड़ोसमें एयरकंडीशन दूकानमें जाकर बैठा था। क्यों भाई, वहाँ क्यों बैठा था तो वहाँ कोककोला पीनेको मिलता है। दूकानदार तुमको कोकाकोला क्यों देता है तो उसको हम ग्राहक देते हैं। लो, तुम्हारा तो नौकर और उसकी यह दशा!

तो आप अपने मनपर कड़ी दृष्टि रखिये। वह आपका नौकर है, उसे घरसे निकलने मत दीजिए। किन्तु यह सब कायदेमें होना चहिए—'यदा विनियतं चित्तम्।'

एक महात्मासे मैंने कहा कि मन मानता नहीं तो वे बोले कि तुम मनके सामने हाथ मत जोड़ो। मन हाथ जोड़नेसे काम नहीं करता, उसको अनुशासनमें रखना पड़ता है, आज्ञा देनी पड़ती है कि मन, तुमको ऐसा करना पड़ेगा। आप मनके मालिक हैं। उसको नियममें लीजिए। हुकुम दे दीजिए कि देखो, तुम इतनी देरतक यहाँसे हटना मत और इसी व्यापारपर विचार करना।

आप बैठते हैं सोचनेके लिए और कुछ, यह सोचने लगता है और कुछ। तो पहली बात यह है कि मनको काबूमें करो। वह हाथ जोड़कर आपके सामने उपस्थित रहे, आपके शरीरमें रहे, आपके विचारमें रहे, आपकी आत्मामें रहे। 'आत्मन्येव अवतिष्ठते'में 'तिष्ठते'का अर्थ है कि वह खड़ा रहे। सोवे नहीं। मालिकके सामने नौकर सो जावे तो अशिष्टता है।

तीसरी बात है—'निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो।' यदि मालिक गलत काम करेगा तो नौकर उसके काबूमें नहीं रहेगा। मेरे एक मित्र थे। मैं कभी-कभी उनके पास जाता था। वे अपने नौकरसे बहुत डरते थे। उसके सामने मेरी तो क्या, अपनी पत्नीकी परवाह भी नहीं करते थे। एकदिन पत्नी रो-रोकर कहने लगी कि ये मुझे अपने नौकरके बराबर भी नहीं मानते। इसपर जब मैंने उनसे पूछा कि तुम नौकरसे इतना क्यों डरते हो, तो बोले कि महाराज मैं चुपके-चुपके इससे शराब मँगाता हूँ। किसीसे रिश्वत लेना होता है तो इसीके हाथसे लेता हूँ। परस्त्रीसे बातचीत करनी होती है तो यही माध्यमका काम करता है। यह हमारी इतनी गलतियोंको जानता है कि अब हमें इसके कहे अनुसार चलना है।

तो, आप समझ जाइये कि आपका मन आपके काबूमें क्यों नहीं है और आप क्यों मनके पराधीन हैं। आप इससे गलत-गलत काम लेते हैं, तभी यह आपका हुकुम नहीं मानता। आप अपने मनसे गलत काम लेना

छोड़ दीजिए, वह बिलकुल ठीक हो जायेगा। आप बाहरकी वस्तुओंसे नि:स्पृह हो जाइये, मनसे कुछ भी मत माँगिये।

नि:स्पृहका अर्थ है स्पृहारहित। आपके पास वस्तुएँ हों, किन्तु आपके मनमें उनकी स्पृहा न हो। अनमिलेको चाहना काम है, मिलेको ज्यादा चाहना लोभ है और मिलनेपर भी स्पृहा न रखना नि:स्पृहता है। आप अपने पासके पदार्थोंसे भी निर्मम रहें और ममता छोड़कर भी उसका अहंकार न करें। ममता छोड़नेका भी अहङ्कार होता है कि मैंने यह छोड़ दिया, मैंने वह छोड़ दिया। इसलिए आप समस्त स्पृहाओंसे मुक्त हो जाइये—'नि:स्पृह: सर्वकामेभ्यो।' ऐसा करनेपर आप योगीकी पदवी प्राप्त कर लेंगे—

युक्त इत्युच्यते तदा
यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता। 6.19

जहाँ हवा न पहुँचती हो वहाँ दीया जलता है तो वह डावाँ-डोल नहीं होता। उसी हलचलरहित दीपककी भाँति आपका मन होना चाहिए। उसपर पहले काबू कीजिए फिर वह स्थिर हो जायेगा। आप जितनी देर ध्यान करने बैठें, भजन करने बैठें, उतनी देर आपका मन निर्धूम एवं अकम्पित ज्योतिके समान प्रकाशमान रहना चाहिए।

योगशास्त्रमें इसका वर्णन दूसरी तरहसे है—

यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुन:।
अनिङ्गनमनाभासं सम्पन्नं ब्रह्म तत्तदा॥ (माण्डूक्यकारिका)

मनका न तो लोप हो और न वह डाँवाडोल हो। न वह किसी चीजका इशारा करे और न बाहरके सुखका आस्वादन करे। जिस मनकी ऐसी अवस्था हो जाती है, वह ब्रह्मस्वरूप हो जाता है, ब्रह्मसे मिल जाता है।

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति॥
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वत:॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं तत:।
यस्मिंस्थितो न दु:खेन गुरुणापि विचाल्यते॥ 6.20-22

अब मैं आपको भागवत-सप्ताहकी शैलीसे गीता सुना रहा हूँ। आप योगकी सहायतासे अपने मनको काबूमें रखकर उपराम कीजिए। उपराम कर लेना माने रामजीके पास पहुँचा देना। संस्कृतके अनुसार उपराम वह है जो दुनियाकी किसी चीजमें रमे नहीं। उपराम अर्थात् रामका पार्श्ववर्ती लक्ष्मण। यह चित्त लक्ष्मण है जो रामके काबूमें रहकर अन्य सबसे उपराम है और जिसे दूसरोंसे कोई लगाव नहीं है। आपने रामचरितमानसमें लक्ष्मणकी पहचान पढ़ी होगी। वे अपना परिचय स्वयं देते हैं—

गुरु पितु मातु न जानउँ काहू। कहऊँ सुभाव नाथ पतिआहू॥
मोरे सबइ एक तुम स्वामी। दीनबन्धु उर अन्तरजामी॥

तो, उपराम माने लक्ष्मण, जो निरन्तर रामके पास रहता है। राम माने परमात्मा अपना आत्मा। अत: आपका जो निरुद्ध चित्त है, वह जब सब ओरसे उपराम होकर आत्माके पास आजाता है तब क्या होता है—

यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति।

वह स्वयंमें स्वयंको देखता है और स्वयंमें सन्तुष्ट रहता है। आत्माके पास देखने-सुननेके लिए आँख-कानकी तरह कोई करण, कोई औजार नहीं होता। वह आँखके बिन ही देखता है, कानके बिना ही सुनता है। पति-पत्नी एक दूसरेमें रति करते हैं, उन्हें जब कुछ खानेको मिलता है तब तृप्ति होती है और जब घरमें धन इकट्ठा होता है तब सन्तोष होता है। रति, तृप्ति और सन्तोष तीनों अलग-अलग हैं। इस श्लोकमें भी देखिए—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥ 3.17

इसमें रतिः, तृप्तः, सन्तुष्टः तीनों शब्दोंका प्रयोग है। तो, सन्तोष कहाँ है? अपने आपमें। किसको देखकर है? अपने आपको देखकर और किसके द्वारा देखकर है तो अपने आप द्वारा देखकर। अर्थात् करण भी वही है, कर्म भी वही है, अधिकरण भी वही है। वह अपनेमें, अपनेको, अपने आपसे देख रहा है और परमानन्दका अनुभव कर रहा है।

आपको यह बात न भूलने पावे कि छठे अध्यायमें योगका जो वर्णन है वह सोद्देश्य है अर्थात् बुद्धिको ठीक करनेके लिए है। उसका उद्देश्य गुहामें अथवा समाधिमें जानेके लिए नहीं है, अपितु अपनी बुद्धिको सम बनानेके लिए है।

गीता परमयोगी बननेके लिए प्रेरणा देती है और परमयोगी उसे बताती है, जो सबमें सुख-दु:खकी समताका अनुभव करता है और दूसरेके दु:खमें दु:खी तथा दूसरेके सुखमें सुखी है। वह दूसरेका दु:ख दूर करनेकी और दूसरेको सुखी बनानेकी कोशिश करता है। पर ऐसा परमयोगी कोई कब होगा? तब होगा, जब पहले योगी हो जायेगा। आप दूसरेको सुख तभी दे सकेंगे जब स्वयं सुखी होंगे।

आपके हाथमें कचरा लगा हो और आप बर्तन धोने लगें तो बर्तन साफ नहीं होगा उसमें भी कचरा लग जायेगा। यदि झाड़ू साफ न हो तो उससे घरमें और भी गन्दगी फैल जायेगी। जब आपके पास स्वयं सुखकी पूँजी होगी तभी आप दूसरेको सुख दे सकेंगे। जिसके पास धन होगा वही दूसरेको धन दे सकेगा। आपके पास जो होता है वही आप दूसरेको देते हैं।

काशीमें एक मठके महन्त थे। वे पण्डितोंको गाली देते थे। एक सज्जन पण्डितने जवाबमें कहा—

ददतु ददतु गाली गालिमन्तो भवन्तः।

आपके पास गालीकी पूँजी है, इसलिए आप दूसरोंको गाली देते हैं। राजा लोग हमें आदर देते हैं और सेठ लोग धनका दान करते हैं, किन्तु आप हमें गाली भेंट करते हैं। इसपर महन्तजी लज्जित होकर चुप हो गये।

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥ 6.21

अब सुखका स्वरूप बताते हैं। गीतामें सुखका वर्णन कई स्थानोंपर यदि हम उनकी तुलना करें तो तीन तरहके सुखोंका वर्णन है। एक है बेहोशीमें अपनेको बेवकूफ बनाकर सुखका अनुभव करना—सुखं **मोहनमात्मनः।** यह तमोगुणी सुख है।

हम ऐसे सुखका वर्णन कर रहे हैं, जो तमोगुणी नहीं, बुद्धिग्राह्य है। आपकी अक्ल बनी रहे और आपको सुख मिले। अगर अक्ल खोकर सुखी हुए तो सब कुछ खो दिया। अक्ल ही नहीं तो सुख कैसा?

लोग अपना गम गलत करनेके लिए नशा पीते हैं, भाँग पीते हैं, गाँजा पीते हैं और कई चीजें पीते हैं जिनका नाम हम अपने मुँहसे नहीं लेना चाहते। कहते हैं कि बड़ा मजा आया। लेकिन मजा क्या आया तुम्हारी समझ और खो गयी। तो, हमें तमोगुणी मोहन सुख नहीं, बुद्धिग्राह्य सुख चाहिए।

दूसरा सुख है रजोगुणी। विषय और इन्द्रियके संयोगसे जो सुख मिलता है, वह रजोगुणी होता है और तीसरा सुख सत्त्वगुणी है, जो अभ्याससे पैदा होता है—

अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति।

हमें इन तीनोंमें-से कोई भी सुख नहीं चाहिए। फिर कैसा सुख चाहिए? आत्यन्तिक—जिसका अन्त नहीं है। 'अंन्तं अतिक्रान्तं—आत्यन्तिकं सुखं' अर्थात् ऐसा सुख जो तमोगुणी, रजोगुणी, सत्त्वगुणी सुखसे विलक्षण है।

अब एक दूसरी बात देखो। आत्यन्तिक माने कालातिक्रान्त—वह सुख जो कभी नष्ट नहीं होता। बुद्धिग्राह्यम् माने अपने भीतर ही और देशातिक्रान्त माने न बाहर न भीतर, अपने आपमें। क्योंकि अपना आपा न बाहर है न भीतर है, अपने आपमें है और 'अतीन्द्रयम्' वह है जो विषयातिक्रान्त है, जिसमें विषयकी जरूरत नहीं। तो देश, काल और वस्तुसे अपरिच्छिन्न सुखकी प्राप्ति आपको होगी। आपको वह सुख मिलेगा जो सब समय रहता है, सब जगह मिलता है और सबसे मिलता है।

वह सुख कैसे प्राप्त होता है? तो 'वेत्ति' अर्थात् उसका ज्ञान होता है, वह मालूम पड़ता रहता है। वह ऐसा सुख है जहाँसे आप कभी विचलित न होंगे और जिसमें जम जायेंगे—**यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।**

वह एक बार आपको मिल जायेगा, तो उससे बड़ा कोई लाभ आपको मालूम ही नहीं पड़ेगा। सबसे बड़ा लाभ आत्म-सुखका ज्ञान, आत्मसुखका बोध ही है। यहाँ बोध शब्दपर ध्यान दें, जिसका अर्थ प्राप्ति नहीं है। बोधमात्र होनेसे परोक्ष नहीं है। बोधमात्र होनेसे श्रम नहीं है। वह वैकुण्ठमें नहीं, अपने आपमें है। आपको एक बार इसका दर्शन हो जाये तो आप दुनियाकी किसी भी बड़ी-से-बड़ी वस्तुको इससे बड़ी नहीं समझ सकते। सबसे बड़ी वस्तु आत्मसुखकी उपलब्धि है, आत्म-सुखका बोध है। इससे बड़ा सुख दूसरा कोई नहीं है—

यस्मिंस्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।

इसमें यदि स्थिति हो जाये तो 'गुरुणा दुःखेन न विचाल्यते'—बड़े-से-बड़ा दुःख भी आपको विचलित नहीं करेगा। हमारे गुरुजीने बताया कि 'दुःखेन न विचाल्यते' और 'गुरुणाऽपि न विचाल्यते'को अलग-अलग करके अर्थ किया जा सकता है। 'दुःखेन न विचाल्यते'—दुःख उसको विचलित नहीं कर सकते यह एक अर्थ है और 'गुरुणाऽपि न विचाल्यते'—का तात्पर्य यह है कि यदि गुरु भी कहे कि अभी तुम पूरे सुखी नहीं हुए तो शिष्य कहेगा कि महाराज क्षमा करो मैं परम सुखी हूँ।

इस प्रकार गुरु भी चाहे कि विपरीत कर दे तो नहीं कर सकता। शिष्य गुरुके हाथसे बाहर निकल गया। असलमें सच्चा गुरु वही है जो शिष्यको शिष्य नहीं रखता गुरु बना देता है। गुरु ही नहीं, परमात्मा बना देता है।

पहले तो निश्चय ही होता है। निश्चय होनेसे संशय और भ्रम दूर हो जाते हैं फिर निश्चय शान्त हो जाता है और स्वरूप रूपसे साक्षात्कार होता है। इसका भी अन्यरूपसे दर्शन नहीं होता, स्वरूपसे दर्शन होता है और दर्शन होनेके बाद आनन्द-ही-आनन्द है।

अब आप गीताकी एक बात देखो। यह योगदर्शनकी बात नहीं है। यहाँ योग कहते किसको हैं? किसीसे जुड़नेको योग नहीं कहते। जैसे पति-पत्नीका संयोग होता है, आयुर्वेदिक दवाओंका योग होता है और कर्मकाण्डी लोगोंका प्रयोग होता है, वैसा नहीं है। यहाँ तो वियोगका नाम योग है। किसका वियोग? क्या दुःखका वियोग? नहीं भगवान् यह नहीं कहते कि तुम्हारे जीवनमें कभी दुःखकी घटना नहीं घटेगी। दुःखकी घटनाएँ तो घटित होती ही रहती हैं—कभी प्रारब्धसे घटती हैं, कभी प्रकृतिसे घटती हैं और कभी दैवसे घटती हैं। अतः दुःखका तो वियोग नहीं होगा, परन्तु उनके संयोगका वियोग हो जायेगा।

आप देखिये भगवान्के बोलनेकी चतुराई। संभव है कभी कपड़ेमें आग लग जाय, कभी कुछ रुपये खो जायँ—चोरी चले जाय अथवा कभी रिश्तेदारों, नातेदारोंका विछोह हो जाय तो उसके फलस्वरूप जो दुःख आया वह बाहर ही रहा, उसका संयोग नहीं हुआ। भगवान्ने जो 'दुःख-वियोगं' न कहकर 'दुःखसंयोगवियोगं' कह दिया है, उसकी प्रयोग-शैलीपर ध्यान दें—

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगम्।

हम बोलते तो कह देते 'दुःखवियोगं योगसंज्ञितम्'—दुःखके वियोगको योग कहते हैं और 'सुखसंयोगं योगसंज्ञितम्'—सुखके संयोगका नाम योग है। किन्तु यह ठीक नहीं। एक ओर आँधी चल रही है, पर वह हमको छूती नहीं; जैसे वाटरप्रूफ होता है, शाकप्रूफ होता है वैसे दुःखप्रूफ होनेका अर्थ यह है कि दुःख है, पर वह हमको छूता नहीं, उसका स्पर्श नहीं होता। इसीको भगवान् योग बोलते हैं।

कैवल्यको योग नहीं बोलते। योगदर्शनमें कैवल्यको योग कहा गया है। गीताका योग है—'स निश्चयेन योक्तव्यो योगः।' निश्चय करण है, साधन है, ऐसा योग अवश्य करना चाहिए। कैसे करना चहिए तो अनिर्विण्ण चेतसा। कभी-कभी लगता है कि इतने दिन साधन करते-करते हो गये और अभीतक कुछ नहीं हुआ। अबतक कुछ नहीं हुआ तो आगे भी क्या होगा? चित्तमें निर्विण्णता आजाती है, वह घबरा जाता है। इसमें एक

तरहकी ऊब आजाती है, निर्विण्ण होनेका अर्थ है ऊब जाना। किन्तु भगवान् कहते हैं कि ऊबो मत, साधन करते जाओ।

मैंने एक महात्मासे कहा कि महाराज! अब इससे ज्यादा तो नहीं कर सकते तो वे बोले—'क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ।' नामर्द क्यों बनता है? गीता तो पौरुषका शास्त्र है। 'क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं'—दुर्बलता दूर करो। आगे बढ़ो। गिरो और उठो, फिर गिरो फिर उठो और फिर चलो। चारबार छह बार आठ बार या बार-बार। प्रतिज्ञा करो कि 'कार्यं वा साधयामि शरीरं वा पातयामि।'

बुद्धने भी प्रतिज्ञा की थी—

इहासने शुष्यतु मे शरीरं त्वगस्थिमांसानि लयं प्रयान्तु।
अप्राप्य बोधं बहुकल्पदुर्लभं नैवासनात्कायमिदं चलिष्यति॥

अर्थात् इस आसनपर मेरा शरीर सूख जाये। हमारी चमड़ी, हमारी हड्डी, हमारा मांस खाकमें मिल जाये किन्तु बहुकल्प-दुर्लभ बोध प्राप्त किये बिना हमारा शरीर आसनसे उठेगा नहीं। बैठ गये सो बैठ गये। तो 'अनिर्विण्णचेतसा' होकर हार नहीं मानना चाहिए। करते चलो, करते चलो।

संकल्पप्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥
शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥
प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥ 6.24-28

'सुखमश्नुते'के 'अश्नुते'का अर्थ भोक्ता नहीं होता। 'अश्नाति'का अर्थ होता है भोगना और अश्नुतेका अर्थ होता है व्यापना—'अश्नुते इति व्याप्नोति।' जैसे लिपि है और अक्षर है। इसमें अक्षरको अक्षर क्यों कहते हैं? लिपि चाहे कोई भी हो, फारसी हो, अंग्रेजी हो, देवनागरी हो, चीनी हो, रूसी हो पर अक्षर 'अ' 'अ' ही है। लिपियाँ अलग-अलग हैं और 'अ' एक है। इसीको बोलते हैं अक्षर। लिपिका नाम अक्षर नहीं होता। वाक्से उच्चार्यमाण होता है।

अक्षर और उसको संकेतित करनेके लिए जो रेखाएँ होती हैं, वे होती हैं लिपि। तो लिपि चाहे कुछ भी हो, अक्षर एक है। तो 'सुखमश्नुते'का अर्थ है सुख—अपना आत्मस्वरूप हो जाता है। वह कैसे होता है तो उसके लिए योगाभ्यासका साधन बताते हैं।

संकल्पप्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥
शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।

बुद्धिको कभी नहीं छोड़ना चाहिए। बुद्धि वह नहीं जो कुतर्क-प्रवण है, स्वच्छन्द है, उच्छृङ्खल है, 'बुद्ध्या धृतिगृहीतया'—बुद्धिको धृतिके द्वारा ग्रहण करना चाहिए। धृति माने धारणा शक्ति। बुद्धिसे चाहे जो सोचनेका नाम दर्शन नहीं होता, पारमार्थिक लक्ष्यकी प्राप्तिके लिए किये गये चिन्तनका नाम दर्शन है। तो अचिन्त्य पदार्थको तर्ककी कसौटीपर नहीं कसना चाहिए। वह तो अनुभवकी वस्तु है—

आविर्भूतप्रकाशानाम् अनुपद्रुतचेतसाम्।
अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान् न विशिष्यते॥ (वाक्यपदीय)

वैयाकरण भर्तृहरि कहते हैं कि जिनके हृदयमें प्रकाशका आविर्भाव हो गया, राग-द्वेष जिनके चित्तमें ऊधम नहीं मचाते, जिनमें अज्ञानका अन्धकार नहीं है, राग-द्वेष नहीं है उनको सारा विश्व चाहे वह भूतकालका हो, वर्तमान कालका हो अथवा भविष्य कालका हो—ऐसे दीखता है जैसे हाथमें आँवला। प्रत्यक्षकी अपेक्षा विशिष्ट नहीं है।

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।

संकल्पसे कामनाका उदय होता है। महाभारतमें एक मङ्किगीता है, जब घटनावश दुःख हुआ तब पूछा कि मुझे यह दुःख हुआ क्यों? मेरे मनमें कामना है तो कामना आयी क्यों? संकल्पसे—

काम जानामि ते मूलं संकल्पात् किल जायसे।
न त्वां संकल्पयिष्यामि तेन मे न भविष्यसि॥

तो, बोले अरे ओ काम, मैं तेरी जड़ जानता हूँ। जब सम्यक्त्वकी कल्पना होती है कि यह चीज़ बड़ी अच्छी है, सुन्दर है, मधुर है, महत्त्वपूर्ण है, तभी उसको पानेकी कामना\होती है। इसलिए मैं दुनियाकी किसी वस्तुमें सम्यक्त्वकी कल्पना ही नहीं करूँगा। सम्यक्त्व तो अपने आत्मामें है। हमारे सारे संकल्प और संकल्पोंसे पैदा होनेवाले सारे काम पूर्णरूपसे अशेषतः शेष ही रह जायें तो रह जायें और कोई न रहे। किन्तु जानते हो शेष कौन है? वह है, जिसकी गोदमें भगवान् रहते हैं—

मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः।

तो एक इन्द्रियको काबूमें करनेसे काम नहीं चलेगा, पूरे इन्द्रियग्रामको—गाँव-के-गाँवको काबूमें करना पड़ेगा। यह नहीं कि आँख तो हमारी बसमें है पर कान नहीं है और कान तो बसमें है पर जीभ नहीं है—ऐसा नहीं होना चाहिए और सबके संचालक मनको वशमें करना चाहिए। इसमें जल्दी नहीं करना चाहिए।

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

प्रवचन : 8

मनुष्यकी बुद्धि ठीक-ठीक काम करने लग जाये, गलत रास्तेपर न जाये, अपने काबूमें रहे, इसके लिए गीता योगका उपदेश करती है। गीताका योग बुद्धिको सन्तुलित—सम रखनेमें पूरा होता है। आपके सामने समाधिकी चर्चा हो चुकी है। समाधि शब्दका एक अर्थ होता है कब्रमें दफनाना। साधु लोग जब मरते हैं तो उनको समाधि दी जाती है। उनकी अन्त्येष्टि क्रियाका नाम समाधि होता है। योगमें समाधि शब्दका तात्पर्य होता है अनात्माका निवारण करके ज्ञानस्वरूप आत्माकी प्रतिष्ठा, अविचल शान्तिका साक्षात्कार और द्रष्टाका स्वरूपमें अवस्थान। वेदान्तमें समाधान शब्दका अर्थ इससे विलक्षण है। शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान।

आपको हम गीताकी योग-सम्बन्धी भूमिका सुनाते हैं। दूसरोंके साथ व्यवहारका जो समाधान है, ठीक-ठीक व्यवहार है, व्यवहार-समाधि है, उसका नाम है यम। अपने चरित्रका जो समाधान है, उसका नाम है नियम—शौच, तपस्या, सन्तोष, ईश्वर-प्रणिधान। देहका जो समाधान है उसका नाम है आसन—पञ्चभूतोंसे एकात्मकता क्रियाका जो समाधान है, उसका नाम है प्रत्याहार। मनका जो समाधान है उसका नाम है धारणा। मनको उसके स्वच्छन्द आवागमन और भूत, भविष्यकी चिन्तासे रोक लेनेवाले काल-समाधानका नाम है ध्यान। बुद्धिमें जो भेद भरा रहता है, उसको मिटा देनेवाली वस्तुका नाम है समाधि।

जो सबसे अलग हो सकता है, वही व्यवहारमें राग : द्वेषसे मुक्त हो सकता है। वह व्यक्ति योगी नहीं हो सकता जो इतना बँधा हुआ है कि दुश्मनकी दुश्मनी न छोड़ सके और दोस्तकी दोस्ती न छोड़ सके, जिसे दोस्त गलत-से-गलत जगहमें घसीटकर ले जाये और जो दुश्मनके लिए स्वयं गलत-से-गलत जगहमें चला जाये।

तो चित्तके समाधानके लिए यम—व्यवहारकी शुद्धि, नियम—चरित्रकी शुद्धि, आसन—शरीरकी शुद्धि, प्राणायाम—क्रियाकी शुद्धि, प्रत्याहार—इन्द्रियोंकी शुद्धि, धारणा—देश-विस्तारकी शुद्धि, ध्यान—कालविस्तारकी शुद्धि और समाधि—वस्तु : विस्तारकी शुद्धि अनविार्य है। इसके बाद ही आत्मा सम-अवस्थामें आता है। यही अष्टांग—आठ अङ्गोंवाला योग है।

छठे अध्यायमें जो योग है, उसका मुख्य उद्देश्य ब्रह्मकी प्राप्ति नहीं, वैकुण्ठकी प्राप्ति भी उसका मुख्य उद्देश्य नहीं; उसका मुख्य उद्देश्य है जीवनको बिलकुल ठीक दशामें ले आना। यह स्थित-प्रज्ञका वर्णन है, जीवन्मुक्तिके सुखका वर्णन है। स्थितप्रज्ञ इसी जीवनमें होता है, मरनेके बाद नहीं होता। बारहवें अध्यायका भक्त इसी जीवनमें होता है। चौदहवें अध्यायका गुणातीत इसी जीवनमें होता है। वही स्थितप्रज्ञ होनेके लिए, वही भक्त होनेके लिए, वही गुणातीत होनेके लिए साधनके रूपमें यहाँ योगाभ्यासका वर्णन है।

कल एक वैद्यजी आये थे। उन्होंने बताया कि आरोग्यके तीन उपस्तम्भ हैं—'आहारः स्वप्नो

ब्रह्मचर्यम्'—अर्थात् भोजन ठीक होना, नींद ठीक आना और वीर्यशक्तिका क्षय न होना। भोजन बिगड़ जाय, नींद गड़बड़ा जाय और वीर्यशक्तिका क्षय हो जाय तो मनुष्यका स्वास्थ्य बिगड़ जाता है। ये आरोग्यके तीन खम्भे हैं, इन्हीं पर मनुष्यके स्वास्थ्यका महल टिका रहता है। गीतामें भगवान्ने भी इसका ध्यान रखा है। आप प्राणायाम तो करें, प्रत्याहार भी करें, धारणा-ध्यान भी करें, परन्तु आपका आहार-विहार ठीक न हो योग आपके दुःखको नहीं मिटावेगा।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥ 6.17

जब आहार-विहार और कर्म ये तीनों उचितमात्रामें होते हैं—आप ठीक समयपर सोते हैं, ठीक समयपर जागते हैं और ठीक समय पर कर्म करते हैं, तभी योग आपका दुःख मिटाता है। अन्यथा आप कितना भी योग करें, आपका दुःख नहीं मिटेगा। बुद्धिके जागरणके लिए, बुद्धिके सन्तुलनके लिए योगाभ्यासका जो गम्भीर स्तर है वह आपके ध्यानमें आना चाहिए, क्योंकि यहाँ उसके दो भेद दिये गये हैं—एक योग और दूसरा परमयोग।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥ 6.32

जो धारणा, ध्यान समाधि लगाता है वह योगी है और जो दूसरेके दुःखमें सहानुभूति रखता है तथा दूसरेके सुखमें सुखी होता है अर्थात् दूसरेके सुख-दुःखको अपने ही सुख-दुःखके समान समझकर व्यवहार करता है वह परम योगी है। इस प्रसंगका उपसंहार यही है कि क्योंकि इस प्रसंगका अन्तिम श्लोक यही है।

श्रीकृष्ण बुद्धिको ठीक करनेके लिए कहते हैं कि अर्जुन! तुम जो अपने कर्तव्यसे विमुख हो रहे हो, इससे लगता है कि तुम्हारी अक्ल बिगड़ गयी है। यदि तुम योगी होते तो तुम्हारी अक्ल ऐसी मोह-ममतामें न फँसती। इसलिए थोड़ा योगाभ्यास करो। तुम्हें भक्तिकी दृष्टिसे भी अपना कर्तव्य पालन करना चाहिए, ज्ञानीकी दृष्टि भी कर्तव्य पालन करना चाहिए। ये सब भिन्न-भिन्न उपाय तो कर्तव्य पालनको उचित सिद्ध करनेके लिए ही बताये हुए हैं।

अब आपको यदि कर्तव्य पालन करना आता है, काम करना आता है तो थोड़ी देर बैठना भी सीखिये। बैठना केवल शरीरका ही नहीं, क्रियाका भी, मनका भी होना चाहिए।

संकल्पप्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥ 24॥
शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥ 25॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥ 26॥

****

जिसका मन अपने वशमें नहीं, उसकी पत्नी, उसका पति, उसके बच्चे, उसके नौकर-चाकर कैसे वशमें होंगे? मन वशमें नहीं होगा तो जीभ भी वशमें नहीं होगी। उचित-अनुचित, समय-असमयका कोई ध्यान नहीं रहेगा। चाहे जो बोल देंगे, चाहे जहाँ चले जायेंगे और चाहे जो कुछ कर लेंगे। इसलिए पहली बात भगवान्‌ने यह कही कि सारी कामनाओंको पूरी तरहसे उठाकर अलग रख दो, यह मुश्किल नहीं। होता यह है कि जब मनमें संकल्प आता है तब कामना उठती है। कामका बाप संकल्प है।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥ 2.67

तो जब पहले कोई वस्तु अच्छी मालूम पड़ती है और उसका संकल्प होता है तब उसके लिए कामना होती है। सर्वानशेषत: में जो 'सर्वान्' है उसका तात्पर्य है कि कामना एक नहीं अनेक होती है और 'अशेषत:'का अर्थ है कि वह ऊपर-ऊपर छिछली नहीं होती, गहराईमें होती है।

गीता कहती है कि इनको उठाकर एक तरफ रख दो। कामनाको मानो मत। कह दो कि भाई, हमारी पोशाक बहुत अच्छी थी लेकिन इसको निकालकर खूंटीमें टाँग दिया है। अब इस समय हम काममुक्त होकर, संकल्प-मुक्त होकर बैठते है। आप अपनी अच्छी-से-अच्छी टोपीको, अच्छे-से-अच्छे पैंटको कभी उतारते हैं कि नहीं? हम तो देखते हैं जो लोग सभामोंमें बढ़िया-से-बढ़िया पोशाक पहनकर बैठते हैं, वे घरोंमें बस, हाथ ही जोड़ने लायक रहते हैं। सभामें पैंट, घरमें सुथना।

यदि आपकी इन्द्रियाँ आपके न चाहनेपर भी चञ्चलता करती हैं तो उनपर मनोनिग्रहके द्वारा नियन्त्रण स्थापित कीजिये—

मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः।

इसमें आपको एक दिनमें सफलता नहीं मिलेगी इसलिए **शनैः-शनैः** अभ्यास कीजिये। शनैः पन्थाः। रास्तेमें चलना हो तो धीरे-धीरे चलना चाहिए। घोड़ेकी तरह या हिरनकी तरह चौकड़ी भरते हुए चलनेकी जरूरत नहीं। यह योगका मार्ग है, यह अन्तरका मार्ग है। इसमें पाँवसे चलना नहीं, मनसे उपराम होना है।

बड़ी मार कबीरकी चित्तसे दिया उतार।

हम लोग ब्रजमें रहते हैं। कभी-कभी ऐसे बोलनेका संस्कार उदय हो जाता है कि—

रज्जब रोष न कीजिये कोई कहे क्यों ही।
हँसके उत्तर दीजिये, हाँ बाबा यौं ही॥
सबसे मिलिये सबसे जुलिये, सबका लीजिये नाँव।
हाँजी हाँजी करते रहिये, बैठिये अपने ठाँव॥

मतलब यह कि लोगों की बात सुनकर अपना जो मार्ग हैं, न्याय है, सत्यका निर्णय है उसको नहीं छोड़ना चाहिए। अभ्यास करते रहनेपर धीरे-धीरे आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों, मन रास्तेपर आ जायेगा।

****

बुद्धिको पकड़नेके लिए भी उतावली बहुत दुःखदायी होती है। बुद्धिमें धृति चाहिए। वह धर्ममें मिल जाती है। मनुस्मृतिमें धर्मके जो दस लक्षण बताये गये हैं उनमें पहला लक्षण धृति है।

मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः—अपनी इन्द्रियोंको अपने मनको अपनी जुबानको, अपने पाँवको, अपने हाथको रोक सकनेकी जो सामर्थ्य है, धारण करनेकी शक्ति धृति है—**धृत्या यया धारयते।**

मनुजीने कहा भाई धैर्य रखो। अपनी बुद्धिमें धृति धारण करो। धृति शब्द पूरे धर्मका उपलक्षण है। नाम लिया केवल धृतिका, लेकिन धृतिके साथ रहनेवाले जो और नौ धर्म हैं—**धृतिक्षमादमोस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः** आदि उन सबकी व्याख्या हो गयी। वे सभी मनको पकड़नेवाले हैं।

अब देखिये आप अपने मनको काबूमें कर रहे हैं कि स्वयं उसके काबूमें हो रहे हैं? इसकी पहचान क्या है? यही पहचान है कि आपका मन अपने भीतर रहे, आत्मामें स्थित रहे। जो मनके सामने रहता है वह मनका विषय है और जो पीछे रहकर मनको प्रकाशित करता है, उसका नाम है आत्मा। आँखके सामने आँखका विषय है और उसके झरोखेमें-से झाँकनेवाला आँखकी आत्मा है। उसीकी शक्ति लाल-काला, नीला-पीला, स्त्री-पुरुष दिखायी पड़ते हैं। अब यह देखना आपका काम है कि आपकी आँख कहाँ लगती हैं; बाहर दीखनेवाली वस्तुओंमें या जो भीतरसे झाँक रहा है, उसमें?

आपका मन जो चुलबुलाता है, चञ्चल होता है, इधर-से-उधर जाता है, अस्थिर रहता है, इसका कारण यही होता है कि वह सारी दुनियाको अपनी मुट्ठीमें रखना चाहता है—यह भी हमारा भोग्य, वह भी हमारा भोग्य। इसलिए मनको कायदेमें लाना चाहिए।

वह कहाँ कायदेमें रहेगा? उसको '**आत्मसंस्थम्**'—अपने आपमें स्थिर कीजिये और बाहरसे विषयोंका चिन्तन छोड़ दीजिये—'**न किञ्चिदपि चिन्तयेत्**' बड़ा भयंकर है चिन्तन इसका बंगलामें '**भयंकर**' शब्द जरा हल्का है। उसका प्रयोग आनन्द और सत्यके साथ भी किया जाता है—भयंकर आनन्द, भयंकर सत्य। इसका अर्थ होता है पूर्ण सत्य, पूर्ण आनन्द। किन्तु हिन्दी-संस्कृतमें भयंकरका अर्थ भय देनेवाला ही होता है।

तो मनके भयंकर-चिन्तनसे बचनेके उद्देश्यसे थोड़ी देरके लिए अधर्मका तो क्या, धर्मका चिन्तन भी बन्द कर दो। शत्रुका तो क्या, दोस्तका चिन्तन भी बन्द कर दो। नरकका तो क्या स्वर्ग-वैकुण्ठका चिन्तन भी बन्द कर दो। जीवका तो क्या शिवका चिन्तन भी बन्द कर दो। ईश्वर भी यदि अन्य रूपसे है तो उसका भी चिन्तन छोड़ दो। जो ईश्वर मनका आश्रय रूप है, उसीका चिन्तन करो। मनः कल्पित ईश्वरका चिन्तन मत करो। जिसके प्रकाशमें मन दीखता है, उसमें मनको शान्त हो जाने दो।

'**आत्मसंस्थं**'में जो संस्थ शब्द है, उसका अर्थ संस्कृत भाषामें मृत्यु भी होता है। लेकिन यहाँ इसका अर्थ सम्यक् स्थिति मान लो। तुम्हारा मन पूर्णतः अपने आश्रयमें, अपनी मूलसत्तामें अपने मूलप्रकाशमें, अपने सच्चिदानन्दमें शान्त हो जाना चाहिए और उसे किसी प्रकारका कोई चिन्तन नहीं करना चाहिए। चिन्तन तो सच्चिदानन्दका भी नहीं करना चाहिए। क्योंकि **अचिन्त्यं चिन्तमानोऽपि**

चिन्तारूपं भज्यत्यऽसौ—अचिन्त्यका चिन्तन करनेपर वह भी चिन्तारूप हो जाता है, ऐसा वेदान्तियोंका कहना है।

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।

भगवान् यह मानते हैं कि मनमें दो दोष हैं। एक तो यह एक जगहसे उड़कर दूसरी जगह जाता है और फिर वहाँ भी टिकता नहीं, दूसरी जगह छोड़कर तीसरी जगह चला जाता है। मन भँवरा जैसा है, चञ्चरीक जैसा है। यह संसारके एक फूलसे दूसरे फूलपर भटकता रहता है। कहीं भी टिकता नहीं।

एक बातपर आपका ध्यान शायद न जाता हो और जाता हो तो क्या पूछना? संस्कृतमें जो 'निश्चरति' शब्द है उसका सीधा अर्थ है निकलकर जाता है। इसमें एक श्लेष है और वह भी भयंकर है—'निश्चरवत् आचरति निश्चरति'। 'निश्चर' शब्द संस्कृतमें 'निशाचर' भी है। जब सप्तमी समास होता है तब निशाचर बनता है और जब सप्तमीं समासमें विभक्तिका लोप हो जाता है तब निश्चर शब्द बन जाता है। अंग्रेजीमें जो नाइट शब्द है इसका मूल संस्कृतमें 'निट्' है और 'नक्तम्' भी है। इसी 'निट्से' निश्चर शब्द बनता है।

यह शब्द और उसके अर्थकी बात हुई। अब आप अपने मूल विषयपर आइये। आपका चित्त जब चञ्चलता करने लगता है, डावाँडोल हो जाता है तो देवताकी तरह अथवा भलेमानुषकी तरह नहीं रहता, अपितु अन्धकारमें प्रवेश करके विचरण करने लगता है—'निश्चरति'।

ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्।

अतः यह जहाँ-जहाँ भी जाये, वहाँ-वहाँसे इसको काबूमें करना चाहिए। इसको काबूमें रखना कठिन नहीं, बहुत आसान है। आसान शब्दका मूल अनायास है। अर्थात् आप बिना श्रमके इसको शान्त कर सकते हैं। इसके लिए उपनिषद्में दृष्टान्त है—**स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं, पतित्वाऽन्यत्रायतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयत एवमेव खलु सौम्य तन्मनो दिशं दिशं, पतित्वाऽन्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते प्राणबन्धनꣳहि सोम्य मन इति॥** छान्दो. 6.8.2

जैसी रस्सीसे बँधी हुई चिड़िया इधर-उधर उड़नेका प्रयास करने पर भी उड़ नहीं पाती और जहाँ बँधी रहती हैं, वहीं आकर उसे विश्राम होता है, उसी तरह हमारा मन आत्माके साथ बँधा हुआ है।

आत्मबन्धनम् हि सोम्य मनः और उससे मनको छुटकारा नहीं मिल सकता। आत्मा ही मनका विश्रामस्थल है। अब जरा प्रेमी लोग ध्यान दें इस बात पर कि वे बाहर चाहे किसीसे कितना भी प्रेम करते हों, किन्तु जब उन्हें नींद आती है तब सब प्रियतम छूट जाते हैं। बच्चा पलंगपर रह जाता है, पत्नी पलंगपर रह जाती है, हीरे-मोतीके ढेर तिजोरीमें रह जाते हैं, मन उनमें नहीं सोता, अपितु जिसका मन है उसीमें सोता है।

गीताका उपदेश मनको मारना नहीं, उपनिषदोंका भी उपदेश मनको मारना नहीं, वशमें करना है—**आत्मन्येव वशं नयेत्।** वशीकरणमें-नियन्त्रणमें और मारनेमें बड़ा भारी फर्क है। मन रहता है परन्तु काबूमें रहता है और, उसको काबूमें रखनेपर आप हो जाते हैं योगी। मन वशमें होनेकी पहचान सीधी है और वह

यह है कि जब आप कहें कि बेटा काम कर, तब मन काम करे और जब आप कहें कि अब ठप्प हो जा तो ठप्प हो जाय। आपका मन आपके हुक्मके अनुसार चलने लगे, नियन्त्रणमें, नियमनमें आजाय, उसका वशीकरण हो जाये। हमारे योगशास्त्र मनको वशमें करनेका उपाय बताते हैं।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्।। 6.27

तो, योगीमें तीन बातें आजाती हैं। उसका तमोगुण शान्त हो जाता है, रजोगुण शान्त हो जाता है और मन शान्त हो जाता है। ऐसे योगीके पास सुख स्वयं आता है। उसे सुखके पास जाना नहीं पड़ता। सुख भी कैसा? दो नम्बरका नहीं—**सुखमुत्तमम्।** उत्तम कोटिका सुख योगीके पास आता है। इतना ही नहीं वह सुख ब्रह्मस्वरूप और निर्मल होता है—**ब्रह्मभूतकल्मषम्।** निर्मल सुख माने जो भोगसे मिलता है वह नहीं, जो एक जगह मिलता है वह नहीं। ब्रह्मभूत सुखका तात्पर्य है कि जो सब जगह, सब समय और सब रूपोंमें प्राप्त होता है और उत्तम-कोटिका सुख वह है, जो पराधीन न करे। पराधीन करनेवाला सुख उत्तम-कोटिका नहीं है।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते।। 6.28

कहते हैं कि आप अपने मनको शान्त करके इस सुखका आस्वादन कीजिये। वैसे योगमें आस्वादनको भी एक विघ्न मानते हैं—

नास्वादयेत् सुखं तत्र निस्संगः प्रज्ञया भवेत्।

(माण्डूक्यकारिका अद्वैत प्रकरण)

यदि अन्तर्मुख होनेपर आपको स्वाद आने लगे तो उसका स्वाद मत लीजिये। क्योंकि यदि आप अन्तर्मुखताका स्वाद लेने लगेंगे तो बहिर्मुखतासे आपका द्वेष हो जायेगा, सन्तुलन बिगड़ जायेगा और समता नष्ट हो जायेगी। इसलिए बोले कि भाई योग तो करो, किन्तु विगतकल्मष होकर करो—

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।

योगीके सारे कल्मष धुल जाते हैं। कल्मष कर्मके दोषको कहते हैं। हम जो कर्म करते हैं उसमें दोष आ जाता है। कर्मषमें जो 'र' है उसका लकार हो जाता है—'रलयोरभेदः'। कर्मषः कल्मषः। कर्ममें दोष क्या है? किसी वस्तुको पानेके लिए कर्म करना दोष है, भोगकी लालसासे कर्म करना दोष है, अहंकारसे कर्म करना दोष है। अपने सिवाय दूसरेके पराधीन होनेकी इच्छा, भोगकी लालसा और अहंकार—ये तीनों अज्ञानसे होते हैं। इन तीनोंके मूलमें अपने स्वरूपका अज्ञान है। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

को भल कहऊ देऊ कछु कोऊ।
अस वासना हृदय ते न जाई।। विनय पत्रिका

मैं बड़ी साधना करता हूँ, परन्तु मनमें वह वासना बनी रहती है कि कोई हमको भला कहे, कोई हमारी

तारीफ करे और कोई कुछ दे जाय। हमारी यह वासना हृदयसे जाती नहीं। तो, वासना कर्मके मूलमें है। वासनाके मूलमें अहङ्कार है और अहङ्कारके मूलमें अज्ञान है।

वेदान्ती लोग बीचमें एक चीज और मानते हैं। उनकी मान्यताके अनुसार अहङ्कारके मूलमें भ्रम है और भ्रमके मूलमें अज्ञान है। यह विषय जरा सूक्ष्म हैं, सबके समझनेमें थोड़ा कठिन है। अहङ्कारके मूलमें भ्रमका अर्थ है 'इदं'को 'अहं' समझना और अज्ञान माने 'अहं'के सच्चे स्वरूपको न समझना। 'अहं'का सच्चा स्वरूप ब्रह्म है। उसको न समझना अज्ञान है। 'अहं'को अनात्मा समझ लेना भ्रम है। रज्जुको न पहचानना अज्ञान है और उसे साँप समझना भ्रम है।

सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते।

तो, आपको आसानीसे, बिना श्रमके, बिना देशान्तरमें गये, बिना कालान्तरकी प्रतीक्षा किये, बिना वस्त्वन्तरको विषय बनाये, बिना कर्म किये और बिना वृत्ति समेटे सुखपूर्वक ब्रह्मसंस्पर्श होगा। ब्रह्मसंस्पर्श सबसे बड़ा आत्यान्तिक, अन्तातिक्रान्त सुख है।

अत्यन्त माने=अन्तः अतिक्रान्तः—जिसका अन्त नहीं। 'सुखमश्नुते'का तात्पर्य सुखका भोग नहीं, 'सुखम् अश्नाति' नहीं, अपितु यह है कि सुख और आप एक हैं। जो सुख वह आप, जो आप वह सुख। आप सुखस्वरूप हो जायेंगे। सुखके लिए समाधिकी भी जरूरत नहीं रहेगी, वृत्तिकी एकाग्रता और ध्यान, धारणा भी आवश्यक नहीं रहेगा क्योंकि आप स्वयं सुख-स्वरूप हैं।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥ 6.29-32

योगके प्रसङ्गमें गीताका जो मुख्य मुद्दा है वह 'आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति' है। आप बाजारमें, आफिसमें, व्यवहार करते हुए सब जगह योगी हो सकते हैं। केवल योगी ही नहीं परमयोगी हो सकते हैं—**स योगी परमो मतः**। गीताने योगके प्रसङ्गमें वेदान्तको भी मिला लिया है। व्यवहार-शुद्धिके लिए वेदान्तका ज्ञान भी चाहिए। किन्तु वेदान्तका ज्ञान चाहिए जीवनको ठीक-ठीक व्यतीत करनेके लिए, मरनेके बादके लिए नहीं। धर्मात्मा लोगोंने स्वर्गको तो बैठा दिया मरनेके बाद तथा जीवनमें बैठाया आग और उसका धुआँ, फलको मौतके उसपार फेंक दिया। ऐसा उचित नहीं है।

वेदान्तका फल देखो। वेदान्तके लिए तीन बातें आवश्यक हैं—पहली त्वंपदार्थका ज्ञान दूसरी,

तत्पदार्थका ज्ञान और तीसरी ऐक्यपदार्थका ज्ञान। जो लोग गीताका अनुसन्धान करते हैं, वे कभी-कभी पूछ बैठते हैं कि गीतामें महावाक्य कहाँ है? 'तत्त्वमसि' कहाँ है? 'अहं ब्रह्मास्मि' कहाँ है? 'प्रज्ञानं ब्रह्म' कहाँ है? किन्तु आप देखो गीताका जो **सर्वभूतस्थमात्मानम्'** है, यह कौन पदार्थ है? अहं पदार्थ ही तो है। इसके अतिरिक्त श्रीकृष्णका यह कथन भी उपनिषद्‌का मन्त्र ही है—

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।

मनुस्मृतिमें भी आया है—

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति॥

यदि आप स्वराज्य प्राप्त करना चाहते हों, सम्राट् बनना चाहते हों तो आपको राजधानी, सिंहासन, मन्त्री और महारानीकी कोई भी आवश्यकता नहीं। अहङ्कारका बलिदान कर दो और सबके साथ एक हो जाओ। फिर तुम स्वाराट् हो जाओगे, तुम्हें स्वराज्यकी प्राप्ति हो जायेगी। ईशावास्योपनिषद्‌में तो प्रारम्भमें ही आता है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥

तात्पर्य यह कि अपने आपको समस्त प्राणियोंमें देखो। दीवाली हो, बहुतसे दीपक जल रहे हों और अग्नि देवताको भ्रम हो जाये कि इनमें मैं कौन हूँ तो क्या होगा? अरे भाई दीये अलग हैं, तेल अलग है, लौ अलग है, परन्तु सबमें अग्नि तो एक ही है। एक बार हम आगरामें शीशमहल देख रहे थे। वहाँ दियासलाई जलायी और उसकी ज्योति हजारों शीशोंमें एक साथ दिख गयी। तो एक ही सूर्य, एक ही अग्नि, एक ही वायु सबमें प्रकाशित, प्रज्वलित और प्रवाहित हो रही है—

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव। कठ.
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा, रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च।
एक एवाग्निर्बहुधा समिद्धः। ऋ

तुम तुम नहीं हो, मैं मैं नहीं हूँ, हम दोनोंमें जो एक है, उसका नाम आत्मा है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।

—और, आत्म-प्रकाशमें आत्मारूप अधिकरण अधिष्ठानमें ही सारी सृष्टि दिखायी पड़ रही है—

ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।

—योगयुक्तात्मा पुरुष सर्वत्र अपने आत्माको देखता है। इसलिए आत्मत्वेन वह समदर्शी है। आत्मरूपसे सबमें एकको देखता है। एक भी दूसरा नहीं, अपना आपा।

अब परम-सत्य पदार्थको देखो। **यो मां पश्यति सर्वत्र**—जो सर्वदेशमें, सर्वकालमें, सर्ववस्तुमें परमात्माको देखता है और **सर्वं च मयि पश्यति**, परमात्मामें सबको देखता है—इन दोनों कथनोंमें लक्षण

एक है। आत्मा सबमें और सब आत्मामें, सब परमात्मामें और सबमें परमात्मा, जिसमें सब है, जो सबमें है वह आत्मा और जो सबमें है और जिसमें सब है, वह परमात्मा। इसमें क्या फर्क हुआ, बताओ। पहचान तो सबकी एक ही हो गयी। तात्पर्य यह कि जो सर्वका अधिकरण, सर्वका अधिष्ठान, सर्वका आधार, सबका आश्रय उसका नाम आत्मा है, परमात्मा है। जो सबका उपादान है, सबमें अनुस्यूत है, व्याप्त है, उसका नाम परमात्मा।

यदि कहो कि अभी और स्पष्टीकरणकी आवश्यकता है, तो देखो—**तस्याहं न प्रणश्यामि।** संस्कृतमें प्रणाश शब्दका अर्थ सर्वथा मिट जाना नहीं होता, अभान होता है। जिसने यह पहचान लिया कि सबमें मैं और मैं सबमें, सबमें वह और वह सबमें—उसके लिए परमात्माका अदर्शन नहीं होता, अपितु उसको साक्षात्-अपरोक्ष दर्शन होता है। यह नहीं कि थोड़ी देर दीखा और थोड़ी देर नहीं दीखा। उसको सर्वमें, सर्वकालमें और सर्वावस्थामें परमात्माका दर्शन होता है। यदि इससे भी अधिक साफ-साफ समझना हो तो देखो एक '**असि**' पदार्थ है दूसरा '**अस्मि**' पदार्थ है।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥

कहते हैं कि जो सर्वभूतोंमें केवल प्राणी ही नहीं, प्राणी-अप्राणी दोनों रूपोंमें, चेतन और जड़के रूपमें, चर और अचरके रूपमें कार्य और कारणके रूपमें, दृश्य और द्रष्टाके रूपमें, भोग्य और भोक्ताके रूपमें, मालूम पड़ता है वही परमात्मा है। भक्त लोग भोक्ता और दृश्यको पकड़ते हैं तथा योगी लोग द्रष्टा और दृश्यको पकड़ते हैं। कुछ भी कहो जो सबमें एक है, उसीका नाम परमात्मा है। तो, एक हो जाओ और एक होकर—

भजत्येकत्वमास्थितः।

अब बड़े मुद्देकी बात बताते हैं—**सर्वथा वर्तमानोऽपि।** अर्थात् आप ब्राह्मचारीके रूपमें रहिए, गृहस्थके रूपमें रहिये, व्यापारीके रूपमें रहिये, त्यागीके रूपमें रहिये, राजा जनककी तरह राज्य कीजिए, वसिष्ठकी तरह पुरोहिती कीजिए, दत्तात्रेयकी तरह विरक्त रहिये, शुकदेवके समान परमहंस रहिये, कृष्णके समान लीला पुरुषोत्तम रहिये अथवा रामके समान मर्यादा पुरुषोत्तम, आपका व्यवहार, बर्ताव, वर्तना चाहे जैसा भी हो; यदि आप परमात्मामें स्थित हैं तो **स योगी मयि वर्तते।** अतः आप व्यवहारको मत देखो, आत्माको, परमात्माको देखो।

जल छलक रहा है या शान्त है, उसमें बाहरकी मिट्टी मिल गयी है या बिलकुल स्वच्छ है—यह मत देखो। जलको जलत्वेन देखो। जल रूपसे जलको देखो। **सर्वथा वर्तमानोऽपि**—यह बात भगवान्‌को बहुत पसन्द है। निरुक्तमें व्याख्याका एक नियम बताया गया है—

अभ्यासेन भूयांशमर्थं मन्यन्ते मीमांसकाः।

अर्थात् जब कोई बात दो बार कह दी जाती है तो उससे एक महान् अर्थकी सूचना मिलती है। गीतामें

कई वाक्य ऐसे हैं जो बार-बार आये हैं। तेरहवें अध्यायमें **सर्वथा वर्तमानोऽपि** और एक बार छठें अध्यायमें आया है।

सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते। 13.23

और **सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥** 6.31

अब आप देखो कि योगीकी स्थिति क्या है? वह चलते-फिरते, खाते-पीते, उठते-बैठते और हँसते-गाते, सब समय सारा व्यवहार करते हुए भी शासन करता है। पञ्चदशीका श्लोक देखिए—

ज्ञानिना चरितुं शक्यं सम्यग् राज्यादिलौकिकम्।

श्रुति कहती है कि जिसको ज्ञान हुआ वह स्वराट् हो गया, सम्राट् हो गया, सर्वाधिपति हो गया। उसको कोई देवता भी नीचा दिखाना चाहे तो नहीं दिखा सकता। वह निर्भय हो जाता है।

स अभयं भवति स स्वराट् भवति स सम्राट् भवति।

अब बोले कि यह सब तो ठीक है। महाकाव्य भी आगये, किन्तु यह हुआ योगज्ञान। इससे जीवनमें दृष्टिकोण क्या आता है, तो देखिए—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुनः।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥ 6.32

श्रीकृष्णका तात्पर्य यह है कि चाहे समाधि लगती हो अथवा साँस-साँसमें सोऽहं-सोऽहंका जप होता हो, किसी भी अवस्थामें साधन नहीं छोड़ना। तुम जप करो, तप करो, व्रत करो, योग करो—**सर्वथा वर्तमानोऽपि** में वह सब है। परन्तु दूसरोंके साथ अपनी आत्माके समान तादात्म्य रक्खो। भगवान् रामका जीवन देखो। महर्षि वाल्मीकि अपनी रामायणमें कहते हैं कि जब राम किसीको दुःखी देखते हैं तो स्वयं दुःखी हो जाते हैं। श्रीकृष्ण भगवान् भी सुदामाकी गरीबी देखकर द्रवित हो उठते हैं और उनकी क्या दशा होती है, कविके शब्दोंमें देखिए—

पानी परातको हाथ छुयो नहीं, नैननके जल सों पग धोए।

श्रीरामचन्द्रजी जटायुको आहत देखकर विह्वल हो जाते हैं और उसके धूलि धूसरित अंगको अपनी जटाओंसे झाड़ते हैं—

जटायुकी धूरि जटान सों झारे।

अस्तु, आप दुःखीको देखकर दुःखी होंगे तो आपके योगमें, ज्ञानमें कोई बाधा नहीं पड़ेगी। दुःखी तो आपकी ही आत्मा है। उसके साथ मिल जाइये। इसी प्रकार जब आप किसीको सुखी देखिए तो सुखी हो जाइये।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

प्रवचन : 9

छठे अध्यायमें भगवान्का जो उपदेश है, उसका नाम अर्जुनने साम्ययोग रखा है—

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।

इसमें जो ध्यानका वर्णन है, वह बुद्धियोगके लिए उपयोगी है। इससे मनुष्यकी प्रज्ञा शुद्ध होती है, व्यवस्थित होती है। मनुष्यकी बुद्धिमें एक तो चाहिए पवित्रता और दूसरी चाहिए पदार्थावगाहिनी शक्ति। जिस वस्तुपर विचार करें, बिलकुल ठीक-ठीक करें। उसमें पक्षपात न हो और उसके द्वारा जो निश्चय हो उसमें स्थिरता हो। यह नहीं कि प्रतिदिन निश्चय बदलता रहे।

एक जज साहब हमारे मित्र थे। वे मुकदमा सुननेके बाद फैसला लिखवाते समय दृढ़ नहीं रह पाते थे। एक दिन एक फैसला लिखावें तो दूसरे दिन दूसरा फैसला। अन्तिम फैसला लिखवानेमें उन्हें कई दिन लग जाते थे।

तो, निर्णयमें स्थिरता चाहिए, पवित्रता चाहिए, सूक्ष्मता चाहिए। एक बात और, केवल पहलेकी घटनाओंके आधारपर निर्णय नहीं होना चाहिए। वर्तमानमें कैसा है और भविष्यमें इसका क्या परिणाम होगा, यह देख-समझकर निर्णय होना चहिए।

कोई बात कानूनसे तो ठीक हो और उसके पीछे वास्तविकता भी हो, लेकिन उससे देशमें दंगा-फसाद फैलनेकी सम्भावना हो तो से दबा देना ही उचित है। जिसका परिणाम शुभ नहीं, वह निर्णय गलत है। जजकी बुद्धि केवल प्रमाण और साक्ष्यकी अनुगामिनी न होकर परिणाम-दर्शिनी भी होनी चाहिए।

आपको भी अपनी पत्नीके साथ, भाईके साथ जज होना पड़ता है। अपने परिवार-पड़ोसीके साथ उचित व्यवहार करना पड़ता है। अतः औचित्यके निर्णयका सामर्थ्य आपके अन्दर होना चाहिए।

भागवतमें एक बात कही हुई है कि मनुष्य कितना भी अधिक बुद्धिमान् हो, कितना भी बड़ा गुणी हो, परन्तु यदि उसमें थोड़ा भी लोभ मिल गया तो मानो उसके शरीरपर कोढ़ हो गया—

यशो यशस्विनां शुद्धं श्लाघ्या ये गुणिनां गुणाः।
लोभःस्वल्पोऽपि तान् हन्ति श्वित्रो रूपमिवेप्सितम्॥ 11.23.16

जैसे कोढ़ सुन्दर शरीरको नष्ट कर देता है, इसी प्रकार लोभ बड़े-बड़े सद्‌गुणोंको दबा देता है, भ्रष्ट कर देता है। बुद्धिको स्वार्थ और कामवासना—भोगवासना तो भ्रष्ट करती ही है, धर्मगत मूर्खता भी बुद्धिको भ्रष्ट करती है। तो अर्जुनने भगवान्‌से कहा कि आपने साम्ययोगका उपदेश तो दिया, परन्तु मेरा मन बड़ा चञ्चल है—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥ 6.34

अर्जुन कहते हैं कि मन इतना चञ्चल है कि वह भीतर ही भीतर दिलको हींढ़ देता है, मथन कर देता है। उसको दबाना इसलिए कठिन है कि यह बड़ा बलवान् है। धीरे-धीरे अभ्यासका प्रयास करनेपर यह अपनी स्थितिपर बिलकुल दृढ़ हो जाता है। जहाँ सट गया है, वहाँसे हटना ही नहीं चाहता।

अब यहाँ एक बातपर आप ध्यान दो : जिसको स्वार्थका अभ्यास हो जाता है, वह अपने भाईसे भी स्वार्थी हो जाता है और उसको हानि पहुँचाकर भी अपना स्वार्थ पूरा करता है। लोग अपने बेटेसे, अपनी पत्नीसे, अपने माँ-बापसे भी स्वार्थी हो जाते हैं। जिसकी बुद्धिमें स्वार्थका प्रवेश हो गया, वह सबके साथ स्वार्थका व्यवहार करता है। उसके सामने स्वार्थकी पूर्तिके लिए अपने-परायेका कोई भेद नहीं रहता।

तो, स्वार्थकी आदत अपने भीतर है। वह यह नहीं देखती कि हम किसके साथ स्वार्थ कर रहे हैं। जैसे आग यह नहीं देखती कि वह किसको जला रही है, सूर्य यह नहीं देखता कि वह किसको प्रकाश दे रहा है और धुँआ यह नहीं देखता कि वह किसकी आँखमें घुस रहा है, वैसे ही स्वार्थ व्यवहार करनेमें बड़ा दृढ़ है। तो इसको वशमें कैसे किया जाये?

तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।

श्रीकृष्णने कहा कि अर्जुन, सच है, मनका निग्रह बड़ा कठिन है। मैंने देखा है, कई बड़े-बड़े लोग सामनेवालेकी बातको पहले 'नहीं' कहकर काट देते हैं और बादमें फिर उसीका समर्थन करते हैं। उनको कहना यही होता है कि यह ठीक है, लेकिन उनकी जुबान आदतसे लाचार है। पहले बोलते हैं नहीं, नहीं, फिर उसीको दुहराते हैं, उसीको मानते हैं, उसीको ठीक समझते हैं। किन्तु श्रीकृष्णके बोलनेकी शैली देखिए—

असंशयं महाबाहो मनो दुनिग्रहं चलम्।

वे पहले अर्जुनका समर्थन करते हैं। संस्कृतमें इसको 'सत्यं-तावत्' इस प्रकार बोलते हैं। मतलब यह कि पहले सामनेवालेकी बात स्वीकार कीजिए, फिर दोष बताना हो तो बताइये।

श्रीकृष्ण अर्जुनको महाबाहो कहकर सम्बोधित करते हैं। उनका आशय यह है कि तुम्हारे हाथ तो बड़े-बड़े हैं। तुम काम बड़े-बड़े कर सकते हो। निशाना अच्छा लगा सकते हो। परन्तु तुम्हारा मन तुम्हारे निशानेके भीतर अभी आया नहीं। निःसन्देह तुम्हारी बात सच्ची है। मन दुर्निग्रह है और चल है।

भगवान्‌ने अर्जुनकी सारी बातोंको दो शब्दोंमें ले लिया और फिर उसके लिए साधन बताते हैं। साधन दो

नहीं, तीन हैं। यह आप लोग गौरसे देखोगे तब मालूम पड़ेगा। जो ऊपर-ऊपर पढ़ते हैं, उनको दो मालूम पड़ते हैं और जो गहराईमें प्रवेश करते हैं उनको तीन मालूम पड़ते हैं—

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।

एक तो है अभ्यास। साधारण संस्कृतमें अभ्यासका अर्थ होता है दुहराना। जैसे हम किसी ग्रन्थका, श्लोकका अभ्यास करते हैं। बार-बार दुहराते हैं तो जुबानपर बैठ जाता है। परन्तु यहाँ मनके अभ्यासकी बात है। योगमें अभ्यासकी बड़ी महिमा है—आसनका अभ्यास, प्राणायामका अभ्यास, प्रत्याहारका अभ्यास आदि।

तत्रस्थितौ यत्नोऽभ्यासः।

योगदर्शन कहता है कि अपने लक्ष्यमें स्थितिके लिए प्रयत्नका नाम अभ्यास है। आप जिस स्थितिको पाना चाहते हैं, उसको अपने मनमें बारम्बार दुहराइये और बारम्बार अपने मनकी कूँचीसे, मनकी तूलिकासे टच कीजिए। रामको पाना चाहते हैं तो रामके आकारको मनसे स्पर्श कीजिए, कृष्णको पाना चाहते हैं कृष्णके आकारको मनसे स्पर्श कीजिए। यदि मनको—**न किञ्चिदपि चिन्तयेत्** की स्थितिमें ले जाना चाहते हैं तो 'न किञ्चिदपि चिन्तयेत्' का बारम्बार स्पर्श कीजिए। इसका नाम होता है अभ्यास।

जो लक्ष्य आप प्राप्त करना चाहते हैं, उसको अपने मनसे बार-बार त्वाच् प्रत्यक्ष कीजिए, छूइये। त्वाच् प्रत्यक्ष माने छूना, टच करना।

इसी प्रकार जिसको नहीं पाना चाहते उसकी उपेक्षा कीजिए। किन्तु उससे घृणा मत कीजिए। विद्रोह मत कीजिए। द्वेष मत कीजिए। नहीं तो वह आपके मनमें और घुस जायगा। बार-बार उसकी याद आने लगेगी।

वैराग्य माने राग और द्वेष दोनोंकी शिथिलता। वैराग्यमें है तो केवल राग शब्द, लेकिन जैसे रामसे राम-लक्ष्मण और श्यामसे श्याम-बलराम दोनोंका ग्रहण होता है वैसे ही वैराग्य माने राग और द्वेष दोनों। उसका तात्पर्य है कि दुश्मनी भी मत कीजिए और मुहब्बत भी मत कीजिए। तब क्या करें? उपेक्षा कीजिए। जरा अपनी नजरको दूर ही रहने दीजिए, उससे एक मत कीजिए। उपेक्षा माने उपेक्षण, एक न होना, दूरसे देखना। उससे दुश्मनी करोगे तब भी एक हो जाओगे और दोस्ती करोगे, मुहब्बत करोगे तब भी एक हो जाओगे।

इस उपेक्षाका ही नाम वैराग्य है। वैराग्य माने राग-द्वेषकी शिथिलता, उसका अत्यन्ताभाव नहीं। जबतक जीवन है तबतक थोड़ा बहुत राग और द्वेष तो रहता ही है। परन्तु उसे शिथिल बनाकर रखना चाहिए। उसके वशमें नहीं होना चाहिए।

मनको पकड़नेके लिए अभ्यास और वैराग्य ये दो उपाय भगवान्ने बताये। आप जरा और ध्यान दें। स्यालदह स्टेशन आप लोगोंने देखा होगा! मैंने स्यालदह शब्दका उच्चारण किया और आपको स्यालदहकी याद आगयी। किन्तु न तो स्यालदह अपनी जगहसे उठकर आपके मनमें आया और न आपका मन अन्तःकरणसे निकलकर वहाँ गया। मन तो आपका अन्तःकरणमें है और स्यालदह स्टेशन अपनी जगहपर है। शब्दका उच्चारण करनेसे अर्थका एक आभास आपके मनमें आजाता है।

शीशेमें आपका जो प्रतिबिम्ब दिखायी पड़ता है वह शीशा हटा देनेपर नहीं दिखायी पड़ता। प्रतिबिम्बमें जो लम्बाई-चौड़ाई, गहराई-ऊँचाई, रङ्ग आदि दिखायी पड़ता है, वह शीशेके भीतर कहीं नहीं है।

इसी तरह आपका मन बिलकुल शुद्ध है, ज्ञानस्वरूप है। उसमें कुछ नहीं है। न वह कहीं गया और न उसमें कुछ आया। शीशेमें जो प्रतिबिम्ब दीखता है वह पसन्द आनेपर आप उसे पकड़नेकी कोशिश करेंगे तो पकड़में नहीं आयेगा और ग्लानि होनेपर हटानेकी कोशिश करेंगे तो हटेगा भी नहीं। इसलिए उसकी उपेक्षा कर देनी चाहिए।

मनकी स्थिति यह है कि न इसमें कुछ आता है न जाता है। सन्त कहते हैं कि—'साधो, आवे जाय सो माया' जो आता जाता है वह माया है। अगर यह बात आपको किताब पढ़नेसे मालूम न हुई तो आज समझ लीजिए कि मैं आपको पढ़ा रहा हूँ।

तीसरी बात भगवान्ने बतायी कि असंयतात्माओंके लिए योग दुष्प्राप्य है—**असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।** अतः इन्द्रियोंका संयम अनिवार्य है। आप लोग कभी घोड़ेपर चढ़े होंगे। उसकी बागडोर कभी ढीली करनी पड़ती है, कभी कसनी पड़ती है, कभी दाहिने घुमानी पड़ती है, कभी बायें घुमानी पड़ती है। बागडोर ढीली छोड़नेसे घोड़ा सामान्य चालमें चलता है और कसनेसे तेज हो जाता है। इसी तरह बागडोरकी पकड़द्वारा घोड़ेको दाहिनेको घुमाना, बाँयें घुमा देना और खड़ा कर देना होता है।

संयमका तात्पर्य है कि आप घोड़ेके सवारकी तरह अपनी इन्द्रियों और मनकी बागडोरको अपने हाथमें रखिये। रोकिये तो रुक जाय, चलाइये तो चले।

हमने एक खिलौनेकी बस देखी। उसको बिना छूये दूरसे बोलते थे कि 'गो' तो वह चलने लगती थी और बोलते थे कि 'स्टाप' तो रुक जाती थी। तो इन्द्रियाँ और मन ये सब भी आपके खिलौने हैं। आप इनको आज्ञा दीजिए, इनके चलाये मत चलिए, इन्हे संयममें रखिये।

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥ 6.36

भगवान् कहते हैं कि आप अपने मनको तो वशमें रखनेका प्रयास कीजिए ही, शरीरको भी वशमें कीजिए। जबतक शरीर हिलेगा, डोलेगा, इन्द्रियाँ इधर-उधर चलेंगी, तबतक मन वशमें नहीं होगा। इस प्रकार मनको वशमें करनेके तीन उपाय हो गये—एक अभ्यास, दूसरा वैराग्य ओर तीसरा संयम।

चौथा उपाय भी एक है जो सीखने लायक है। उपाय माने मनको वशमें करनेकी युक्तियाँ—

अध्यात्मविद्याधिगमः साधुसंगतिरेव च।
वासनासम्परित्यागः प्राणस्पन्दनिरोधनम्॥
एतास्ताः युक्तयः पुष्टाः सन्ति चित्तयजे किल।

कहते हैं कि अपने मनको वशमें करना हो तो चार बातका ध्यान रखें। जो ड्राइवर केवल मोटर चलाना जानता है, मशीनको नहीं समझता, वह खराब होनेपर बीच रास्तेमें खड़ी कर देगा कि नहीं? तो आप अपने

मनसे, इन्द्रियोंसे, काम तो लेते हैं किन्तु वे कैसे काम करती हैं, यह नहीं जानते। हमारा जो मन है वह आँखमें जाता है तो देखता है, कानमें जाता है तो सुनता है। शरीरके भीतर जो प्रक्रिया हो रही है, इसीको अध्यात्मविद्या बोलते हैं—'आत्मनि एव इति अध्यात्मम्।' तो शरीरके भीतर जो मशीन चल रही है उसकी प्रणालीको ठीक-ठीक समझिये। जिन सन्तोंका मन वशमें है उनकी संगति कीजिये। अपनी वासनाओंको जरा कम कीजिये—**वासनाऽसम्परित्यागः** और साँसको अपने काबूमें कीजिये—**प्राणस्पन्दनिरोधनम्।** यह सीखकर करनेका है। बिना सीखे नहीं कर सकते। इसलिए इसीका नाम है उपाय।

उपाय शब्दका संस्कृतमें एक ऐसा अर्थ होता है कि पहले करके फिर छोड़ दे। नावसे नदी पार कर ले, और नाव छोड़ दे। जूता पहनकर कंकरीली भूमि पार कर ले, फिर जूता छोड़ दे। उसे पूजा घरमें न ले जाय। वैयाकरण शिरोमणि भतृर्हरिने उपाय शब्दका यह अर्थ किया है कि पहले स्वीकार करो पीछे छोड़ दो—**उपादायापि ये ह्येयाः उपायास्ते प्रकीर्तिताः।** यदि इन उपायोंको पकड़कर रखोगे तो ये तुमको बाँधकर दबा देंगे।

अब प्रश्न है कि एक श्रद्धालु साधक है। उससे साधनमें ढिलाई हो गयी। परन्तु वह श्रद्धालु है और आप जानते हैं श्रद्धा हृदयमें रहकर काम करती है। भगवान्ने श्रद्धाको बहुत महत्त्व दिया है। यह प्रश्न **श्रद्धयोपेतः** से प्रारम्भ हुआ है। श्रद्धामें उत्तरका उपसंहार किया गया है—**श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः।** प्रश्न श्रद्धासे और उत्तरकी पूर्णता श्रद्धामें।

इस प्रसंगमें एक बड़े भारी लोग-संग्रहकी बात आपको थोड़ेमें सुनाता हूँ। श्रद्धालु पुरुष योगसे छूट जाय और योगकी सिद्धि न मिले तो न इधरका रहा न उधरका रहा। अब उसकी क्या गति होगी? वह किधर जायेगा?

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति॥ 6.37
कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि॥ 6.38

उसकी साधना भी छूटी और सिद्धि भी नहीं मिली। अब उसका क्या होगा? वह ब्रह्मके मार्गमें विमूढ़ हो जायेगा। विमूढ़ माने भटक जाना। इसके बाद अर्जुनने श्रीकृष्णके प्रति अपनी बड़ी भारी श्रद्धा प्रकट की और कहा—

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।

आप पूरी शंका मिटा दीजिये क्योंकि—

त्वदन्यः संशयास्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते। 6.39

आपके सिवाय दूसरा कोई इस संशयको काट नहीं सकता। हर शिष्यके मनमें अपने गुरुके प्रति यही श्रद्धा होनी चाहिए कि इनके सिवाय हमारे संशयको मिटानेवाला और कोई नहीं संशय माने सोनेकी दशा।

संस्कृतमें संशय शब्दका अर्थ यही है। 'शीङ् स्वप्ने' धातु 'शयः' शब्द बनता है। 'सम्यक् शयने संशय।' इस संशयको कृष्णके सिवाय और कोई नहीं मिटा सकता है। यह अर्जुनकी श्रद्धा है।

वह कहता है कि हमसे योग-साधनामें गलती हो सकती है और सम्भव है आगे सिद्धि न मिले। परन्तु तुम्हारे ऊपर मेरी श्रद्धा है। मेरे संशयको मिटा दो—

छित्त्वैनं संशयम्।

भगवान् भी बारम्बार संशय छोड़नेको कहते हैं। जिसके हृदयमें शंका होती है उसे शान्ति नहीं मिल सकती। जो शान्ति काट दे, उसका नाम शंका—**शं शान्तिं कृत्तन्ति कृती कर्त्रने।**

तो श्रीकृष्ण कहते हैं कि अर्जुन! श्रद्धालुका विनाश न यहाँ है और न वहाँ है—

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।

उसका न तो साधन छूटेगा और न सिद्धि छूटेगी। यहाँ-वहाँ कहीं भी उसकी हानि नहीं। इसके लिए एक शर्त जोड़ दी। आप भी इसका प्रयोग अपने व्यवहारमें कर सकते हैं—

न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति।। 6.40

अर्थात् जो अच्छा काम करेगा, उसको बुरा फल कभी नहीं मिलेगा। यह सुभाषित है। कोई अच्छा काम कर रहा हो और वह डरता हो कि करें या न करें तो आप उसको इस सुभाषितका उल्लेख करते हुए समझा सकते हैं कि वह अच्छा काम करनेसे विचलित न हो।

यदि कोई मर गया हो तो उसके सम्बन्धियोंके लिये यह आश्वासन है कि—**प्राप्य पुण्यकृतां लोकान्**—वह उस उत्तम लोकमें पहुँच जायेगा, जहाँ पुण्य करनेवाले लोग जाते हैं।

वह उत्तम लोक कहाँ होता है? ऊपर भी होता है, भीतर भी होता है, नीचे भी होता है और बहुत दिनों तक स्थिर रहता है। उसके बाद पुण्यकर्ता जब इस लोकमें पैदा होता है तो श्रीमानोंके घर पैदा होता है। श्रीमान् भी ऐसे जो शुचि हैं, पवित्र है।

यहाँ आप एक बात देखें। पूर्व जन्मके पुण्यात्मा इस जन्ममें बड़े सम्पन्न हो सकते हैं, लेकिन वे सुखी भी हों—यह आवश्यक नहीं यदि वे पुर्वजन्मके पुण्यात्मा होंगे तो धन उनके पास आ जायेगा, किन्तु सुख तभी मिलेगा जब वे सत्सङ्गी होंगे। हम ऐसे बहुत-से लोगोंको जानते हैं, जिनके पास बड़ी सम्पदा है परन्तु वे सुखी नहीं।

सुख तो भगवद्भजनका, भगवच्चिन्तनका, ज्ञानाभ्यासका, सत्सङ्गका फल है और धन कर्मका फल है। यह कोई महत्त्वपूर्ण बात नहीं कि आपके पास चार पैसे हैं कि नहीं, महत्त्वपूर्ण बात यह है कि आपका दिल सुखी है कि नहीं।

यदि आपका दिल सुखी है तो कुछ न होने पर भी आप भाग्यवान् हैं और यदि बहुत कुछ होनेपर भी आपका दिल सुखी नहीं, तो आप भाग्यवान् नहीं हैं। वह धन किस कामका जो आपको सुख नहीं दे सकता। तो, **शुचीनां श्रीमतां गेहे** एक बात हुई।

दूसरी बात यह कि यदि पुण्यात्माकी वासना निवृत्त हो गयी हो तो वह—**योगिनामेव कुले भवति**—जिस वंशमें योगाभ्यास होता है उस वंशमें पैदा होता है या पैदा होकर योगियोंके बीचमें चला जाता है।

योगी भी दो तरहके होते हैं। एक मूर्ख योगी होते हैं और दूसरे ज्ञानी योगी होते हैं। आठ-आठ घण्टों तक आँख बन्द करके और शरीर तानके बैठे रहे, प्राणायाम प्रत्याहार भी ठीक किया, आसन भी स्थिर रहा किन्तु उठे तो मूर्खताका काम करने लगे। तो योगीको बुद्धिमान् होना चाहिए। धीमतां धी माने धारणावती। 'धत्ते इति धी'—जो अच्छी बातोंको पकड़कर रखे, उसका नाम 'धी' है। ऐसा जन्म दुर्लभ है—

एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्।। 6.42
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।। 6.43

वहाँ पूर्व शरीरका जो बुद्धियोग था, पूर्व जन्ममें जो अभ्यास किया था, वह प्रतिफलित होकर वैसी ही बुद्धि, वैसी ही साधना और वैसी स्थिति उसको फिर इस शरीरमें प्राप्त हो जाती है। उसका पूर्वाभ्यास सहायक हो जाता है।

यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन।। 6.43
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।। 6.44

असलमें जिसको हम मरना कहते हैं वह महात्माओंकी दृष्टिमें वैसा ही है, जैसे सोना। जैसे, आप कमरेमें जिस पलंगपर जैसा बिस्तर बिछाकर, तकिया लगाकर, पंखा चलाकर सोते हैं और जब सबेरे जगते हैं तो कमरेका सामान और वातावरण ज्यों-का-त्यों मिलता है, वैसे ही मनुष्यका शरीर छूटनेपर उस समयके अन्तःकरणकी जैसी परिस्थिति होती है वैसी ही परिस्थिति उसको दूसरे शरीरमें मिलती है।

जीवन जहाँ समाप्त होता है, वहीं प्रारम्भ होता है। अतः आगेके जीवनमें भगवान्‌को प्राप्त करनेके लिए आप वर्तमान जीवनमें अपने चारों ओर भगवान्‌को, पवित्रताको, शान्तिको बसा लीजिये।

जैन लोग कहते हैं कि अहिंसाको बसा लीजिये, बौद्ध कहते हैं कि करुणाको बसा लीजिये। हिंसा और अहिंसा, करुणा और निष्ठुरता, दोनोंसे हित हो सकता है—ऐसी वैदिक धर्मकी मान्यता है। हमारा अहिंसामें आग्रह नहीं, लोकहित होना चाहिए। करुणा भी एकांगी है, अहिंसा भी एकांगी है। अहिंसा केवल निषेधात्मक है, करुणा केवल विधानात्मक है। हितमें बुद्धिका नाश नहीं है।

अमुक रोग आपरेशन करनेसे अच्छा होगा या मरहम लगानेसे और अमुक व्यक्तिका भला कुछ देनेसे होगा या उसे डाँट फटकारकर वापिस कर देनेसे—उसका निर्णय परिस्थितिके अनुसार होता है। इसीको हित बोलते हैं। **यदेव हिततमं तदेव मे ब्रूहि**—यह वैदिक धर्मका सार है। अच्छा अब आगे देखो—

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।। 6.44

पूर्वाभ्यास बड़ा समर्थ है। साधक कितना भी विषय-विवश हो गया हो, इन्द्रियाँ उसके वशमें नहीं, मन न हो, परन्तु जैसे लुटेरे जबरदस्ती लूटकर ले जाते हैं वैसे ही विषय-भोग-विवश साधकको भी उसके पूर्वका योगाभ्यास लूट लेता है, अपनी ओर खींच ले जाता है, अपहरण कर लेता है।

जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते।। 6.44

मनुष्य जब योगका जिज्ञासु होता है, अन्तर्मुख होता है, परमात्मासे मिलना चाहता है, तब वह संसारमें कर्तव्योंके विधि, निषेधसे मुक्त हो जाता है। वह परमात्माकी प्राप्ति कर ले तब तो कहना ही क्या, यदि प्राप्त करनेका सच्चा जिज्ञासु हो जाय तो भी मुक्त हो जाता है। प्राप्त करनेवाला विधि, निषेधसे मुक्त हो जाता है—यह बात पहले कही है—

सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।

और, यहाँ बताया कि जिसको बाहरका कुछ पाना है, उसके लिए विधि, निषेध होता है। जिसको बाहरका कुछ नहीं पाना, अपने अन्तर्जगत्में महती प्रतिष्ठा प्राप्त करनी है उसके लिए बाहरके विधि, निषेधका कोई अर्थ नहीं।

जिसको कहीं जाना नहीं, चलना नहीं, उसके लिए सड़कपर बाँयें चलो कि दाहिने चलोका कोई मतलब नहीं। यह सब तो उसके लिए है, जो चलता है। तो जब जिज्ञासुके लिए भी विधि, निषेधका महत्त्व नहीं तो योगीके लिए कहना ही क्या है?

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।। 6.45

प्रयत्न करते-करते उसके जो किल्बिष हैं, पाप हैं, जिनके कारण वह संसार चक्रमें भटक गया था, वे नष्ट हो जाते हैं।

पहले बताया था कि संसारमें सबसे बड़ा पाप नासमझी है। दूसरे नम्बरका पाप घमण्ड है। तीसरे नम्बरका पाप मुहब्बत है। चौथे नम्बरका पाप दुश्मनी है और पाँचवें नम्बरका पाप मौतका डर है। ये पाँच पाप अन्तरङ्ग हैं और इनसे फिर पाँच महापाप दुनियामें पैदा होते हैं। तो

हरिसे लागा रहुरे भाई। तेरी बनत बनत बनि जाई।।

कितना बड़ा आश्वासन है। एक जन्ममें नहीं, तो अनेक जन्मोंमें सही, हमको तो सफलता मिलेगी। अपनी सफलतापर विश्वास रखो। विश्वासके बिना मनुष्य कोई साधन नहीं कर सकता। यदि प्रयोजन न हो तो मनुष्य कर्म न करे—

प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते।

प्रयोजनके अभावमें प्रवृत्ति नहीं होगी। कामना दूसरी वस्तु है और प्रयोजन दूसरी वस्तु है। कामना भोगको प्राप्त करके शान्त हो जाती है और भोग छूट जाता है। प्रयोजन वह होता है जो 'अवगतं सति आत्मनि इष्यते'—मिलनेके बाद अपने आपमें आत्मसात् हो जाता है।

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते।। 18.25

वह कर्म तमोगुणी हो जायेगा, जिसके परिणामका हम ठीक-ठीक ध्यान नहीं कर लेंगे। यह देखना

आवश्यक है कि जो परिणाम होगा, वह हमारे साथ मिल जायेगा कि नहीं, आत्मसात् होगा कि नहीं। दूध गायका हो, भैंसका हो अथवा बकरीका हो, उसमें मूल बात देखनेकी यह है कि पीनेके बाद वह हमको पच जायेगा कि नहीं? शरीरमें उसका जो पाचन है, वह प्रयोजन है। इसको देखे बिना आप दूध लेंगे तो आपको नुकसान करेगा।

यह सत्य अवगत करने योग्य है कि आहारका परिणाम शरीरके सकल अनर्थोंकी निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्ति है। जिस प्रकार आत्मामें परमानन्दकी प्राप्ति वेदान्त-विचारका प्रयोजन होता है, वैसे ही आप कर्म करनेमें निष्काम तो रहिये, परन्तु आपको उसके प्रयोजनका ठीक-ठीक ज्ञान होना चाहिए। निष्कामको गलत नहीं समझना।

अब इस प्रसंगमें भगवान् लोक-संग्रहकी बात बताते हैं। सब लोग समझदार हो जायेंगे, यह कल्पना बिल्कुल शेखचिल्लीका ख्वाब है। इसी प्रकार सब धनी हो जायेंगे, यह ख्याल भी गलत है। आप यह शुभकामना अवश्य कीजिये कि सब स्वस्थ रहें। लेकिन सब स्वस्थ ही रहेंगे, यह बात दुनियामें कभी होनेवाली नहीं। सब ज्ञानी हो जाय, यह बात भी नहीं होगी। संसारका ऐसा ही स्वरूप है तब करना क्या है?

जो धनी नहीं, विद्वान् नहीं, बुद्धिमान नहीं, वे सब श्रद्धा रखते हैं। श्रद्धा तो मूर्ख भी रखता है। गाँवमें अनपढ़ लोग रहते हैं, बालक रहते हैं, पागल भी रहते हैं। किसीका ज्ञान ज्यादा होता है, किसीका कम होता है। उन सबको समान रूपसे ज्ञानी नहीं बनाया जा सकता। चाहे लाखों स्कूल और हजारों कालेज खोलो, लेकिन श्रद्धाके लिए स्कूल, कालेजोंकी जरूरत नहीं होती।

जो बच्चे पैदा होते हैं उनका विकास श्रद्धाके द्वारा ही होता है। हम पट्टीपर, स्लेटपर 'क' की एक शक्ल बनाते हैं। यदि बच्चा 'क' पर श्रद्धा नहीं करेगा तो पढ़ेगा कैसे? सीखनेवाला आदमी सिखायी हुई बातपर श्रद्धा करता है तभी सीखता है।

रसोई बनानेवाले पर हम श्रद्धा नहीं रखेंगे, विश्वास नहीं करेंगे और यह शंका करेंगे कि इसने खानेमें जहर न मिला दिया हो तो खायेंगे कैसे? बिना श्रद्धाके डाक्टरकी दवा कैसे लेंगे? नाईसे बाल कैसे बनवायेंगे? किसीका दिया हुआ पानी कैसे पीयेंगे? असलमें लोक-संग्रहके लिए ज्ञान-विज्ञान उतना अपेक्षित नहीं, जितना श्रद्धा-भाव अपेक्षित है। उपनिषद्में श्रद्धाको सम्पत्ति बताया गया है—**श्रद्धावित्तः।**

श्रद्धा धन है, श्रद्धा वित्त है। जिसके पास श्रद्धाकी पूँजी है वह पवित्रताके मार्गपर, साधनके मार्गपर चल सकता है। इसमें सन्देह नहीं कि तपस्वी बड़ा है। जो पञ्चाग्नि तापते हैं, चौरासी धूनी तापते हैं, धूपमें रहते हैं, नंगे रहते हैं, ठण्डमें रहते हैं, पानीमें रहते हैं, भूखे रहते हैं, वे बड़े हैं; किन्तु उन तपस्वियोंसे भी बड़ा वह है जो बुद्धिपूर्वक समझकर अपने योगमें, साधनमें, उपायमें स्थित है।

ज्ञानिभ्योऽपि मतोधिकः। 6.46

जो बड़े-बड़े विद्वान् हैं, शास्त्री हैं, परोक्षज्ञानी हैं उनसे भी बड़ा वह है जो बुद्धिपूर्वक काम करता है,

समतापूर्वक काम करता है, रागद्वेषरहित काम करता है। निस्सन्देह जो लोग बहुत कर्म करते हैं। परन्तु समझते कुछ नहीं, उनसे बड़ा बुद्धियोगी है।

इसलिए भगवान् कहते हैं कि अर्जुन तुम बुद्धियोगी बनो। लेकिन साथ-ही-साथ यह भी कह देते हैं कि तुमको तो मैंने समझाया और तुमने समझा। तुम तो योगी बन जाओगे, साम्ययोगी बन जाओगे, बुद्धियोगी बन जाओगे, पूर्णयोगी, अध्यात्मयोगी, राजयोगी, महाराजयोगी, महाराजाधिराजयोगी, अधिरूढ़राजयोगी, कर्मयोगी, भक्तियोगी, ज्ञानयोगी, अनासक्तयोगी, निष्कामयोगी भी बन जाओगे। इन सब योगियोंसे भी आगे बढ़कर—**येगिनामपि सर्वेषां** के अनुसार अपनी अन्तरात्माको सर्वात्माके साथ मिला दोगे। जो तुम्हारी आत्मा सो सबकी आत्मा। तुम्हारे सामने सबके रूपमें परमेश्वर प्रकट होगा। ऐसा अनुभव न हो तो भी परवाह नहीं।

सभी पहले वसिष्ठ, शुकदेव अथवा वामदेव नहीं हो जाते। वैसे लोगोंको शुकदेव, वामदेव बननेका शौक जरा कम होता है। किन्तु जनक बननेका शौक बहुत ज्यादा होता है, क्योंकि उसमें कुछ छोड़ना नहीं पड़ता। तुम चाहे कुछ भी बन जाओ पर देखो, न तो सब वसिष्ठ होते हैं, न शुकदेव होते हैं, न वामदेव होते हैं, न जनक होते हैं, न राम होते हैं, न कृष्ण होते हैं। किन्तु एक बात सबके अधिकारकी है और वह यह कि सब श्रद्धावान् हो सकते हैं—'श्रद्धावान् भजते यो मां स ने युक्ततमो मत:'।। 6.47

जिसने परमात्माको देखा नहीं, आत्माका साक्षात्कार नहीं किया और योगकी समाधि नहीं लगायी, परन्तु यदि वह श्रद्धा-सम्पत्तिसे सम्पन्न है तो सबसे बड़ा है। इसमें कुछ करनेका ही नहीं। भगवान्‌ने बताया कि—

श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः। 12.20

जिनके हृदयमें श्रद्धा है, वे मेरे बहुत प्यारे हैं। इसीका नाम है लोकसंग्रह। तात्पर्य यह कि केवल विद्वानों—बुद्धिमानोंसे ही दुनिया नहीं चलती। दुनिया तो श्रद्धालुओंसे, विश्वासियोंसे बात माननेवालोंसे चलती है। बड़े-बड़े महात्माओंके महात्मापनसे संसार नहीं चलता है, उनके अनुयायियोंसे संसार चलता है, जो उनके ऊपर श्रद्धा करता है।

अनुयायी राजाके होते हैं, सेठके होते हैं, विद्वान्के होते हैं, साधुके होते हैं। यदि जनमतकी दृष्टिसे देखा जाय तो श्रद्धालुओंकी संख्या अधिक है और श्रद्धेयोंकी संख्या बहुत कम है। इसलिए ज्ञान-विज्ञान लोकसंग्रहका हेतु नहीं, श्रद्धा लोक-संग्रहका हेतु है। युक्ततम वही है जो श्रद्धालु है। श्रद्धालु सबमें भगवान्‌के दर्शन करता है।

आप अपने दुश्मनसे मुस्कुरा कर बात कीजिए, उसको अपनेसे ऊपर बैठाइये। यदि वह कभी आपके घरमें आजाये, मार्गमें या सभामें मिल जाय तो आप उसको अपने दाहिने बैठाइये, ऊँचा बैठाइये, प्रेमसे बात कीजिए। जो सद्भाव-सम्पन्न है वह विजयी है और जो दुर्भावयुक्त है वह पराजित है। अपने हृदयमें दुर्भावको स्थान देना ही पराजित होना है। तो परमयोगी, युक्ततम योगी वही है जो अपना बड़प्पन छोड़कर, सुख-दुःखमें सबके साथ अपनेको मिला लेता है।

मैंने पढ़ा था कि कहीं सड़कपर एक बीमार पड़ा था। उसके शरीरमें कोढ़ था, मक्खियाँ भिनभिना रही थीं। वह पीड़ाके कारण कराह रहा था। एक सत्पुरुष उधरसे निकले। उन्होंने उसको अपनी गोदमें उठा लिया, ले जाकर स्नान कराया। कपड़े बदलवाये। उसका उपचार किया और फिर उसको चूम लिया। बस, चूमते ही रुग्णके चेहरेपर मुस्कान आगयी। जो मरणासन्न मलिन अनाथ असहाय था, वह प्यार पाकर प्रसन्न हो उठा और केवल एक वाक्य बोला—'अब मैं सुख और शान्तिसे मरूँगा।'

तो, यदि आप किसी एक व्यक्तिको भी मरते समय सुख दे सकते हैं, शान्ति दे सकते हैं, उसमें भगवान्‌को देख सकते हैं तो आपसे बड़ा योगी और कोई नहीं।

आज यहाँका आयोजन सम्पन्न हो रहा है। कल शामको किसी व्यक्तिने मुझे उलाहना दिया कि आपने श्रोताओंकी तो बड़ी प्रशंसा की, किन्तु आयोजकोंको धन्यवाद ही नहीं दिया। वे इस समय यहाँ बैठे हुए हैं—शामके कार्यक्रमके आयोजक भी और सुबहके कार्यक्रमके आयोजक भी।

आपको एक बात बता दूँ कि आपलोग जो सुनना चाहते हैं, वही मेरी वाणी बोलने लगती है। मैं स्वयं अपनी ओरसे कुछ नहीं बोलता, आप ही बोलते हैं। आपके मनमें जो इच्छा है, वही बोलती है। इसलिए बोलनेवाला यदि किसीका कृतज्ञ है तो बुलवानेवालेका ही है, क्योंकि वही बोलनेकी प्रेरणा देता है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

गीता-दर्शन

(4)

गीता अध्याय - 7

स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

संकलनकर्त्री

श्रीमती सरला बसन्तकुमार बिरला

शुभाशीर्वाद

विरला-परिवारका मानवताकी सेवामें विशेष योग रहा है। इसके द्वारा भारत वर्षके सर्वतोमुखी विकासमें प्रशंसनीय सहायता प्राप्त हुई है। ईश्वर-भक्ति, धर्म, दरिद्रनारायणकी उन्नति, विद्या, उद्योग, राष्ट्रीय स्वतन्त्रता एवं आध्यात्मिक प्रचार-प्रसारमें इसकी सेवा अनुपम है।

श्रीघनश्यामदास बिरलाके पुत्र एवं पुत्रवधू श्रीमती सरला बसन्तकुमार बिरला अनेक वर्षों से कलकत्तामें एवं अन्यत्र भी गीता, उपनिषद् आदिपर प्रवचनका आयोजन करते रहे हैं। उनमें देश-विदेशके अध्यात्मप्रेमी एवं विद्वान्, व्यापारी विविध प्रकारके सम्मान्य वर्ग लाभ उठाता रहा है। उनका रिकार्ड कर लिया जाता है। उसीसे लिखकर अबतक 'गीता-दर्शन' नामसे तीन खण्ड प्रकाशित हो चुके हैं। उनका संकलन एवं संपादन श्रीमती सतीशबाला महेन्द्रलाल जेठीने बड़े प्रेम एवं लगनसे किया है।

अब चतुर्थ एवं पञ्चम खण्ड प्रकाशित हो रहे हैं। इनका संकलन श्रीमती सरला बिरलाने बड़े मनोयोगसे किया है। आपको ज्ञात होगा कि एक घण्टेका प्रवचन संग्रह करनेमें छः-सात घण्टे लग जाते हैं। प्रतिदिन प्रातःकाल प्रवचन सुनना, दिनभर आतिथ्य-सत्कार एवं घरकी देखभाल करना सायंकाल पुनः प्रवचनका आयोजन एवं श्रवण करना तथा साथ ही साथ रातमें छः-सात घण्टे प्रवचन लिखना अत्यन्त परिश्रमसाध्य कठिन कार्य है। यह बिना सच्ची लगन एवं प्रेमके नहीं हो सकता। जब हम प्रातःकाल प्रवचन करनेके लिए बिरला पार्क पहुँचते तो पहले दिनका किया हुआ प्रवचन लिखित रूपमें हमारे हाथोंमें आजाता। उनके परिश्रम, लगन, शीलस्वभाव एवं गरीबोंकी सेवा की जो नैसर्गिक रुचि है उसकी जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है।

हम हृदयसे आशीर्वाद देते हैं कि वे दीर्घकालतक सपरिवार स्वस्थ प्रसन्न रहकर मानवताकी विशिष्ट सेवा करती रहें।

शेष भगवत्कृपा।

दीपावली
का.कृ.चतुर्दशी सं. 2036
20-10-79

अखण्डानन्द (सरस्वती)

गीता अध्याय-7

प्रवचन : 1

अम्ब त्वामनुसन्दधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम्।

अम्ब त्वामनुसन्दधामि अर्थात् हे अम्ब, हे माँ, मैं तुम्हारा अनुसन्धान करता हूँ। '**अम्ब**' शब्दका संस्कृतमें अर्थ है—वर्णात्मिका। '**अब्**' शब्दे धातुसे अम्ब शब्द बनता है। अम्बा वह है जो बोलना सिखाती है। सरस्वती माँ है इसीसे हम उसको अम्बा कहते हैं—वाग्देवी। आधिदैविक दृष्टिसे वाग्देवी सरस्वती है; आध्यात्मिक दृष्टिसे वाग्देवी वाक् है। यह गीता क्या है? भगवान्‌की वाणी—साक्षात् सरस्वती, अपने हृदयके भाव दूसरेके हृदय तक पहुँचानेवाली—ज्ञानका प्रवाह।

तो आइये, अर्जुनके रथपर सारथिके रूपमें विराजमान भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन करें। उपनिषद्‌का कहना है कि हमारे जीवनमें एक सारथि चाहिए—हमारे जीवनमें एक बागडोर चाहिए।

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्॥ कठ० 1.3.9

जिसके जीवन-रथका सारथि विज्ञान है और जिसके मनकी बागडोर अपने हाथमें है, वह मार्गसे पार हो जाता है, अपने गन्तव्य तक पहुँच जाता है। वहाँसे फिर राग-द्वेषके संसारमें उतरना नहीं होता। यह संसार क्या है? बस, राग और द्वेष—किसीसे राग होता है तो किसीसे द्वेष। यह राग-द्वेष ही संसार है। स्वर्ग-नरक इसीसे बनते हैं। अपने जीवनमें जब विज्ञान सारथि होता है और मनकी लगाम अपने हाथमें होती है तब कहीं भटकनेका डर नहीं रहता। इसीसे उपनिषद्‌में बताया गया है—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥ कठ. 1.3.3-4

तात्पर्य यह कि यह जीवन रथी है, अर्जुनके स्थानपर है। **आत्मानं रथिनं विद्धि**—आपका शरीर रथ है। इसमें रथी होकर बैठा है जीव। बुद्धिमें बैठकर भगवान् सारथिका काम करते हैं। इसे यों समझिये—बुद्धिमें

वासुदेव हैं, मनकी बागडोर है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं और हम जो इन्द्रियोंसे संसारके विषयोंको ग्रहण करते हैं, यही उनके दौड़नेके देश है। **आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः**—जीवात्मा, इन्द्रिय और मन, इनसे युक्त होकर आत्मा भोक्ता बनता है। **कर्तृत्वभोक्तृत्वलक्षणः संसारः**। जब हम अपनेको कर्ता मान बैठते हैं तो अपनेको भोक्ता माननेके लिए विवश हो जाते हैं।

क्या आश्चर्य है! मुद्रा तो है ज्ञानकी और अमृतका दोहन हो रहा है। एक ऐसा ग्वाला—गोपाल है, जो उपनिषदोंकी गाय दुह रहा है। ग्वालेका बालक (ग्वालबालके रूपमें स्वयं भगवान्) और वह उपनिषदोंकी गाय दुह रहा है! उसका हाथ है ज्ञान मुद्रामें और वह अमृतका दोहन कर रहा है।

गीताका प्रारम्भ कहाँसे होता है, इसमें भक्तों और वेदान्तियोंमें मतभेद है। **शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्** (2.7)—यहाँसे गीताका प्रारम्भ होता है, ऐसा भक्तोंका मत है और **अशोच्यानन्वशोचस्त्वं** (2.11) से प्रारम्भ होता है, ऐसा वेदान्तियोंका मत है। भगवत् शरणागति मुख्य है, ऐसा भक्त लोग कहते हैं और शोक-मोहकी निवृत्ति मुख्य है, ऐसा वेदान्ती कहते हैं। **अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः** (18.66) यहाँ गीता समाप्त हो जाती है। गीता **अशोच्यानन्वशोचस्त्वं** से प्रारम्भ होती है और **मा शुचः** पर समाप्त होती है, ऐसा वेदान्ती लोग कहते हैं और **शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्** से गीता प्रारम्भ होती है और **करिष्ये वचनं तव** (18.73) पर समाप्त होती है, ऐसा भक्त लोग कहते हैं। एक कृष्णके वचनसे प्रारम्भ और कृष्णके वचनपर समाप्ति तथा दूसरे अर्जुनके वचनसे प्रारम्भ और अर्जुनके वचनपर समाप्ति मानते हैं। बीचमें कर्मयोग, भक्तियोग तथा ज्ञानयोगका वर्णन है।

आप कुछ करना चाहते हैं, क्योंकि कुछ पाना चाहते हैं। जिसको जीवनमें कुछ पानेकी इच्छा है उसको कुछ करना पड़ेगा। साधन और साध्यका परस्पर सम्बन्ध होता है। साध्यका भी ज्ञान होना चाहिए और साधनका भी ज्ञान होना चाहिए। यदि श्रद्धा नहीं होगी हृदयमें तो साधन और साध्यके सम्बन्धका ज्ञान नहीं होगा। जो हम कर रहे हैं और जो पाना चाहते हैं, उनके साथ हमें श्रद्धा ही जोड़ती है।

हम जो कर रहे हैं, उससे हम जो चाहते हैं, वह हमको मिलेगा। इस प्रकार पहले ज्ञान हुआ कि यह करेंगे तो यह मिलेगा। फिर श्रद्धापूर्वक साधनका अनुष्ठान हुआ। साधनका अनुष्ठान करते समय भी श्रद्धाका होना आवश्यक है कि हम जो कर रहे हैं उससे फलकी प्राप्ति होगी। श्रद्धाहीन कर्ममें रस नहीं होता—स्वाद नहीं आता। यदि आप अपने फलको सर्वथा अन्तमें फेंक देंगे तो जो कर्म आप कर रहे हैं, जो साधन कर रहे हैं, इसमें स्वाद नहीं आयेगा। श्रद्धासे रसकी उत्पत्ति होती है। यदि श्रद्धासे कर्ममें रसकी उत्पत्ति हो गयी तो फलकी ओरसे दृष्टि हट जाती है। कर्म करनेमें ही इतना मजा है, इतना स्वाद है कि बादमें कुछ मिले या न मिले, स्वर्ग मिले कि न मिले, कौन देखता है? हमको तो यह काम करनेमें ही एक उल्लास, एक हर्ष, एक प्रसादकी प्राप्ति है। यह काम करनेमें ही हमको स्वाद आता है।

यहाँ यह ध्यान देनेकी बात है कि काम करनेमें यदि भूत लग जाता है अर्थात् हम दौड़ रहे हैं आगेको तथा देख रहे हैं पीछेकी ओर कि हमारे पीछे कोई भूत तो नहीं आ रहा है, तो आगेके पाँव भी लड़खड़ा जाते

हैं और हम रास्तेसे च्युत हो जाते हैं। इसके साथ ही हम इतना आगे देखने लगते हैं कि पाँवके नीचे क्या है, इसका भी पता नहीं चलता; तब भी गिरनेकी सम्भावना रहती है। इसी प्रकार यदि पाँवके नीचे इतना देखने लगते हैं कि आगे क्या है यह भूल जाता है, तब भी गति अवरुद्ध हो जाती है। ये भूतके संस्कार हैं। वर्तमानमें कायदेसे अपने पाँव रख रहे हैं और ठीक लक्ष्यकी ओर—साध्यकी ओर बढ़ रहे हैं तो साधन-साध्यके सम्बन्धका ज्ञान होना चाहिए कि यह करनेसे यह मिलता है। श्रद्धापूर्वक साधनमें प्रवृत्ति होनी चाहिए। ज्ञानसे इच्छा होती है, इच्छासे कर्म होता है और कर्मसे सफलता मिलती है।

निष्काम लोग कहते हैं कि हमारा जो अन्तःकरण शुद्ध हो रहा है, वही फल है। हम जो काम कर रहे हैं, बर्तन माँज रहे हैं, बर्तन धो रहे हैं और उसमें स्वच्छता आ रही है—हमारा बर्तन जो चमक रहा है तो उसको यह चमकाना हमारे कर्मका काम है। देखना यह है कि हमारा अन्तःकरण शुद्ध हो रहा है कि नहीं हो रहा है।

गीतामें भगवान्‌ने अर्जुनको बताया कि यह विज्ञान सारथि है—**सारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः। सारयति अश्वान् इति सारथिः**—जो घोड़ोंका संचालन करे उसका नाम है सारथि। हमारी इन्द्रियाँ घोड़े हैं। संचालन ठीक हो रहा है कि नहीं, असमय में लगाम खींच दी, असमयमें ढील दे दी या असमयमें मोड़ दे दिया तो इससे हमारी इन्द्रियोंके घोड़े या तो रुक जाते हैं या तेज दौड़ने लगते हैं या बेरास्ते भटक जाते हैं। तो मनकी बागडोर भी ठीकसे चलनी चाहिए।

भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा—**नियतं कुरु कर्म त्वं**—तुम कर्म करो। गीता पौरुषका ग्रन्थ है। **न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते** (4.38)—ज्ञानके समान पवित्र और कुछ नहीं है। **सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि** (4.36)—आओ ज्ञानकी नावपर बैठो, तुम सम्पूर्ण कठिनाइयोंसे पार हो जाओगे। अन्तमें भगवान्‌ने कहा कि काम करो, परन्तु अपनी अन्तरात्माको मेरे साथ मिला दो। यह छठे अध्यायका उपसंहार है और सातवेंका उपक्रम है।

वेदान्ती लोग मानते हैं कि उपक्रममें बड़ा पराक्रम होता है। उपक्रम माने कोई काम हम प्रारम्भ करते हैं तो कैसे प्रारम्भ करते हैं। उस समय किसलिए प्रारम्भ करते हैं, किस लक्ष्यसे, किस उद्देश्यकी प्राप्तिके लिए प्रारम्भ करते हैं। जिस कामको करनेके लिए या जिस कामकी सफलताके लिए हम आरम्भ करते हैं, वही अन्तमें पूर्ण होता है—सफल होता है। भक्त लोग कहते हैं कि उपक्रममें, प्रारम्भमें कोई गलती भी हो सकती है; परन्तु जहाँ उपसंहार हो वहाँ जाकर हमारा कर्म पूर्ण होता है। उपक्रममें संकल्प है और उपसंहारमें प्राप्ति है।

आओ, अब देखो, यहाँ छठे अध्यायका उपसंहार और सातवें अध्यायका उपक्रम—दोनों एक साथ मिल जाते हैं—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥ 6.47

भगवान्ने कहा—हम आपका आदर करते हैं। किसका आदर करते हैं? **मतः सम्मतः** अर्थात् वे हमारी मतिके अनुरूप हैं-चाहे भक्तियोगी हों, चाहे ज्ञानयोगी हों। **योगिनामपि सर्वेषां**-जितने भी योगी होते हैं—जितने भी साधन होते हैं क्योंकि योगीका अर्थ है—'साधक' (साधन करनेवाले)।

इसका अर्थ यह नहीं है कि वे चन्दन कैसे लगाते हैं। यह तो गीतामें है नहीं। चन्दन आड़ा है या खड़ा है, इसका वर्णन सारी गीतामें कहीं नहीं है। आप तुलसीकी माला पहनते हैं या रुद्राक्षकी, इसका भी वर्णन सारी गीतामें नहीं है। आपका कपड़ा लाल है कि सफेद है, इसका वर्णन भी गीतामें नहीं है।

वहाँ तो 'योग' शब्दका जो अनेक अर्थोंमें प्रयोग हुआ है वह है—**योगः कर्मसु कौशलम्** (2.50) तात्पर्य है कर्म करनेकी कुशलता। काम करते समय आप इतने आविष्ट तो नहीं हो जाते कि उसके फन्देमें आप फँस गये। ऐसी चतुराईसे, ऐसे कौशलसे कर्म कीजिए कि कर्म करते भी चलिये और उसमें फँसिये भी मत।

सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते। 2.48

आपके मनमें रागद्वेष न हो, समता बनी रहे। सिद्धि-असिद्धिका ख्याल मत कीजिए। यह ध्यान कीजिए कि मैं काम ठीक-ठीक कर रहा हूँ कि नहीं। यदि आप अपना कर्म ठीकसे कर रहे हैं तो आगेकी फिक्र करनेकी कोई जरूरत नहीं। क्या अच्छा काम करना अपने आपमें सफलता नहीं है? जिस समय एक गिलास पानी लेकर आप दूसरेको पिलाते हैं उस समय वह हाथमें पानीका गिलास लेना और किसीको पिलाना आपका यह कर्म क्या आपको सुख नहीं देता? जब आप किसीको नमस्कार करते हैं तो क्या मजा नहीं आता? नमस्कार भी तो एक कर्म ही है न! जब आप किसीका स्वागत करते हैं तो क्या आपको आनन्द नहीं आता? तो कर्म स्वयंमें रस है। यदि आप कर्म श्रद्धासे करते हैं, विनयसे और निष्ठाके साथ करते हैं तो काम करना स्वयंमें एक रस है।

योग तो बहुत तरहसे किया जाता है। समाधि लगाना भी योग है, कर्म करना भी योग है, भक्ति करना भी योग है तथा ज्ञान प्राप्त करना भी योग है। यों योग विविध हैं, लेकिन जो निवृत्तिपरक योग हैं, हम यहाँ उनकी चर्चा नहीं करते। आप काम करते रहिए और आपका योग होता रहे, तो यह कैसे होगा? भगवान् श्रीकृष्णने बताया कि **मद्गतेनान्तरात्मना**। यह योगकी कुञ्जी है।

आप अपनी अन्तरात्माको भगवान्के साथ मिला दीजिए। आपकी अन्तरात्मा कहाँ है? परमात्माके साथ मिली हुई है कि अलग पड़ गयी है। सर्वात्माकी दृष्टिसे विचार करिये तो यह जो विश्वसृष्टि चल रही है, इसमें पृथिवी सबको धारण करती है और सर्वात्मा पृथिवीके अन्दर बैठकर काम कर रहा है। जल सबको तृप्त करता है और जलके अन्दर बैठकर सर्वात्मा काम करता है। सूर्य सबको रोशनी दे रहा है और सूर्यके भीतर बैठकर सर्वात्मा काम कर रहा है। यों ही वायु सबको प्राण दे रहा है तथा आकाश सबको अवकाश दे रहा है। देखिए, यही है—**मद्गतेनान्तरात्मना**।

जब आपकी अन्तरात्मा पृथिवीके समान सबको धारण करती है—सबको क्षमा करती है; जलके

समान सबका आप्यायन करती है—सबको तृप्त करती है; तेजके समान—सूर्यके समान—सबको प्रकाश देती है; वायुके समान सबको प्राण प्रदान करती है और आकाशके समान सबको अवकाश देती है, तब समझिये कि आपकी अन्तरात्मा परमात्माके साथ मिल गयी। इस प्रक्रियामें यदि यह मेरा और वह तेरा तथा वह दुश्मन और यह दोस्त अर्थात् रागद्वेषमें फँस गयी तो आपकी अन्तरात्मा परमात्माके साथ नहीं मिली।

मद्गतेनान्तरात्मनाका अभिप्राय है कि अपनी अन्तरात्माको मेरे साथ मिला दो। यदि ऐसा अनुभव नहीं होता है तो यह मत भूलिए कि अनुभव एक दिनमें नहीं होता।

पहले ही कहा जा चुका है कि **श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः**। श्रद्धाके साथ आगे बढ़ो; **श्रद्धया सत्यमाप्यते**—वेदका मन्त्र बोलता है कि श्रद्धासे सत्यकी प्राप्ति होती है। एक मन्त्र बोलता है—**नाश्रद्दधानाय हविर्जुषन्ति देवाः**—अश्रद्धालुका अविष्य देवता लोग ग्रहण नहीं करते। **प्रातः श्रद्धामावाहमहे**—प्रातःकाल हम श्रद्धाका आवाहन करते हैं; ईश्वरमें श्रद्धा हो, शास्त्रमें श्रद्धा हो, गुरुजनोंमें श्रद्धा हो, कर्ममें श्रद्धा हो और सफलतामें श्रद्धा हो। श्रद्धा हो तो रस आयेगा और उत्साह बढ़ेगा।

श्रद्धावान्भजते यो मां................
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः। 12.20

क्या भगवान् अनुभवीसे प्रेम करते हैं? नहीं, अनुभवी तो भगवान्की आत्मा ही है, उससे क्या प्रेम करेंगे? तो भगवान् प्रेम किससे करते हैं? **यो मद्भक्तः स मे प्रियः** 12.16—उनका वचन है कि जो मेरा भक्त है वह मेरा प्यारा है। फिर यदि पूछिये कि अत्यन्त प्यारा कौन है तो उनका कहना है कि जिसको अनुभव भी नहीं हुआ है; अभी भक्ति भी पूरी तरहसे हृदयमें नहीं आयी है; जो अभी शिशु है, बालक है श्रद्धाके साथ—**श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः**—अतीव प्रिय।

गीताके द्वादश अध्यायके **अद्वेष्टा सर्वभूतानां** से लेकर अध्यायकी पूर्तिपर्यन्त आठ श्लोकोंमें भक्तके लक्षण बताये गये हैं। उनसे युक्त भक्तको ही भगवान्ने अपना प्यारा कहा है। और अत्यन्त प्यारा कौन है? जो श्रद्धासे युक्त है; जिसमें न तो अभी ज्ञानका उदय हुआ है और न प्रेमका ही उदय हुआ है, परन्तु वह मुझपर विश्वास करके श्रद्धाके साथ मेरा भजन करता है। अतः अपनी अन्तरात्माको ईश्वरके साथ मिला दो और अपने अन्दर भगवान्की व्यापिनी आदि शक्तियोंको प्रकट होने दो।

आकाशकी शक्तिको व्यापिनी और वायुकी शक्तिको प्राणनी कहते हैं। इसी प्रकार तेजको प्रकाशिनी शक्ति और जलको आप्यायिनी शक्ति बोलते हैं। पृथिवीकी शक्तिका नाम धारिणी है। यह बात भगवान्ने सावतें अध्यायमें स्वयं कही है—**रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभाऽस्मि शशिसूर्ययोः** (श्लोक 8)। यदि ये शक्तियाँ प्रकट नहीं होती हैं तो श्रद्धा रखो। भगवान् कहते हैं—तुम युक्त ही नहीं युक्ततर, युक्ततर ही नहीं युक्ततम हो—अतिशय युक्त हो।

युक्तकी चर्चा हम पीछे करेंगे, पहले सावतें अध्यायका प्रारम्भ करें। कैसा अद्भुत प्रारम्भ है सातवें अध्यायका। उसमें पाँच बातें कही गयी हैं। पहले श्लोकमें भगवान्की वाणी प्रवाहित हो रही है—

श्रीभगवानुवाच। भगवान् उवाचका अर्थ है भगवद्-वचन। व्यासजीने कहा—यह आगे जो है, यह भगवान्का वचन है। छठे अध्यायके अन्तमें किसी दूसरेका वचन तो आया नहीं, भगवान्ने ही बोल दिया कि—**युक्ततमो मतः** और फिर अध्यायका विच्छेद होकर सातवाँ अध्याय प्रारम्भ हुआ। तो प्रश्न हो सकता है कि बोल तो रहे हैं भगवान्, यह भगवान्का ही वचन है, फिर अध्यायका विच्छेद क्यों हुआ?

मधुसूदन सरस्वती आदि विद्वानोंका मत है कि पहले छः अध्यायोंमें कर्मयोगका विशेषरूपसे वर्णन है। सातवेंसे लेकर बारहवें अध्यायतक विशेषरूपसे भक्तियोगका वर्णन है। अतः कर्मयोग और भक्तियोगके मध्य एक रेखा खींचनेके लिए अध्याय आगया बीचमें। यहाँसे एक दूसरा अध्ययन प्रारम्भ होता है—भक्तियोगका अध्ययन, छः अध्यायों तक कर्मयोग अध्ययन है—अध्याय (अध्ययनं अध्यायः)। अध्ययनको ही अध्याय बोलते हैं। जैसे पहला पाठ, दूसरा पाठ और तीसरा पाठ कहते हैं, वैसे ही यह सातवाँ पाठ है। सातवाँ अध्याय अर्थात् सातवाँ पाठ।

स्तोत्रमें कहा है कि भगवान्की कृपा उसपर होती है जो दैन्यादि सद्गुणोंसे युक्त है, अभिमानीपर कृपा नहीं होती। इसके माने है कि अभिमानी कृपाका अनुभव नहीं कर सकता। यह बात नहीं है कि कोई ऐसा देश है, कोई ऐसा काल है, कोई ऐसा हृदय है अथवा कोई ऐसी वस्तु है जिसपर भगवान्की कृपा न हो, परन्तु अहं भावकी प्रधानतासे कृपाका अनुभव नहीं होता और जो **शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्** करके शरणागत होता है वह भगवान्की वाणी सुनता है।

अब देखिए, यहाँ अर्जुन मौन है और भगवान्की वाणी मुखर हो रही है। इसके लिए आवश्यक है कि विनय, दैन्यादि सद्गुण हों, जिज्ञासा हो; वाद-विवादकी रुचि न हो, मतवाद न हो। यदि आप अपने मतकी स्थापना करके चाहते हैं कि हमारे मतका समर्थन भगवान् करें तो यहाँ भगवान्की वाणी अवरुद्ध हो जायेगी और आपकी मति मुखर हो जायगी। जहाँ हम स्वयं जिज्ञासु होते हैं वहाँ भगवान् बोलते हैं। अतः हम अपने मनके विचारोंको, चिन्ताओंको समाप्त कर दें और भगवान्की वाणी सुनें।

बैखरीके भीतर मध्यमा है, मध्यमाके भीतर पश्यन्ती है तथा पश्यन्तीके भीतर परा है। परा वाक् साक्षात् भगवान् है। वही गीताके रूपमें प्रकट हो रही है। जैसे प्रेमियोंके बीचमें वेणुनाद प्रकट होता है—वंशीध्वनि, तात्पर्य यह कि जिसके हृदयमें भगवान्का प्रेम है उसके हृदयको भगवान् बाँसुरी बजाकर आकृष्ट कर लेते हैं वैसे ही जिसके हृदयमें जिज्ञासा होती है उसके हृदयको भगवान् गीता बोलकर आकृष्ट कर लेते हैं।

प्रेप्सुके लिए वंशीध्वनि है। जो पाना चाहता है—प्रेम चाहता है उसके लिए वंशीध्वनि है और जो ज्ञान चाहता है—कर्मका ज्ञान, भक्तिका ज्ञान अथवा समाधिका ज्ञान—उसके लिए भगवान्की गीता है। उसको आत्माका ज्ञान, परमात्माका ज्ञान देनेके लिए भगवान्की वाणी मुखर होती है।

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥ 7.1

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते॥
मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥ 7.1-2-3

अपनी वाणीकी ओर अर्जुनको अभिमुख करते हुए भगवान् कहते हैं—'मैं तुमको एक ऐसा ज्ञान दे रहा हूँ जिसको जान लेनेपर इस विश्वसृष्टिमें दूसरा कुछ जानना शेष नहीं रहता।' देखिए, यदि दुनियासे आप सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना चाहेंगे तो आपको भटकते ही रह जाना पड़ेगा। मिट्टीमें कितने कण हैं, पानीमें कितनी बूँदें हैं, वायुमें कितने झोंके हैं, अग्निमें कितनी लपटें उठती हैं, तेजके क्या-क्या रूप हैं और ग्रह-नक्षत्र तारे कितने हैं, इनका कभी अन्त नहीं मिलेगा। तो क्या बाहरकी वस्तुओंको गिन-गिनकर हम उनका सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं? नहीं प्राप्त कर सकते। परन्तु एक वस्तु ऐसी है जिसका ज्ञान हो जाने पर सबका ज्ञान हो जाता है। उसको कहते हैं—अधिष्ठानका ज्ञान, उपादानका ज्ञान।

जिससे ये सब बने हैं उसको जान लो तो सबका ज्ञान हो जायेगा। सबमें जिसकी रोशनी है उसको जाल लो, सबका ज्ञान प्राप्त हो जायेगा। सबमें जो रस है उसको जान लो, सबका ज्ञान प्राप्त हो जायेगा। अधिष्ठानका ज्ञान, उपादानका ज्ञान, स्वप्रकाशका ज्ञान, परमानन्दका ज्ञान—एक विज्ञानसे सर्वका विज्ञान। यह सर्वका विज्ञान आत्मदृष्टिसे भी सुलभ होता है और परमात्म-दृष्टिसे भी।

भक्त लोग कहते हैं—एक भगवान् ही सबके रूपमें आया, अत: उसको जान लो तो सबका ज्ञान हो जायगा। शैव लोग कहते हैं—एक आत्मा ही सबके रूपमें प्रकट होता है। यह भगवान्का विलास है, ऐसा भक्त लोग कहते हैं। यह आत्माका उल्लास है ऐसा शैव लोग कहते हैं। आत्मा और परमात्मा दो नहीं, एक ही हैं। इसलिए सब ब्रह्मस्वरूप है, ऐसा वेदान्तका कहना है। इससे यह सिद्ध हुआ कि एक ऐसा ज्ञान है जिसके प्राप्त हो जानेपर कुछ भी जानना शेष नहीं रहता।

इसके लिए प्रणाली क्या है? अब प्रणाली बताते हैं। पहली बात तो यह है कि आपके मनकी आसक्ति होनी चाहिए परमात्मामें—**मय्यासक्तमनाः पार्थ**। दूसरी बात है—**मदाश्रयः**—आश्रय होना चाहिए भगवान्का। **योगं युञ्जन्** अर्थात् कर्म करते रहिये, यह तीसरी बात हुई। **यथा ज्ञास्यसि**—जिस रीतिसे ज्ञान होगा, वह रीति सुनो, **समग्रं मां ज्ञास्यसि**—समग्र मुझको जानोगे। उपर्युक्त पाँच बातोंकी प्रतिज्ञा एक श्लोक में की गयी है।

अब इनपर विचार करिये। प्रेम किससे है और आश्रय किसका है, ये दोनों दो बातें होती हैं। एक कर्मचारी है और एक सेठ है। एक सैनिक है, वह सेनापतिके अथवा राजाके आश्रित है। यों अपने सेठके या राजाके आश्रित है कर्मचारी। उसको उन्हींका आश्रय है उन्हींसे पैसा मिलता है, उन्हींसे जीविका मिलती है। वह उन्हींके लिए सब काम करता है। वे ही उसके आश्रय हैं। लेकिन उसका प्रेम कहाँ है? अपनी पत्नीसे है; अपने पुत्रसे है; अपने शरीरसे है; अपने मित्रसे है। यों, प्रेम अलग है और आश्रय अलग है।

विभाग हो गया, दोनोंका। अपनी बुद्धिका आश्रय है, अहंभावका आश्रय है। प्रेम किससे है? शरीरसे, पत्नी-पुत्र और मित्रसे।

इसीलिए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि दोनोंकी एक कर लो—**मय्यासक्तमनाः और मदाश्रयः।** मेरा ही आश्रय हो और मुझसे ही प्रेम हो। यह है आश्रय और प्रेमास्पदकी एकता। आपका मुनीम, आपका मैनेजर आपके आश्रित है। वह जानता है कि अगर इनका काम, इनकी सेवा मैं नहीं करूँगा तो मुझको धन मिलना बन्द हो जायेगा और हम जियेंगे कैसे? तो उसका उद्देश्य है अपने प्रेमास्पद शरीरको और शरीरके सम्बन्धियोंको जिलाना, उनको सुख पहुँचाना। वह सुख किसको पहुँचाना चाहता है? शरीर और शरीरके सम्बन्धियोंको तथा आश्रित किसके है? सेठके, साहूकारके। अब आप देखिये, विभाग जब हो गया तो एक जगह से लेंगे और दूसरी जगह देंगे।

भगवान् कहते हैं—'हमसे ही लो, हमको ही दो।' **मदाश्रयः मय्यासक्तमनाः**—जहाँसे प्राप्ति होती है, जहाँसे ज्ञान मिलता है। वहीं अपने आनन्दको स्थापित कर दो। **मय्यासक्तमनाः**के इसी श्लोकमें तीन बार कृष्णका **'मैं'** आता है—**मयि, मत्** और **माम्**-तीन बार वे अपनी ओर खींचते हैं। अब इससे अधिक और क्या बात हो सकती है? मुझसे प्रीति, मेरा आश्रय और मेरा ज्ञान मुझसे प्रेम करो, मेरा आश्रय लो और और मुझे जानो। कैसा जानो **समग्रं मां**—सम्पूर्ण रूपसे मुझे जानो, अधूरा मत जानो अध्यायके अन्तमें यह बात कही गयी है, समग्रता क्या होती है—

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥ 7.30

यह अधिभूत जगत् भी भगवान् है। ये पेड़-पौधे भी परमात्माके स्वरूप हैं। यह मिट्टी भी परमात्माका स्वरूप है, जल भी परमात्माका स्वरूप है। पहले राजस्थानमें बोलते थे—'बाबा, पानी है इसको व्यर्थ मत गँवाओ। धरतीपर चलो तो जूतेसे रौंदते हुए मत चलो। एक भी तिनकेको तोड़कर मत फेंको। पेड़ मत काटो। व्यर्थमें आग मत जलाओ। हवाको गन्दी मत करो। ऐसे शब्द मत बोलो जिससे आकाश गन्दा हो।'

हम जो शब्द बोलते हैं, वे सम्पूर्ण आकाशमें व्याप्त हो जाते हैं गन्दे शब्द बोलेंगे तो अपनी गन्दगीको आकाशके साथ, ईश्वरके साथ जोड़ेंगे। हमारी साँस गन्दी निकलेगी तो वातावरण गन्दा होगा। हम व्यर्थमें धुआँ करेंगे तो तेजस् तत्त्व दूषित होगा। पानीमें गन्दी चीज डालेंगे तो पानी गन्दा होगा। परमेश्वरको समग्र रूपमें जानो। अधिभूत भी वही है, अधिदैव भी वही है और अध्यात्म भी वही है। अपना स्वरूप भी वही है और इन्द्रादि, सूर्यादि देवताका स्वरूप वही है तथा यह जो दुनिया हम देख रहे हैं, यह भी वही है। यही है उसका **समग्रं मां**। इसके ज्ञानकी प्रणाली क्या है? विवेक। **यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु** क्या है? **भूमिरापोऽनलो वायुः** करके आगे समझायेंगे।

भगवान्के दो शरीर हैं—एक क्षर शरीर है और एक अक्षर शरीर है। एक प्रकृति है और एक पुरुष है। पन्द्रहवें अध्यायमें क्षर पुरुष, अक्षर पुरुष और पुरुषोत्तम; तेरहवें अध्यायमें क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ और ब्रह्म तथा

सातवें अध्यायमें अपरा प्रकृति, परा प्रकृति और परमात्मा ये तीन-तीन करके वर्णन किये गये हैं। तो ये सब क्षर, क्षेत्र और अपरा प्रकृति भी परमात्माका ही शरीर है, अतः दुनियाको मत बिगाड़ो।

एक बार एक महात्माके पास हम लोग बैठे थे। हमारे एक साथीने घास नोंचना शुरू कर दिया। यह वैसा ही काम था जैसे किसी बच्चेकी आदत हो कि कालीनपर बैठे तो उसमें-से रेशे निकालने लग जाये। तो दूब थी वहाँ और वह महाशय उसे तोड़ने लगे।

इसपर महात्माने कहा—'भाई, क्या करते हो? यह माटी, बीजके संयोगसे, जल और वातावरणके संयोगसे हरी-हरी घासके रूपमें आयी है। इसका विकास हुआ है। मृत्तिका विकसित होकर घासके रूपमें प्रकट है। इसमें जीवात्माका प्रवेश हुआ है। अब इसको गायें खायेंगी तो दूध बनेगा। दूधको मुनष्य पियेगा तो मनुष्य हो जायगा—तीन पीढ़ीमें यह घास मनुष्य हो जायेगी। यदि तुम इसे नोचकर फेंक दोगे तो यह फिरसे माटीकी माटी हो जायेगी। तो सावधान! घासको हानि मत पहुँचाओ। यह भी परमात्माका स्वरूप है।'

एक सज्जन किसी महात्मासे मिलने गये। उन्होंने पटाकसे जो जूता निकाला तो एक जूता दूसरे जूतेपर चढ़ गया। फिर किवाड़ी खोली तो खट्से आवाज हुई। अब गये, प्रणाम किया महात्माको और बोले—'महाराज, आप उपदेश करो—परमेश्वर क्या है और कैसे मिलता है?' महात्माने कहा—'तुम पहले बाहर जाओ। वह जो जूते एक दूसरेपर चढ़े हुए हैं, उन्हें ठीक करो। उन्हें कष्ट हो रहा होगा, जूतेकी तकलीफ दूर करो। खटाकसे जो किवाड़ी बन्द की है तो उसे चोट लगी है। उससे क्षमा माँगो।' ऐसे ही महात्माजीने यह भी बताया कि यदि फल रखे हों तो एक परसे दूसरेको उतार दो। जबतक एक फल दूसरे पर चढ़ा रहेगा, तबतक उसे सुख कैसे मिलेगा? फलको भी सुखी रखो।

इसीलिए भगवान्‌ने कहा—**असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु**। यह समग्र सृष्टि—यह पानी, यह आग, ये पेड़, ये पौधे—सभी परमेश्वरके रूप हैं। हम जड़ या चेतन जिसके भी साथ जो व्यवहार करते हैं, वह परमेश्वरके साथ व्यवहार करते हैं। हमारे हृदयमें यदि परमेश्वरकी बुद्धि है तो वह बुद्धि ज्ञानके रूपमें प्रकट हो जायेगी।

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः। एक बात तो यह हुई कि आप अपनी आसक्तिको तौल लीजिए। आप चिपकें कहाँ? आसक्तिके माने चिपकना होता है। सक्तिका अर्थ है सटना। हिन्दीमें 'सटना' बोलते हैं; संस्कृतमें बोलते हैं सक्ति। किसीके साथ पूरी तरह चिपक जाना है 'आसक्ति', 'आ'के माने है पूरी तरहसे। यह आसक्ति मनमें होती है। यह बदलती भी रहती है।

ऐसे समझिये कि यह हमारे एकके ही प्रति नहीं रहती। हम जब बच्चे थे तो अपने साथियोंसे हमारी दोस्ती थी। हम लोग सलाह करते थे कि अब आगे जीवनमें हम कैसे एक साथ रहेंगे, क्या-क्या काम करेंगे। लेकिन अब हमें उनके नाम भी याद नहीं है। यों ही जवानीमें कितने दोस्त हुए, ट्रेनमें कितने दोस्त बने—यात्रा करते समय कितने दोस्त बने। मालूम पड़ता था कि बस-बस, अब सब एक हो गये। इसका

कारण क्या है? मनमें तो उठते हैं भाव कि यह मेरा मित्र है, अब हम इसके साथ हमेशा रहेंगे अथवा यह मेरा दुश्मन है, मेरे प्रति दौर्मनस्य रखता है—दुर्मना है।

अतः जिस समय हमारे भनमें यह भाव उत्पन्न होता है कि यह हमारा दुश्मन है या जिस समय यह भाव उत्पन्न होता है कि यह दोस्त है, उस समय क्रोधका उदय होता है या रागका उदय होता है। उस समय हमारा 'मैं' उस क्रोधके साथ या रागके साथ मिल जाता है। हम अपनेको द्वेषारूढ़, रागारूढ़ कर लेते हैं। फलतः हम द्वेषके साथ चिपक गये अथवा रागके साथ चिपक गये। थोड़ी देर बाद जब राग, द्वेष ढीला पड़ता है और हम अपनेको उससे अलग कर लेते हैं, तब हमें अपनी गलती मालूम पड़ती है।

हमें मालूम पड़ता है कि हमारे रागमें जो पक्षपात था, वह हमारी बेहोशी थी तथा द्वेषमें हमारे मनमें जो जलन थी, वह हमारी बेहोशी थी। तब जो भाव हृदयमें आता है उसको योगकी भाषामें 'वृत्ति-सारूप्य' बोलते हैं। क्रोध वृत्तिका उदय हुआ, काम वृत्तिका उदय हुआ या लोभवृत्तिका उदय हुआ और हमने अपने आपको उसमें मिला दिया। हम क्रोधी हो गये, कामी हो गये; लोभी हो गये। तो भगवान् कहते हैं कि तुम काममें, क्रोधमें अथवा लोभमें अपनेको मत मिलाओ। तब कहाँ मिलाओ? मेरे साथ मिला दो। मुझसे तुम एक हो जाओ। जिस दृष्टिसे मैं सारी सृष्टिको देखता हूँ उसी दृष्टिसे तुम भी सारी सृष्टिको देखो।

एक सज्जनके सामने जब कोई समस्या आती है तो वे ऐसे सोचते हैं कि हमारे पिताजीके सामने ऐसी समस्या आती तो वे क्या निर्णय करते? ऐसे ही एक साधु हैं। उनके सामने जब कोई समस्या आती है तो वे सोचते हैं कि इस समय हमारे गुरुजी क्या निर्णय करते?

जब एक जीवात्माके सामने कोई समस्या आती है और वह यह सोचने लगता है कि इस समस्या पर परमात्माकी दृष्टि क्या होगी, तब आप देखिये—आपकी दृष्टिमें रागद्वेष नहीं होगा तथा समत्व आजायेगा।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः। (9.29)

भगवान् तो किसीसे रागद्वेष नहीं करते, इसलिए परमात्माकी नजरसे नजर मिला दो। परमात्माके ज्ञानसे अपना ज्ञान मिला देना, परमात्माके प्रेमसे अपना प्रेम मिला देना, यह पार्टीबन्दीकी बात नहीं है। परमात्मा तो सबके साथ अपने आपको मिलाकर रख़ता है—**नामरूपे व्याकरवाणी**—उसने अपनेको विशिष्ट आकृति प्रदान की कि जिससे सारे नाम और रूप प्रकट कर दिये।

आप जब परमात्माकी दृष्टिसे प्रेम करेंगे तो देखेंगे कि चींटीको शक्कर कौन देता है? चिड़ियाको उड़नेकी शक्ति कौन देता है? एक बीजको अंकुरित होकर पल्लवित, पुष्पित और फलित होनेकी शक्ति कौन देता है? बिच्छूमें विष कहाँसे आया? साँपमें विष कहाँसे आया? इनपर आप विचार करिये और अपनी दृष्टिको ईश्वरकी दृष्टिके साथ मिला दीजिए, अपने ज्ञानको ईश्वरके ज्ञानके साथ मिला दीजिए। ईश्वरसे मतभेद मत करिये।

यह मनुष्य दुःखी कब है? जब ईश्वरसे मन नहीं मिला। ईश्वरसे जब अपनी मति नहीं मिलती तब हम अज्ञानी हो जाते हैं—ईश्वरसे जब अपनी मति नहीं मिलती तब हम दुःखी हो जाते हैं। ईश्वरसे जब

अपनी मति नहीं मिलती तभी मृत्युका भय सामने आता है। ईश्वरमें मृत्यु नहीं, दुःख नहीं, अज्ञान नहीं। ईश्वरसे विमुख होनेपर ही हम अज्ञानी और दुःखी होते हैं तथा हमारे जीवनमें मृत्युका भय आता है। अपने मनको ईश्वरके साथ चिपका दीजिए—इधर चिपका है संसारमें, उधर चिपका दो ईश्वरके साथ, तो संसार आता-जाता रहेगा। इसमें उतार-चढ़ाव है। संसार कभी ऊपर आता है, कभी नीचे आता है—

नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण।

—उत्तर मेघ० 46

जैसे रथका पहिया कभी ऊपर और कभी नीचे घूमता है, वैसे ही काल-चक्रमें यह संसार कभी ऊपर, कभी नीचे जाता रहता है। कभी यह आगे बढ़ता है, कभी पीछे हटता है तो कभी खड़ा हो जाता है। यह संसारकी गति है। संसार एकरस कभी नहीं चलता। बच्चा जवान होता है, जवान बूढ़ा होता है और बूढ़ा भगवान्‌के दरबारमें आता है। संसार एक सरीखा कभी नहीं रहता। यदि उसके साथ अपने मनको चिपकाकर रखोगे तो जब यह बदलेगा, तब दुःख होगा, बिछुड़ेगा तब दुःख होगा, यह मरेगा तब दुःख होगा।

इसके विपरीत यदि परमात्माके साथ मनको मिलाकर रखोगे तो न परमात्मा बदलेगा, न बिछुड़ेगा, न मरेगा और न कहीं जायेगा। आपका मन हमेशा उसका स्वाद, उसका रस लेता रहेगा। आप काम करते चलो, सब काम करो। अपने पौरुषका ग्रन्थ है गीता; यह कोई आलस्यका ग्रन्थ नहीं है। इसमें अन्तमें **करिष्ये वचनं तव** और **मामेकं शरणं व्रज**का उद्‌घोष है। व्रज तो है न! आओ मेरी शरणमें आओ। अर्जुनने कहा—'मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा।'

करिष्ये वचनं तव की प्रतिज्ञाके साथ अपने मनको भगवान्‌के साथ, परमेश्वरके साथ चिपका दो। परमेश्वरका जैसा ज्ञान, आनन्द और स्वरूप है वैसे ही अपने मनको उसमें चस्पा कर दो, चिपका दो, आसक्त कर दो। परमात्माकी ओरसे मन कभी भटक जाय, भूल जाय, तब भी उसका आश्रय मत छोड़ो।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

●

प्रवचन : 2

अम्ब त्वामनुसन्दधामि भगवद्गीते

गीता माता है। आब! अम्बा शब्द कैसे बनता है। अभिवर्ण्ये-वर्णात्मिका माता है। शब्दके रूपमें माता है। भगवान्के श्रीमुखसे वाग्देवी प्रकट हुई है। उनके हृदयमें जो सम्पूर्ण विश्वके प्रति मातृत्व है, पितृत्व है, सख्यत्व है वह वाणीका रूप धारण करके प्रकट हुआ है।

गीता मे हृदयं पार्थ। अर्जुनसे भगवान् कहते हैं—अर्जुन! यह मेरा हृदय है। मैं गीता तुम्हें दे रहा हूँ। इतना ही नहीं—मैं अपना हृदय शब्दोंमें बाँधकर-रखकर तुम्हें दे रहा हूँ। गीता-माहात्म्यमें इस पदका प्रयोग हुआ है—**गीता मे हृदयं पार्थ।** पाँच बात बतायी गयी हैं। एक तो अपना काम करते रहो **योगं युञ्जन्।** जो साधन करते हो, जो अभ्यास करते हो, जो कर्म करते हो, उस कर्मको छोड़नेकी आवश्यकता नहीं है, बदलनेकी आवश्यकता नहीं है। तब नयी बात क्या हुई? कर्म करो लेकिन आसक्ति मुझसे रखो—कर्मसे और कर्मफलसे नहीं। कर्मका फल देना भगवान्के हाथमें है। क्या कर्म स्वयंमें इतना बढ़िया नहीं है, इतना पूर्ण नहीं है कि उसको करते जायें और आनन्द लेते जायें। कर्म करनेके बाद आनन्दको फेंक देना—कर्मको सूखा बना देना। यदि हम कर्मके फलको बादके लिए फेंक देते हैं तो कर्मको नीरस बना देना है। यों ही कर्म करते समय यदि पीछेकी ओर देखते हैं, तब तो भूत लगा हुआ है और कर्मके फलको यदि आगे फेंक देते हैं तो कर्म स्वयंमें नीरस हो जाता है। इसलिए कर्ममें योग चाहिए। इसीलिए कहा है—**योगं युञ्जन्।**

पूरी तरहसे कर्तव्य पालन करते चलो और उसका रस लेते चलो। अच्छा काम करना स्वयंमें परमानन्द है। घरको स्वच्छ करना भी कितने सुखकी बात है। रुईको स्वच्छ करना, लोहेको स्वच्छ करना या मिट्टीको स्वच्छ करना, यह भी एक बहुत बढ़िया काम है। कर्म माने स्वच्छताका सम्पादन और अपने अन्तःकरणको स्वच्छ करना है। जिस समय अन्तःकरण स्वच्छ होगा हृदयमें परमानन्दका आविर्भाव होगा। अन्तःकरणकी मलिनता ही आनन्दके आविर्भावमें बाधक है। वासना होती है कि हमको यह चाहिए—यह चाहिए। वह वासना आच्छादित कर देती है, जैसे वस्त्रसे कोई चीज ढँक जाती है, वैसे ही अन्तःकरणमें वासनाओंका उदय होनेसे अन्तःकरणाविच्छिन्न जो चैतन्य है यह आवृत हो जाता है—ढँक जाता है। इसलिए कर्ममें ज्ञान भी रहे, कर्ममें आनन्द भी रहे और कर्म ठीक ढंगसे पूरा हो।

तो फिर वासना छुड़ानेकी विधि क्या बतायी कि **मय्यासक्तमनाः।** यदि हमारे मनमें परमेश्वरके प्रति प्रेम है, तो हम अपना काम ठीक करेंगे और यदि पक्षपात होगा मनमें और क्रूरता होगी तो रागद्वेष होगा तथा अपना कर्म ठीक नहीं कर सकेंगे। इसलिए संसारके रागद्वेषको मिटानेके लिए परमेश्वरमें प्रीति चाहिए। **मय्यासक्तमनाः।** प्रीति करो परमेश्वरसे, तो संसारमें रागद्वेष नहीं होगा। संसारमें राग होगा तो दिल रंगीन हो

जायगा। फिर तो जिससे राग है वही वही दीखेगा। यदि द्वेष होगा तो अन्तःकरणमें आग लग जायेगी, जलन हो जायेगी। ज्वलनात्मक चित्तवृत्तिका नाम द्वेष है और रञ्जनात्मक चित्तवृत्तिका नाम राग है। अन्तःकरणको किसी रंगमें रँग देना राग है और अन्तःकरणमें आग लगा देना, जलन पैदा कर लेनेका नाम द्वेष है। दोनों स्थितियोंमें अपने जो पाँव पड़ते हैं वे गलत हैं।

अब दूसरी बात—आसक्ति हो भगवान्‌से और आश्रय हो भगवान्‌का। कर्म कर्मका फल नहीं देता, भगवान् कर्मका फल देता है। मुनीम प्रेम करता है पुत्रसे, पत्नीसे, शरीरसे, और आश्रय रखता है सेठका! उसका दिल दुहरा हो गया। आप आश्रय भी रखिये परमेश्वरका और प्रेम भी कीजिए परमेश्वरसे। यदि आश्रय दूसरा रहेगा और प्रेम दूसरेसे रहेगा तो प्रेम द्विधा-विभक्त हो जायेगा। तो तीन बातें कहीं—कर्ताके सम्बन्धमें। अब बोलते हैं—

असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु। (7.1)

ज्ञानमें दो बातें होनी चाहिए। **असंशय** और **समग्र**। ज्ञातामें सन्देह नहीं रहना चाहिए और वस्तुका अधूरा ज्ञान नहीं होना चाहिए। यदि आपको ज्ञान भी है और संशय भी है तो आप जैसे सपना देख रहे हैं। ज्ञान सुनिश्चित होना चहिए—

असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु।

ज्ञास्यसि क्रियाके दो विशेषण—एक **असंशयं** और एक **समग्रं**। तो असंशय है अपना अन्तःकरण, अपने अन्तःकरणमें संशय नहीं होना चाहिए और समग्रं है विषय। जिस विषयको तुम जानते हो, उसकी पूरी जानकारी प्राप्त करो। वह समग्रं हो। उसमें ज्ञान, बल, वीर्य ऐश्वर्य जो कुछ है उसका वह वैभव भी जानो, उसका जो स्वरूप है वह भी जानो। पानी क्या है यह भी जानो और उससे बर्फ कैसे बनता है यह भी जानो। दूध क्या है, यह भी जानो। उससे दही, मलाई, रबड़ी, छेना कैसे बनता है, यह भी जानो। एक दूध है एक दूधका वैभव है।

तो वस्तुको भी जानना चाहिए और वस्तुकी विभूतिको भी जानना चाहिए तभी उसका समग्र ज्ञान होता है। परमेश्वरको भी जानो और उसके वैभवको भी जानो। दसवें अध्यायमें परमेश्वर और परमेश्वरकी विभूतिका वर्णन है। समग्र ज्ञान माने विभूति सहित परमेश्वरका ज्ञान तथा **असंशयं** माने अपने मनमें कोई सन्देह नहीं होना चाहिए।

नायं लोकोस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।

आपके मनमें सन्देह बना हुआ है—इधर जायें कि इधर जायें? आगे क्या मिलेगा, पीछे क्या छोड़कर आये हैं? कई लोग चलते हैं आगे और देखते हैं पीछे। वे गिर पड़ते हैं। भूतकी ओर ज्यादा दृष्टि जाना यह गिरनेका पूर्व रूप है। वह आदमी आगे बढ़ नहीं सकता जो पीछेकी ओर ज्यादा देखता है। आगे बढ़ो, आगे बढ़ो, वर्तमानको देखो और आगे बढ़ो। जो हो गया सो हो गया और आगे जो आवेगा उससे निपटेंगे।

हम वर्तमानमें यदि ठीक हैं तो हमारा भूत भी ठीक हो जायेगा। जो बीतता जायेगा, वह भी ठीक होता जायेगा और जो आता जायेगा, वह भी वर्तमानके रास्तेसे आवेगा और ठीक हो जायेगा। इसलिए अपने

वर्तमानको **योगं युञ्जन्**—वर्तमानको ठीक करो और वह असंशय हो। संशय—यह सोनेके अर्थमें ही होता है। **शित्रस्वप्ने, सम्यक् शयनं संशयः।** भलीभाँति सो रहे हैं और देख रहे हैं कि अमुक देशमें चले गये, अमुक कालमें चले गये। मनोराज्य बढ़ता है। संशयमें मनोराज्य बहुत होता है और निश्चयमें मनोराज्य नहीं होता।

निचाय्य मृत्युमुखात् प्रमुच्यते।

निश्चय कर लो हमें यह करना है। इस वस्तुका स्वरूप यह है, जो निर्णयमें विलम्ब करते हैं, सफलता उनसे दूर छूट जाती है। बहुत सोच-विचारकर निर्णय करनेमें कर्तव्य-पालनका समय बीत जाता है। इसलिए निर्णय और निश्चय यह तत्काल होना चाहिए। **संशयात्मा विनश्यति।** संशय अपने मनमें नहीं रहना चाहिए। तो परमेश्वरका ज्ञान हो, असंशय और वह ज्ञान कैसा हो कि समग्र परमेश्वरका हो। समग्र परमेश्वरका अर्थ यह नहीं है जैसा कि कई लोग मन्दिरमें, मूर्तिमें, मसजिदमें या अपने इष्टमें परमेश्वरको सीमित करके देखते हैं। असलमें परमेश्वर असीम है।

परमेश्वर पृथिवी है। परमेश्वर जल है। परमेश्वर तेज है। परमेश्वर वायु है। परमेश्वर आकाश है। परमेश्वर सूर्य है। चन्द्रमा है। परमेश्वर अपना आत्मा है।

ऐसी कोई चीज नहीं है जो परमेश्वरका स्वरूप न हो। समग्र रूपमें परमेश्वरको निर्गुण निर्विशेषमें डाल देना ज्ञानकी एक प्रणाली है और परमेश्वरको एक रूपमें बाँध देना, उपासनाकी एक प्रणाली है। परन्तु जब हृदयमें समग्र परमेश्वरका ज्ञान हुआ तो समग्र परमेश्वर हो गया।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्॥
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।

यह परमेश्वरका स्वरूप है। निर्गुण नहीं, मन्दिरमें नहीं। **यतः प्रवृत्तिर्भूतानां**—जो सबके हृदयमें चेतन अन्तर्यामीके रूपमें रहकर प्रवृत्त करता है, जिसके होनेसे आँखें देखती हैं; जिसके होनेसे जीभ बोलती है, जिसके होनेसे कान सुनता है; जिसके होनेसे पाँव चलते हैं, हाथ काम करते हैं, वह परमेश्वर है। जिसके होनेसे मन संकल्प करता है, जिसके होनेसे बुद्धि विचार करती है।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्। जैसे कपड़ेमें सूत है वैसे ही यह सम्पूर्ण विश्व उनसे भरपूर है। पहले बताया है निमित्त कारण **यतः प्रवृत्तिर्भूतानां।** सबकी प्रवृत्तिका निमित्त है वह और **येन सर्वमिदं ततम्**—सबका जो उपादान है। जैसे जेवरमें सोना, जैसे घड़ेमें मिट्टी, जैसे औजारमें लोहा अर्थात् अभिन्न निमित्तोपादान कारण है परमेश्वर। यह उसका है समग्र रूप।

अब पूजा उसकी कैसे करना? स्वकर्मणा—आपके जिम्मे जो काम है—कोई झाड़ू लगाकर मन्दिरमें पूजा करता है, कोई फूल चढ़ाकर करता है, कोई चन्दन लगाकर करता है, कोई भोग लगाकर करता है—यह सब-की-सब पूजा है। तो आपके जिम्मे जो पूजा है—वेद-पाठ करके आप पूजा कीजिए, पहरा देकर आप पूजा कीजिए या सामग्री प्रस्तुत करके आप पूजा कीजिए, लोगोंको अन्न मिले, वस्त्र मिले, यह भगवान्‌की पूजा

है। काम अपनी पूजाके लिए करते हो या ईश्वरकी पूजाके लिए करते हो। काम तो वही करना है जो लोग व्यक्तिगत सुख स्वार्थके लिए करते हैं। वे अपने अहंभावकी पूजाके लिए करते हैं और जो सर्वरूप परमेश्वरकी सेवा-पूजाके लिए करते हैं, उनके द्वारा भक्ति सम्पन्न होती है।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य। वही जो अभिन्न निमित्तोपादान कारण है सबमें, उसकी पूजा करो—कैसी पूजा करो कि अपने कर्मके द्वारा पूजा करो, अपना कर्तव्य पूरा करो। इससे क्या होगा। **सिद्धिं विन्दति मानवः।** इस पूजाका अधिकारी कौन मनुष्य? ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये विभाग नहीं हैं। **मानवः**—जो भी मनुष्य है वह यह पूजा कर सकता है और किस प्रकार कर सकता है? अपने कर्मसे कर सकता है। ईश्वरकी पूजा करो। देखो जब एक व्यक्ति अपने शरीरको इसलिए सजाता है कि मुझे सजा हुआ देखकर मेरा प्रियतम प्रसन्न होगा तो उसके वस्त्र पहननेमें भी, बाल सँवारनेमें भी, चिकाना-चुपड़ा होनेमें भी, अपने प्रियतमकी पूजा है। आप जो भी काम करो, यह देखकर करो कि इससे अन्तर्यामी परमेश्वर प्रसन्न होगा कि नहीं। सबका अन्तर्यामी और मेरा अन्तर्यामी एक है।

कर्म करनेकी पद्धति यह है और इस पूजासे क्या होगा? **'मदाश्रयः'** अहंभाव टूट जायेगा। यह पुलिसका आश्रय है, यह सरकारका आश्रय है, यह सेनाका आश्रय है, यह समाजका आश्रय है आदि सब आश्रय—अन्याश्रय हैं। परमेश्वरके आश्रयका अर्थ है अपने अन्तर्यामीको दिखा-दिखाकर, उनसे पूछ-पूछकर, उनकी प्रसन्नताके लिए काम करते चलो। आश्रय है परमेश्वरका प्रेम है परमेश्वरसे, कर्तव्य हो रहा है पालन। इससे परमेश्वरका, ज्ञान होगा। यह भी परमेश्वर, यह भी परमेश्वर। सामने चाहे कुछ भी हो सब परमेश्वर। अपने हृदयमें परमेश्वराकार वृत्तिका उदय हो तब परमात्माका ज्ञान होगा। भगवान् प्रतिज्ञा करते हैं—जिस वस्तुका वर्णन करना है उसकी महिमा बताता हूँ अभिमुख करनेके लिए। आइये सुनिये अर्जुन, **ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।** 'वक्ष्यामि' क्रियापद दो धातुओंसे बनता है। एक तो 'वक्ष्यामि' माने वर्णन करूँगा। दूसरा वह प्रापणेमें बनता है अर्थ—प्राप्त कराऊँगा। वक्ष्यामि जैसे जिस धातुसे बनता है वर्तमानमें, भविष्यमें वक्षामि क्रियापद बनता है उसी धातुसे। जैसे योगक्षेमका वहन भगवान् करते हैं वैसे भगवान् कहते हैं—'मैं ज्ञान तो तुम्हारे पास ढोकर पहुँचा दूँगा।' वक्ष्यामि ज्ञानके लिए। तुम जरा शान्त हो जाओ, तुम सुनो, मैं तुम्हें ज्ञान, अपने हृदयका ज्ञान शब्दपर आरूढ़ करके, कानके द्वारा तुम्हारे हृदयमें पहुँचा रहा हूँ। यह कैसा ज्ञान है—**सविज्ञानम्।** विज्ञान और ज्ञान दोनों। विज्ञान और ज्ञान दोनों क्या है?

देखो गीतामें एक तो ब्राह्मणके स्वभावमें ज्ञान-विज्ञान दोनोंका उल्लेख है। **ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं** (18.42) ज्ञान और विज्ञान। यह **ब्रह्मकर्म स्वभावजं**—जिसके अन्दर ब्राह्मणत्वका बीज है उसके स्वभावसे ज्ञान और विज्ञान प्रकट होते रहते हैं। जैसे अग्निका स्वभाव है प्रज्वलन, दाहन, वैसे ब्राह्मणत्व जो है वह ज्ञान और विज्ञानके रूपमें प्रकट होता है। ज्ञान क्या है? वेदका ज्ञान है, कर्मकाण्डका ज्ञान है, धर्मका ज्ञान है और विज्ञान माने उसके आचरणकी प्रणाली—प्रयोगात्मक ज्ञान।

प्रयोगात्मक ज्ञानका अर्थ ऐसे होता है, जैसे कोई स्त्री है वह 'होमसाइंस' पढ़ लेती है। यह तो ज्ञान हुआ,

लेकिन किसी रसोई बनानेवालेके साथ रहकर यदि उसका प्रयोग करके देख ले तो यह उसका विज्ञान हो गया। कहा है कि—**विज्ञानं शिल्पनैपुण्यम्।**

एक आदमी डाक्टरी पढ़ता है। ज्ञान हो गया। परन्तु एक डाक्टरके साथ रहकर उस विद्याका प्रयोग कर लेता है—यह विज्ञान हो गया। एक वकील वकालत पढ़ता है, कानूनी ज्ञान प्राप्त करता है, लेकिन जब किसी बड़े वकीलके साथ रहकर प्रैक्टिस कर लेता है तब उसको विज्ञान हो जाता है। तो ब्राह्मणको ब्राह्मणोचित, क्षत्रियको क्षत्रियोचित, वैश्यको वैश्योचित तथा शूद्रको शूद्रोचित, ये विभाग हैं। कर्म सम्बन्धी ज्ञान, रक्षा सम्बन्धी ज्ञान और वस्तु सम्बन्धी ज्ञान जीवनके लिए आवश्यक है। धर्मका, संस्कृतिका और ब्रह्मका ज्ञान भी आवश्यक है। यदि इन ज्ञानको विभागपूर्वक प्राप्त करेंगे तो अपने अपने विषयमें बिलकुल ठीक-ठीक ज्ञान होगा और यदि गड़बड़ कर देंगे थोड़ा इधर, थोड़ा उधर कर देंगे, तो किसी विषयका ठीक-ठीक ज्ञान नहीं होगा। इसीलिए विभागपूर्वक ज्ञान होना चाहिए। **विज्ञानं शिल्पनैपुण्यम्** प्रयोगात्मक ज्ञान-विज्ञान यह ब्राह्मण हुआ।

देखो एक तत्त्वज्ञानका भी प्रसंग है। **ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।** नवम अध्यायके प्रारम्भमें भगवान्ने कहा—मैं विज्ञान सहित ज्ञानका वर्णन करता हूँ। वहाँ दूसरा ही स्वरूप बताया। एक परोक्ष ज्ञान और एक अपरोक्ष ज्ञान।

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः (9.4)
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् (9.5)

यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् (9.1) एक ऐसा ज्ञान है जिसके ज्ञान मात्रसे ही अशुभसे, संसारसे मुक्ति हो जाती है। यह अशुभ है संसार। हम अपने मैंको भूल गये। मैंके भीतर जो परमात्मा है, उसको भूल गये। जो सामने दीखता है, उसमें आविष्ट हो गये। वृत्तिसारूप्य हो गया। देखो मनुष्यका क्या स्वभाव है, हम सब लोगोंका अनुभव है कि जब क्रोध आता है तो हम क्रोधसे एक हो जाते हैं और मैंको श्रेष्ठता, क्रोधमें आरोपित हो जाती है और तब हम कहते हैं हमारा क्रोध बिलकुल ठीक है। क्योंकि 'मैं' तो बिलकुल ठीक है। अब वह क्रोधसे मिल गया तो क्रोध भी बिलकुल ठीक मालूम पड़ने लगा।

जो नहि करौं दंड सठ तोरा।
भ्रष्ट होइ श्रुति मारग मोरा॥

(रामचरितमानस उत्तर काण्ड)

हमारा क्रोध बिलकुल ठीक है और हम तुमको इसका दण्ड देंगे। तुमने गलत काम किया है। फिर घण्टे-दो-घण्टेके बाद क्रोध उतर गया। क्रोध उतर गया तो सोचते हैं—अरे हम तो क्रोधके आवेशमें आगये! क्रोधमें आविष्ट हो गये थे। जो भले लोग होते हैं, उनको अपने क्रोधपर पश्चात्ताप होता है कि हमने क्रोध गलत किया। इसी तरह जब काम आता है मनमें तो यह लगता है कि यदि हम यह भोग नहीं करेंगे तो हमारा जीवन व्यर्थ है। लेकिन जब कामका आवेश शान्त हो जाता है तब अलग हो जाते हैं उससे। अरे इतनी देर तो कुछ मालूम ही नहीं पड़ा। हम बोहोश हो गये थे।

क्रोधमें, काममें, लोभमें ऐसा आवेश हो जाता है कि लगता है कि यह चीज हमें नहीं मिलेगी तो हमारा जीवन ही क्या है। लोभमें आगये, लोभसे एक हो गये, लोभ अच्छा लगा। लोभके वश होकर हमने चोरी, बेईमानी कर ली। मोह है—मोहमें आविष्ट हो जाते हैं।

यह मेरी पार्टी है। ऐसे समझो कि जब पार्टी छोड़ते हैं तो पचास दोष उसमें बतायेंगे और जबतक पार्टीमें हैं तबतक वह बिलकुल दूधकी धुली है। जब पार्टीसे एक हो गये तो पार्टीके दोष नहीं दिखते, गुण दिखते हैं। क्योंकि आत्मा तो सर्वश्रेष्ठ है ही और जब पार्टीसे अलग होते हैं तो उसमें दोष दिखने लगता है।

तो यह कामका, क्रोधका, लोभका, मोहका, आवेश होता है कि हम अपनेको दूसरेसे मिला देते हैं। जैसे भूत चढ़ बैठा हमारे ऊपर। जैसे ज्वर चढ़ बैठा हमारे ऊपर। ऐसे ये मानसिक रोग आते हैं और हम अपनेको रोगी बना लेते हैं।

अब आओ, आप ज्ञान विज्ञान—अपने स्वरूपको जानो और कैसे दूसरोंके साथ मिल जाते हो, इसपर विचार करो। परोक्ष ज्ञान जो होता है वह होता है—**मत्स्थानि सर्वभूतानि** और अपरोक्ष ज्ञान होता है—**न च मत्स्थानि भूतानि**। यह सम्पूर्ण विश्व-सृष्टि किसमें है? परमेश्वरमें है। ऐसा हम यहाँ बैठकर सोचते हैं। लेकिन जब परमेश्वरसे एक हो जाते हैं तो परमेश्वरमें कोई सृष्टि नहीं है। परमेश्वरके सिवाय कोई दूसरी वस्तु नहीं है। एकके विज्ञानसे सर्वका विज्ञान। यह प्रतिज्ञा है, यह दृष्टि है, यह दर्शन है। **अहं वक्षाम्यशेषतः**। लो यह ज्ञान 'अशेषतः', अर्जुन, मैं कुछ छिपाकर नहीं रखूँगा। 'अशेषतः' पूरा-का-पूरा तुमको बताऊँगा। शेष नहीं रखूँगा। सबका सब तुम्हें बताऊँगा। इस ज्ञानकी महिमा क्या है?

यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते (7.2)

इसको यदि तुम जान लो—ऐसी प्रतिज्ञा कौन करेगा? बोलो। अर्जुन कहते हैं—

त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते (6.39)

तुम्हारे सिवा इस संशयको मिटानेवाला और कोई है ही नहीं और भगवान् कहते हैं—

'मैं ऐसा ज्ञान तुमको बताऊँगा कि इसको जान लेनेके बाद दूसरा कुछ जाननेको शेष नहीं रह जाता।'

यह हमारे श्रुति-ज्ञानकी विशेषता है। यह दूसरे किसी मजहबमें नहीं है। कोई भी साइंस यह नहीं कह सकता कि अब इसके आगे कुछ नहीं जाना जा सकता। क्योंकि उसके ज्ञातव्य अनेक हैं। एक-एक अणुमें-से इनकी शक्तियाँ निकलती हैं कि उनकी गिनती नहीं हो सकती। एक बीजमें-से इतने वृक्ष निकलते हैं कि उनकी गिनती नहीं हो सकती।

बड़का एक बीज ले लो। उस बीजमें-से बड़का एक पेड़ होगा और उसमें करोड़ों बीज होंगे। करोड़ों-बीजोंमें सैकड़ों, हजारों और बीज होंगे, उनसे वृक्ष पैदा होंगे, कोई गणना नहीं कर सकता। बहुत्वकी गिनती कभी पूरी नहीं हो सकती, लेकिन एकत्वकी गिनती पूरी हो सकती है।

यह श्रुतिकी प्रतिज्ञा है—**यस्मिन् दृष्टे श्रुते मते सर्वं दृष्टं श्रुतं मतं विज्ञातं भवति**। एक ऐसी चीज है,

जिसको आप देख लें, जिसे आप सुन लें, जिसपर आप विचार कर लें, जिसका विज्ञान आप प्राप्त कर लें, तो सब कुछ दृष्ट, श्रुत, मत, विज्ञात हो जाता है। ऐसा कैसे होता है?

उपनिषद्में यह प्रश्न उठाया है। श्वेतकेतु बड़ा भारी अभिमानमें भरकर आया था कि मैंने सब विद्या पढ़ ली है। पिताने पूछा—'क्यों बेटा', तुमने वह विद्या जानी जिसमें एकके ज्ञानसे सबका ज्ञान हो जाता है? ऐसा कैसे हो सकता है? मिट्टीके ज्ञानसे सब मृण्मयका ज्ञान, लोहेके ज्ञानसे सब लोहमयका ज्ञान, स्वर्णके ज्ञानसे सब स्वर्णमयका ज्ञान। एक ऐसी वस्तु है जिससे यहाँ सबका विस्तार हुआ है इधरसे देखो तो बहुतोंमें एक है, परन्तु यदि उस एकसे एक हो जाओ तो बहुत नहीं है।'

सब मुझमें है और मुझमें कुछ नहीं है। सबकी दृष्टिसे सब मुझमें है। मेरी दृष्टिसे मुझमें कुछ नहीं है। तो जब उस सबका ज्ञान होगा—परमेश्वरका ज्ञान होगा तो जाननेके लिए कुछ शेष रहेगा ही नहीं। ये देखो श्याम, ये देखो श्याम, श्याम ही श्याम। वृक्षके रूपमें कौन आया है? परमेश्वर। पुरुषके रूपमें कौन है, परमेश्वर। स्त्रीके रूपमें कौन है? परमेश्वर। यह देखो हमारा विज्ञान। रागद्वेषकी आत्यन्तिक निवृत्ति! **त्वं स्त्री त्वं पुमानसि**—तुम्हीं स्त्री हो और तुम्हीं पुरुष हो। तुम कुमार हो, तुम्हीं कुमारी हो। वृद्धके रूपमें हाथमें डण्डा लेकर तुम्हीं घूम रहे हो। यह है परमेश्वरका रूप और इसके बिना यदि यह कहोगे कि आधा संसार और आधा परमेश्वर तो या तो संसारमें ही रहोगे—उसमें राग-द्वेष, अच्छा-बुरा ढूढ़ते रहोगे और या तो परमेश्वरकी भक्ति आयेगी और संसारसे द्वेष हो जायेगा।

जब परमेश्वरके सिवा और कुछ नहीं है तो भक्ति विभक्ति नहीं। सब परमेश्वरका अनुभव है और कुछ भी ज्ञातव्य शेष नहीं है। परन्तु यह ज्ञान बहुत दुर्लभ है, ऐसा बताया है। यह मनुष्यकी प्रवृत्ति दो तरहकी होती है। कोई-कोई व्यक्ति तो ऐसे होते हैं कि यह चीज दुर्लभ है तो इसके लिए प्रयास कौन करे? परन्तु कोई-कोई व्यक्ति ऐसे होते हैं कि वे सुलभके लिए प्रयास नहीं करते। अरे यह तो सबको मिलता है।

इसीसे भगवान् अपनेको सुलभ और दुर्लभ दोनों बताते हैं। भगवान्की भक्ति कठिन है या सुगम है। **रघुपति भगति करत कठिनई।** भगवान्की भक्ति करना बहुत कठिन है। तब एक व्यक्तिके मनमें उत्साह आया—इस कठिनको हम करके दिखायेंगे, परन्तु दूसरे लोग बोले-जब कठिन है तो हम क्यों इस रास्ते पर जायें?

कहहु भगति पथ कवन प्रयासा।
जोग न जप तप मख उपवासा॥

यह तो कुछ कठिन ही नहीं है इसमें तो कोई प्रयास ही नहीं है। ईश्वरकी भक्ति सुगम है कि दुर्लभ? बोले जो दुर्गम मानकर उसे पानेका प्रयास करनेवाले हैं, उनको दुर्गम बता दिया। तुम चलो, तुम्हारे उत्साहकी जरूरत है, साहसकी जरूरत है—चलो आगे और जो लोग सुगम मानते हैं कि हमको तो सुगम चाहिए तो लो उनके लिए सुगम है।

यह सुगम-दुर्गम कुछ नहीं होता। जिस मार्गसे चलनेका अभ्यास हो जाता है वह सुगम हो जाता है और जिस मार्गपर हम नहीं चलते हैं, वह बड़ा कठिन मालूम पड़ता है। कठिन और सुगम कुछ नहीं है। आप उस

मार्गपर चलिए, कठिन सुगम हो जायेगा। यदि ठीक नहीं चलेंगे तो सुगम भी कठिन हो जायगा। अपने कर्त्तव्य पालनके मार्ग पर बिलकुल ठीक-ठीक चलना चाहिए।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥ (7.3)

अब बताते हैं, मनुष्य-शरीर मिलना आसान नहीं है। आप देखते हैं कि दुनियामें कितने शरीर हैं। केवल धरती छेद करके जो उगनेवाले बीज हैं, उनकी गिनती करना कठिन है। कितने तरहके पेड़-पौधे होते हैं। ये भी सब जीव हैं। जो पसीनेसे पैदा होते हैं—जैसे खटमल हैं। ये कितने हैं? इनकी गिनती करना भी कठिन है। जो अण्डेसे पैदा होते हैं—चींटीसे लेकर गरुड़ तक, हंस तक, इनकी भी गिनती करना कठिन है। जो जरायुसे परिवेष्ठित पैदा होते हैं, पशु हैं, मनुष्य हैं, चतुष्पाद हैं, द्विपाद हैं, उनकी गिनती करना भी कठिन है। अब चतुष्पाद जो होते हैं उनके पास कर्म करनेका, विधिपूर्वक कर्म करनेका साधन नहीं है। इनको कर्म तो करना है परन्तु विधि-निषेधपूर्वक नहीं। परन्तु मनुष्य शरीर जो हैं उसके बढ़िया दो हाथ प्राप्त हुए हैं और जैसे वज्रमें, चक्रमें मोड़ होते हैं—इन्द्रके वज्रमें सौ मोड़ होते हैं। माने उसको एक बार चलाया जाये तो सौ निशाने मारकर वह लौट आयेगा। सौ जगहसे मुड़ सकता है। 'शतार' बोलते हैं उसको और विष्णु भगवान्‌का चक्र है उसमें हजार अरे होते हैं—वह है सहस्रार। वह एक हजार कैसे बनते हैं इसका वर्णन भी शास्त्रोंमें प्राप्त होता है। वह घूमकर हजार निशाने मारकर और फिर विष्णु भगवान्‌के हाथमें लौट आता है। वह सहस्रार है।

अब हमारे हाथमें देखो कितने मोड़ हैं। अंगुलियाँ कितनी जगहसे मुड़ती हैं। यह हमारा पहुँचा कैसे मुड़ता है। अँगुली कितनी जगहसे मुड़ती है। इतने मोड़ हैं कि आपको जो करना हो काम—किसीके कलेजेके भीतर अँगुली डालकर ऑपरेशन कर लेते हैं, वहाँ क्या है उसको देख लेते हैं। जो चाहिए सो पकड़ लीजिए, कलम भी चलाइये, तलवार भी चलाइये, बन्दूकसे गोली भी मारिये, घूसा भी लगाइये, होम भी कीजिए, कर्मकी कितनी शक्ति मनुष्यके हाथमें है। लेकिन है यह हाथ लोगोंको हँसानेके लिए—**हस्यते अनेन**। हाथ किसको बोलते हैं? हाथकी एक व्युत्पत्ति यह है कि जिससे मनुष्यका जीवन आनन्दमय हो जाये, प्रसन्न हो जाये। ऐसे-ऐसे काम करनेके लिए यह हाथ बना है।

यह मनुष्यके ही ऐसे हाथ हैं। बन्दर, वनमानुषके हाथ भी जैसे नहीं हैं। यह मनुष्य शरीरकी विशेषता है। आपको यह हाथ मिला है। अपनेको और दूसरेको ठीक-ठीक सुख देनेके मार्गपर हाथ चलाइये और चलिए। यह हाथ इसलिए बना है और देखो संसारके और जो प्राणी होते हैं जैसे पेड़ हैं, ये नीचेसे भोजन लेते हैं और ऊपरको बढ़ते हैं। पशु-पक्षी आगेसे भोजन लेते हैं और उनका भोजन पीछेको जाता है। तिर्यक् योनि उनको बोलते हैं और इनको उर्ध्वस्रोत बोलते हैं। मनुष्य अधः स्रोत है, माने खाता है ऊपर और उसका भोजन जाता है नीचे।

इसका अभिप्राय यह है कि प्रकृतिने अपनी उन्नतिके अनुरूप मनुष्य तो उन्नत बना दिया है, खड़ा कर दिया है, हाथ दे दिये हैं। अब प्रकृति जो भोग देती है, वह भोग अधोगामी हो जाता है, इसलिए आप प्रकृतिके सिरेपर पहुँच गये हैं। अब यहाँसे थोड़ा-सा प्रयास करके प्रकृतिके बन्धनसे मुक्त हो जाइये और यदि आप इस

बन्धनसे मुक्त होनेका प्रयास नहीं करेंगे तो फिर अगर उत्तम कर्म करेंगे तब मनुष्य-योनि मिलेगी और गलत काम करेंगे तो पशु-योनिमें, पक्षी-योनिमें, वृक्ष-लता आदिकी योनिमें जाना पड़ेगा। इसलिए यह मनुष्य-योनि सर्वश्रेष्ठ है। यह श्रद्धा और मनुकी सन्तान है। श्रद्धा और मनन ये दो मनुष्य-योनिकी विशेषताएँ हैं। श्रद्धा माता है।

श्रद्धा मातेव योगिनं पाति। श्रद्धा माताकी तरह योगीकी रक्षा करती है और मननमें नवीन-नवीन स्फुरणाका सामर्थ्य है। आप देखते हैं कि यह पक्षी हजारों वर्ष पहले जैसा घोंसला बनाते थे वैसा ही आज भी बनाते हैं। इन लोगोंने 'साइंस'से नहीं सीखा कि हम लोगोंको घोसला कैसे बनाना चाहिए। घोड़ा जैसे पहले रहता था, वैसे ही अब रहता है। गाय जैसे पहले रहती थी, वैसे अब भी रहती है। उन्होंने अपने लिए कपड़ा नहीं बनाया, अपने लिए मकान नहीं बनाया, अपने लिए भोजन पकानेकी विधि नहीं प्राप्त की।

ये जो पशु हैं, ये जो पक्षी हैं, वे अपनी परम्परामें, अपने संस्कारमें बँधे हुए हैं, निगड़ित हैं। मनुष्य मननशील है, यह विचार करता है। यह नयी-नयी सुगन्ध निकालता है। यह नया-नया स्वाद निकालता है। यह नया-नया रूप निकालता है। यह नया-नया स्पर्श निकालता है। यह नयी-नयी ध्वनियाँ निकालता है। ध्वनिके द्वारा बातचीत, स्पर्शके द्वारा बातचीत, रंगके द्वारा बातचीत, यह हरी झंडी, यह लाल झंडी, यह सब मनुष्यकी ही निकाली हुई हैं। वैज्ञानिक आविष्कार—नव-नव आविष्कार—करनेका सामर्थ्य केवल मनुष्य-योनिमें है और दूसरेमें है नहीं। तो देखो बनावटमें नवीनता है, बुद्धिमें नवनवोन्मेषशीलत्व है। नयी-नयी बात पैदा होती है और आनन्द लेनेके लिए नया-नया तरीका निकलता है। तो सत्ताकी दृष्टिसे चेतनाकी दृष्टिसे, आनन्दकी दृष्टिसे, यह मनुष्य एक परिपूर्ण जाति है। मनुष्य जाति है; ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य यह जाति नहीं है, यह वर्ण है। आकृति देखकर जिसका ज्ञान हो उसको जाति बोलते हैं। सब मनुष्य एक आकृतिके होते हैं और वर्णनसे जिसका ज्ञान हो, उसको वर्ण बोलते हैं। **वर्णनात् वर्णः।** वर्णनसे बताना पड़ेगा ये ब्राह्मण हैं, ये विद्वान् हैं, ये क्षत्रिय हैं। परन्तु मनुष्यत्व-रूप आकृति सबमें होती है। चातुर्वण्य शास्त्रैकगम्य है, मनुष्य इन्द्रियगम्य है।

मनुष्याणां सहस्रेषु—मनुष्य, मनुष्य है। यह अपने जीवनका निर्माण करता है। यह अपने ज्ञानका निर्माण करता है। यह अपने आनन्दका निर्माण करता है—इसको मनुष्य बोलते हैं। **मनसा सीव्यति**—यह मनसे अपने बन्धनको जोड़ता है। निरुक्तमें मनुष्य शब्दका अर्थ ऐसा है। पाणिनीय व्याकरणमें तो मनुष्यका शब्द ऐसा है **मनो : अपत्यं मनु+यत् षुक आगम** जो मनुकी सन्तान है। श्रद्धा और मननसे पैदा हुआ। किन्तु निरुक्तका कहना है कि यह मनसे सम्बन्ध जोड़ता है। पशु भूल जाता है कि यह मेरी माँ है, पशुको बड़ा होनेपर अपनी माँकी, पिताकी पहचान नहीं होती है। न पशु पहचानता, न पक्षी पहचानते, न स्वेदज पहचानते, न उद्भिज्ज पहचानते कि यह हमारी माँ है, यह हमारा पिता है, यह हमारा गुरु है, यह हमारा सखा है। बिलकुल पहचान उनकी छूटती जाती है।

परन्तु मनुष्य एक सबन्ध जोड़ता है। एक तो भोगका सम्बन्ध होता है। जैसे भोग देशोंमें है। माँ बापसे बच्चे पैदा कर दिये, वे पढ़े लिखे, बड़े हुए, विवाह हुआ और मियाँ-बीबी बिलकुल अलग। पति-पत्नी चले गये और पिता-माताका कोई ख्याल नहीं है। भोगसंस्कृतिमें पति-पत्नीका सम्बन्ध तो होता है। वह भी भोग-

पर्यन्त ही होता है, बादमें टूट जाता है और भारतवर्षकी संस्कृतिकी विशेषता है धर्म-सम्बन्ध। धर्म-सम्बन्ध-धर्म-संस्कार। माताकी सेवा करना, पिताकी सेवा करना, पुनर्जन्म भी मानते हैं न! देहके पहले भी थे, देहके बाद भी रहेंगे। इसलिए सम्बन्ध मानते हैं। अपने पितरोंको भी तृप्त करते हैं और अगली पीढ़ीके साथ भी अपना संस्कार जोड़ते हैं। तो पिता-पितामहका जो सम्बन्ध है, वह भी धर्म-संस्कारमें आता है और अगली पीढ़ीका जो निर्माण है—वह कैसे आता है। गर्भाधान भी एक संस्कार है, सीमन्तोन्नयन भी एक संस्कार है, जातकर्म भी एक संस्कार है।

जो हमारी अगली पीढ़ी आवे वह भी संस्कार-सम्पन्न हो! इसलिए गर्भाधानके दिनसे ही चेष्टा करते हैं। उसमें भी धर्मके अनुसार गर्भाधान हो, धर्मके अनुसार उसका सम्वर्धन हो, धर्मके अनुसार प्रजनन हो और धर्मके ही अनुसार उसके और संस्कार कराये जायँ—चौल कर्म हो, कर्णवेध हो, यज्ञोपवीत-संस्कार हो, ये सब धर्मके अनुसार हों। धर्म-देशकी संस्कृतिमें और भोग-देशकी संस्कृतिमें अन्तर होता है और यह मनुष्य केवल भोगके लिए पैदा नहीं हुआ, यह धर्मके लिए पैदा हुआ है। धर्मके लिए माने अपनी जो उच्छृङ्खल प्रकृति है, उसको नियमित करनेके लिए। इसलिए इसको मनुष्य कहते हैं।

मनुष्याणां सहस्त्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।

हजार-हजार मनुष्य हैं। उनमें-से सिद्धिके लिए अर्थात् अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए। लोग बाहर भोग बहुत मिले, सुविधा बहुत मिले, इसके लिए प्रयास करते हैं। परन्तु हमारा दिल अच्छा बना रहे, इसके लिए प्रयास नहीं करते। शुद्धि माने अन्तःकरणकी शुद्धि।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।

यदि अपने कर्मको अपनी पूजाके लिए, अपने रिश्तेदारोंकी पूजाके लिए करोगे तो सिद्धि प्राप्त नहीं होगी, माने अन्तःकरणकी शुद्धि नहीं होगी। यह देखना है कि हम अपने दिलकी सफाई करते हैं कि नहीं। हमने ऐसे लोगोंको देखा है जो बाल बहुत बढ़िया रखते हैं, जो मुँहको बहुत साफ रखते हैं, लेकिन जो अंग उनके वस्त्रसे ढँके रहते हैं, उनको गन्दा रखते हैं। उनकी सफाईका ख्याल नहीं करते। लोगोंको कुक्षिमें, जोड़ोंके नीचे बहुत रोग होते हैं।

एक सज्जनको काँखमें रोग हो गया। डाक्टरने बताया—ये अपने ढँके हुए अंगोंकी परवाह नहीं करते, इनको स्वच्छ नहीं रखते। इसलिए काँखमें रोग हो गया, फोड़े हो गये। चामसे, खूनसे, चर्बीसे, हड्डीसे ढँका हुआ जो हमारा अन्तःकरण है। लोगोंको दिखानेके लिए हम बाहरके शरीरको तो बहुत चिकना-चुपड़ा रखते हैं, परन्तु हम अपने मनको शुद्ध नहीं रखते। तो अपने मनको ठीक रखिये। आपका मन कहाँ रहता है? देखो ना! आपका मन बड़ा श्रद्धालु है। श्रद्धा किये बिना तो कोई रह नहीं सकता। नाईपर श्रद्धा करनी पड़ती है कि यह उस्तरा नहीं मारेगा। डाक्टरपर भी श्रद्धा करनी पड़ती है कि यह हमें अच्छा होनेके लिए दवा देगा। डाक्टर भी कोई-कोई ऐसे निकलते हैं कि वे ऐसी दवा खिलाते हैं कि रोग थोड़े दिन और चले। ऐसा ऑपरेशन कर देते हैं कि जिसकी कोई जरूरत नहीं। क्योंकि लोभसे जब वे अभिभूत हो जाते हैं तो अपने कर्तव्यका ईमानदारीके

साथ पालन नहीं करते। लोभी, मोही, कामी, क्रोधी मनुष्य अपने कर्तव्यका ठीक-ठीक पालन नहीं कर सकते। तो जब आप अन्तःकरणमें गन्दगी रखेंगे तो न तो कर्त्तव्यका ठीक-ठीक पालन कर सकेंगे और न तो आपके सुखमें, प्रसन्नतामें वृद्धि होगी। तो **कश्चिद्यतति सिद्धये**। ऐसा मनुष्य बड़ा दुर्लभ है जो अपने दिलको साफ रखनेके लिए कुछ साधन, भजन करता है।

आपकी श्रद्धा किसपर है? बेईमानपर या ईमानदारपर। जब बेईमानपर श्रद्धा करेंगे तो आपके हृदयमें बेईमानी आयेगी, आप भी बेईमान हो जायेंगे। **यो यच्छ्रद्धः स एव सः**। 17.3। गीता बोलती है जिसपर जिसकी श्रद्धा है वह वही है। जब आप लोभीपर श्रद्धा करते हैं तो आप स्वयं लोभी हो जाते हैं। कामीपर श्रद्धा करते हैं, स्वयं कामी हो जाते हैं। क्रोधीपर श्रद्धा करते हैं, स्वयं क्रोधी हो जाते हैं। उसका सहयोग लेंगे। निष्कर्ष यह है कि श्रद्धा मनुष्यके जीवनका निर्माण करती है।

अब देखो अपना हृदय साफ करनेके लिए, शुद्ध करनेके लिए, स्वच्छ करनेके लिए आप कुछ करते हैं कि नहीं? आप प्रातःकाल उठो और परमात्माका स्मरण करो। शरीरको पीछे साफ करना। पहले परमात्माके स्मरणसे हृदय शुद्ध होता है। क्योंकि वह सबके हृदयमें हैं। आप संकल्प करो कि हम कोई ऐसा काम नहीं करेंगे जिससे किसीको दुःख पहुँचे। हम लोग रोज पहले बोलते थे—

दृतेदृꣳहमा मा मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षान्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्ष्ये समीक्षामहे॥ शु.य.36.18

हम मित्रकी दृष्टिसे सबको देखते हैं और सबको देख रहे हैं। सब लोग मित्रकी दृष्टिसे सबको देखें। एक बात! मैं मित्रकी दृष्टिसे देख रहा हूँ और हम लोग मित्रकी दृष्टिसे देखते हैं। सब लोग देखें, मैं देखूँ और हम लोग सब देख रहे हैं। तो मित्रकी दृष्टि—**मेद्यते इति मित्रं**। सबके ऊपर अपने स्नेहकी वर्षा करते हैं। स्नेह देते हैं। किसीके प्रति रूक्षता नहीं बरतते हैं, क्रूरता नहीं बरतते हैं। अपने हृदयमें-से जैसे कुएँमें-से जितना पानी निकालके बाहर करो, उतना नीचेसे आजाता है। वैसे ही अपने हृदयसे जितना स्नेह बिखेरो, उतना स्नेह भीतरसे और आता है। यह स्नेह माने चिकनाई, मक्खन, दूध, दही, तेल, मलाई आदि चिकनी करनेवाली चीजें हैं। चिकनाई माने दो चीजोंको जोड़कर एक कर दें। चूर्णको जो पिण्ड बना दे, उसका नाम स्नेह होता है। **पिण्डीभावहेतुगुणा स्नेहः**। जो चूर-चूरको मिलाकर एक कर दे। जो मिला दे उसका नाम स्नेह है। आप वह स्नेह अपने हृदयमें धारण करते हैं, तब आपका हृदय शुद्ध होता है। जब हृदय शुद्ध होता है तो **कश्चिन्मां**—शुद्ध हृदयवाले भी सब नहीं जानते। कोई-कोई ऐसे होते हैं जो तत्त्वतः भगवान्‌को जानते हैं। तत्त्वतः भगवान्‌को जाननेके लिए क्या विवेक अपने जीवनमें करना चाहिए, अनेकमें एकको दिखा रहे **हैं—भूमिरापोनलो वायुः।**

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

●

प्रवचन : 3

अम्ब त्वामनुसन्दधामि अपने हृदयको शुद्ध करनेके लिए अनुसन्धान करें। हृदयकी शुद्धि ही अर्थको भी शुद्ध करती है, कामको भी शुद्ध करती है। धर्मको परिपूर्ण बनाती है और मोक्षकी योग्यता देती है। यह अध्यात्मशास्त्र हृदयकी शुद्धिके लिए होता है। यदि आपका उद्देश्य है हृदयको शुद्ध करना, तो अध्यात्मशास्त्रके श्रवणसे, मननसे, निदिध्यासनसे तत्काल लाभ होता है। जैसे आप यज्ञ करें, दान करें, धर्म करें तो उससे एक अपूर्व उत्पन्न होता है और वह इस जन्ममें या अगले जन्ममें, परलोकमें उससे फलका उदय होता है। यह आधिदैविक शास्त्र है धर्मशास्त्र और अध्यात्मशास्त्र वह है जो अपूर्वको उत्पन्न किये बिना तत्काल अन्तःकरणको शुद्ध करता है। यह दोनोंका अन्तर है। धर्मानुष्ठान अन्तःकरणमें एक अपूर्व उत्पन्न कर देता है और उससे इसी जन्ममें आगे चलकर या दूसरे जन्ममें या परलोकमें आपको उसका फल, सुख मिलेगा और यह अध्यात्मशास्त्र इसी समय अन्तःकरणको शुद्ध करके उसमें जो परमानन्दघन परमात्मा है, उसके अनुभवकी योग्यता उत्पन्न करता है। इसलिए भक्तिशास्त्र, ज्ञानशास्त्र—अध्यात्मशास्त्र हैं। धर्मशास्त्रकी विद्या दूसरी है।

यदि कोई वेद पढ़े और उसके अनुसार अनुष्ठान न करे तो वेदज्ञान सफल नहीं होता। ब्रह्मज्ञान केवल ज्ञान मात्रसे ही अपने स्वरूपका साक्षात्कार करा देता है। इसीसे इसे परा विद्या बोलते हैं, यह अपरा विद्या नहीं है। वेद कर्मकाण्डात्मक वेद होनेसे अपरा विद्या है। उसका फल बादमें होता है। उपनिषद् परा विद्या है, इसका फल तत्काल उदय होता है अन्तःकरणमें।

अब सातवें अध्यायमें भगवान् श्रीकृष्णने अपनी महिमाका सविशेष वर्णन किया है। क्योंकि माहात्म्य-ज्ञानपूर्वक जो भक्ति होती है वही सच्ची भक्ति होती है। कोई सुन्दरता देखकर कि यह मूर्ति बड़ी सुन्दर है, यह चित्र बड़ा सुन्दर है, शृंगार देखकर, स्वच्छता देखकर जो प्रेम होगा, जो भक्ति होगी, वह यदि कहीं देखेंगे कि शृङ्गारमें कमी है, स्वच्छतामें कमी है, सुन्दरतामें कमी है तो वह भक्ति, वह प्रेम टूट जायेगा। उदारता, प्रेम-गुण देखकर प्रेम किया जायेगा तो एक दिन देखेंगे वह बड़ा कृपण है। सुन्दरता देखकर यदि प्रेम किया तो मुँहासे निकल आये फिर? तलाक हो जायेगा। सुन्दरता देखकर, मधुरता देखकर, बाहरी चरितका चाकचिक्य देखकर जो प्रेम होगा, उसमें परिवर्तन होने की सम्भावना रहती है। माहात्म्य-ज्ञानपूर्वक जो प्रेम होता है वह प्रेम स्थायी होता है।

माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोधिकः।
स्नेहो भक्तिर्हि कथितः तया मुक्तिर्न चान्यथा।

पहले होना चाहिए माहात्म्यका ज्ञान। जिसकी भक्ति हम करते हैं, जिससे प्रेम करते हैं, जिसकी सेवा करते हैं, वह भले सुन्दर रूपमें न आवे, भले शृङ्गार करके न आवे, भले उसके चरित्रमें कोई कठोरता भी मालूम पड़ती हो, परन्तु यदि उसके माहात्म्यका ज्ञान है, महिमाका ज्ञान है, तो भक्ति हट नहीं सकती, प्रेम हट नहीं सकता।

इसीसे जिनके माहात्म्यका ज्ञान है उनके प्रति आकर्षण सर्वदा अधिक होता है। केदारनाथकी मूर्ति क्या सुन्दर है? एकलिंग मूर्ति है? पण्ढरीनाथकी मूर्तिमें क्या सौन्दर्य है? एक काले पत्थरमें कुछ रेखाएँ खिंची हुई हैं। परन्तु उनके माहात्म्यका जो ज्ञान है वह सदासे लाखोंको आकृष्ट करता आ रहा है। वहाँ न उतनी स्वच्छता है, न उतनी सुन्दरता है, न उतना शृङ्गार है। परन्तु लोगोंकी भक्तिको वह आकृष्ट करता है। इसलिए भगवान्‌की सुन्दरता, मधुरता भी मनको खींचती है और वह नित्य होती है परन्तु भगवान् नृसिंहके रूपमें आजाय तो क्या वे भगवान् नहीं रहते? क्या भगवान् वाराहके रूपमें आजायें तो भगवान् नहीं रहते? इसलिए महिमाका ज्ञान ही भक्तिको स्थिर बनाता है।

भगवान् अपनी महिमाका वर्णन करते हैं। इस सृष्टिमें दो प्रकारकी प्रकृति है। एक जड़ प्रकृति और दूसरी जीव प्रकृति। दोनोंको कहते हैं कि ये मेरी हैं। दोनोंका मालिक मैं हूँ। यह माहात्म्यका निरूपण है। प्रकृतिसे होते हैं सम्पूर्ण प्राणी और मैं उस प्रकृतिका भी कारण हूँ। तीन विभाग करके यहाँ परमेश्वर-स्वरूपका वर्णन कर रहे हैं। अपरा प्रकृति, परा प्रकृति और परमेश्वर—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ 4॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥ 5॥
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥ ६॥
मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥ 7॥

तीनका वर्णन है। जैसे तेरहवें अध्यायमें क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ और ब्रह्म। जैसे पन्द्रहवें अध्यायमें क्षर पुरुष, अक्षर पुरुष और पुरुषोत्तम। वैसे सावतें अध्यायमें भगवान् श्रीकृष्ण यह वर्णन करते हैं कि सारी प्रकृति, चाहे जीव प्रकृति हो और चाहे जड़ प्रकृति, यह सब मेरी प्रकृति है। अब यहाँ प्रकृतिवादकी दृष्टिसे भी अद्वैतका वर्णन है। चैतन्य प्रकृतिवादसे भी अद्वैतका वर्णन है। हम लोग जहाँ हैं, वहाँसे यात्रा प्रारम्भ करनी चाहिए। जैसे कहीं जाना हो तो जहाँ पहुँचना हो, वहाँसे यात्रा प्रारम्भ नहीं होती जहाँ हम हैं, वहाँसे यात्रा प्रारम्भ होती है। तो हमको ईश्वरकी ओर चलना है।

मनुष्य जिस धरतीपर गिरा हुआ होता है, उसीका सहारा लेकर ऊपर उठता है। यहाँ भूमिसे प्रारम्भ हुआ।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।

अहङ्कार एक प्रकृति है। परन्तु आठ प्रकारसे वह भिन्न हो गयी। प्रकृति माने प्रथम कृति। प्रथम रचनाका नाम प्रकृति है। प्र माने प्रथम, कृति माने रचना। प्रकृष्ट कृति—उत्तम कृति है। परन्तु कृति है। भगवान्‌ने अपने अन्दर ऐसी रेखाएँ खींच ली हैं जिनसे वे जड़के रूपमें मालूम पड़ते हैं। वही दृश्य है, वही द्रष्टा है।

परमात्माको पहचाननेके लिए एक कल्पित विवेक होता है। यह जड़ है, यह चेतन है और यह ऐसी वस्तु है जिसमें जड़ चेतनका विभाग नहीं है। जड़ प्रकृतिको बताया—**भूमिः आपो-अनलो वायुः।** पहले पृथिवी है, पृथिवी तन्मात्रा। पृथिवीमें और पृथिवीकी तन्मात्रामें अन्तर होता है। जिस तत्त्वसे हमारी नाक बनी है उसको पृथिवी तन्मात्रा बोलते हैं। नाक माने जिसका फोटो लेते हैं वह नहीं। गन्धको ग्रहण करनेकी जो शक्ति है और वह सारे शरीरमें होती है।

बाहरकी वस्तुओंमें गन्ध फेंकनेकी शक्ति होती है वैसे सम्पूर्ण प्रकृतिमें गन्ध ग्रहण करनेकी भी शक्ति होती है। जैसे आगे चलकर यदि ऐसा वैज्ञानिक आविष्कार हो, जो नासिकाके छिद्रमें जिस शक्तिके रहनेसे ग्रहण होता है उस शक्तिका विकास हाथमें कर लिया जाये या पाँवमें कर लिया जाय तो हम हाथसे, पाँवसे भी गन्ध ग्रहण कर सकेंगे। यह वैज्ञानिक उन्नतिकी सम्भावना है जैसे हम जीभसे स्वाद ले सकते हैं। जीभमें भी कोई शक्ति है जिससे स्वाद मालूम पड़ता है, यदि उस शक्तिका विकास कर लिया जाये तो हम शरीरके किसी भी हिस्सेसे स्वाद ग्रहण कर सकते हैं। उनमें मिश्रण नहीं होता। कहीं भी आँख हो सकती है। कहीं भी त्वचा हो सकती है, कहीं भी कान हो सकता है। ये तो सूक्ष्म शक्तियाँ हैं जिनका विकास किया जाता है।

यह विकास वैज्ञानिक ढंगसे भी हो सकता है और योगाभ्याससे भी हो सकता है। ईश्वरकी कृपासे भी हो सकता है। तीन विभाग हैं इसके। वैज्ञानिक लोग तत्त्वके शोधनसे कर सकते हैं, आध्यात्मिक लोग मानसिक विकाससे कर सकते हैं और ईश्वरकी कृपासे बिना वैज्ञानिक अनुसन्धानके और बिना योगाभ्यासके इसका प्रकाश हो सकता है। यह ईश्वरकी प्रकृति है, ऐसी इसकी माया है।

यह जो हम पृथिवी देखते हैं—यह पञ्चीकृत पृथिवी है। इसमें ऐसा बोलते हैं कि आठ आना तो पृथिवी है और दो आना जल, दो आना तेज है, दो आना वायु है, दो आना आकाश है। सोलह आनोंकी पृथिवी कैसे बनी? आठ आनेकी पृथिवी और आठ आनेके शेष चार तत्त्व। इसको कहते हैं पञ्चीकृत। पाँच-पाँचके मिश्रणसे। इसी तरह जल होता है। आधा जल, दो-दो आने पृथिवी, अग्नि, वायु और आकाश। ऐसे ही अग्नि होती है, ऐसे ही वायु होती है और ऐसे ही आकाश होता है यह प्रक्रिया है।

प्रकार भेद और इन्द्रियोंमें जो इनकी शक्ति होती है वह अपञ्चीकृत होती है। आँख केवल देख सकती है, न सूँघ सकती है, न सुन सकती है, न चख सकती है। नाक केवल सूँघ सकती है, न चख सकती है, न देख सकती है। जिह्वा केवल चख सकती है, न सूँघ सकती है, न सुन सकती है। इसमें एक-एक भूतकी तन्मात्राएँ होती हैं।

यहाँ जो **भूमिरापोऽनलो वायु**का वर्णन है वह अपञ्चीकृत पञ्चभूतमें है। वह मिट्टी जिसमें पानी, आग, हवा और आकाशका मिश्रण नहीं है वह जल जिसमें मिट्टी, वायु, जल और आकाशका मिश्रण नहीं है, वह तेज जिसमें मिट्टी, वायु, जल और आकाशका मिश्रण नहीं है—अपञ्चीकृत पञ्चीभूत हैं। ये पाँच महाभूत और पाँच महाभूतकी तन्मात्राएँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ। **मनो बुद्धिः अहंकारः**—मन, बुद्धि और अहंकार ये तीन और हो गये। तो बीस और तीन तेईसके रूपमें जो परिणत हुई है वह चौबीसवीं प्रकृति है। नाम

तो यहाँ लिया है आठका, लेकिन है इसमें प्रकृतिके चौबीस तत्त्वोंका निरूपण। यह क्या है? भगवान् कहते हैं—**भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।**

इसका अर्थ यह हुआ कि प्रकृतिसे महत्तत्त्व, महत्तत्त्वसे अहंकार तत्त्व, अहंकार तत्त्वसे पञ्चतन्मात्रा, पञ्चतन्मात्राके सात्त्विक अंशसे मन, बुद्धि, अहंकार, इन्द्रियाँ और फिर उनके पञ्चीकृत रूपसे यह सम्पूर्ण विश्व। यह क्या है—यह भगवान्का ही एक प्रकार है। ईश्वरका ही एक प्रकार है। सम्पूर्ण विश्व-सृष्टिकी प्रकृति भगवान्की ही प्रकृति है। बिना किसी कारणके वे अपने स्वरूपसे इस विश्वके रूपमें प्रकट हो रहे हैं। पर इस प्रकृतिको धारण करनेवाला कौन है? एक-एक शरीर। हाथ हिलनेसे कर्म नहीं होता। धर्मकी उत्पत्ति नहीं होती। न अधर्मकी उत्पत्ति होती है। परन्तु जब हिलानेवाला है—जीव जब कर्म करता है तब धर्म-अधर्मकी उत्पत्ति होती है।

हाथ जोड़ लिया। यह जान-बूझकर हाथ जोड़ा, श्रद्धासे जोड़ा, तो हाथ जोड़नेकी क्रियासे धर्मकी उत्पत्ति हुई। और दुर्भावसे घूसा तान लिया तो जीवके लिए अधर्मकी उत्पत्ति हो गयी। परन्तु कर्त्ता होना चाहिए। धर्म और अधर्मकी उत्पत्ति केवल वस्तुमात्रसे नहीं होती, क्रियामात्रसे नहीं होती, उसमें जीवके कर्त्ता होनेसे धर्म, अधर्मकी उत्पत्ति होती है। अब हम लोगोंने कितने तो बुरे काम किये हैं और कितने तो अच्छे काम किये हैं, जान-बूझकर किये हैं। इसलिए उनका निवारण भी जान-बूझकर जब करेंगे तब होगा, अपने आप नहीं होगा। पाप किये हैं तो उनका प्रायश्चित्त करना पड़ेगा। उनके विरुद्ध पुण्यानुष्ठान करना पड़ेगा और जो दुनियाका मालिक है, उससे क्षमा माँगनी पड़ेगी क्योंकि आपने उसके प्रति अपराध किया है। यह कर्तव्यकी बात है और जो अच्छा बुरा कर्म करेगा उसे अच्छा बुरा फल भी भोगना पड़ेगा।

प्रकृति तो भगवान्की है पर कर्तव्य जीवका है। यह मिट्टी, आग, हवा, पानी, आकाश, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार सब प्रकृतिसे उत्पन्न हुए हैं। प्रकृति ही इनमें बनी है। यह भगवन्मयी प्रकृति है। परन्तु जब हम इसमें कर्तव्याभिमान करके कर्म करने लगते हैं, तब फलकी उत्पत्तिकी योग्यता आ जाती है। न मिट्टीमें सुख-दुःख हैं, न पानीमें सुख-दुःख हैं, न आगमें सुख-दुःख हैं, न हवामें सुख-दुःख हैं, न आकाशमें सुख-दुःख हैं, न मनमें सुख-दुःख हैं, न बुद्धिमें सुख-दुःख हैं, न अहंकारमें सुख-दुःख हैं। यह तो भगवान्की रचना है।

भगवान्के आनन्दमय हाथोंसे जो सृष्टि बनती है, बनानेवाला आनन्द है, उसका संकल्प आनन्द है, उसके हाथ आनन्द हैं। वह तो आनन्द ही आनन्दकी सृष्टि करता है। परन्तु जब जीव ईश्वरकी वस्तुको मेरी करके मान बैठता है—मैं और मेरा तब उसमें दुःखकी उत्पत्ति होती है। मिट्टी किसीको दुःख नहीं देती, पर यह मेरा खेत है और यह तुम्हारा खेत है, यह जो मेरा और तेरा बन गया, यह मेरा देश, यह मेरा प्राण, यह मेरी जाति, यह मेरा शरीर, यह मेरा परिवार, ये मेरे सम्बन्धी, यह मेरा धन, मेरेमें-से दुःख उत्पन्न होता है।

मृत्युमें-से भी दुःख उत्पन्न नहीं होता। हम देखते थे श्मशानमें बैठकर, सैकड़ों मुर्दे काशीमें मणिकर्णिका घाटपर आते थे, जलते थे और उनका जलना देखते थे। कोई दुःख नहीं था। लेकिन किसी दिन मेरे घरका आ गया तो, मेरे रिश्तेदारका आ गया तो? मुर्देने दुःख नहीं दिया, उसके मरनेने दुःख नहीं दिया,

उसके जलनेने दु:ख नहीं दिया। दु:ख तो हुआ जहाँ उसके साथ मेरापना जुड़ा। यह मेरापन तत्काल दु:खमें बदल गया!

ईश्वरकी सृष्टिमें कहीं दु:ख नहीं है। न कोई दु:ख देनेवाला है। ईश्वर दु:ख देनेवाला नहीं है। ईश्वरकी प्रकृति भी दु:ख देनेवाली नहीं है। सांख्यवादी ऐसा मानते हैं। चार्वाक भी ऐसा मानते हैं कि चारों भूतोंसे यह बना हुआ शरीर है, इसमें मैं-मेरा ही दु:खदायी है। न्यायवैशेषिक भी मानते हैं कि यह परमाणुओंसे बनी हुई सृष्टि है, यह दु:खदायी नहीं है। यह मैं-मेरा दु:खदायी है। सांख्ययोगी भी ऐसा मानते हैं कि यह प्रकृतिका विस्तार है, यह दु:खदायी नहीं है, इसमें इतना, ऐसा यह मैं, यह मेरा—यह, दु:खदायी हैं। पूर्वमीमांसक भी ऐसा मानते हैं कि अनादिकालसे सृष्टि ऐसी ही चल रही है। इसमें हम जो कर्तृत्वपूर्वक कर्म करते हैं, यह मेरा कर्म, यह तेरा कर्म—यही दु:ख होता है। वेदान्ती मानते हैं—नासमझी दु:ख देती है, वस्तुत: दु:ख कुछ नहीं है।

यह अपनी समझका कसूर है, जो सृष्टिमें हमको दु:ख देता है। इसीसे समझ अगर ठीक हो जाय तो दु:ख मिट जायेगा। अपनी नासमझीका परिणाम है जिसको बोलते हैं दु:ख। समझदारीकी पहचान है कि जो समझ रहा है कि जो हो रहा है—प्रकृति है। धरती अपने आपमें चल रही है और अपने आपमें दो तरहकी चाल है। एक तो आकाशमें—दिशाओंमें गति है इसकी और एक अपनेमें परिवर्तन है।

कालमें परिवर्तन है, कल कुछ थी, आज कुछ हो गयी और आकाशमें कभी यहाँ है, कभी वहाँ है और रूपमें कभी माटीके रूपमें पड़ी है, कभी पौधेके रूपमें निकल आयी। वस्तुमें परिवर्तन है, स्थानमें परिवर्तन है। परिवर्तन होता है धरतीमें; यह है प्रकृति। जब हम पकड़ते हैं यह पेड़ हमेशा बना रहे, यह जवानी हमेशा बनी रहे, यह मेरी होकर रहे, तब दु:खकी सृष्टि होती है। दु:ख जीवका बनाया हुआ है, ईश्वरका नहीं, प्रकृतिका नहीं, परमाणुओंका नहीं।

जीवकी भूल है, अविवेक है। इसको जैन लोग प्रमाद बोलते हैं। दु:ख प्रमादसे होता है। बौद्ध लोग अविद्या बोलते हैं। चार्वाक भी बेवकूफी ही बोलता है। योगमें अविद्या बोलते हैं। सांख्यमें अविवेक, वेदान्तमें भी अविद्या बोलते हैं।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥

परमेश्वरकी पहचान छूट गयी, इसलिए दु:ख हो गया। यदि परमेश्वरकी पहचान बनी रहे तो दुनियामें चाहे आसमान फट जाय, चाहे पहाड़ चूर-चूर हो जाय, चाहे समुद्र बिखर जाय धरती रहे कि न रहे—बाबा! जिसकी दुनिया है वह दुनियाको सँभालेगा, तुम अपने आपको बीचमें क्यों डालते हो? यह प्रकृति है परमेश्वरकी।

जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।

यह अपरा प्रकृति है। यह जल है, बूँद-बूँद। संस्कृत भाषामें 'अप' शब्द नित्य बहुवचनान्त है। **आपः, अपः, अद्भिः, अद्भ्यः, अपाम्, अप्सु**—बस इतने ही रूप इसके बनते हैं। एक वचन और द्विवचनमें जलका रूप नहीं बनता। माने यह बूँद-बूँद है। टुकड़े-टुकड़े है। गाँवमें लड़ाई होती है—यह मेरे तालाबका पानी है।

यह मेरी पोखरका पानी है। शहरमें लड़ाई होती है—यह मेरे नलका पानी है। यह मेरी बाल्टीका पानी है। पानी किसीको दुःख नहीं देता। मेरापना दुःख देता है। देखो, बिजलीके लिए प्रान्तोंमें लड़ाई होती है। यह ऊर्जा जो शक्ति है वह किस प्रान्तकी है? यह हमारे देशकी बिजली है, यह तुम्हारे देशकी बिजली है। तो मेरापन दुःख देता है। यह वायु है। यह मेरी साँस है। यह तेरी साँस है। लो हवा तो एक ही है। सबकी नाकमें हवा ही घुसती है और हवा ही निकलती है। बल्कि वह भीतर जाती है तो वहाँसे दुर्गन्ध लेकर बाहर निकलती है, बाहर शुद्ध हवामें मिलनेके बाद वह भी शुद्ध हो जाती है। प्रकृतिमें क्लेश नहीं है, परन्तु आप प्रकृतिमें मेरी मत देखो— जिसकी यह प्रकृति है उसको मेरा देखो।

चर्तुविधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।

जो सुकृती पुरुष हैं वे भगवान्‌को देखते हैं और भगवान्‌की भक्ति करते हैं।

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।

जो दुष्कृती हैं, पापी हैं, मूढ़ हैं, नराधम हैं (गाली देते हैं—नराधम कह दिया) दुष्कर्म करते हैं, सोचते हैं हम दुष्कर्म करके सुखी होंगे—मूढ़तामें फँसे हुए हैं, नराधम हैं। वे भगवान्‌की शरण ग्रहण नहीं करते, भगवान्‌की भक्ति नहीं करते। जो सुकृती पुरुष होता है वह वस्तुको नहीं देखता, वस्तुको मैं-मेरी नहीं करता, ईश्वरको मेरा मानता है और ईश्वरको जब समझ जाता है तब तो मैंको अभिन्न मानता है। भक्तिसे संसारका मेरापन छूटता है और तत्त्वज्ञानसे देहमें, परिच्छिन्नतामें जो मैंपना है वह छूटता है। भक्ति ममताको छुड़ाती है और ज्ञान मैं को छुड़ाता है। वह दोनोंका विभाग है। परन्तु यह दोनों छूटेगा कब? जब पहले सत्कर्म करेंगे। बिना सत्कर्मके—अपने कर्मके द्वारा आप भगवान्‌की पूजा करते हैं कि नहीं।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥ 7.5

जो वैज्ञानिक लोग प्रकृतिका स्वरूप मानते हैं और जो सांख्ययोगी—प्रकृतिका स्वरूप मानते हैं उनकी अपेक्षा यहाँ प्रकृतिका स्वरूप विलक्षण है क्योंकि दोनोंमें—

अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।

भगवान् कहते हैं—यह मेरी प्रकृति है—**अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।** तो यह भगवान्‌की प्रकृति है। यह न सांख्य है, न योग है। यह भगवान्‌की प्रकृति है। प्रकृति है माने स्वभाव है। अर्थात् भगवान्‌का स्वभाव ही ऐसा है कि वे जगत्‌के रूपमें, जीवके रूपमें हो जायँ या जगत्‌के रूपमें, जीवके रूपमें मालूम पड़ें। यह ईश्वरका स्वरूप है। प्रकृतिको हम लोग धारण करके बैठे हैं। देहको धारण करके बैठे हैं।

ययेदं धार्यते जगत्। यह शरीर मेरा है, मैं हूँ। यह राष्ट्र मेरा है, मैं हूँ। राष्ट्रसे भी तादात्म्य होता है। स्वामी रामतीर्थ बोलते थे 'मैं पृथिवी हूँ, मैं समुद्र हूँ, मैं तेजस्तत्त्व हूँ, मैं हिमालय हूँ, यह सम्पूर्ण भारतवर्ष मैं हूँ। हिमालय मेरा सिर है, कन्याकुमारी मेरा पाँव है, पश्चिम समुद्र मेरा हाथ है, पूर्व समुद्र मेरा हाथ है, मैं भारतवर्ष हूँ।' यह उनकी अहंता समग्र भारतवर्षमें हो गयी, समग्र विश्व-ब्रह्माण्डमें हो गयी। सम्पूर्ण विश्वब्रह्माण्डोंके अधिष्ठानसे हो गयी।

यह जो जीव है, यह सम्पूर्ण देहको भी धारण करता है—मेरा हाथ, यह मेरा पाँव, यह मेरा दिल, यह मेरा दिमाग और सम्पूर्ण विश्वको भी धारण करता है। जितनी उदात्त दृष्टि होगी, जितनी उदीर्ण दृष्टि होगी, जितनी विस्तीर्ण दृष्टि होगी उतना ही अपने आपको समझोगे।

इन्हीं दोनों प्रकृतियोंसे यह विश्व बना है। मिट्टीमें भी वही है। पेड़में भी वही हैं। जो देहमें है वही ब्रह्माण्डमें है। **यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे**। परन्तु यह कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड बनते और बिगड़ते रहते हैं और इनमें मैं होता और टूटता रहता है। जैसे एक शरीरमें मैं होता है। पहले अपना मैं कहाँ था? ब्राह्मणपनेमें था। मैं ब्राह्मण हूँ, मैं गृहस्थ हूँ, मैं ब्रह्मचारी हूँ, मैं वानप्रस्थ हूँ, मैं संन्यासी हूँ। नहीं संन्यासी नहीं हूँ—मैं तो जीवात्मा हूँ। जीवात्मा नहीं हूँ—मैं तो साक्षात् परमेश्वरका अंश हूँ। परमेश्वरका अंश नहीं हूँ—अंश और अंशीका जो भेद है वह परिच्छिन्नताकी दृष्टिसे है। मैं तो नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त ब्रह्म हूँ।

तो ये जितनी सृष्टियाँ हैं, प्रकृतिमें जितने भेद-विभेद हैं, इनका मूल कहाँ है? अब देखो माहात्म्यज्ञान—

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय। 7.6

संसारमें जीव-प्रकृति और जड़-प्रकृति इन दोनोंके मेलसे ये सब-के-सब बने हैं। जो हुआ सो भी इन दोनोंसे, जो है सो भी इन दोनोंसे, जो है सो भी इन दोनोंसे, जो होगा सो भी इन दोनोंसे, यह निश्चय करो।

अब उसके बाद भगवान् श्रीकृष्ण अपना स्वरूप बताते हैं। हाथमें ज्ञान है, इसके बिना भक्ति नहीं हो सकती। माहात्म्यज्ञानके बिना सच्ची भक्ति नहीं आ सकती। यदि आप पाँच वर्षसे सुन्दरता देखकर भगवान्से प्रेम करते हैं तो पाँच लाख वर्ष पहलेके होनेवाले ऐसे रूपसे क्यों प्रेम करते हैं? आजकी सुन्दरतासे ही क्यों नहीं करते? वह तो आँखोंसे ओझल है। परोक्ष सौन्दर्यसे आप प्रेम करते हैं? नहीं भाई, कृष्ण नित्य हैं—आज भी हैं। राम नित्य हैं—आज भी हैं। यह नित्यता क्या है? यह माहात्म्यका ज्ञान है। लोग मर जाते हैं परन्तु राम, कृष्ण नहीं मरते। यह माहात्म्यका ज्ञान हो गया। मनुष्य एक स्थानपर रहता है। राम-कृष्ण सब जगह रहते हैं। सबके हृदयमें रहते हैं—यह माहात्म्यका ज्ञान हुआ। जो भक्ति करता है उसके ऊपर कृपा करके वे उसे मिलते हैं, प्रकट होते हैं। बड़े दयालु हैं। यह माहात्म्यका ज्ञान है। वे हमारे दिलकी जानते हैं—सर्वज्ञ हैं। वे सर्वशक्ति हैं—यह माहात्म्यका ज्ञान है। इतने दयालु हैं कि हमारे सामने प्रकट हुए बिना रह नहीं सकते। उनकी सर्वज्ञताका ज्ञान, उनकी सर्वशक्तिका ज्ञान, उनकी दयालुताका ज्ञान—यह माहात्म्यका ज्ञान है। बिना माहात्म्यज्ञानके—

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥ 6॥
मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥ 7॥

आओ परमेश्वरका दर्शन करें—

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।

जगत् माने जो बदलता है। आप एक सरीखा नहीं रख सकते जगत्को। उन सब लोगोंको रोना पड़ता है जो दुनियाको एक सरीखा बनाये रखनेकी कोशिश करते हैं। जो कहेगा अब तो हम हटेंगे ही नहीं, हम ही रहेंगे

उसको तकलीफ उठानी पड़ेगी। यह कुर्सी हमारी—अब तो हम कुर्सीपरसे कभी नहीं हटेंगे। ऐसा चाहे पिछला बोले, चाहे वर्तमान बोले—चाहे अगला बोले, कुर्सी तो हटेगी, छोड़नी पड़ेगी। अब तो हम हटेंगे ही नहीं ऐसे सटे, ऐसे सटे कि अब तो हम हटेंगे ही नहीं, कहते हैं। जगत् माने—

गच्छति इति जगत्।

गम् धातु होनसे इसका ज्ञान भी बदलता है। इसका स्वरूप भी बदलता है। इसमें गति भी है और इसमें वृत्तिका परिवर्तन भी है और इसका मिलना और बिछुड़ना भी है। मिलना, बिछुड़ना, आना, जाना और इसके ज्ञानमें परिवर्तन। नया-नया साइन्स, नया-नया रूप, नया-नया आविष्कार होगा। नया-नया रूप बदलेगा, नयी-नयी चीज आयेगी, नया-नया मिलेगा, नया-नया बिछुड़ेगा। इसका नाम है जगत्। यह जगत् बदलता है। इसमें न बदलनेवाला भी कुछ है क्या?

अशरीरं शरीरेषु अनवस्थेष्ववस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥

आप अपने मनको बदलता हुआ देखते हैं कि नहीं? जो मनको बदलता हुआ देखता है वह ईश्वरका अंश है और जो सारी सृष्टिको बदलता हुआ देखता है, जिसमें रहकर जिसकी आँखोंके सामने यह सारी सृष्टि बदल रही है—इसका नाम है परमेश्वर। यदि उसके साथ अपना मन जोड़ेंगे, उसकी भक्ति करेंगे, तो दुनियाके बदलनेका तुम्हारे ऊपर कोई असर नहीं पड़ेगा। सीधी बात है—बदलती हुई चीजमें अपना मन रखेंगे तो वह चीज बदलेगी और आपका मन खट्टा हो जायेगा।

अहं कृत्स्नस्य जगतः। कृत्स्न शब्दका अर्थ है सम्पूर्ण। यह सारी जो दुनिया है यह बदल रही है और इसकी उत्पत्ति भी।

दो बात कही जाती है—जिसमें यह दुनिया पैदा हो रही है और जिसमें यह दुनिया समा जाती है। जिसमें यह पैदा होती है यह तो हुआ कारण—प्रभवः। वह निमित्त कारण भी हो सकता है। परन्तु 'प्रलीयते अस्मिन्' जो है वह केवल उपादान कारण हो सकता है—घड़ेका बनाना और घड़ेका फूटकर लीन होना। बनानेके लिए कुम्हारकी जरूरत पड़ती है परन्तु घड़ा फूटकर मिट्टीमें लीन होता है। इस सृष्टिका अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है परमेश्वर। बनानेवाला भी वही और जिसमें यह दुनिया समा जाती है वह मसाला भी वही। माने वही, वही है। बनानेवाला भी वही है **प्रभवः प्रलयस्तथा।** बननेवाला भी वही है।

अब एक दृष्टि देखें। प्रकृतिके जो दोनों विभाग हैं—जीव-विभाग और जड़-विभाग—इन दोनोंके ही प्रभव और प्रलय परमात्मा हैं। उन्हींमें सृष्टि पैदा होती है और उन्हींमें रहती होती है। अब एक दृष्टि देते हैं—

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय।

धनञ्जयका अर्थ है तुम अग्निरूप हो। धनञ्जय अग्निका एक नाम है। अग्निरूप हो, परम तेजस्वी हो। महाबाहो माने बड़े शक्तिशाली हो। ऐसी कोई जगह नहीं है जहाँ तुम्हारे हाथ न पहुँच सकते हों और ऐसी कोई चीज नहीं है जिससे मुक्त होकर तुम रह नहीं सकते हो। इसका अर्थ हुआ, अर्जुन, हम तुम एक। महाबाहो माने

शक्तिमें एकरूपता है और भस्मसात् करनेमें एकरूपता है। धनञ्जयका अर्थ होता है—साधनजयी। जिसने सम्पूर्ण साधनोंपर काबू पा लिया है। साधनका एक भाग है धन।

धनञ्जय माने साधनञ्जय। तुमने सम्पूर्ण साधनोंपर विजय प्राप्त कर ली है क्योंकि तुमने अपने जीवन-रथका सारथि मुझे बना दिया। तुम मुझे देख रहे हो। मेरी आँखसे तुम्हारी आँख मिल गयी है। मेरी मतिसे तुम्हारी मति मिल गयी है। जब तक ईश्वरसे मतभेद है तबतक आदमी दुःखी है। ईश्वरकी दृष्टिसे देखें—दुनियाको ईश्वर कैसा दीखता है ? दुनियाको ईश्वर कैसा दिखा रहा है ? जैसा दिखा रहा है वैसा देखिये और जिस दृष्टिसे देखकर वह मजा ले रहा है, उसमें मजा लीजिए। जैसा हो रहा है वैसा होने दीजिए। जैसा दीख रहा है वैसा दीखने दीजिए। देखिये परमानन्द, अपने हृदयमें शान्ति ही शान्ति है।

'मत्तः परतरं अन्यद् किञ्चित् नास्ति'

मुझसे अलग, मुझसे परे, कुछ नहीं है। अब यह दृष्टि है। इसका नाम दर्शन है। परमात्माकी ओरसे देखो। घड़ेकी ओरसे देखो। घड़ा अलग है, सकोरा अलग है। करोड़-करोड़ घड़े हैं। करोड़-करोड़ सकोरे हैं। कोई बड़ा है, कोई छोटा है। कोई काला है, कोई लाल है। किसीमें शराब भरी है और किसीमें दूध भरा है। यह घड़ेकी विशेषता है। परन्तु जरा माटीकी ओरसे देखो—बड़ा हो कि छोटा, काला हो कि लाल, गोल हो कि लम्बा—सब माटी है। तो जिस माटीसे यह दुनिया बनी है उस मृत्तिकाको पहचानो। उस मसालेको पहचानो तो देखोगे कि घड़ेमें किसीमें शराब है और किसीमें पञ्चामृत है, गङ्गाजल है, दूध है, दही है। परन्तु घड़ेकी माटी एक है। भगवान्के सिवाय दूसरी कोई चीज नहीं है यह माहात्म्य है। **अन्यद् किञ्चित् नास्ति** दूसरी कोई वस्तु नहीं है।

मुझसे परे कोई नहीं है मुझसे बड़ा कोई नहीं है, और मुझसे दूसरा नहीं है। माने मेरा बाप भी नहीं है और मेरा भाई भी नहीं है। मेरा दुश्मन भी नहीं है और किञ्चित् माने एक अणु, परमाणु कण भी नहीं है। मुझसे कोई बड़ा नहीं है और मेरा कोई प्रतियोगी नहीं है। मेरे बराबरका नहीं है। बड़ा भी नहीं, बराबर भी नहीं, छोटा भी नहीं। इसका अर्थ है मैं ही हूँ।

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय।

इसमें भगवान्की पूजाकी एक प्रक्रिया है, देखो वह क्या है ? यह बात संसारके किसी मजहबमें नहीं है। यह वैदिक धर्मकी विशेषता है। यह मजहबी बात नहीं है। आप पार्थिव लिङ्ग बनाकर पूजा करते हैं। हमको एक पण्डित मिले, उन्होंने बताया कि हमने एक करोड़ पार्थिव लिङ्ग बनाकर उनकी पूजा की। मिट्टीकी भगवान्के रूपमें पूजा। बोले हमने गंगाजलमें दूध चढ़ाया है, समुद्रमें अर्घ्य दिया है, जलमें भगवान्की पूजा की है। हमने अग्निमें भगवान्की पूजा की है। सूर्यमें, चन्द्रमामें, भगवान्की पूजा की है। हमने प्राणोपासना की है। अपनी साँसमें, वायुमें, भगवान्की आराधना की है। हमने आकाशमें भगवान्की आराधना की है। यह सब क्या है ?

दुनियाके किसी भी मजहबमें यह बात नहीं है कि मिट्टी भी भगवान्, पत्थर शालिग्राम भगवान्, नर्मदालिङ्ग भगवान्, जयपुरकी गढ़ी हुई मूर्ति भगवान्। मार्बल भगवान्, लालपत्थर भगवान् पार्थिव लिङ्ग जो मिट्टीके बनाते हैं—भगवान्। किसी मजहबमें ईश्वरको सर्वात्मक नहीं मानते हैं। ईश्वर सर्वरूप है—वही सब है,

यह बात किसी मजहबमें मानी नहीं जाती है। जो ईश्वर नहीं मानते हैं, उनकी तो कथा छोड़ दो। चार्वाक मतमें ईश्वरकी कोई चर्चा नहीं है। वह तो खाओ, पीओ, मौज उड़ाओका सिद्धान्त है।

व्यक्तिपूजा है जैन मतमें। जीव शुद्ध होकर तीर्थङ्कर, बीत-राग हो जाता है और अलग-अलग उनकी उज्वलता बनी रहती है, वहाँ भी सब ईश्वर है यह बात नहीं। जो पवित्र है वह ईश्वर-समान हो जाता है। उसकी इकाई बनी रहती है। बुद्धमें आत्माका उच्छेद हो जाता है। ईश्वरकी आराधना नहीं है।

यह तो वैदिक धर्म ही ऐसा है, जिसमें सबके रूपमें परमेश्वर प्रकट हैं। इसीसे इस धर्मके बिना, इस विचारके बिना, इस दर्शनके बिना राग-द्वेषकी आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं हो सकती। जीवन्मुक्तिका सुख नहीं हो सकता। यह विचार है, यह ज्ञान है।

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चदस्ति धनञ्जय।

जिनका ईश्वर केवल निराकार है, तो जो कुछ हम देख रहे हैं वह उसके लिए ईश्वर नहीं है। तो मूर्ति-भञ्जक हो गये, जो मन्दिर तोड़ते हैं वे मूर्त्ति तोड़ते हैं। हमारे एक मित्र रूस गये थे। उन्होंने बताया कि लेनिनकी समाधिपर वे गये, तो एक मीलकी क्यू लगी थी और शान्त—चुपचाप। हाँ जी, ये वे हैं जो ईश्वर नहीं मानते। पर कब्रकी पूजा करते हैं। ईसाई लोग ईश्वरका आकार नहीं मानते, परन्तु कब्रपर देखो तो दीया भी जल रहा है, फूल माला भी चढ़ रही है। जो ईश्वरकी पूजा नहीं करेगा, उसे कब्रकी पूजा करनी पड़ेगी! मकबरेकी पूजा करनी पड़ेगी। हम मकबरेको बुरा नहीं मानते। वह भी ईश्वररूप है, लेकिन वे ईश्वरकी मूर्ति नहीं मानते और भूत-प्रेत जिंदकी-पूजा करते हैं। अपनी बुद्धिमें ईश्वर हो इसकी आवश्यकता है। अग्नि, मिट्टी, जल, वायु आकाशमें ईश्वरकी पूजा है। क्योंकि ये सब ईश्वरके रूपमें है, ये ही ईश्वरकी मूर्ति हैं। फिर सब अलग-अलग शक्ल क्यों हैं?

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

यह दुनियाकी सृष्टि वस्त्रके समान है और सूतके समान है परमात्मा। जैसे सूतके विन्याससे ईश्वरमें बेल-बूटे बनाये हैं—यह आदमी क्या हैं? ईश्वरमें बेल-बूटा! यह स्त्री क्या है? ईश्वरमें बेल-बूटा। तत्त्वतः ईश्वर है। यह मिट्टी क्या है? ये पेड़-पौधे क्या हैं? यह पानी क्या है? **सूत्रे मणिगणा इव** जैसे तिब्बती लोगोंकी माला होती है। जैसे सिक्खोंकी माला होती है। सूतमें गाँठ लगा ली—एक, दो, तीन, चार—कितनी गाँठे हैं? परन्तु वे सब गाँठें सूत हैं। जैसे सोनेकी माला होती है, सोनेकी जञ्जीर होती है—मिट्टीकी गोली होती है। गोलियाँ अलग-अलग हैं किन्तु मिट्टी एक है। इसी प्रकार यह सृष्टि कैसी है? जैसे सूतमें गाँठ लगी हो, जैसे सोनेमें मनके बना दिये हों। ऐसे यह सारी सृष्टि है। मन ही अच्छा होता है मन ही बुरा होता है। मन ही मेरा होता है। मन ही तेरा होता है। जब ईश्वरकी भक्ति आती है तो सब ईश्वर रूपसे अनुभवमें आता है! अब आगे बतायेंगे कि कहाँ कैसे ईश्वर स्थित है?

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

•

प्रवचन : 4

भगवद्गीते भवद्वेषिणीम्। समुद्रमें जैसे तरंग हो, फेन हो, बुदबुदा हो या उसका कोई भी अन्य रूप क्यों न हो, वह समुद्रके अतिरिक्त और कुछ नहीं होता, उसी प्रकार परमात्माके स्वरूपमें चाहे वह प्रकृति हो, ब्रह्माण्ड हो; धरती हो अथवा पिण्ड हो, वह परमात्माके स्वरूपसे अलग नहीं होता। भगवान्ने स्वयं कहा है—**मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय** (गीता-7.7) और इसी बातका ज्ञान अभयकी प्रतिष्ठा है।

जो इस अभयकी प्रतिष्ठाको जान लेता है, वह निर्भय हो जाता है। जैसे समुद्रमें मगरमच्छ रहते हैं, मगर रहते हैं, बड़े-बड़े काटने-पीटनेवाले जीव-जन्तु होते हैं, परन्तु समुद्रको उनसे डर नहीं लगता कि ये हमको काट लेंगे। इसी प्रकार उन जानवरोंको भी डर नहीं लगता कि समुद्रमें हम डूब जायेंगे। समुद्र भी निर्भय है और समुद्रमें रहनेवाले वे हिंसक प्राणी भी निर्भय हैं।

इसी प्रकार परमात्माका जो यह स्वरूप है इसमें प्रकृति और कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड, हिरण्यगर्भ, महाविष्णु, महाशिव, एक-एक ब्रह्माण्डमें ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश अलग-अलग और ये पिण्ड, शरीर तथा इनमें जीव अलग-अलग हैं, परन्तु हैं ये सब परमात्माका विलास। **एकं सद् बहुधा कल्पयन्ति** श्रुति कहती है, एक परमात्मा परिपूर्ण है; उसके बारेमें बहुत्वकी कल्पना होती है—**बहुधा कल्पयन्ति। एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति** सत्य एक है : विद्वान् लोग उसे अनेक रीतियोंसे वर्णित करते हैं। **एकं वै सद् विबभूव विश्वम्**—एक ही सत्य है वह सम्पूर्ण विश्वके रूपमें प्रकट हो रहा है। वह एक प्रधानतः आत्मा है।

देखिये न, आत्मासे बुद्धि है, आत्मासे मन है, आत्मासे अन्तःकरण है, आत्मासे इन्द्रियाँ हैं, आत्मासे शरीर है और आत्मासे ही यह सम्पूर्ण विश्व मालूम पड़ रहा है। इसमें जीव है कि ईश्वर है, कि मिट्टी है कि पानी है, यह सब आत्मदृष्टिसे ही ज्ञात होता है। आत्माके सिवाय और कुछ नहीं और यह सब भगवान्से बना है, भगवान्में है, भगवान्का ही रूप है तथा भगवान्के सिवा और कुछ नहीं—यह भागवत दृष्टि है। स्पन्द दृष्टि है कि आत्मासे सब है और आत्मा ही सब है। सब कुछ आत्माके स्पन्दनसे ही माननेको स्पन्द दृष्टि बोलते हैं; आत्मा हिल गया और सृष्टि दिखने लग गयी।

यह कोई दूसरी चीज नहीं है; भगवान्की चेष्टा—भगवान्का संकल्प ही विश्वसृष्टिके रूपमें आया। असलमें एक ही चीज है, उसीका नाम है आत्मा और उसीका नाम है भगवान्। चाहे आत्मसृष्टि बोलो चाहे भागवत-सृष्टि बोलो। जब दोनोंको एकमें मिला देते हैं तो उसको ब्रह्म बोलते हैं। ब्रह्म रूपमें है यह सृष्टि, और यह चाहे किसी भी रूपमें दिखे, मुख्य बात अभयकी प्रतिष्ठाका ज्ञान है, इसीलिए कहा है—

अभयप्रतिष्ठां विन्दति स एव विद्। प्रलयमें भी अभय है, सृष्टिमें भी अभय है, भेदकी प्रतीति हो तब भी अभय है, हानिमें भी अभय है, लाभमें भी अभय है। लोक व्यवहारमें परमेश्वरको कैसे देखा जाय इसकी एक युक्ति बताते हैं—

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभाऽस्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु॥ 7.8

यही उसकी प्रक्रिया है। परमात्माको देखनेका प्रकार यह है—जैसे जल क्या है? जल वह नहीं है जो दो गैसोंके मिलनेसे द्रव रूपमें पैदा होता है। वह तो मशीनी अथवा यान्त्रिक जल है। असलमें जल क्या है? जीभसे हमें जो रस-ग्रहण होता है वह विलक्षण है। आँखसे हम रूप देखते हैं, त्वचासे स्पर्श करते हैं, नाकसे गन्ध सूँघते हैं, कानसे शब्द सुनते हैं और जीभसे रस लेते हैं, रसनाग्राह्य जो गुण है उसका नाम होता है रस और उस रसात्मक रस-तन्मात्रासे जो बनता है, उसको कहते हैं जल।

इसीलिए कहा है—**रसोऽहमप्सु कौन्तेय।** परमात्मा रस है। वह रसात्मक जलमें ओत-प्रोत है। ओत-प्रोतका अर्थ होता है उसी प्रकार मिला हुआ जैसे कपड़ेमें सूत और सूतमें ताना-बाना। जैसे कपड़ेमें ताना भी सूत है और बाना भी सूत है। आड़ा भी सूत है और खड़ा भी सूत ही है। उनके विन्याससे तरह-तरहकी डिज़ाइनें बन जाती हैं।

इसी प्रकार यह जो विश्वसृष्टि है इसमें सूत्रके रूपमें परमात्मा है, रेशेके रूपमें परमात्मा है, रुईके रूपमें परमात्मा है, बिनौलेके रूपमें परमात्मा है। जब हम नाम रूपका अलगाव देखते हैं तो परमात्मा छिप जाता है और जब नाम-रूपोंमें छिपी हुई एकता देखते हैं तो परमात्मा प्रकट हो जाता है। उसमें जीवन और मरणका कोई भेद नहीं है—दूर और निकटका कोई भेद नहीं है—**अभयप्रतिष्ठां विन्दति।** जीवनमें निर्भयता प्राप्त करनेके लिए सबमें परमात्माको देखना आवश्यक है और वह है-जैसा है वैसा ही सब जगह परमात्माको देखो। कहीं भय नहीं है जीवनमें।

अब रही मृत्युकी बात तो मृत्युमें क्या कम हो जाता है? शरीरमें जो माटी है वह तो राख होकर माटीमें मिल जाती है; जो पानी है वह उड़कर पानीमें मिल जाता है, जो तेज है वह तेजमें मिल जाता है, जो साँस है वह वायुमें मिल जाती है और जो अवकाश है वह आकाशमें मिल जाता है। एक रत्ती भी कोई चीज कम नहीं होती। सब चीजें अपने उपादानोंमें मिल जाती हैं।

तो मृत्यु क्या हुई? केवल आकृति टूट गयी—केवल घड़ा फूट गया; माटी तो ज्यों-की-त्यों रही। जो अपनेको घड़ा मानेगा। उसको फूटनेका डर होगा और जो अपनेको माटी मान लेगा उसे घड़ा फूटनेका कोई डर नहीं—चाहे घड़ा टूटे या न टूटे, चाहे रहे या न रहे। तो इस तत्त्वज्ञानका अर्थ होता है—**अनारोपिताकार।** आकारका आरोप छोड़कर—आकार मढ़ा गया है, आकार गढ़ा गया है, वस्तुमें आकार नहीं है।

जितना जल है, उसमें जिह्वासे आस्वाद्य रस है, रसके रूपमें परमात्मा है। यह मत देखो कि पानी लाल है कि पीला है या काला है, वह बोतलमें है कि गिलासमें है, नदीमें है कि समुद्रमें है। उसमें रसनासे, जिह्वासे,

ग्राह्य जो रस है उस रसके रूपमें परमात्मा है। वह थोड़ा है कि ज्यादा है, वह बूँद है कि समुद्र है। बूँदमें भी समुद्र रहता है—

बिंदुसे सिंधु समान, यह सुनि अचरज मत करो।
हेरनहार हिरान, रहिमन आपहि आपमें॥

तात्पर्य, जलमें रस है।

इसी प्रकार चन्द्रमा है, सूर्य है, ग्रह और नक्षत्र हैं। आपकी आँखोंमें भी एक चमक है—इसका नाम है प्रभा। आकृतिको मत देखो और उसके जो नाम रखे गये हैं उनको मत देखो, उस चमकको देखो और आपको परमात्माका दर्शन होगा।

वेदमें कहा है—दुनियामें जितनी वाणी है वह ॐकारसे आच्छन्न है। अ उ म्—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति; ब्रह्मा, विष्णु, महेश, स्थूल, सूक्ष्म, कारण, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद। जितनी भी त्रयी हैं सब ॐमें प्रणवमें हैं, इसीलिए **प्रणवः सर्ववेदेषु** बोलते हैं। पहले ॐ फिर गायत्री है। गायत्रीसे सारे वेद हैं। वेदमाता गायत्री है। सारे वेद गायत्रीमें-से निकले हैं; गायत्री ॐकारमें-से निकली है; ॐकार अकार, उकार और मकार ये अर्धमात्रामें-से निकले हैं तथा अर्धमात्रा तुरीयमें कल्पित है। हम इधरसे देखते हैं तो मालूम होता है कि ये सब उसमें हैं और उधरसे देखते हैं तो कुछ नहीं—वही है। सब आत्मा ही है।

शब्दः खे पौरुषं नृषु।

आकाशमें शब्द है। आकाश ही वायु होता है और वायु आकाश हो जाता है। स्थितिका नाम आकाश है, गतिका नाम वायु है।

एक महात्माने बताया कि तुम्हारे शरीरमें मैल जमी है, जानते हो यह मैल कैसे आयी? पहले पसीना हुआ था। पसीना कैसे हुआ था? गरमी हुई थी। गरमी कैसे पैदा हुई थी? तो दौड़कर चले थे। दौड़नेके पहले क्या था तो शान्त बैठे थे। देखो, जो मैल है वह मिट्टी है, पसीना है वह पानी है, जो गरमी लगी वह तेज है और जो दौड़ते थे वह वायु है। उसके पहले जो शान्त बैठे थे वह आकाश है।

इसी तरहसे इस सृष्टिका क्रम है। जितने भी शब्द हैं वे गतिसे जुड़े हुए हैं। जहाँ गति होती है वहाँ ध्वनि भी होती है, यह नियम है। जहाँ कुछ हलचल होगी वहाँ शब्द जरूर होगा, चाहे कानसे सुनायी पड़े या न पड़े। जो शब्द हम बोल रहे हैं यदि इससे ढाई या तीन लाख गुना अधिक ध्वनि हो जाय तो वह कानसे सुनायी नहीं पड़ेगी यों ही यदि ध्वनि ढाई लाख अंश कम हो जाय तो भी वह नहीं सुनायी पड़ेगी। यह तो एक मध्यकालमें ध्वनि सुनायी पड़ती है। आकाशमें ही इसका उदय है और आकाशमें ही विलय है। जहाँ वायुकी उत्पत्ति है वहाँ ध्वनिकी उत्पत्ति है। शब्द तन्मात्रामें आकाश ओतप्रोत है। शब्द हुआ, हिला और अवकाश बन गया। इसके सम्बन्धमें भी दर्शनोंमें मतभेद है।

कार्यं यत्र विभाव्यते किमपि तत् स्पन्देन सव्यापकम्।
स्पन्दश्चापि जगत्सु विदितः शब्दान्वयी सर्वदा॥

जहाँ कोई काम होता है वहाँ हिलना जरूर होता है। हिले बिना कार्य नहीं होता। जहाँ हिलना होता है वहाँ शब्द जरूर होता है। आकाश हिलता है तो वायु बनती है। आकाशका हिलना—यह शब्द आकाशका गुण है। हृदयाकाशमें एक शब्द होता है इसे बोलते हैं—अनाहत। आहत शब्द क्या होता है? जब हम कण्ठमें, तालुमें-मनसे, प्राणसे, वायुसे एक तरहकी चोट करते हैं तब एक ध्वनि पैदा होती है।

आत्मा बुद्ध्या समेतर्थान् मनश्चित्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमादत्ते स च प्रेरति मारुतम्॥
मारुतस्त्वरसि भ्राम्यन् भद्रं जनयति स्वरम्।

स्वरकी उत्पत्ति कैसे होती है? आत्माका बुद्धिसे संयोग होता है, बुद्धि विषयको देखती है, फिर बोलनेकी इच्छा होती है। इस इच्छासे वायु प्रेरित होती है और वह वायु जब हृदयमें घूमती है तब स्वरकी उत्पत्ति होती है। कण्ठ, तालु आदिके आघातसे शब्दका उच्चारण होता है। 'क'—कण्ठपर जोर पड़ता है। 'त'—दाँतपर जोर पड़ता है। 'ऋटु रषाणां मूर्धा'—मूर्धापर ज़ोर पड़ता है। अक्षरोंके उच्चारणके स्थान बने हुए हैं। उन-उन स्थानोंमें जब हम प्राण वायुके द्वारा जोर लगाते हैं तो उन-उन अक्षरोंका—शब्दोंका उच्चारण होता है। सब जगह शब्द होता है—वह व्यापक है। यह परमात्मा है।

प्राणीमें पौरुषका निवास है। आप चींटीको देखते हैं, जानते हैं—उसका एक उदाहरण लीजिए। उसको पता लग जाय कि कहीं गुड़ है तो वह छेद करके वहाँ पहुँच जाती है। एक बार कमरेमें मेजके नीचे पाँवदानके पास पानी रख दिया और मेजपर मिठाई। चींटियाँ कमरेकी छतपर चढ़ गयीं। बल्बका तार जहाँसे लटक रहा था उसपर उन्होंने अपनी लाइन लगा दी। वहाँसे सीधे मिठाईमें टपकने लगीं।

एक जगह मैंने देखा—चिंतपूरणीमें चटाई बिछाकर पड़ा था। सामने एक कीड़ा मर गया था। चींटियोंने उसे घसीटना शुरू किया। सैकड़ों लग गयीं। कुछकी बिल ऊपर थी दीवालमें। कुछ चाहती थीं उसे नीचे ले जाना, कुछ ऊपरवाले अपने घरमें। यह रस्साकशी बहुत देरतक चली। ऊपरवाली जबर्दस्त निकलीं—खींचकर ले गयीं। किन्तु उनके बिलका मुँह छोटा था, कीड़ा बड़ा था—अब वह उसमें कैसे घुसे? चींटियोंका झुण्ड दो भागमें बँट गया। एक दलने उसे पकड़ रखा और दूसरेने धीरे-धीरे उसका टुकड़ा करना शुरू किया। इस प्रकार उस बिलमें वे ले गयीं।

यह पौरुष चींटीमें कहाँसे आया? यह बुद्धि चींटीको किसने दी? किसी महात्मासे पूछो तो वह कहेगा—यह 'वही है।' **पौरुषं नृषु।** सबके भीतर वही है। वही बौद्ध पुरुषार्थ है। वही मानस पुरुषार्थ है। वही शारीरिक पुरुषार्थ है। यह जो सोचते हैं, यह काम हमने किया तो यदि उसकी सत्ता न हो, उसका ज्ञान न हो, उसकी प्रेरणा न हो तो मनुष्य कोई काम नहीं कर सकता। **पौरुषं नृषु।**

पुण्योगन्धः पृथिव्यां च—पृथिवीमें एक संसर्गज गन्ध होती है—किसी चीजके मिश्रणसे। मनुष्यके पेटमें जाकर सभी चीजें गन्दी हो जाती हैं। गन्दगीका खजाना पृथिवी नहीं है, गन्दगीका खजाना प्राणीका शरीर है। जो चीज शरीरमें-से निकलती है—चाहे बाल हों, चाहे कीचड़ आँखमें-से निकले, चाहे नाकमें-से,

बलगम निकले, दाँतके चप्पड़ छूटें या शरीरका पसीना निकले, मल-मूत्र निकले, पीव निकले, रक्तस्राव हो सब शरीरसे बाहर होते ही गन्दा है। शरीरसे अलगाव गन्दगीका साम्राज्य। बहिर्मुखता ही गन्दी चीज है।

पुण्योगन्धः पृथिव्यां च। पृथिवीमें जो पृथिवीकी स्वाभाविक गन्ध है उसको पुण्यगन्ध बोलते हैं। जो मिलावटी गन्ध होती है उसे पुण्यगन्ध नहीं बोलते। आषाढ़ मासकी जो पहली-पहली वर्षा होती है—तब धरतीसे एक सुगन्ध निकलती है, उसे सूँघकर हाथी मतवाला हो जाता है। वह गन्ध ईश्वरकी है।

सर्वगन्धाः सर्वरसाः। श्रुतिमें वर्णन आता है सारे गन्ध, सारे रस उसके (ईश्वरके) हैं। **पुण्योगन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ**। अग्नि क्या है? तैजस तन्मात्रा। यदि तेज न हो तो राख है। राखके ढेरका नाम तेज नहीं। अग्निमें तेज कहाँसे आया? अग्निमें तेजके रूपमें परमात्मा है। चिन्गारियोंको मत देखो, ईन्धनको मत देखो। सूर्यका आकार, चन्द्रमाका आकार मत देखो। आकारनिरपेक्ष जो तेज है उसका नाम तत्त्व है। **अनारोपिताकारं नाम तत्त्वम्।**

जब सोनेमें आकार बना दिया—यह कंगन है, यह कर्णफूल है, यह हार है, यह अंगूठी है तो इसमें आकारका आरोप हो गया। बिना आकारका सोना क्या है? जब अपनेसे अलग मालूम पड़ेगा सोना तो उसमें आकार जरूर होगा। जब सोनेका आकार दिखता है तब सोना अपनेसे अलग है। जब सोनेमें आकार नहीं है तो स्वर्ण कल्पनाका जो अधिष्ठान है वही स्वर्णाकार होकर भास रहा है।

जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु। 7.9
बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्॥ 7.10

जिस तपस्याके कारण तपस्वी तपस्वी बना हुआ है, जिस जीवनके कारण हम जीवनधारी बने हुए हैं, वह जीवन, वह तप परमात्मा है। जीवन अलग-अलग होते हैं पर जीवन-सत्ता एक होती है। तपस्याएँ अलग-अलग होती हैं परन्तु उसमें तपस्तत्त्व एक होता है। यहाँतक कि सनातन बीज जिससे सबकी उत्पत्ति होती है वह परमात्मा है।

बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्। 7.10
बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्। 7.11

भगवान्ने बताया ये बुद्धिमान् लोग हैं। बुद्धिका कोई खजाना भी है कि बुद्धि ही बुद्धि है। एक बुद्धि बाहरकी चीजोंको देख-देखकर भीतर आती है। और एक बुद्धि होती है जो बाहरकी चीजोंको ग्रहण किये बिना भीतर जो ज्ञानस्वरूप, बोधस्वरूप परमात्मा है, वहाँसे प्रकट होती है। अलग-अलग बुद्धिमान्। कोई शब्द-सौंढ होता है, कोई गन्ध सौंढ होता है, कोई रूप सौंढ होता है अलग-अलग होते हैं। ऐसी सूँड होती है जबर्दस्त।

भोज प्रबन्धमें वर्णन आता है—एक गन्धको पहचान लेता था। उसके सामने जब चावल परोसा गया तो उसने कहा—इसमें मुर्देकी गन्ध है। तलाशकी गयी। धान कहाँ पैदा हुआ? जिस खेतमें धान पैदा हुआ था उसमें जब धानके पौधोंकी रोपाई की गयी थी उसके पहले एक मुर्दा जलाया गया था। इसको गन्धसौंढ बोलते हैं। ढूँढो गन्ध कहाँसे आयी?

कोई स्पर्श-सौंढ होता है। एक सज्जन बहुत बढ़िया पलङ्गपर सुलाये गये। प्रात:काल बताया—नींद नहीं आयी। उसमें ऐसी कोई चीज थी जो शरीरमें गड़ रही थी। अब तलाश शुरू हुई—निकला विस्तरके नीचेके एक बाल। बोले यह गड़ रहा था।

सूक्ष्मतासे यदि अनुसन्धान करो तो सबका जीवन वही है। सबमें तेज वही है। 'बलं बलवतां' सबका बल वही है। दुनियामें जितना बल है वह सब परमेश्वरका बल है। ऊर्जा—उर्क वेदमें कहते हैं। उसमें भी वही है। कोई चीज रुकी हुई है, बिखर क्यों नहीं जाती? बिखरी हुई चीजमें भी—अणुमें भी बल कहाँ है? परमाणुको भी जब तोड़ते हैं तो उसमें-से कितनी शक्ति निकलती है? जिस शक्तिसे परमाणु-परमाणु बना हुआ है, अणु-अणु बना हुआ है वह बल किसका है?

हम तो छोटी-छोटी चीज देखकर उसीमें रह जाते हैं। यह बैटरीका बल्ब है। टार्च कैसे जलती है? बैटरीके बलसे। रेफ्रिजेटर कैसे ठण्डा होता है? पावर हाउससे बिजली आती है। छोटी-छोटी दृष्टि है। जो पूर्ण विश्वसृष्टिकी बिजली है, जिस ऊर्जामें प्रकृति काम करती है, जिस ऊर्जामें परमाणु काम करते हैं, जिस ऊर्जामें ब्रह्माण्ड काम करते हैं वह ऊर्जाका बल किसका है। वह हमारे अन्दर भी है। पर वह छिप जाता है, जब हम काम और रागसे आक्रान्त हो जाते हैं। काम और राग हमारे ऊपर चढ़ बैठते हैं।

काम क्या है? अप्राप्तकी प्राप्तिके लिए इच्छा। जो प्राप्त है वह बना रहे और आगे और-और मिले, इसका नाम होगा—राग एवं तृष्णा। यदि तुम परमात्माके बलको समझना चाहते हो—पहचानना चाहते हो तो आगे क्या चीज मिले इसपर-से अपनी नजर थोड़ी देरके लिए हटा दो। इससे आपका कोई नुकसान नहीं होगा। आपकी योजना कार्यान्वित हो, इसपर कोई आक्षेप नहीं है। केवल थोड़ी देर अपनी योजनाको आप अपनेसे अलग कर दीजिए। जो पाना चाहते हैं उससे अपने मनको—अपनी बुद्धिको हटा लीजिए। अपनी आत्माको उसके साथ मत मिलाइये।

आपके जीवनमें जो द्वन्द्व है, जो समस्याएँ हैं, जो उलझने हैं वे क्यों हैं? आपने अपनेको दो जगह कर लिया है! अपनेको फाड़ दिया है। आधा तो यहाँ है, आधा वहाँ है। यह चीज हमको मिलनी चाहिए। हमारे पास नहीं है। तो आप यहाँ खड़े हैं और वहाँकी चाहते हैं। इस रूपमें खड़े हैं और उस रूपको चाहते हैं। आपने अपनेको दो हिस्सोंमें बाँट दिया। 'काम'का यह काम है। यह मनुष्यको दो जगह कर देता है। एक मकानमें हैं—दूसरा मकान चाह रहे हैं।

जो चीज है वह आगे भी बनी रहे यह है तृष्णा। तृष्णा माने पिपासा—प्यास। कभी न बुझनेवाली प्यास। आदमी चाहता है कि सारी दुनियाको हम अपनी जेबमें रख लें। यह झगड़ा भी रहेगा कि यह तुम्हारी जेबमें न रहे हमारी जेबमें रहे। भाई-भाईमें झगड़ा होता है। बाप-बेटेमें झगड़ा होता है। पति-पत्नीमें झगड़ा होता है। ये लड़ाई-झगड़े तृष्णासे आते हैं। प्यास बड़ी है और एक-एक आदमीकी प्यास बुझाने लायक वस्तुएँ संसारमें नहीं हैं।

यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवस्त्रियः।
नालमेतस्य तृप्त्यर्थं इति मत्वा शमं व्रजेत्॥

दुनियामें जितना धन-धान्य है, जितना सोना है, जितने हाथी-घोड़े हैं, जितने स्त्री-पुरुष हैं, एककी तृप्तिके लिए भी वे पर्याप्त नहीं हैं। प्यास बढ़ती जाती है।

न जातु कामः कामानां उपभोगेन शाम्यति।

यह मनुजीकी सम्मति है। आगमें घी डालनेसे वह नहीं बुझती। आगमें घीकी आहुति देते जाओ वह बढ़ती जायेगी। दशवाला सौ चाहता है, सौवाला हजार चाहता है, हजारवाला लाख चाहता है। तृष्णाका अन्त नहीं है।

बल तो भगवान् है अपने अन्दर, परन्तु वह चाहनेवाले बल नहीं, वह रखनेवाला बल नहीं। वह प्यासवाला बल नहीं। एक बार प्यास छोड़ो, रखनेका मोह छोड़ो और चाह छोड़ो। देखो, तुम्हारे अन्दर छोड़नेसे जो बल प्रकट होता है उसे अनुभव करो, जो ग्रहण करनेसे बल प्रकट होता है उसे मत देखो। त्यागसे परमात्माका जो भीतर बल है वह प्रगट होता है। ग्रहण करनेसे अपना बल, परमात्माका बल बँट जाता है। आप जीव हो जाते हैं, संसार संसार हो जाता है। संसारको पकड़नेका बल अन्य खर्च न करें तो आप जीव नहीं परमेश्वरसे एक हो जायेंगे।

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ॥ 7.11

बोले—भाई, काम छोड़ दें—बिलकुल छोड़ दें तो निकम्मे हो जायेंगे। महाभारतमें एक प्रसङ्ग आता हे, यह मोक्षधर्म पर्वमें है—

अकामस्य क्रिया काचिद् विद्यते नैव कर्हिचित्।
यद् यद् हि कुरुते जन्तुः तत् तत् कामस्य चेष्टितम्॥

एक मङ्की नामके महात्मा थे। उन्होंने सोचा-खेती करें। दो बैल खरीद लिया। दोनोंको एक साथ जोड़ दिया कि ये दोनों कहीं भाग न जायँ। वे बैठ गये और जुगाली करने लगे। इसी बीच एक ऊँट आगया। ऊँटको आते देख वे खड़े हों तबतक वह इनके बीचके हिस्सेमें आगया। बैलोंको बाँधनेवाली रस्सी उसके गलेमें लटक गयी। बैल दोनों टँग गये और मर गये। मङ्की ऋषिने गीताकी रचना की है उसे मङ्की-गीता बोलते हैं।

जैसे आदमीके गलेमें दोनों ओर मणि लटक रही है वैसे ही ऊँटके गलेमें मेरे दोनों बैल लटक रहे हैं। अब बोले खेती कैसे करोगे? बोले खेती खतम। एक कामना लेकर आये थे उसमें विघ्न पड़ गया।

ईश्वर कह रहा है—अब शान्त हो जाओ। कामके बिना क्रिया नहीं होती। जब कुछ पाना चाहते हैं तब कुछ करते हैं। सब-के-सब निकम्मे हो जायेंगे अगर कामना नहीं होगी। भगवान्ने कहा—नहीं-नहीं, कामके रूपमें मैं ही आता हूँ। यह पाना है इसलिए यह करना है। परन्तु यह कामना ऐसी होती है जैसे अपने हकके धनके लिए कामना हुई—दूसरेके हकके लिए नहीं। अपनी विवाहित स्त्रीके लिए कामना होगी—परस्त्रीके लिए नहीं। कामनाका जो संकोच है वह यह है कि गलत रास्तेपर कामना न जाये। धनके बारेमें न जाये, स्त्रीके बारेमें न जाये, कुर्सीके बारेमें न जाये।

धर्म माने अपने मनको धारण करनेवाली वस्तु। हम अपने मनको बुरी बात बोलनेसे रोक पाते हैं या नहीं। यदि आप गन्दी बात बोलनेसे जीभको रोक पाते हैं तो आपके अन्दर धर्म है। 'धारणात् धर्मः' झूठ मत बोलिए। बुरी बात मत बोलिए। अहित मत बोलिए। ज्यादा मत बोलिए, बेमौके मत बोलिए। आवश्यक हो तभी बोलिए।

बोलिये तो तब जब बोलिबेकी रीत जानो।

पाँवसे आप चलते हैं—उसके बारेमें भी सोच लीजिए। हाथसे आप काम करते हैं—उसके बारेमें भी आप सोच लीजिए। आँखसे आप देखते हैं—उसके बारेमें भी आप सोच लीजिए। आपका धर्म जाग रहा है या सो रहा है?

धारणात् धर्मः, धरति इति धर्मः, ध्रियते इति धर्मः। जो यज्ञ यागादिरूप धर्म किये जाते हैं वे जीवके द्वारा धारण किये जाते हैं। हम इतना दान करेंगे, हम इतना व्रत करेंगे, हम इतना नियम करेंगे। मनुष्य जिसको धारण करे उसका नाम धर्म नहीं। एक धर्मका संस्कार आपके भीतर है और वह 'धरति'—आपको रोककर रखता है। जहाँ पुलिस नहीं रहती है, जहाँ फौज नहीं रहती है, जहाँ कानूनका पालन करानेवाला कोई नहीं रहता है, जहाँ समाज नहीं रहता है, वहाँ आपके भीतर बैठा हुआ धर्म आपको धारण करता है।

एकको हम बोलते हैं कार्यधर्म, एकको बोलते हैं कारणधर्म। कार्यधर्मको हम धारण करते हैं और कारणधर्म हमको धारण करता है। **धर्मो रक्षति रक्षितः।** हम धर्मकी रक्षा करते हैं, धर्म हमारी रक्षा करता है। आपके मनमें काम करे परन्तु वह काम आपके काबूसे बाहर न हो, आपकी धारण शक्तिके अन्तर्गत हो। आप पाँव रोककर चलें। हाथ रोककर काम करें। जीभ रोककर बोलें। जो आवश्यक हो वह बोलें। जो आवश्यक हो वह करें। जहाँ नियन्त्रण नहीं है वहाँ आपके जीवनमें उच्छृङ्खलता आ जाती है। आप देखो भगवान् कहाँ है?

एक काम वह था जो शङ्करजीको विचलित करना चाहता था। देवताओंने इसे भेजा था। यदि वह विचारपूर्वक आता, प्रार्थनापूर्वक आता—'महेश, तारकासुरको मारना है, आप एक सन्तान पैदा कर दीजिए।' ऐसे नहीं आया।

भँवरे और भँवरी दोनों एक पुष्पपर बैठ गये और मधुपान करने लगे। हरिण अपने सींगसे हरिणीको खुजलाने लगा। काम आया। वह शङ्करजीको योगसे, समाधिसे विचलित करने आया। शङ्करजीकी आँख खुली।

क्रोधं प्रभो संभर संभरेति यावद् गिरः खे मरुतां चरन्ति।

देवता लोग हाथ जोड़कर बोले—महाराज ठहरिये, ठहरिये तबतक तो शङ्करजीके नेत्रकी आग कामको जलाने लगी। एक काम यह है जिसे शङ्करजी जलाते हैं। एक काम वह है जो श्रीकृष्ण भगवान्से रुक्मिणीमें प्रद्युम्नके रूपमें प्रकट होता है। एक काम है विचलित करनेवाला और एक काम है भगवान्का पुत्र—बेटा। बोले—'बेटा तो बाप ही है।' बाप ही बेटेके रूपमें आया है। वह ईश्वरका रूप है। परन्तु धर्मके विरुद्ध नहीं जाना चाहिए।

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ। 7.11

भगवान् कहते हैं भाव जितने हैं, सबमें मैं हूँ।

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥ 7.12

सूर्यकी रोशनीमें स्त्री-पुरुष सब दीख रहे हैं। परन्तु सूर्य तो नहीं कहता कि तुम बुरी नजरसे इसको देखो। सूर्य वस्तुको प्रकाशित करता है। सात्त्विक भाव, कभी दानका भाव आता है, कभी उदारताका भाव आता है, कभी दयाका भाव आता है। वह सब ईश्वरके प्रकाशमें प्रकाशित होता है। कभी राजस भाव आता है—भोग करो, संग्रह करो। तभी तामस भाव आता है—आलस्य है, निद्रा है, प्रमाद है। अन्त:करणमें ये भाव आते रहते हैं। इस भावोंमें हम बँध जाते हैं। ये सब भगवान्के प्रकाशमें आ रहे हैं, ठीक है परन्तु इनके साथ बँधना नहीं। सात्त्विकके प्रकाशमें प्रकाश ज्यादा है। राजसमें प्रकाश कम है। तामसमें प्रकाश नहीं है। परन्तु सब मालूम पड़ते हैं उसी आत्मरूप परमात्माके प्रकाशमें। इसलिए **मत्त एव तान्विद्धि**—सब मुझसे मालूम पड़ रहे हैं। उन भावोंमें मैं वह भाव नहीं हो जाता परन्तु वे भाव सब मुझमें रहते हैं।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥ 13.26

विनाशी पदार्थोंमें जो अविनाशीके रूपमें मौजूद है जो विषममें सम है। आपकी गिनती होती है विषम—एक, तीन, पाँच। उसमें सम क्या है? एक। यह दोमें भी है, तीनमें भी है। चारमें भी है, पाँचमें भी है। उसके बिना कोई गिनती नहीं होती। दोसे एक-एकको अलग कर लो यह दोनों एक परमात्मा हैं। एक-एक-एक तीनों परमात्मा हैं। संस्कृतमें एक-एक माने होता है—अनुपात। **एति अन्वेति इति एक:।** जो एकमें, दोमें, तीनमें, पाँचमें है वह एक है। आत्मासे सब प्रकारसे सिद्ध होता है। वह विषयमें सम है। वह अस्थिरमें स्थिर है। वह जगत्में परमेश्वर है। सारे पदार्थोंका तो हो रहा है विनाश, वह है अविनाशी। उस अविनाशीको देखो, उस परमात्माको देखो।

दुनिया क्या करती है, लोग क्या करते हैं? ये भावोंमें बँध जाते हैं। जो भाव आया—बह गये। एकने हमको बताया (जवान आदमी है)—मैंने सुन्दर वेषभूषामें एक स्त्रीको देखा—घूँघट काढ़े हुए थी। मैंने सोचा वह बहुत सुन्दर होगी। उसका पीछा किया। गन्दी बात हुई न! जब स्त्री समझ गयी कि यह मेरा पीछा कर रहा है तो वह घूँघट हटाकर खड़ी हो गयी। उसका मुँह चेचकके दागसे भरा था। मैं लौट आया। यह बाँधकर कौन ले गया? हम कामके साथ अपने आपको बाँध लेते हैं और उसके पीछे-पीछे जाते हैं। हम क्रोधके साथ अपनेको बाँध लेते हैं। जहाँ क्रोध जाता है वहाँ हम जाते हैं। मोहके साथ अपनेको बाँध लेते हैं। जहाँ मोह जाता है वहीं हम जाते हैं।

संसारमें दोष तीन ही होते हैं। गौतम मुनिने बड़ा विचार करके न्यायदर्शनमें यह निर्णय किया है। दु:ख क्यों होता है? शरीरमें अहं होनेसे। इसमें मैं कैसे हुआ? प्रवृत्ति, कर्मके अनुसार दोष क्या है? राग, द्वेष, मोहकी

राशि। दोषकी ये तीन राशि हैं। हम रागके साथ बँधे-बँधे डोल रहे हैं, मोहके साथ बँधे-बँधे डोल रहे हैं या द्वेषके साथ बँधे-बँधे डोल रहे हैं। काममें मुँह आगेको होता है, द्वेषमें मुँह पीछेको होता है। इसने हमारा यह नुकसान किया—पीछेकी ओर मुँह हो जाता है। जिससे डरते हैं, उससे द्वेष करते हैं। वह डरावना होता है। यह अपने दिलकी कमजोरी है कि यह फिर हमारा नुकसान करेगा। इसलिए द्वेष होता है। जो हमें मिला है वह हमारे पास बना रहे। यह मोह होता है। इस प्रकार राग, द्वेष, मोह ये तीन दोष होते हैं।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः। गुण माने रस्सी। यह तीन गुण हैं माने रस्सी हैं। ये घसीटकर हमें ले जाते हैं। सात्त्विक भाव, राजस भाव, तामस भाव वहाँ-वहाँ बाँधकर ले जाते हैं।

मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्। 7.13

इन तीनों भावोंसे परमात्मा परे है, यह बात मालूम नहीं पड़ती। परे माने आगे नहीं। कुछ जगह बोलते हैं उरला, परला। परला माने उधर। उरला माने इधर, अपने पास। छातीसे लगा हुआ। पर शब्दका अर्थ संस्कृतमें अपनी ओर होता है। यह संस्कृत भाषाकी विशेषता है।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु पराबुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥

पर माने पीछे। इन्द्रियोंसे पीछे तन्मात्रा है। तन्मात्राके पीछे मन है। मनसे पीछे बुद्धि है। बुद्धिसे पीछे अव्यक्त है। अव्यक्तसे पीछे अपनी आत्मा है। आत्माके पीछे और कुछ नहीं है। परे माने आसमानके पीछे—सिरेपर नहीं, धरतीके छोरपर नहीं। परे माने ये सब जहाँ पैदा हुए हैं, दिखायी नहीं पड़ रहे हैं—वहाँ। उस आत्माको पर बोलते हैं।

भगवान् कहाँ बैठे हैं? इन्द्रियोंके पीछे भी बैठे हैं। मनके पीछे भी बैठे हैं। लोग उसे पहचानते नहीं। उधर देखते ही नहीं, जिधर भगवान् हैं। उसे पहचान लो तो सब जगह पहचानमें आ जावेगा। यदि नहीं पहचानोगे तो कहीं भी नहीं पहचान सकोगे। अपने घरमें पारस पत्थर है उसे नहीं पहचानते। नदीके किनारे जाते हैं ढूँढ़ने, पहचानते तो हैं नहीं। नदीके किनारे पारस हो भी तो कैसे पहचानेंगे? घरमें सिल-बट्टा बना रक्खा है। वहाँ तो पहचानते नहीं तो यह जो अपने भीतर बैठा है, इसे बना दिया सिल-बट्टा और ढूँढ़ने जाते हैं।

मोको क्या तू ढूँढे बन्दे—मैं तो तेरे पास हूँ।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

प्रवचन : 5

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि यह संसारी जीव मोहित हो गया है। मोह माने बुद्धिका उलट जाना। मुह् वैचित्त्ये—चित्तका विपरीत होना। जो चीज जैसी है उसको वैसी न समझकर उससे उलटा समझना। चित्तकी विपरीतता क्या है?

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥ 7.13

इन तीन गुणोंको 'एभिः'से व्यक्त कर रहे हैं। 'एभिः' माने ये सबको दीखते हैं। सबको मालूम पड़ते हैं। क्या दीखता है? यह हड्डी, मांस, चामका तमोगुणी शरीर बना हुआ है। इसमें रजोगुणी क्रिया होती है। संसारका ज्ञान होता है। वह होता है सात्त्विक वृत्तियोंसे। द्रव्यका होना तामसी वृत्तियोंसे होता है। आत्मा इनसे परे है। उसपर इन गुणोंका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसलिए इनसे उसका कोई बन्धन नहीं होता। शरीर नहीं था तब भी आत्मा था। नहीं रहेगा तब भी आत्मा रहेगा। क्रिया होती है तब भी आत्मा है। नहीं होती है तब भी आत्मा है। वृत्तियाँ उठती हैं तब भी आत्मा है। नहीं उठती हैं तव भी आत्मा है।

एभ्यः परमव्ययम्—इसमें 'एभ्यः' शब्द दूसरी बार आया है। भगवान् इनसे परे हैं। आत्मा इनसे परे है। किन्तु मनुष्य इनमें फँस गया है। देह नहीं था अपनेको देह मानने लग गया। राग संसारसे उपसृष्ट वृत्ति है। हम मोहित क्या हो गये—बुद्धि ही उलट गयी—पक्षपात करके। किसीके प्रति राग करके दूसरेके प्रति क्रूरता करने लगते हैं। उसके प्रति इतना द्वेष कर लेते हैं कि दिल ही जलने लगता है। किसीके प्रति इतना मोह हुआ कि अच्छाई, बुराई, उचित, अनुचित सब भूल गया। यह है मोह जो त्रिगुणमय है। जैसे कोई रस्सी तिगुणी हो—तेहरा बटी हुई हो।

भली बावली बावरी सब कोई भर लेय।
भूप कूपकी एक गति गुन बिनु बूँद न देय॥

वह भोलीभाली बावली ही अच्छी है जिसमें-से जो चाहे पानी भर लावे। लेकिन भूप और कूपकी एक ही गति है कि 'गुन बिनु बूँद न देय।' रस्सी न हो, गुण न हो तो एक बूँद भी नहीं देते। संस्कृतमें 'गुण' माने रस्सी होता है। यह त्रिगुण हो तो पूछना ही क्या है? त्रिगुणित रस्सी बहुत मजबूत होती है। उसका बन्धन बहुत मजबूत होता है।

इस देहमें 'मैं', कर्ममें 'मैं', जानकारीमें 'मैं', विद्या—बुद्धिका 'मैं'—यह 'मैं' भी मोह है और क्रियाशीलताका अभिमान भी मोह है। देहका मोह भी अभिमान है। देहका अभिमान भी मोह है। इससे हुआ यह कि जो सबसे परे परमात्मा है वह यहीं इसी शरीरमें है और इस शरीरसे परे भी है। उसीकी वजहसे सारे काम होते हैं और वह सारे कामोंसे परे है। उसीसे सारी वृत्तियाँ होती हैं पर वह वृत्तियोंसे परे है। सतोगुणसे जागरण होता है। रजोगुणसे स्वप्न होता है। तमोगुणसे सुषुप्ति होती है। परन्तु परमात्मा इनसे जैसे परे है वैसे ही

त्रिगुणमय भावसे परमात्मा परे है। **नाभिजानाति**—परन्तु लोग उसे पहचानते नहीं। यह है भगवान्‌की माया। एक ही श्लोकमें 'माया' शब्दका दो बार प्रयोग हुआ है।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥ 7.14

एषा माया—यह माया है। माया माने जिससे परमात्मा संसारके रूपमें दीखने लगता है। **मीयते जगत् अनेन।** है तो परमात्मा परन्तु परमात्मा नहीं दीखता। जगत् दीखने लगता है। इसका नाम माया है।

मार्कण्डेयजीके सामने भगवान् प्रकट हुए। उनसे भगवान् बोले—'वर माँगो।' मार्कण्डेयजीने कहा—'प्रभो! आपको तो देख लिया, अब क्या माँगे?' 'कुछ तो माँगों'—भगवान्‌ने कहा। 'अच्छा, आपको देखा, आपकी माया नहीं देखी। वही दिखा दीजिये।' मार्कण्डेयजीने कहा।

मार्कण्डेयजी पुण्यभद्रा नदीके तटपर भजन करनेके लिए बैठे। देखा—बादल हो रहा है। तूफान आ रहा है। समुद्र उमड़ रहा है। लो सारी सृष्टिके प्रलय होनेकी तैयारी। घोर हाहाकार! घनघोर अन्धकार! फिर कुछ भी दीखता नहीं—शून्य शान्त! थोड़ी देरमें एक बड़का वृक्ष दीखा। महान् आश्चर्य! उसके पत्तेपर एक बालक। बालकको पाससे देखनेकी उत्कण्ठा हुई। पहुँच गये उसके निकट। निकट क्या पहुँचे—उसकी श्वाँसके साथ उसके भीतर चले गये। हजारों हजार ब्रह्माण्ड देख रहे हैं। हजारों हजार वर्ष बीत रहे हैं। विस्तृत पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर नीचेका दृश्य दीख रहा है। देख रहे हैं बड़ी भारी दुनिया। दीख रहे हैं अनन्त ब्रह्मा, विष्णु, महेश! और फिर श्वासके साथ धम्मसे बाहर। वही पुण्यभद्राका तट, हिमालयकी तहलटी और बैठकर भजन कर रहे हैं—मार्कण्डेयजी। घड़ी भरमें देखा सृष्टि और प्रलय। कोटि-कोटि कल्प। जन्म और मरण!

परन्तु यहाँ तो कुछ नहीं था। इस कुछ नहींमें देखा बहुत कुछ। यह दिखानेकी जो शक्ति है, उसे माया कहते हैं। जहाँ कुछ नहीं, वहाँ सब कुछ दिखा दे उसका नाम है माया। नारदजीको अभिमान हुआ कि मैं कामविजयी हूँ। सात्त्विक अभिमान था। उन्होंने क्या देखा? एक सुन्दर नगरी। एक राजा है, उसकी सुन्दरी राजकुमारी है। स्वयंवर हो रहा है। लड़कीपर नारदजी मुग्ध हो गये। इस लड़कीसे तो हम ब्याह करेंगे। सुन्दर रूप माँगकर आये तो मिल गया बन्दरका रूप!

अन्तमें कुछं नहीं, न नगर, न राजा, न राजकुमारी। कुछ भी नहीं। इसीका नाम है माया।

एक पुरञ्जनोपाख्यान है श्रीमद्भागवतमें। पुरञ्जनने देखा—लाखों वर्ष, अनन्त वंश-विस्तार। एक नहीं कई जन्म। वह सब क्या था? अविज्ञात सखाका ईश्वरसे बिछुड़ जानेका परिणाम। हो कुछ नहीं मालूम पड़े सब कुछ। इसीको कहते हैं—माया।

एक बार नारदजीने कहा कि—'भगवन्! हमें माया दिखाइये।' अब यात्रा आरम्भ हुई। आगे-आगे भगवान् विष्णु पीछे-पीछे नारदजी। विष्णु भगवान्‌ने थोड़ी देर बाद कहा—मुझे प्यास लगी है। यह माया है—विष्णु भगवान्‌को प्यास नहीं लगती। बिना प्यासके ही प्यास आगयी। नारदजी बोले अभी जल लाता हूँ।

नारदजीको पास ही नदी मिल गयी। नदीके सौन्दर्यने उन्हें आकर्षित किया। उतर पड़े स्नान करने। स्नान करके बाहर आये नारदसे हो गये नारदी। राजकुमार मिल गया। ब्याह हो गया। बच्चे-कच्चे हो गये। पति मर गया। नारदी रो रही है। विष्णु भगवान् आगये। अरे! नारद तुम पानी लेने गये थे कहाँ चले गये? नारदको आयी शर्म कूद पड़े पानीमें और नारदीसे नारद होकर निकले। अब देखो न वहाँ नदी थी, न ब्याह हुआ, न पैदा हुए बच्चे!

योगवासिष्ठमें ऐसी बहुत-सी कथाएँ हैं। मायाका जो आश्रय होता है वह उससे मोहित नहीं होता। जो अविद्याका आश्रय होता है वह उससे मोहित हो जाता है। अविद्या जिसके मनमें आती है उसको मोहित कर लेती है। जो माया दिखानेवाला मायाका आश्रय है वह मोहित नहीं होता। माया देखनेवाला मोहित होता है। अविद्या रखनेवाला मोहित होता है। यह अविद्या और मायाका भेद है।

माया जब भगवान्‌की विद्या देती है तब मनुष्य मुक्त हो जाता है। जब माया अविद्या देती है तब मनुष्य बद्ध हो जाता है। सब ख्याल ही है। मनुष्य अपने ख्यालसे, कल्पनासे ही बँधा हुआ है। इससे पार जानेका उपाय क्या है?

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥ 7.14

एक मछुआ जाल फैलाकर समुद्रमें मछलियाँ पकड़ रहा है! कौन-सी मछली बचे? जो उस मछुएके पाँवके पास चली जाय। वह अपना पाँव जालमें तो रखेगा नहीं? सृष्टि-व्यवहारके लिए भगवान्‌ने एक माया फैला रखी है। आप सभी गृहस्थ हैं, कुछ साधु हैं। एक सत्यपर आप ध्यान दें। बुरा न मानें। क्या कोई भी व्यक्ति अपने साथवालेके प्रति सर्वथा ईमानदार और सच्चा होता है? क्या माँ अपने बेटेसे जीवनकी सब बातें कह देती है? बेटा अपने जीवनकी सब बातें माँसे बोलता है? क्या पति-पत्नी एक दूसरेकी पूरी बात एक दूसरेको बताते हैं?

इस सृष्टिमें थोड़ा कूट है। थोड़ी माया है। थोड़ा कपट है। थोड़ा छल है। यह है तो थोड़ा तीक्ष्ण, भयंकर सत्य। कौन अपने मनको पूरी तरहसे संसारमें दूसरेके सामने खोलता है। बाप-बेटे, भाई-भाई, पति-पत्नी, बहन-बहन, मित्र-मित्र—क्या अपना दिल पूरा-का-पूरा किसी एक दूसरेके सामने खोलकर रख देते हैं! यह कपटका कपाट है। यह संसारमें अपना काम करता ही रहता है। यही इस दुनियाकी चमक है। चकाचौंध है, यह खेल हो रहा है।

यदि आप लोगोंमें-से ऐसे कोई हों, जो एक दूसरेके प्रति सर्वथा बिना कुछ छिपाये, बिना कुछ कपट-छलके करते हों तो धन्य हैं, आप नारायणके स्वरूप हैं—चतुर्भुज हैं। आप मायासे मोहित नहीं हैं। आप धन्य और मान्य हैं।

देखें, माया माने कपट, छल, कूट, झूठ—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।

'एषा'का अर्थ है अपने दिलमें है। साक्षात् अपरोक्ष है। **अहं परमात्मानं न जानामि। अहं मां न जानामि। अहं त्वां न जानामि।**—एषा। यह आपके दिलमें ही अज्ञानके रूपमें है। सच पूछो तो यह कणके सम्बन्धमें भी है। एक तृणकी ऐसी माया है—आप एक तृणमें क्या देखते हैं? आप समूचे तृणको—कणको देखते हैं। अद्भुत है! उसका रूप। देखते हैं—यह पीला है, यह काला है, यह नीला है। उसमें जो गन्ध है, उसे भी नाकसे सूँघकर मालूम कर सकते हैं। गन्ध तो गुण है, रूप भी गुण है, उसमें जो स्वाद है वह उसका गुण है, उसमें जो स्पर्श है वह उसका गुण है। उसमें कोई ध्वनि भी हो रही हो तो वह भी उसका गुण है।

तो वस्तु क्या है? हम न उसके देशको जानते हैं, न कालको, न उसके स्वरूपको जानते हैं। यह तो इन्द्रियायन सृष्टि है—यह कामायनी सृष्टि है। जिसकी जिसके प्रति कामना है उसको वह अच्छा लगता है। जिसका जिसके प्रति द्वेष है वह उसको बुरा लगता है। दिलमें द्वेष होता है। दिलमें राग होता है। राग हुआ तो अच्छा। जिससे प्रेम होता है वह दूधका धुला होता है और जिनसे द्वेष है वह अच्छा भी हो तो उसकी निन्दा करते हैं। वस्तुओंकी, इन्द्रियोंकी भी पार्टीबन्दी होती है। मनकी भी पार्टीबन्दी होती है।

दैवी ह्येषा गुणमयी—दैवी माने ईश्वरका खेल। भगवान् देखते हैं और कहते हैं—देखो, तुम हमारी मायाके सामने हार रहे हो। अभिमान मत करो। बिना मायाके व्यवहार चलता ही नहीं। यह व्यवहारकी चमक है। यह व्यवहारकी तारीफ है। यह व्यवहारका सुख है। यह व्यवहारका नशा है। यह व्यवहारकी चाल है। यह माया दैवी है—ईश्वरीय है।

दिवु क्रीडाजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु।

यह एक सपना है, माया है। माया माने सपना। सपना है यह और प्रत्यक्ष है।

दैवी ह्येषा गुणमयी—यह बाँधती है। बिना रस्सीके बाँधती है। एक चीज देख लेते हैं। आँखसे देखते हैं। बहुत बढ़िया—मन बँध जाता है। कोई गन्दी चीज देखते हैं। ऐसी मनमें भर जाती है कि कई दिन बाद भी याद आती है। छः महीने छः वर्ष बाद भी गन्दगी याद आती है। अच्छाई याद आती है। उसने हमारे मनको बाँध लिया और इसके पास जाना बहुत मुश्किल। **मम माया दुरत्यया।** इसका मालिक मैं हूँ। यह माया मेरी है—और इसको पार पाना बहुत कठिन है। कभी-कभी सच्चाईपर भी ध्यान तो देना चाहिए। सत्यकी बिल्कुल उपेक्षा करके कोई सत्य-जीवन कैसे व्यतीत कर सकता है? सच्चाईकी उपेक्षा करते हैं। आप रागके रंगमें रँगकर दुनियाको देखते हैं। आप द्वेषके रंगमें रँगकर दुनियाको देखते हैं। तो दुनियाकी असलियत कहाँसे दिखायी पड़ेगी?

जो आपके दुश्मन नहीं है—द्वेषके कारण आप उनको दुश्मन मानते हैं, हितैषीको दुश्मन मानते हैं। जो आपका प्रिय नहीं है, हितैषी नहीं है—अपने रागके कारण उसे हितैषी मान लेते हैं। वह आपको धोखा देता है। मोहमें ऐसे फँसे हैं कि आस-पासको छोड़कर कुछ थोड़ा दूरतक सोच ही नहीं सकते। दुरत्यय—जैसे समुद्रको पार करना मुश्किल है वैसे इस मायाको पार करना भी बहुत मुश्किल है। ऐसे फँसे हैं, ऐसे फँसे हैं बच्चू कि छूटनेका कोई ढंग ही नहीं है। इससे छूटनेका एक उपाय है।

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।

पहिले चक्कीमें दाल पीसते थे, गेहूँ पीसते थे, अब तो सब बिजलीसे काम होता है—उस समय ऐसा देखनेमें आता था कि गेहूँमें या दालमें कोई घुन हो और पीसने लगे तो वह घुन सरककर कीलके पास चला गया जो कीलके पास चला गया वह पिसनेसे बच गया। वह जिन्दा रहता था। वह ऊपर चढ़कर निकल आता था। इस संसारकी धुरी है परमेश्वर। इस संसारकी कील है परमेश्वर।

मामेव ये प्रपद्यन्ते। इधरसे उदासीन हो गये। इधरसे उपेक्षा हो गयी। अपेक्षामें अन्धापन है और उपेक्षामें दृष्टि है। अपेक्षा माने हम किसीको चाहते हैं। चाहते हैं तो हमारी नजर उसपर बँध जाती है। उपेक्षासे देखते चलो। बड़ा बाजारमें हजारों आदमी, हजारों मोटरें आपके सामनेसे निकल जायेंगी। आपके मनपर उनका कोई संस्कार नहीं पड़ेगा। क्योंकि उपेक्षा दृष्टिसे देखते हैं। लेकिन कोई यार मिल जाय तो अपेक्षा हो गयी। फिर मिलेंगे। ट्रेनमें मिल जाते हैं। प्लेनमें मिल जाते हैं। यह तो बहुत बढ़िया है। इनसे फिर मिलेंगे। अपेक्षा होनेपर हम अपनेको भूल जाते हैं और उपेक्षा होनेपर वह हमारे मनपर कोई संस्कार नहीं डालता।

कहीं न फँसें इसके लिए युक्ति क्या है? यह कि एकसे फँस जायें। एकसे फँस जाओ—यह धर्म है। एक स्त्रीका एक पुरुषसे—एक पुरुषका एक स्त्रीसे विवाह हो गया। धर्मबन्धन हो गया। दूसरी स्त्री या पुरुषके लिए दम्पत्तीका भाव, पति-पत्निका भाव समाप्त हो गया। यहाँसे धर्म प्रारम्भ होता है और आप सारी सृष्टिसे छूटना चाहें तो परमेश्वरसे फँस जाओ।

मामेव ये प्रपद्यन्ते। एव शब्दका अर्थ है परमेश्वरके सिवाय और किसीकी प्रपत्ति न हो। प्रपदन—प्रपत्ति—जैसे पाँव पकड़ लिया। ऐसा भी वर्णन आता है—एक बार गरुड़पर चढ़कर भगवान् आये। किसीको दर्शन दिया, जब वे गरुड़पर चढ़कर उड़कर वैकुण्ठ जाने लगे तो उसने गरुड़का पाँव ही पकड़ लिया। भगवान्के पाँव लटकते थे—उनका पाँव पकड़ लिया। अब पाँव पकड़ लिया तो उनके साथ वैकुण्ठमें चला गया। **मामेव ये प्रपद्यन्ते।** पाँवके निचले हिस्सेको संस्कृतमें बोलते हैं तल और ऊपरी हिस्सेको बोलते हैं प्रपद। अपनी ओरसे भगवान्के चरणको पकड़ लो। हम तो इन्हींसे प्रेम करेंगे। परन्तु **मामेव**—इसमें शर्त क्या है? थोड़ा इनसे, थोड़ा उनसे नहीं। थोड़ी पुलिसकी शरणागति है, थोड़ी टैक्सवालेकी शरणागति है। थोड़ी मिनिस्टरकी शरणागति है। ऐसे शरणागति बाँटनेसे काम नहीं चलेगा।

मामेव ये प्रपद्यन्ते। एकमात्र प्रभु ही हमारे शरण हैं। इसमें अपनी बुद्धि और अपनी युक्तिकी भी शरण नहीं है। हम अपनी अकलसे यह काम बना लेंगे। अपनी विद्यासे यह काम बना लेंगे। अपने प्रभावसे यह काम बना लेंगे। ऐसा नहीं। सर्वथा प्रभुके प्रति शरणागत हो जाना चाहिए। हीनके प्रति शरणागति सफल नहीं होती। विभीषणकी शरणागति थी भगवान्के प्रति। वह सफल हुआ। विभीषणने सोचा कि शरणागतिमें ही सफलता है। भगवान्को भूल गया। वह बोला रामचन्द्र! प्रभु आप समुद्रकी शरण लीजिये, आपका काम बन जायेगा। शरणागतिकी महिमा तो विभीषणके मनमें आगयी थी। लेकिन रामकी शरणमें हम हुए तब हमारा काम बना, यह बात बिसर गयी। भगवान् रामचन्द्रने कहा—पहले पहल यह हमारी शरणमें आया है और मन्त्रणा है

इसकी, नहीं मानेंगे तो यह कहेगा हमारी नहीं मानते हैं तो कहीं हमें रावणका आदमी न समझ लें, तब मान लिया। परन्तु समुद्र है जड़—

बिनय न मानत जलधि जड़

हीन की शरणागति सफल नहीं होती। कैकेयीने मन्थराकी शरण ली। न भरतको राज्य मिला, न उसके पति जीवित रहे। नीचकी शरणागति नहीं लेनी चाहिए। दशरथने कैकेयीकी शरणागति ग्रहण कर ली कि जो तू कहे सो करेंगे।

मामेभ्यः परमव्ययम्। भगवान्‌की शरण लो। **शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।** मैं तुम्हारी शरणमें हूँ। मैं तुम्हारे उपदेशके योग्य हूँ। ईश्वरकी जो शरण लेता है वह संसारकी शरण नहीं लेता। निषेधात्मक दृष्टिसे देखो तो संसारमें किसी वस्तुकी शरण नहीं है। यदि हम सोना, चाँदी, हीरे, मोतीके बिना नहीं रह सकते तो यह वस्तुकी शरणागति है। हम यह खाये-पीये बिना नहीं रह सकते तो यह भोगकी शरणागति है। ऐसे कपड़ेके बिना नहीं रह सकते तो यह कर्मकी शरणागति है। हम यह किये बिना नहीं रह सकते तो हम कपड़ेकी शरणमें तो हुए! शरणागति होनी चाहिए परमेश्वरकी।

अकिञ्चनो न अन्यगतिः। यह शरणागतिका मन्त्र है। मेरे पास दूसरी कोई वस्तु नहीं है और दूसरेका सहारा नहीं है। हमारे पास इतना धन है। एकने हमको बताया था कि उनके घरमें जैसे—गेहूँ, चावलकी ढेर लगती है—वैसे हीरे-मोतीके ढेर लगते थे। पर वे उनकी रक्षा नहीं कर सके। उनके पास महल था, किला था—सेना थी—वह उनकी रक्षा नहीं कर सका। रक्षाके लिए अकिञ्चन और अनन्यगति चाहिए।

द्रौपदीने युधिष्ठिरसे नहीं कहा कि हमारी रक्षा करो, अर्जुनसे, भीमसे भीष्मसे नहीं कहा कि हमारी रक्षा करो। उसने तो कहा कि हे प्रभु! तुम हमारी रक्षा करो। दूसरेका सहारा नहीं है और अपना बल नहीं है। अपने पास भी कुछ नहीं है और दूसरेसे भी कोई आशा नहीं है।

मामेव ये प्रपद्यन्ते। 'प्रपद्यन्ते'का अर्थ वेदान्ती लोग करते हैं कि यह दुनिया नहीं है—परमेश्वर है। जिसको हम देख रहे हैं—वह स्त्री है, वे पुत्र है, ये भाई हैं। वह भी ये नहीं—उनमें भी बैठकर परमेश्वर हमारी रक्षा करते हैं। यदि वे भी रक्षा करते हैं तो उनके भीतर बैठा हुआ परमेश्वर हमारी रक्षा करते हैं।

मायामेतां तरन्ति ते। मायाके पार हो जाते हैं। **तरति शोकं।** 'तरति' माने पर हो जाना। अपनी नजरको पार कर लो। मायाको चीरकर उसमें जो मायाका परदा ओढ़कर परमेश्वर बैठा है उसको देख लो—बस पार हो गये।

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥ 7.15॥
चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥ 7.16॥

भगवान्‌की शरण कौन नहीं लेते? 'दुष्कृतिनः'। उनके पूर्व जन्मके, इस जन्मके पाप उनके दिमागमें

छाये हुए हैं। 'दुष्कृतः अस्ति येषां इति दुष्कृतिनः' दुष्कृत है। बुरे-बुरे काम किये हैं। चोर मालिकके सामने जानेमें डरता है। कैसे जावे? वे तो ये भी नहीं हैं, वे समझते हैं—हम बुरा काम करेंगे तो हमारी रक्षा हो जायेगी। 'मूढाः'—मूढ हैं और सचमुच उन्हें मनुष्यत्व ही प्राप्त नहीं है। मनुष्य हुए परन्तु समझदार नहीं हुए. मूढ हुए और मूढ होने पर भी पुण्यात्मा नहीं रहे। पापी हो गये। और 'आसुरं भावमाश्रिताः' उनके मनमें आसुरभाव आगया। आसुर भाव क्या होता है। असुषु रमन्ते। बस खाओ, पीओ, मौज उड़ाओ—इतनी ही दुनिया है और कुछ नहीं है। ऐसे लोग भगवान्‌की शरण नहीं लेते। भगवान्‌की शरण लेनेमें बाधा क्या है? अपना पाप—अपनी मूढ़ता।

ऐसी मूढता या मनकी।

परिहरि राम भगिति सुर सरिता आस करत ओसकणकी।

ऐसी मूढ़ता छायी हुई है। मूढ माने अटक गया—इसके बिना नहीं—इसके बिना नहीं। जरा लिस्ट बनाकर एक दिन देखो कि किन-किन चीजोंके बिना तुम नहीं रह सकते। ऐसा निकलेगा—ऐसा जूता न हो तो हमारी इज्जत नहीं बनेगी। ऐसा कपड़ा नहीं होगा तो हम समाजमें कैसे जावेंगे? और कपड़े मैच करनेवाली बिन्दी नहीं होगी तो कैसे जावेंगे? क्या क्या चाहिए? ऐसा खानेको चाहिए—ऐसा पीनेको चाहिए अर्थात् तुम अपने महत्त्वको भूल गये। इन सब चीजोंमें महत्त्व आगया। ईश्वरके महत्त्वको भूल गये। ऐसी मूढता या मनकी!

मैंने ऐसे सुना कि एक महिला थीं। उन्होंने देवताकी आराधना की और देवता प्रसन्न हुआ बोला कि देव जी आप वर माँगिये। उन्होंने कहा कि हमको वर तो नहीं चाहिए, आप जो चाहें दे दीजिए। उस देवताने कहा—अच्छा, आप और सुन्दर हो जायँ। तब उसने डाँट लगायी कि आप मुझे अभी कुरूप समझते हैं कि मुझे और सुन्दरता दे रहे हैं? आप देखो, बिना ऐसा श्रृंगार किये हम सुन्दर नहीं होंगे। बिना स्नो, पाउडर लगाये हम सुन्दर नहीं होंगे। ऐसा लिपस्टिक लगाये बिना सुन्दर नहीं होंगे। इसका अर्थ है कि स्वयंमें तो आप असुन्दर हैं। ऊपरसे जेवर, साड़ी, पाउडर, लिपस्टिक लगाकर आप सुन्दर बनते हैं। स्वयंमें असुन्दर हैं। आपमें तो कुछ है ही नहीं। जब बाहरकी चीज आती है तब आप सुन्दर बनते हैं। जो अपने भीतर परमात्माका गौरव है उसे भूल गये!

अपने भीतर परमात्मा है, आत्मा है, हम हैं यह सबसे बड़ी चीज है। हम होश-हवाशमें हैं, यह सबसे बड़ी चीज है। हम बिना किसी चीजके आनन्दमें रहते हैं, यह सबसे बड़ी चीज है। हम अपनेमें ही तृप्त रहते हैं, यह सबसे बड़ी चीज है। **स्वातन्त्र्यं परमं सुखम्।** स्वतन्त्रताका परम सुख है। आप तो पराधीन होकर सुख मानते हैं। इसका नाम है मूढता। दुष्कृती, मूढ नराधम और आसुर भावके आश्रित। असुषु रमन्ते अर्थात् इन्द्रियोंमें रम गये। अब देखो, चार गाली दे दी।

भगवान् रामचन्द्रके मुँहसे ऐसी बात नहीं निकलती। वे राजा महाराजा हैं न! राजकुमार हैं। उनकी कम्पनी पहलेसे ही अच्छी रही है। और श्रीकृष्णको तो ग्वालोंकी कम्पनी मिली। वे तो साले कहकर बोलते एक दूसरेको। इसलिए चार गाली दी। **दुष्कृतिनो मूढ़ा नराधमाः आसुरं भावमाश्रिता**—ये परमेश्वरकी शरण

नहीं लेते। परन्तु पुण्यात्मा लोग जो हैं—**सुकृतिनः** जो सुकृती हैं, वे परमेश्वरकी शरण ग्रहण करते हैं। यह पुण्यात्माकी पहचान है।

पुण्यात्मा भगवान्के भरोसे काम करते हैं। भगवान्की शरण लेते हैं। वे अपने बाहुबलसे भी काम नहीं करते, दूसरेके भरोसे भी काम नहीं करते, अपनी धन-सम्पदाके भरोसे भी काम नहीं करते हैं। अपने नौकर-चाकरके भरोसे भी काम नहीं करते। परमेश्वरके बलपर काम करते हैं। उनको बल है तो परमेश्वरका।

दुनियामें जितना बल है, परमेश्वरसे प्राप्त होता है और वह आपको छोड़कर कभी कहीं नहीं जाता। आपके दिलमें रहता है। 'नारायण' उसका नाम है। नरके हृदयका नाम है नार। नार माने नरका हृदय वह है अयन—माने निवास-स्थान जिसका! आपका हृदय ही नारायण है। नारायण माने आपके हृदयमें रहनेवाली वस्तु सोते समय भी आपको छोड़कर नहीं जाता। सोते समय अगर वह छोड़कर चला जाये तो साँस भी आपको छोड़कर चली जायेगी। फिर लौटनेवाला होश भी आपको छोड़कर चला जायगा। सुषुप्ति भी चली जायेगी।

वह आपके हृदयमें रहता है। वह एक पलके लिए भी नहीं छोड़ता। आप ध्यान दें थोड़ा! आप उसकी गोदमें बैठे हैं। सारी सृष्टि परमेश्वरकी गोदमें एक कणके समान है और उसमें आपका शरीर भी है। आप उसीके सहारे तो बैठे हुए हैं। आप उसीमें चलते हैं। उसीमें बोलते हैं। उसीमें खाते हैं। उसीमें पीते हैं। उसीमें सोते, जागते हैं। उसीमें सोचते हैं। आपकी साँस उसीकी साँसमें चलती है। यह वायु उसकी साँस है। उसीकी रोशनीमें देखते हैं। यह सूर्य, चन्द्रमा उसकी आँख हैं।

वह आपको एक क्षणके लिए भी नहीं छोड़ता। आप उसको भूल जाते हैं। वह आपको नहीं भूलता। आप उससे प्यार नहीं करते हैं, पर वह आपसे प्यार करता है। आप उसे नहीं देखते हैं, परन्तु वह आपको देखता है।

सुकृतिनः जो पुण्यात्मा होते हैं उनका परदा जरा झीना होता है, वे परमात्माको देख लेते हैं। चार रीति बतायी—**आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।** यह मत समझो कि भगवान् मोक्ष ही देते हैं। भगवान् सब कुछ देते हैं। धन चाहनेवालेको धन देते हैं। जो अपना दुःख-निवारण चाहते हैं उसका दुःख निवारण करते हैं। जो उनका ज्ञान चाहता है उसको ज्ञान देते हैं और जो उसके अनुभवमें मग्न रहना चाहता है, उसको अनुभवमें मग्न कर देते हैं।

आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी। आप थोड़ी देरके लिए व्रजभूमिमें चले चलिए। शरीर आपका यहीं रहे। शरीरसे आप कलकत्ता मत छोड़िए। मनसे देखिए व्रजका एक दृश्य। श्रीकृष्णके बिना गोपियाँ व्याकुल हो गयीं।

अन्तर्हिते भगवति सहसैव व्रजाङ्गनाः।
अतप्यंस्तमचक्षाणाः करिण्य इव यूथपम्॥ —श्रीमद्भा० 10.30.1

जैसे हाथीका राजा हथिनियोंको छोड़कर चला जाय तब वे जैसे व्याकुल हो जाती हैं वैसे श्रीकृष्णके बिना गोपियाँ व्याकुल हो गयीं—अत्यन्त आर्त। फिर ढूँढने लगीं—हे बड़! तुम बताओ, हे पीपल! तुम बताओ, हे तुलसी! तुम बताओ—ये जिज्ञासु हैं।

दृष्टो वः क्वचिदश्वत्थ प्लक्ष न्यग्रोध नो मनः।
नन्दसूनुर्गतो हृत्वा प्रेमहासावलोकनैः॥

—श्रीमद्भा० 10.30.5

जमुनाके तटपर बैठीं हैं और—

जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि।

यह गानेवाली—अर्थार्थी हैं। अर्थ तो श्रीकृष्ण हैं। श्रीकृष्ण मिलें। फिर श्रीकृष्ण प्रकट हो गये तो **ज्ञानी च भरतर्षभ**—ज्ञानी हो गयीं। यह गोपियोंके उदाहरणसे इस श्लोकका अर्थ प्रकट किया है। गोपियोंका चरित्र साधारण नहीं है।

आर्तो जिज्ञासु—आर्ती गजेन्द्र है। गजेन्द्र क्या है? आर्त—अभिमानसे उसको यह पीड़ा मिली थी। आर्त होकर उसने छुड़ाई—यह पीड़ा। इन्द्रद्युम्न राजा थे—अभिमानमें मग्न। एक महात्मा उनके पास आये। बोले पूजा कर रहे हैं। अरे! जिस महात्माके तन-मनमें परमात्मा है वह आया है और तुम पूजा कर रहे हो! उठे नहीं! महात्माने कहा—इसे अभिमान है। अभिमानीका अभिमान प्रकट हो जाय तो मिट जायगा। महात्माने कृपा की। जितना अभिमान छिपा था वह सब-का-सब प्रकट हो गया। वह हाथी हो गया—स्तब्ध गजेन्द्र हो गया। अब उसके ऊपर आयी आर्ति—ग्राहने पकड़ लिया। अभिमानी लोगोंको ग्राह ही पकड़ता है। ग्राह माने पूर्वग्रह। जिद्द—अभिमानी लोग जिद्दी हो जाते हैं। हम करते हैं सो ठीक, हम सोचते हैं सो ठीक। हमारी पकड़ है सो ठीक और सब गलत—हम सही। तो गजेन्द्रको ग्राहने पकड़ लिया। यह जिद्द कैसे टूटे? यह अभिमान कैसे टूटे? जबतक परमात्मा प्रकट नहीं होगा—तबतक न जिद्द टूटेगी और न जिद्दी टूटेगा।

व्यापक दृष्टि जब प्रकट होती है—तब अहं टूटता है। कब टूटता है? जब सबको देखते हैं। जब सार्वजनिक, सामाजिक, सर्वात्म, भगवद्-दृष्टि होती है तब अहंका गजेन्द्र और इदंका ग्राह दोनों टूट जाते हैं। दोनों मुक्त हो जाते हैं। अभिमानके बदलेमें आर्ति आयी। आर्त हो गया।

जिज्ञासु परीक्षितने शुकदेवसे कहा—'मुझे परमात्माका चरित्र सुनाइये। मुझे मौतसे डर नहीं है—मौत आये शरीरको ले जाय। आप तो कृष्णचरितका, विष्णुचरितका गान कीजिए—जिज्ञासु हैं। अर्थार्थी—ध्रुव हैं। बोले हम लेंगे पर राजासे नहीं, भगवान्‌से लेंगे। **अपि कीटः पतङ्गो वा भवेयम्....**। हमारा इष्टदेव कहे तो हम कीड़ा-फतिङ्गा होनेको तैयार हैं।

ये लोग देखते हैं—यह पेड़ है और भावुक भक्त देखता है यह वासुदेव हैं। एक वैज्ञानिक पीपलके पेड़को देखेगा—इसकी ऐसी लकड़ी है, ऐसा पत्ता है। इसमें ये-ये गुण हैं, ये-ये शक्तियाँ हैं। ये-ये दवाइयाँ हैं। यह हुआ वैज्ञानिक अनुसन्धान और एक भक्त कहेगा यह साक्षात् वासुदेव हैं। ज्ञानी कहेगा—जो आत्मा मेरी है वही इस पीपलकी है। इस शरीरका जो अधिष्ठान और प्रकाशक है वही इस पीपलके पेड़का भी अधिष्ठान और प्रकाशक है। जैसे यह शरीर वैसे ही यह पीपल और जैसी आत्मा मैं, वैसी आत्मा यह। एक ज्ञानीके लिए आत्मदृष्टि है, ब्रह्मदृष्टि है। भक्तके लिए ईश्वरदृष्टि है। वैज्ञानिकके लिए गुणदृष्टि है, रूपदृष्टि है, नामदृष्टि है।

ज्ञानकी दृष्टि आरपार हो जाती है—न देहमें बँधती है न विषयमें बँधती है। दोनोंको आरपार करके एक ब्रह्मको देखती है।

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥ 7.18॥
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।

भगवान्ने कहा—यह ज्ञानी पुरुष क्या है? **ज्ञानी च भरतर्षभ। तेषां ज्ञानी नित्ययुक्तः एकभक्तिः** और सब अनित्युयुक्त हैं। वे कभी भगवान्के पास रहते हैं और कभी भगवान्से अलग हो जाते हैं। परन्तु ज्ञानी—

सोवत, बैठत, पड़े उतानै। कहैं कबीर हम वही ठिकाने॥

वही है—स्त्री है कि नहीं? परमात्मा है? पुरुष है? नहीं, वह परमात्मा ही है। आप श्रीकृष्णकी लीलापर ध्यान दें ऐसा कौन-सा रूप है जो कृष्णका रूप नहीं है। माँके पेटमें-से निकलता हुआ रूप है, बच्चेके रूपमें रोता हुआ है। दूध पीता हुआ है, मिट्टीमें लोटता हुआ है, मक्खन चुराता हुआ है। काजल लपेटे हुए है, छेड़छाड़ करता हुआ है। भागता हुआ है। कुब्जाके घरमें है। कंसको मारता हुआ है।

ईश्वरका रूप क्या है? यह मामूली बात नहीं है। यह बात आप सर्वधर्म-समत्वसे नहीं जान सकते। क्योंकि जिनका ईश्वर सिर्फ निराकार है—साकार कभी हुआ ही नहीं, उनकी समझमें यह कैसे आवे? हमारा तो सर्वोपादान है—सर्वगत—वह एक बच्चा भी है, बूढ़ा भी है—स्त्री भी है, वही पुरुष भी है, वही सूअर भी है, वही मछली भी है, वही गधा भी है। यह सब परमेश्वरका रूप है। नित्ययुक्त, जहाँ है, जब है, जो है, जैसे देखता है, उसके रूपमें परमेश्वरको देख रहा है। 'एकभक्तिः' उसके मनमें जने-जनेके प्रति प्रीति नहीं है, अखण्ड परमात्माके स्वरूपमें प्रीति है।

प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः। अत्यर्थ शब्दपर ध्यान दें। 'अत्यर्थं' माने अर्थ अतिक्रम्य। हमारे और उसके बीचमें दूसरा कोई अर्थ नहीं है। कोई प्रयोजन नहीं है, कोई वस्तु नहीं है। हम और वे बिलकुल एक हैं। हम दोनोंको अलग करनेवाला कोई नहीं है। जो ज्ञानी है सो मैं हूँ—जो मैं हूँ सो ज्ञानी है।

भरतहिं मोहि कि अंतर काहू।

राम और भरतमें कहीं कोई फर्क होता है? राम भरत दोनों एक दूसरेके इष्ट हैं दोनों दोनोंके आत्मा हैं। मैं ज्ञानीका अर्थरहित प्रेमी हूँ। परमप्रेमास्पद हूँ। हमारे बीचमें कोई अर्थ, कोई वस्तु नहीं है। और **स च मे प्रियः** वह मेरा प्यारा है। **एकभक्तिर्विशिष्यते** ऐसा ज्ञानी है। एक भक्ति है और विशिष्ट है। तब और सब क्या हैं? और सब भी बहुत अच्छे हैं। **उदाराः सर्व एवैते**—उदीर्ण है—जो मैं मेरेके चक्करमें पड़ गया वह तो कृपण हो गया, कंजूस हो गया और जो परमात्माकी ओर देखने लगा—आर्त है, जिज्ञासु है, अर्थार्थी है। वह उदार है, उसकी दृष्टि उदीर्ण है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

प्रवचन : 6

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥ 7.16

'चतुर्विधा'—भक्तोंकी विधा चार है। किन्तु भक्ति सबमें अनुगत है। भगवान्‌की भक्तिमें रुचि किनकी होती है?

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥ 7.28

जो पुण्य करते हैं और पापोंका अन्त हो गया है। जिसके मनमें वासना होती है कि हमको यह मिले, यह मिले उनमें दो तरहके लोग होते हैं। एक तो जो पुण्यकर्मके द्वारा ही अपनी वासनाको पूर्ण करना चाहते हैं और दूसरे वे होते हैं कि चाहे पाप भले करें पर हमारी वासना पूरी हो। चोरीसे, बेइमानीसे, छलसे, कपटसे, व्यभिचारसे, अनाचारसे वे अपनी वासनाको पूरी करना चाहते हैं। उनका पाप अभी अन्तर्गत नहीं हुआ है, वे तो पापमें संलग्न हैं। उनकी वासनाका ऐसा वेग है कि उसको कायदेसे नहीं चला सकते। अपने शरीरको, मनको मर्यादाके अनुसार नहीं चला सकते। जिस देशकी, जिस राष्ट्रकी, जिस समाजकी मर्यादा है, उसके अन्दर रहकर काम करना चाहिए।

जब रास्ता छोड़कर मोटर चलाते हैं—उस समय वासना बहुत तीव्र होती है जब निश्चित वेगसे अधिक मोटर चलाते हैं तो वेगकी मर्यादा और मार्गकी मर्यादा, और मान लो ब्रेक न हो मोटरमें और चला रहे हों तो क्रियाकी मर्यादा भी भंग हुई। अपने पास चलानेका लाइसेंस नहीं है—और चलाते हैं। इन मर्यादाओंको भंग क्यों करते हैं? वासनाका वेग तीव्र होनेसे। जैसे आप मोटर चलानेमें मर्यादा-भंग करते हैं, वैसे पैसा कमानेमें भी करेंगे, वैसे परस्त्रीमें भी करेंगे, क्रोधमें भी करेंगे, क्योंकि एक जगह मर्यादाका न होना, सब जगह मर्यादाका न होनेका उपलक्षण है, संकेत है। आपका मन जब वशमें नहीं है तो पता नहीं कब क्या कर बैठेंगे?

पहली बात तो यह है कि पुण्य कर्म करें, विहित कर्म करें, निषिद्ध कर्म न करें। आप वासनाको अपने काबूमें कर लें ईश्वरपर दृष्टि जानेका संयोग ही कहाँ है, जबतक हम बुराईयोंमें फँसे हुए हैं। गिरते हैं, कभी चलते हैं—कभी गिरते हैं। ऐसा भी एक जीवन होता है। जो चलते हैं उनका गिरना तो सम्भव है। पर गिरकर जो न उठें, न चलें तो यह अपराध है। गिरते-पड़ते आगे बढ़ो। छूट गया, कोई हरज नहीं, गलती हो गयी, कोई बात नहीं। परन्तु फिर उठो तो मुँह आगेकी ओर रहे। वहीं पड़े न रह जावें। कहीं पीछे लौट न आवें। आगे बढ़ें, आगे बढ़ें। ईश्वरकी ओर देखें। हे प्रभु! हम तो गिर गये, अब तुम उठालो।'

ईश्वरकी ओर देखते ही मनमें पवित्रता आजाती है। **यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्ष स बाह्याभ्यन्तरो शुचिः** पुण्डरीकाक्षका स्मरण हुआ, कमलनयन प्रभुका स्मरण हुआ और आगे बढ़े। यह बात जैसे ज्ञानाभिमानमें गिरनेकी होती है, वैसे ही योगकी सिद्धियोंमें फँसनेपर भी गिरनेकी बात होती है। जो कुछ करते हैं वह प्रभु ही करते हैं—जबानसे तो ऐसा बोलते हैं, परन्तु वासना-पूर्तिके मार्गपर चलते हैं। कोई कहते हैं—'हम धर्म तो जानते हैं पर हमसे पालन नहीं होता।' कोई कहते हैं—'ईश्वर जो कराता है सो करते हैं।' कोई कहता है—'हम तो सिद्ध हैं, हमारा कोई क्या बिगाड़ेगा।' किसीको ज्ञानका अभिमान हो जाता है। ये लोग भगवान्का भजन नहीं कर सकते।

भगवान् क़्या कहते हैं—अर्जुन, तुम उपार्जन करना चाहते हो? कुछ योग, भक्ति, ज्ञान, धर्म और इनका फल चाहते हो? तो पुण्यात्मा बन लो पहले और पुण्यात्मा होकर भगवान्का भजन करो। जैसे मालिककी सेवामें उपस्थित होना है, पिताके सामने जाना है, माताके सामने जाना है। स्वामीके सामने जाना है तो ठीक—बाल भी बिखरे हुए न हों, कपड़े ठीक हों। पहलेसे स्नान कर लें। पवित्र हो लें। तैयार हो लें शृङ्गार करके उसके सामने जाना। यह जानेवालोंके लिए उचित होता है। यह जो पुण्य है—धर्म है; यह जीवात्माका शृङ्गार है।

भजनमें आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी चार भेद हुए। ऐसा लगता है कि अर्थार्थीके बाद जिज्ञासुका स्थान होना चाहिए। आर्त वह है जो कष्ट दूर करनेके लिए भगवान्का भजन करता है। अर्थार्थी वह है जो कुछ पानेके लिए भगवान्का भजन करता है। जिज्ञासु वह है जो भगवान्को जाननेके लिए भजन करता है और ज्ञानी वह है जो भगवान्को जानकर भजन करता है। यदि क्रम बैठाना चाहें तो आर्तके बाद अर्थार्थी और अर्थार्थीके बाद जिज्ञासु और जिज्ञासुके बाद ज्ञानी आना चाहिए। एक व्याख्या तो यह है कि यहाँ क्रम विवक्षित नहीं है। पाठके क्रमसे अर्थका क्रम बलवान् होता है। इसलिए जिज्ञासुको अर्थार्थीसे ऊपर बैठाओ।

श्रीमद्भागवतमें '**अर्थ**' शब्दका अर्थ ही दूसरा किया हुआ है। नलकूबर मणिग्रीवके प्रसंगमें नारदजीने गाना गाया तो वहाँ ऐसा कहा कि; **तयो अनुग्रहार्थाय** नलकूबर और मणिग्रीवपर अनुग्रहार्थ ही देवर्षि नारदने यह संगीत गाया। नारदजीने एक बात तो यह सोची कि मणिग्रीव नलकूबरसे हमारे धर्मका आविर्भाव हो जावे। जैसे हमको भगवान्की स्मृति रहती है, भगवान्से प्रेम रहता है, जैसे हमारे हृदयमें वे रहते हैं वैसे ही नलकूबर मणिग्रीवके हृदयमें भी हो जावें। नलकूबर माने बाँसकी तरह खड़ा। पीठकी रीढ़ उसकी कभी झुकती नहीं। किसीको नमस्कार नहीं करता था। मणिग्रीव माने जो अपने धनका प्रदर्शन करनेके लिए अपने गलेमें बहुत बड़ा हीरा बाँधकर रखता था, देखो हमारे पास इतना बड़ा हीरा है, इतनी बड़ी मणि है। अभिमानसे और दम्भसे दोनों ग्रस्त थे। शराब भी पीये हुए थे। जुआ भी खेलते थे। परस्त्री भी उनके पास थी। नंगे थे, बेहोश थे, परन्तु देवर्षि नारदके मनमें उनके प्रति करुणाका उदय हुआ। उन्होंने कहा जैसे हम भक्त हैं वैसे ही भक्त ये हो जायें और इन्हें भी भगवान्की प्राप्ति हो।

'**अर्थ**' शब्दका अर्थ है भगवत्प्राप्ति। एक तो आर्त है जो सङ्कट, विपत्ति दूर करनेके लिए भगवान्का

भजन करते हैं। **विपद् विस्मरणं विष्णोः सम्पन्नारायणस्मृतिः। विपदो नैव विपदः**=विपत्ति विपत्ति नहीं है। **सम्पदो नैव सम्पदः**=सम्पत्ति सम्पत्ति नहीं है। भगवान्‌को भूल जाना ही सबसे बड़ी विपत्ति है। इसीसे सारे दुःख पैदा होते हैं! नारायणका स्मरण है तो किसी विपत्तिका स्मरण नहीं है।

श्रीमद्भागवतमें एक प्रसंग आता है, कुन्तीने प्रार्थना की—

विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं यत्स्यातदअपुनर्भवदर्शनम्॥ 1.8.25

हमारे जीवनमें विपत्तिपर विपत्ति आती रहे; क्योंकि जब-जब विपत्ति आती है तब-तब उसके निवारणके लिए आप आते हैं। आपका दर्शन होता है और जब आपका दर्शन होता है तो संसार दीखता ही नहीं। ऐसी प्रार्थना दुनियामें और कहीं नहीं है। अद्भुत है, हमको विपत्ति चाहिए क्योंकि विपत्तिसे बचानेवाले आप जो दर्शन देते हैं! द्रौपदीको सभामें नंगा किया तो क्या हुआ? बचानेके लिए आप तो आगये। दुर्योधनने दुर्वासाको भेजा तो क्या हुआ? उस विपत्तिसे बचानेके लिए, शाकान्न भोजन करनेके लिए आप तो आगये न!

आर्त जिसमें आर्ति हो। **आर्ति अस्यास्ति इति आर्तः** जिसमें आर्ति हो मत्वर्थी अच् प्रत्यय इसको बोलते हैं। आर्तिमान्‌को आर्त बोलते हैं। आर्तके बाद अर्थार्थीका अर्थ क्या हुआ? जो भगवद्-दर्शन चाहता है। अर्थ माने होता है—जिसको हम चाहते हैं। **अर्थ्यते इति**। जिसकी इच्छा हमारे मनमें रहती है। धन भी अर्थ है, भोग भी अर्थ है। स्वर्ग भी अर्थ है, भगवान् भी अर्थ है। **अर्थेन अर्थी**। जो अर्थ चाहता है। जो चाहते हैं जिससे उसपर ज्यादा ध्यान नहीं है। जो हम चाहते हैं, उसपर ज्यादा ध्यान है। यह उनकी विशेषता है।

हम जप करते हैं। कृष्ण! कृष्ण! कृष्ण! नागपुरमें एक सज्जन थे। उन्होंने साढ़े तीन करोड़ 'हरे राम हरे राम' मन्त्रका जप किया था। कहते थे हमको भगवान्‌का दर्शन नहीं हुआ। दर्शन इसलिए नहीं हुआ कि बीच-बीचमें जब कोई संकट पड़ता था, धनकी आवश्यकता पड़ती थी, तो वह जप करते-करते चाहने लगते थे कि मैं भगवान्‌के नामका जप करता हूँ, मेरा संकट दूर हो जावे। बीच-बीचमें नामके बदले संसारकी वस्तु चाहने लगते थे। नामकी पूर्णता कट जाती थी। भजन करते हैं भगवान्‌का और चाहते हैं संसार, तब तो दूसरी स्थिति हो गयी और भजन करते हैं भगवान्‌का और चाहते हैं भगवान्‌को—यह दूसरी स्थिति हो गयी।

कितना जप करें तो भगवान् मिलेंगे? एक करोड़में मिलेंगे, या दो करोड़में मिलेंगे अथवा पाँच-दस करोड़में मिलेंगे? अपनी जीभके बलको या अपने मनके बलको भगवान्‌की बराबरी करनेके लिए लगा दिया। यह ठीक नहीं हुआ। हमारी जीभ उन्मुख होती है भगवान्‌का नाम लेनेके लिए। उनकी ओर मुँह हो जाना है—बस; मनका मुँह उनकी ओर हो गया। यह उनकी कृपा हो गयी कि हमारी जीभपर भगवान्‌का नाम आने लगा। हमारा दिल भगवान्‌की ओर खिंचने लगा।

जब हमारी जिह्वा उन्मुख होती है तब यह न समझें कि हमारी जिह्वाके जपसे या मनके जपसे भगवान्

हमको मिलते हैं—बदलेमें कीमतपर। भगवान्‌की अनिर्वचनीय, अहैतुकी जो कृपा है वह हृदयमें भगवदुन्मुखकी ओर होती है। उन्होंने ही कृपापूर्वक जीभपर अपना नाम दिया, वही कृपा करके हृदयमें अपना रूप देते हैं और वही आँखोंके सामने आते हैं। साधन भी वही साध्य भी वही, प्राप्त करनेकी इच्छा भी वही, प्राप्त करनेकी साधना भी वही। प्राप्त होनेवाले भी वही—वही-वही-वही।

'जिज्ञासु' माने—हम भगवान्‌के स्वरूपको जानें। **ज्ञातुमिच्छा**=जिज्ञासा। ज्ञानके लिए उत्सुक है, उसे जिज्ञासु कहते हैं। जानो सही कि परमात्मा है क्या? ईश्वरके बारेमें सम्पूर्ण ज्ञानकी पहले दिन जरूरत नहीं पड़ती। जितना-जितना भगवान्‌को जानते जायँ—उतना-उतना उनको चाहते जायँ। यदि भलेमानुषको जानोगे तो उसके प्रति राग होगा, श्रद्धा होगी। और दुष्टको जानोगे तो उसके प्रति वैराग्य होगा। ज्ञानसे घृणा-द्वेष तो नहीं होना चाहिए? घृणासे तो अपना दिल गन्दा होता है। द्वेषसे अपना दिल जलता है।

ज्ञानके अभिमानसे आगेका रास्ता बन्द हो जाता है। ज्ञानकी इच्छासे जानते चलें, प्रेम करते चलें। प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान होता है। यह प्रेमका स्वभाव है।

छनही बढ़ै छनही उतरै सो तो प्रेम न होय।
बिनु गुण जौवन रूप धन बिनु स्वारथ हित जानि।
शुद्ध कामना ते रहित प्रेम वहै रसखानि।

रसखान कहते हैं प्रेम क्या है? जो गुण देखकर होगा कि बड़े दयालु हैं, बड़े दाता हैं, बड़े उदार हैं—और जब देखेंगे कि कंजूस है तो उस दिन प्रेम घट जायेगा। जवानी देखकर प्रेम करेंगे तो वह घट जावेगा। जवानी देखकर प्रेम करेंगे तो बुढ़ापा आनेपर कैसे रहेगा? रूप देखकर प्रेम करेंगे तो कहीं मुँहासे निकल गये—कोई दाग पड़ गया तो प्रेम कैसे होगा? धन देखकर प्रेम करेंगे तो गरीबीमें प्रेम नहीं होगा स्वार्थसे प्रेम करेंगे तो स्वार्थ पूरा होनेपर प्रेम घट जायेगा। केवल हित जानकर प्रेम होता है। यह प्रेमका स्वभाव है—

गुणरहितं, कामनारहितं, प्रतिक्षणवर्धमानं अविच्छिन्नम् सूक्ष्मतमम् अनुभवरूपम्।

दुनियामें जिसको प्रेम कहते हैं वह तो शारीरिक भोगके लिए होता है। काम निकालनेके लिए जो प्रीति होती है वह सच्ची प्रीति नहीं होती। जिज्ञासु ज्ञान प्राप्त करना चाहता है। जिसका ज्ञान प्राप्त करना चाहता है उसके बारेमें श्रवण, मनन, निदिध्यासन—ये अपने आप ही आजाते हैं। सुनो भगवान्‌को, सोचो भगवान्‌के बारेमें और उनके चरणोंमें **ज्ञानी च भरतर्षभ**। ज्ञानी भी प्रेम करते हैं।

'च'का अर्थ मधुसूदन सरस्वतीने किया है कि ज्ञानीसे भी बड़ा एक होता है—'ज्ञानीभक्त, प्रेमी।' जानकर जो प्रेम होता है—वह अद्भुत है। यहाँतक कि किसीके दोषको जानकर आप उससे प्रेम कीजिए तो फिर उसमें दोष देखकर आपको घृणा नहीं होगी। दोषीको मित्र बनानेकी पद्धति यह है कि उसके ऊपर आप अपना प्रेम बरसाइये। उसका हित चाहिए और असलमें जब आप हित बरसायेंगे तो वह अपने दोषको छोड़ देगा। जबतक वे देखते हैं कि ये हमको नुकसान पहुँचाना चाहते हैं तबतक वह दोषको पकड़े रहेगा। हृदय बदलनेकी पद्धति यही है। आप अपना प्रेम दीजिए उसको। ज्ञान प्रेममें बाधक नहीं है।

सर्वेश्वरस्तु सुधियागलितेऽपि भेदे,
भावेन भक्तिसहितेन समर्चनीयः।
प्राणेश्वरश्चतुरया मिलितेऽपि चित्ते,
चैलांचलव्यवहितेन निरीक्षणीयः॥

भेद नहीं है, फिर भी भक्तिसहित भावसे परमेश्वरकी पूजा कीजिए। देखो प्राणेश्वर है, प्रियतम है पति है, पत्नीका उससे क्या भेद है?

'परदा कहाँ भतार सों जिन देख्यो सारे अंग।'

उसने तो सारे अंग देख लिए, उससे पर्दा कहाँ? परन्तु समाजमें सबके सामने निकलते हैं तो उसके सामने भी कपड़ा पहनते हैं। उसके सामने भी परदा रखते हैं। परमेश्वरसे आत्माका अभेद है, यह सही है; लेकिन जब लोक-व्यवहारमें उतरते हैं तब उसकी भक्ति करते हैं, उसको हाथ जोड़ते हैं। उद्दण्डता नहीं करते उसके साथ।

प्रियतमहृदये वा खेलतु प्रेमरीत्या,
पदयुगपरिचर्यां प्रेयसी वा विधत्ताम्।
विहरतु विदितार्थो निर्विकल्पे समाधौ,
ननु भजनविधौ वा तद्द्वयं तुल्यमेव॥

अपनी प्रेयसी है, वह प्रियतमके हृदयपर विहार कर रही है या उसके पाँवके पास बैठकर, पाँव सहला रही है। प्रेममें क्या अन्तर पड़ा? पाँवके पास बैठनेसे प्रेममें क्या अन्तर पड़ गया? जिसने तत्त्वका साक्षात्कार कर लिया है, वह चाहे निर्विकल्प समाधिमें रहे और चाहे भगवान्‌के चरणारविन्दकी सेवा करे, उसके लिए दोनों बराबर हैं। ज्ञानी पुरुष भी।

द्वैतं बन्धाय बोधात्प्राक् प्राप्ते बोधे मनीषया।
भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतं अद्वैतादपि सुन्दरम्॥

अद्वैतसे भी सुन्दर है वह द्वैत। दोनों एक बातको जानते हैं। एक बुद्धि है, एक मन है। फिर भी आपसमें बैठ करके वाद-विवाद करने लगते हैं। तब उसका मजा कुछ और होता है। एकने पूर्व पक्ष लिया, दूसरेने उत्तर पक्ष लिया। वेदान्ती हँसते जाते हैं और शास्त्रार्थ करते रहते हैं। बहुत आनन्द आता है। ज्ञानी पुरुष भी भगवान्‌की भक्ति करते हैं।

अहं सर्वस्य प्रभवः मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्त्वा भजन्ते मां बुधाः भावसमन्विताः॥

भगवान् ही सबके प्रभव हैं और भगवान् ही सबके प्रवर्तक हैं। यह जानकर ज्ञानी पुरुष भगवान्‌का भजन करते हैं।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

ब्रह्मभूत है परन्तु उसको पराभक्ति प्राप्त हो रही है। वह भक्ति कर रहा है। ज्ञान होनेसे भक्तिमें कोई बाधा नहीं पड़ती और यदि ज्ञानी भी हो और प्रेमी भी हो—जन्म-जन्मका प्रेमी है और अन्तिम जन्ममें उसको ज्ञान प्राप्त हो गया—तो ज्ञान प्राप्त हो जानेसे उसका जन्म-जन्मका जो प्रेम है वह कहीं चला नहीं जायेगा? वह प्रेमकी धारा बाधितानुवृत्तिसे बहती रहेगी। यहाँ तक मानते हैं—वेदान्ती कि वेदान्तका ज्ञान होनेपर कोई धर्मात्मा हो जाता है, कोई योगी हो जाता है, कोई भक्त हो जाता है। कोई समाधिमें रहता है, कोई व्यवहारमें लग जाता है।

क्वचिच्छिष्टः क्वचिद्भ्रष्टः क्वचिद्भूतपिशाचवत्।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।

यह गीतामें दो बार आया है—

सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते।
सर्वथा वर्तमानोपि स योगी मयि वर्तते।

कोई वसिष्ठकी तरह पुरोहित हो जाते हैं। कोई जनककी तरह राजा हो जाते हैं। कोई शुकदेवकी तरह निवृत्तिपरायण हो जाते हैं। कोई दत्तात्रेयकी तरह स्वच्छन्द हो जाते हैं। ज्ञान होनेके बाद कोई बाधा नहीं रहती। इसलिए ज्ञान होनेपर भक्त रहनेमें कोई बाधा नहीं रहती। हम श्री उड़िया बाबाजी महाराजसे कहते थे—'महाराज! ज्ञानीके लिए ब्रह्माकार वृत्तिका विधान कहाँ है? तो कहते थे—'निषेध कहाँ है?' वे प्रश्नपर प्रश्न ही कर देते थे। इसी प्रकार ज्ञानीके लिए भक्ति करनेका विधान कहाँ हैं? क्यों? जब वह कर्ता ही नहीं है—तो उसके हृदयमें जैसे पहलेके संस्कार हैं—उसके अनुसार उससे भक्ति होती रहेगी।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।

भगवान् कहते हैं जो आर्त है वह आर्ति मिट जानेके बाद भक्ति छोड़ सकता है। जो अर्थार्थी है वह अर्थ मिलनेके बाद यदि कृतज्ञ न हो तो भक्ति छोड़ सकता है। जो जिज्ञासु है वह कहेगा—ज्ञान प्राप्त कर लिया—अब जिन्दगीभर उनके साथ लटके-लटके थोड़े ही फिरना है। ये सब छोड़ सकते हैं। परन्तु जो ज्ञानी पुरुष है, वह नित्ययुक्त होता है। **तेषां ज्ञानी नित्ययुक्तः।** क्योंकि वह अपनी आत्माको तो छोड़ ही नहीं सकता। परमात्मा उसकी आत्माके रूपमें प्रकट है, यह उसकी विशेषता है। वह जहाँ है, जो है, जब है, जैसे है वैसे परमात्मा है। **एकभक्तिर्विशिष्यते।** उसके अन्दर भक्ति है—अनन्यभक्ति है। **एकस्य भक्ति**—ऐसा नहीं। **एका अनन्या भक्तिर्यस्य।** उसकी भक्ति अनन्य है। अनन्य है माने वह कहीं दूसरेको देखता ही नहीं। वह दूसरेसे प्रेम करता ही नहीं है। इसलिए ज्ञानी विशिष्ट है। ज्ञान प्राप्त करो, भक्ति तुम्हारी हमेशा बनी रहेगी। बारहवें अध्यायमें भगवान्ने बारम्बार कहा है—

यो मद्भक्तः स मे प्रियः।

तुम करो भक्ति और भगवान् देंगे प्यार। अदले-बदलेकी बात नहीं समरसकी बात है। एकांगी नहीं है। कई गुण बता दिये हैं। मेरा भक्त ऐसा होता है—ऐसा होता है। **अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।** उसमें 'अतीव

प्रिय' शब्द एक ही बार है। अत्यन्त प्यारा है। कौन? जो बच्चा है। **ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।** श्रद्धालु है—मुझे अभी देखा नहीं है। मिला नहीं है। परन्तु श्रद्धा मुझमें रखता है। हमारी सेवा भी नहीं करता है परन्तु भरोसा मेरा रखता है। श्रद्धा है मुझपर और भरोसा है मेरा तो वह **अतीव मे प्रियः।** ऐसे भक्त मुझे अत्यन्त प्यारे हैं। लेकिन यहाँ एक विशेष बात कही, भगवान्‌का अत्यन्त प्यारा है पर ज्ञानी नहीं है। वह तो श्रद्धालु है। ज्ञानी कौन है?

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥ 12.15

यह ज्ञानी है। यहाँ ज्ञानीकी एक विशेषता बतायी है।

प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।

यह चातकका प्रेम नहीं है। यह चकोरका प्रेम नहीं है। यह मछलीका प्रेम नहीं है। मछली पानीसे प्रेम करती है। पानी तो मछलीसे प्रेम नहीं करता। चकोर चन्द्रमासे प्रेम करता है। चन्द्रमा चकोरसे प्रेम नहीं करता। सारसको विरहका पता नहीं है और चक्रवाकको संयोगका पता नहीं है। परस्पर प्रीति है। यह सीतारामकी प्रीति है। यह राधा-कृष्णकी प्रीति है। सीता-रामकी प्रीतिमें एकांगी प्रीति नहीं है। तुलसीदासजीकी प्रीति एकांगी है। भरतकी प्रीति एकांगी है। भरतमें तो परस्पर प्रीतिका भी वर्णन आता है। लेकिन एकांगी प्रीतिका उदाहरण भरतमें भी है।

जानहिं राम कुटिल करि मोहिं।
लोग कहहिं गुरु साहिब द्रोही॥
सीताराम चरन रति मोरे।
अनुदिन बढ़ऊँ अनुग्रह तोरे॥

भरतकी भी एकांगी प्रीति है। लक्ष्मणकी भी एकांगी प्रीति है। परन्तु सीतारामकी प्रीति एकांगी नहीं है। वे परस्पर एक दूसरेके प्रेममें डूबे रहते हैं। प्रीतिका जो उत्तम आदर्श है वह सीताराममें है। वह राधाकृष्णमें है। इसको समरस प्रीति बोलते हैं। जितनी प्रीति सीताकी है राममें, उतनी ही प्रीति रामकी है सीतामें। लेना-देना नहीं है। दोनोंकी प्रीति निरन्तर-निरन्तर बढ़ती रहती है। सीताको देखकर राम प्रसन्न होते हैं। रामकी प्रीति देखकर सीता प्रसन्न होती हैं। अनुक्षण दोनोंकी प्रीति बढ़ती रहती है। **प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।** ज्ञानीका प्यारा कौन है? भगवान्। भगवान्‌का प्यारा कौन है? ज्ञानी। परन्तु अत्यर्थ-का अर्थ है अर्थ अतिक्रम्य—बीचमें कोई दूसरी चीज नहीं है। दो तरंग उठती हैं अमृतके समुद्रमें। उसमें एक तरंग उठी सीता। दूसरी तरंग उठी—राम। सच्चिदानन्दघन हैं वे।

न आदि न अंत विलास करें दोऊ लाल-प्रियामें भई न चिन्हारी।

अनादि अनन्तकाल तक दोनों विलास करते हैं। परन्तु एकने दूसरेको पहचाना नहीं। जब श्रीकृष्ण पहचानने चलते हैं तो स्वयं राधा हो जाते हैं। जब श्रीराधा पहचानने चलती हैं तबतक स्वयं कृष्ण हो जाती हैं। प्रतिक्षण नवीन समागम है। लाल और प्रियामें चिन्हारी नहीं है। बीचमें कोई विभाजक रेखा नहीं है। ज्ञानीका

आत्मा भगवान्—भगवान्की आत्मा ज्ञानी। **अर्थ-अतिक्रम्य।** न ज्ञानीका रूप ज्ञानी है, न भगवान्का रूप भगवान् है। दोनों सच्चिदानन्दघन हैं। एक तरंग, एक उल्लास। आत्माका उल्लास है भगवान्। भगवान्का विलास है ज्ञानी। भगवद्विलासका नाम है ज्ञानी और ज्ञानीके आत्मोल्लासका नाम है—भगवान्। दोनों एक हैं।

उदाराः सर्व एवैते—ये सबके सब भक्त हैं। चाहे धनके लिए भजें, चाहे आर्ति-निवारणके लिए। चाहे जिज्ञासासे भजें। ये सब-के-सब उदार हैं। उदार हैं माने ऊपर उठ गये हैं। जो ऊपर उठ चुका है उसका नाम है उदार। अधिकारीको देखकर जो देता है वह उदार नहीं है। **देशे काले च पात्रे च**—संक्रान्तिका दिन है, दान करो। गंगाजीका तट है, दान करो। ये बड़े भारी विद्वान्, सदाचारी हैं इनको दान करो—यह उदारका लक्षण नहीं है। वह तो कुछ देकर लेना चाहते हैं। उदार वह जो अपनी ओर देखकर देता है, सामनेवालेको देखकर नहीं। जितनी उसकी शक्ति है उससे अधिक। उदार कौन है? उदार रघु हैं। उन्होंने अपना सर्वस्व दान कर दिया और जब कौत्स आये तो मिट्टीके बर्तनमें उनको अर्घ्य दिया। सीताराम भगवान्ने अपने यज्ञमें सर्वस्व दान कर दिया। श्रीरामचन्द्रके शरीरपर रह गयी एक धोती और सीताजीके शरीरपर रह गयी एक साड़ी। भागवतमें वर्णन है यह।

उदारा सर्व एवैते।

आर्ति आयी, तकलीफ आयी, तापकलाका उदय हुआ। परन्तु वह दूसरेसे कहने नहीं जाता कि तुम हमारी तकलीफ दूर करो। अपने अन्तर्देशके सूक्ष्मतम प्रदेशमें जो विराजमान भगवान् हैं, वहाँ जाकर उनसे कहता है कि हमारे ऊपर यह संकट है, दूर कर दीजिए। न वह समाजके पास गया, न देवी-देवताके पास गया, न पुलिसके पास गया, न मिनिस्टरके पास गया। कहाँ गया अपना दुःख-दर्द दूर करनेके लिए? यह देखो उदारता उसकी। वह तो ईश्वरके पास गया। एकको धनकी आवश्यकता हुई। वह माँगनेके लिए किसके पास गया? सेठजीके पास धन माँगने गया। तो बाहर गया। यदि भीतर चला जाय कि 'प्रभो! हमको धनकी आवश्यकता है। आप हमको दीजिए।' यह बाहरका परित्याग करके अन्तरके पास जाना है।

जहाँ आपका मैं है वहाँसे पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिणकी शुरुआत होती है और कालका भूत-भविष्य कहाँसे होता है? जहाँ आपका मैं है। असलमें वस्तुओंका भी प्रारम्भ वहींसे होता है। घट, पट, मठ आदिका भी प्रारम्भ वहींसे होता है जहाँ आपका मैं है। जहाँ आपका मैं है—जिससे आपका मैं है—जिसमें आपका मैं प्रकाशित हो रहा है—उसीसे देश, काल, वस्तु सब प्रकाशित होते हैं। किससे माँगने आप जाते हैं? जिसमें सब हैं उसके पास आप अपने मैंके अन्तर्देशमें प्रवेश कीजिए और वहाँ जो परमेश्वर है—उसको आप देखेंगे तो देखते ही रह जायेंगे। आपके हृदयमें इतना सौन्दर्य, इतना माधुर्य, आपके हृदयमें ऐसा सद्घन, चिद्घन, आनन्दघन है। जो आकारोंकी वर्षा कर रहा है वह सद्घन। जो वृत्तियोंकी वर्षा कर रहा है वह चिद्घन। जो सुखोंकी वर्षा कर रहा है वह आनन्दघन। वह आपके हृदयमें मौजूद है। आप उसके पास माँगने जायेंगे।

जेहि जाचक, जाचकता जरि जाय जो जारत जोरि जहाँनहिं रे।

आप चलकर उससे याचना कीजिए। अर्थार्थी होकर उसके पास जाइये। आप जब देखेंगे कि आपके हृदयमें ऐसा सद्घन, चिद्घन, आनन्दघन, धन-का-धन, जीवन-का-जीवन आपके हृदयमें बैठा है

फिर अर्थकी अर्थना ही नहीं रहेगी। मिट जायगी। जब ज्ञांनस्वरूपको आप देखेंगे तो ज्ञानकी इच्छा ही मिट जायगी।

आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी सब बड़े उदार हैं; क्योंकि वे दूसरेको छोड़कर परमात्माके पास आर्ति-निवारणके लिए, जिज्ञासाकी पूर्तिके लिए, अर्थकी प्राप्तिके लिए आते हैं। परन्तु ज्ञानी—वह तो किसी चीजके लिए नहीं आता। परमात्माका लक्षण क्या है? जिसमें किसी प्रकारका अभाव नहीं है। **ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।** ज्ञानी तो परमेश्वरकी आत्मा है। क्यों? **आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्। माम् एव** पर ध्यान दें—आर्ति-निवारणपर उसकी आस्था नहीं है। मुझपर उसकी आस्था है। केवल मेरे पास आता है। जहाँ अर्थ प्राप्त होता है उसके पास नहीं जाता। जहाँ जिज्ञासापूर्ति होती है उसके पास नहीं जाता। **मामेवका** अर्थ होता है—**अहं-अहं-अहं।** जो फुदक रहा है—मैं-मैं-मैं। वह किसमें फुदक रहा है? हजार बर्तनमें पानी रखा है और उसमें सूर्यका प्रतिबिम्ब पड़ रहा है। वह कौन है जिसका प्रतिबिम्ब हजार बटलोइयोंमें पड़ता है? वह परमात्मा है। जो हजारों हृदयकी थालियोंमें, हृदयके हृदोंमें, हृदयके सरोवरोंमें चमाचम चमक रहा है। वह उसको देखता है यही उदारता है।

आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्।

युक्तात्मा माने दूसरे पदार्थोंसे उसने अपने मनको समेट लिया। निरुत्तर, निरुत्तम, निरतिशय, जिससे बड़ा और कोई न हो, उसको बोलते हैं निरतिशय। उससे, अतिशय उससे विशेष और कोई नहीं है। निरुत्तर—उसके बाद कोई नहीं है। लाजवाब है बिलकुल लाजवाब है। उसका मुकाबला करनेके लिए और कोई नहीं है। **मामेवानुत्तमां गतिम्**—भगवान् अनुत्तम गति है।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते। ज्ञानकी और एक तारीफ की। भगवान्‌को ज्ञान बहुत पसन्द है।

भगवान् कहते हैं—देखोजी, मैं तो मामूली आदमी हूँ, मैं तो मामूली चीज हूँ। मैं तो सब जगह हूँ। मैं तो सब हूँ। जहाँ चाहो वहाँ मुझे देख लो—जिस रूपमें मुझे चाहो देख लो **वासुदेवः सर्वमिति।** लेकिन इस बातको अनुभव करनेवाला महात्मा दुर्लभ होता है! वह कहीं-कहीं होता है। श्रद्धालुके लिए सुलभ है और संशयालुके लिए दुर्लभ है। **सुलभः दुर्लभश्च।** वह महात्मा केवल श्रद्धालुके लिए सुलभ है और संशयालुके लिए दुर्लभ है। बहुत जन्मोंके बाद होता है ज्ञानवान्। जो ज्ञानी हो जाता है, उसकी क्या पहचान है? **वासुदेवः सर्वं इति मां प्रपद्यते।** सब वासुदेव है यह प्रतिपत्ति, यह ज्ञान, यह अनुभव उसको हो जाता है। परन्तु ऐसा महात्मा सबके लिए सुलभ नहीं है—दुर्लभ है।

●

प्रवचन : 7

गीता शब्द एक तो संज्ञा है। **गीताशास्त्रमिदं पुण्यम्।** इस शास्त्रका नाम है गीता। दूसरे भगवता गीता— भगवान्‌ने इसका गान किया हो—असमाप्त क्रिया। इसमें भगवान् श्रीकृष्ण बोलते हैं—**स महात्मा सुदुर्लभः।** वह महात्मा दुर्लभ है। अत्यन्त दुर्लभ--**सुदुर्लभः। सत्संगस्तु दुर्लभः अगम्यःअमोघश्च।** सत्सङ्ग दुर्लभ होता है। सत्पुरुषका मिलना कठिन है और मिल जाय तो अगम्य है; जान नहीं पाते कि यह सत्पुरुष है। और पहचान लें तो अमोघ होता है। कभी व्यर्थ नहीं होता। **सन्तो दिशन्तिचक्षूंषि।** सत्पुरुष नेत्रदान करते हैं। **बहिरर्कः समुत्थितः।** सूर्योदय होता है तो बाहरका नेत्र बाहरकी वस्तुओंको देखता है। सत्पुरुष मिलते हैं तो अन्तरके नेत्र खुलते हैं और अन्तरकी वस्तु दीखती है।

सन्त आत्माहमेव च—मुझमें और सन्तमें कोई अन्तर नहीं है। सन्त ही आत्मा हैं और सन्त ही मैं हूँ। सन्तका मिलना भगवान्‌का मिलना है। सन्त है कौन? महात्मा है कौन? महात्मा शब्दका अर्थ होता है— जिसकी आत्मा महान् है। महान् है माने सङ्कीर्ण नहीं है, उदीर्ण है—उदार है। वह किसी वर्गमें, किसी जातिमें, किसी समाजमें, किसी प्रान्तमें, किसी राष्ट्रमें आबद्ध नहीं है। जैसे सबकी आत्मा परमात्मा है वैसे सब महात्माकी आत्मा है।

एक महात्माको मैंने देखा—नावमें हम साथ-साथ जा रहे थे। एक गाँवमें नाव रुकी। वहाँके एक पुलिस इंस्पेक्टर दर्शन करने आये। महात्माजी हाथ जोड़ने लगे—रोने लगे। बोले हम गरीब हैं। हमको सताओ मत। लोग देखने लगे यह क्या बोलते हैं? मालूम हुआ कि वह इंस्पेक्टर थानेमें उसी समय कुछ लोगोंको जूतेसे पीट करके आया था। और महात्मा उन पीटे गये लोगोंके साथ तादात्म्य होकर, एक होकर बोल रहे थे—हम गरीब हैं। हमको मत सताओ। संसारमें देवता हैं, दानव हैं, पशु हैं, पक्षी हैं, सब अपनी आत्मा हैं, ऐसा जो अनुभव करे उसका नाम महात्मा।

महाभारतमें बताया है महात्मा कौन है? जो क्रोधके वेगके वशमें नहीं होता, जो पेटके भोजनकी वासनाके वेगके वशमें नहीं होता। जो मूत्रेन्द्रियके वेगकी वासनाके वशमें नहीं होता जानबूझकर इन वेगोंको सह लेता है और चाहे कोई कितनी भी निन्दा करे, उसके चित्तपर चोट नहीं पहुँचती। ऐसा उसका हृदय हो जाता है कि चाहे उसकी निन्दा करें और उसको चोट पहुँचावें, तो चोट नहीं पहुँचा सकता।

आत्मानं यदि निन्दति, आत्मानं स्वयमेव ते।

यदि वे आत्माकी निन्दा करते हैं तो अपनी ही निन्दा करते हैं। शरीरकी निन्दा करते हैं तो शरीरकी निन्दा तो हम भी करते हैं।

प्रलयस्यापि हुंकारैः चलाचलविचालनैः।
विक्षोभं नैति यस्यान्तः स महात्मेति कथ्यते॥

महात्मा किसको बोलते हैं? प्रलयकी गर्जना हो रही हो—चर अचर सृष्टि विचलित हो रही हो फिर जिसके चित्तमें विक्षोभ नहीं है। जिसके अन्तरमें विक्षोभ नहीं है का अर्थ यह नहीं कि सारा जगत् पीड़ित हो रहा है और वह मौज कर रहा है।

न जानपदिकं दुःखं एकः शोचितुमर्हति।

महाभारतका कहना है कि सारे देशको, सारे समाजको, सारे जनपदको जो दुःख हो रहा हो, उसके शोकका बोझ एक दिमागमें नहीं आना चाहिए। नहीं तो पहले दिमाग ही फटने लग जावेगा, वह करेगा क्या?

अशोचं प्रतिकुर्वीत यदि पश्येत् विक्रमम्।

अपनी शक्ति जहाँतक हो, उस विपत्तिके निवारणका, सङ्कटके निवारणका उपाय तो करना ही चाहिए। परन्तु शोकसे अभिभूत होकर नहीं—भयसे, डरके नहीं—मोहसे ग्रस्त होकर नहीं, **अशोचं प्रतिकुर्वीत।** अपनी आत्मामें स्थित रहकर, जो सङ्कट आवे, जो विपत्ति आवे उसका सामना करना चाहिए। उसे दूर करनेका उपाय करना चाहिए। एक सज्जनको ड्राइवरपर क्रोध आया तो आँख लाल हो गयी। मोटरमें हम चल रहे थे। मैंने उनसे कहा उसको तो दण्ड तुम पीछे दोगे, अपने आपको तो दण्ड तुमने पहले ही दे दिया। तुम्हारे हृदयमें जलन हो गयी, तुम्हारी आँख लाल हो गयी। तुम्हारा दिल बिगड़ गया। मैंने तो कहा धीरेसे, पर ड्राइवरने सुन लिया। उसने बादमें जब मालिक उतरकर चले गये तब हमसे कहा कि महाराज, आपने हमको बचा ही लिया।

स्वयं अपने आत्माको, अपने हृदयको दण्ड मत दो। महात्मा होता है दुर्लभ। महात्माका ज्ञान क्या है? महात्माका अनुभव क्या है? वह सबको अपने आत्मामें अनुभव करता है।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥ 7.19

यह ज्ञान बहुत दुर्लभ है, सुलभ नहीं। ज्ञानसंस्कारसे संस्कृत बहुत-से जन्म होते हैं। ज्ञानकी योग्यता प्राप्त करनेके लिए सत्कर्मका अनुष्ठान करना, विवेक करना, वैराग्य होना, शम, दमादि सम्पत्तिको ग्रहण करना पड़ता है। बहुत जन्मोंके संस्कारसे मनुष्यका अन्तःकरण ऐसा होता है कि उसको सच्चा ज्ञान प्राप्त होता है। जन्म होते हैं बहुत और ज्ञान होता है एक। ऐसा नहीं कि ज्ञानवान्के बहुत-से जन्म होते हैं। **ज्ञानवान् पुरुषः बहूनां जन्मनामन्ते मां प्रपद्यते**—इसका ऐसा अर्थ नहीं है। **बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् सन् वासुदेवः सर्वमिति मां प्रपद्यते।** तत्त्वज्ञान होना, भगवद्ज्ञान होना, आत्मज्ञान होना कोई आसान बात नहीं है।

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।

अनेक जन्मके संस्कार होते हैं। और यह बात देखनेसे मालूम पड़ती है। कोई रुईके गोदामसे आवे तो उसके कपड़ेपर कुछ रुईके रेशे लगे होंगे। कोई कोयलेकी खानमें-से निकले तो उसपर कुछ कोयलेके कण होंगे। जो आदमी नरकमें-से आता है वह चिड़चिड़ा होता है—वहाँ बहुत पिटा होता है, बहुत दुःख भोगे हुए

होता है—वह चिड़चिड़ाता हुआ नरकमें-से आता है। जो स्वर्गमें-से आता है वह तृप्त होकर आता है। जो साधन-सम्पन्न होकर आता है। जन्मसे ही—**ज्योत्स्नावत्यः क्वचिद् भुवः**—कहीं-कहीं धरती बड़ी चमकदार होती है। देखनेमें ही—उसके बाल्यावस्थाके खेलमें, बोलनेमें—एक प्रकारकी विशेषता होती है।

बहूनां जन्मानामन्ते ज्ञानवान् सन्। ज्ञानवान् होता है और फिर उसको परमात्माकी प्राप्ति होती है—अनुभव होता है। परमात्माका अनुभव होनेके बाद जन्म-मरण नहीं है। जन्म-मरण, पाप-पुण्य, राग-द्वेष, स्वर्ग-नरकमें आना-जाना ये तभीतक हैं जबतक परमात्माका ज्ञान, परमात्माका अनुभव नहीं होता। कर्ममें पाप-पुण्य, अन्तःकरणमें—व्यवहारमें रागद्वेष, भोगमें सुख-दुःख और स्वर्ग-नरकमें आना-जाना। ये तभीतक हैं जबतक परमात्माका ज्ञान, परमात्माका अनुभव नहीं होगा।

ऐसा क्या ज्ञान होता है? उस ज्ञानका स्वरूप क्या है?

वासुदेवः सर्वम् इति मां प्रपद्यते।

सब वासुदेव ही है, इस रूपमें वह मुझे अनुभव करता है। प्रपद्यते, प्रतिपद्यते, उसको यह अनुभव होता है कि सब है वासुदेव, सब है परात्पर, परब्रह्म—परब्रह्मके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है। यह उसको अनुभव होता है—यह देखो श्याम, यह देखो श्याम, जहाँ देखो वहाँ भगवान्, जहाँ दो पद, दो पदार्थके वाचक होते हैं, वहाँ दो पदोंका अर्थ एक नहीं हो सकता। जैसे एक पद है घड़ा और एक पद है कपड़ा। घट है, पट है। यदि कोई कहे कि कपड़ा घड़ा है और घड़ा कपड़ा है तो ये पद दो हैं, पदार्थ दो हैं, दोनों एक तो कभी हो ही नहीं सकते। बिलकुल असंगत है। कपड़ा घड़ा नहीं हो सकता। घड़ा कपड़ा नहीं हो सकता। तो **वासुदेवः सर्वम्**का क्या अर्थ हुआ? वासुदेव परमात्मा ही सब है। 'सब' शब्द अलग है—'वासुदेव' शब्द अलग है और सब शब्दका अर्थ होता है अनेकका मेल। सब माने सब लोग। इतनी स्त्री, इतने पुरुष, इतने गोरे, इतने काले, इतने नाटे, इतने लम्बे, इतने मोटे, इतने दुबले—सब मिलाकर सब लोग होते हैं। सब शब्दका अर्थ होता है अनेक। अनेकका समूह होता है सब और वासुदेव होता है एक। यह बात कैसे कही गयी कि जो कपड़ा है सो घड़ा है और जो घड़ा है सो कपड़ा है—जो एक परमात्मा है सो सब है—जो सब है सो एक परमात्मा है। यह बात असंगत मालूम पड़ती है। यही है वैदिक दर्शनकी विशेषता।

वेदान्तके सिवाय किसी भी मजहबमें—न जैनमें, न बौद्धमें, न मुसलमानमें, न इसाईमें, न आर्यसमाजमें, न ब्रह्मसमाजमें 'सब परमात्मा है' यह सिद्धान्त नहीं है। किसी-किसी समाजमें परमात्मा मानते ही नहीं। कहीं सिर्फ निराकार मानते हैं। कोई सावतें आसमानमें मानते हैं—यह सब जो हम देख रहे हैं, जैसा देख रहे हैं, जब देख रहे हैं, जिस प्रकारसे देख रहे हैं—इस विश्व सृष्टिको, यह ज्यों-की-त्यों परमात्मा है। **सर्वं खल्विदं ब्रह्म।** यह श्रुति है। सब ब्रह्म है। **ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्।** यह सम्पूर्ण विश्व ब्रह्म है। **स एवेदं सर्वम्, आत्मैवेदं सर्वम्, ब्रह्मैवेदं सर्वम्, अहमेवेदं सर्वम्।**

ऐसे श्रुति बोलती है। यह सब मैं हूँ। यह सब आत्मा है, यह सब ब्रह्म है। यह सब वही है। इसको कहते हैं सामान्याधिकरणका विचार। सामान्याधिकरण माने दो विभक्तियाँ समान अधिकरणमें हैं। **घटः पटः**—

कपड़ा घड़ा है—घड़ा कपड़ा है। कैसे हो सकता है? सब परमात्मा है, परमात्मा सब है यह बात कैसे हो सकती है? चार तरहसे इसकी संगति लगाते हैं। रामानुजाचार्य कहते हैं—परमात्मा है शरीरी और यह जीव और जगत् हैं शरीर। शरीर और शरीरीकी दृष्टिसे एक हैं। परमात्मा है आश्रय, ये जीव जगत् हैं आश्रित। परमात्मा है उपजीव्य और ये हैं उपजीवक। परमात्मा हैं शेषी और ये हैं शेष। जैसे एक आदमीको हम कहते हैं, यह आत्मा है, यह परमात्मा है—तो उसका शरीर भी है, अन्तःकरण भी है, उसके विचार भी हैं, उसके भाव भी हैं—सब मिलाकर उसको बोलते हैं मनुष्य। ऐसे हम परमात्माको जब सब बोलते हैं तो यह पृथिवी, अग्नि, जल, वायु, आकाश, मन, महत्तत्त्व प्रकृति सब मिलाकर बोलते हैं—यह परमात्मा। परमात्माकी प्रकृति है। जीव परा प्रकृति परमात्माकी प्रकृति है। परा प्रकृति और अपरा प्रकृति—दोनों प्रकृतियोंसे शरीरधारी हैं परमात्मा। हम बोलते हैं परमात्मा सब है।

श्रीरामानुजाचार्यजीके—शेष शेषी भावसे—परमात्माके लिए यह जगत् है और परमात्माका शरीर है। शरीर होनेसे शरीरी पर्यन्त विवक्षित होता है। शरीरीसे लेकर शरीरतक, सब एक परमात्मा है।

श्रीनिम्बकाचार्यजी महाराज कहते हैं कि वस्तु तो एक है, परन्तु उसकी दो अवस्थाएँ होती हैं। एक कार्य अवस्था और एक कारण अवस्था। जैसे हम कहते हैं—यह पेड़ है—यह बड़का पेड़ है—यह आमका पेड़ है। तो उसमें कार्यावस्थामें तना भी हैं—डालियाँ भी हैं—फूल भी हैं, फल भी हैं—और बीजावस्थामें तो परमात्मा होते हैं और व्यवहार-कालमें, प्रपञ्च-कालमें ये पत्ते होते हैं, ये फूल होते हैं—फल होते हैं—डालियाँ हैं—अलग-अलग हैं। कार्य अवस्थामें द्वैत है और कारण अवस्थामें अद्वैत है।

भगवान् श्रीकृष्ण बोलते हैं, कारण अवस्थाकी दृष्टिसे बोलते हैं। यह अब बीजात्मक है। **वासुदेवः सर्वम्।** यह परमात्माकी ही शक्तिका विक्षेप है—जीवके रूपमें-जगत्के रूपमें, उनकी शक्तियाँ प्रकट होकर दिखायी पड़ती हैं। यह परमात्मनिष्ठ ऊर्जा है जो जीव और जगत्के रूपमें मालूम पड़ती है। प्राचीन संस्कृत भाषामें इसको शक्तिका विक्षेप बोलते हैं। जो हम चीजें चाहते हैं वह भी परमात्माके लिए और जो शक्ति है वह भी परमात्माकी।

शंकराचार्यने इसकी व्याख्या दूसरे ढंगसे की। **वासुदेवः सर्वम्।** वे कहते हैं कि जब दो पदार्थ हैं—एक विश्व—सर्वम् और एक वासुदेवाय तो दो पदार्थको एक समझना यह तो भ्रमकालमें होता है—भ्रमसे आदमी दो चीजको एक समझ लेता है। तब यह तो अविवेक हुआ! अविवेक कालमें वस्तु दो होती हैं और उसको मनुष्य एक समझता है। बोधकालमें एक वस्तु मिथ्या होती है और एक सत्य होती है तब वह मिथ्या वस्तु सत्य वस्तुसे पृथक् नहीं होती है। सत्य वस्तु ही मिथ्या वस्तुके रूपमें मालूम पड़ती है। एक आदमी भ्रमसे पेड़को, ठूँठको भूतके रूपमें देख ले। वहाँ भूत-पदार्थ और पेड़ पदार्थ एक क्यों मालूम पड़ता है? भ्रमके कारण। रज्जु सर्प क्यों मालूम पड़ती है? भ्रमके कारण। यदि ज्ञान हो जाय तो रज्जु ही है, सर्प नहीं है तो सर्पके मिथ्या होनेका कारण एक पदार्थ है। यह जो सर्व है—सर्व माने सब पृथिवी, जल, वायु, अग्नि, आकाश इनसे बने हुए पदार्थ हजार-हजार पदार्थ, लाख-लाख पदार्थ, करोड़-करोड़ पदार्थ ये

एक परमात्मामें—केवल उसको न पहचाननेके कारण अलग-अलग मालूम पड़ रहे हैं। असलमें एक सत्य है और उससे अलग यह सर्व नहीं है। तो अलगावकी प्रतीति मिथ्या है क्योंकि अपने अभावके अधिष्ठानमें यह दीखता है। जैसे कोई कहते हैं—मिथ्या भाषण—भाषण मिथ्या नहीं है। भाषण तो है—परन्तु उसका अर्थ मिथ्या है। इसी प्रकार इस जगत्‌को जैसे बन्ध्या पुत्र असत् होता है ऐसे नहीं बोलते हैं। इस प्रकार परमेश्वरसे अलग यह विश्व प्रपञ्च नहीं है।

व्रजमें क्या बढ़िया दिखाते हैं श्रीबल्लभाचार्य, चैतन्य महाप्रभु। सब बछड़ोंको हरकर ले गये ब्रह्माजी—सब ग्वालबालोंको हरकर ले गये ब्रह्माजी। उनकी छड़ी छींके, बाँसुरी सब गयीं। उनके कपड़े-लत्ते भी गये—वे भी गये—सबको हरकर ले गये ब्रह्माजी। अब वहाँ है क्या? प्रकृति नहीं, जीव नहीं, श्रीकृष्ण अनेक जीव बन गये, अनेक बाँसुरी नहीं हैं—अनेक बाँसुरी बन गये। अनेक नाम नहीं है—अनेक नाम बन गये। उनके अलग-अलग अन्तःकरण नहीं हैं और उनके अलग-अलग संस्कार नहीं है। सबके सब श्रीकृष्ण बन गये। उनका पूर्वजन्म किसीका नहीं था। अन्तःकरण किसीके अन्दर नहीं था, प्रकृतिसे बना हुआ शरीर किसीका नहीं था, पञ्चभूतसे बना हुआ शरीर किसीका नहीं था। अब यदि हम वहाँ बोलते हैं—**वासुदेवः सर्वम्**—श्रीकृष्ण ही ग्वाल हैं, श्रीकृष्ण ही बछड़े हैं, वही बाँसुरी हैं, वही उनके कपड़े हैं, वही उसके नाम हैं, वही उनके रूप हैं। वह काला बछड़ा, वह गोरा बछड़ा—वह लाल बछड़ा—वह बड़ा, वह छोटा, वह सुदामा, श्रीदामा, वीरभद्र—सुभद्रा, रेंदा, पेंदा, मधुमंगल कुसुमासव ये सब कौन हैं? **वासुदेवः सर्वम्।**

ये सब भगवान्‌के रूप हैं। अलग-अलग नाम हैं तो, क्या? अलग-अलग रूप हैं तो क्या? इस प्रकारका अनुभव करनेवाले महात्मा-महात्मा क्यों? इसलिए कि संसारमें जो रागद्वेष होते हैं वे उसमें हैं ही नहीं। देखता है हमारे भगवान् हैं, वहाँ राग करके पक्षपात करनेकी आवश्यकता नहीं है और वहाँ द्वेष करके, किसीको देखकर जलनेकी कोई आवश्यकता नहीं।

अन्तःशीतलतायां तु लब्धायां शीतलं जगत्।

जब सब भगवान् हैं तो हृदय शीतल हो गया और हृदय शीतल हो गया तो सारी दुनिया शीतल हो जायेगी। असलमें जब अपना दिल जलता है तो दुनियामें आग लगती है। पहले चिनगारी अपने दिलमें पड़ती है फिर दुनिया जलती है। अपना हृदय शीतल है तो सारी दुनिया शीतल है।

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।

जिसमें मोह नहीं है, राग नहीं है, द्वेष नहीं है। द्वेषसे क्रोध होता है। रागसे काम और लोभ होते हैं। मोहसे पक्षपात होता है।

सब लोग महात्मा क्यों नहीं हो जाते? सभी हो जायँ—यह तो बड़ी सुगम बात है। बोले नहीं—ज्ञानके चोर हैं कुछ, वे ज्ञान होने नहीं देते। ज्ञानको लूट ले जाते हैं।

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥ 20॥

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥ 21॥
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्॥ 22॥
अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि॥ 23॥

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः हमको यह चाहिए। **तै तै कामैः**—कामनाके अनेकरूप हैं। जहाँ माया होती है, जहाँ दम्भ होता है, वहाँ एकरूपता नहीं रहती। यह चाहिए, यह चाहिए—आप कोई लिस्ट नहीं बना सकते कि हमको क्या-क्या चाहिए। चाहका अन्त नहीं है। **अनिर्वचनीयैः ये खलु इदानीम् न ज्ञायन्ते तैः तैः**—वे वे कामनाएँ जिनका अभी पता तक नहीं है कि हमारे हृदयमें क्या देखकर क्या पानेकी इच्छा हो जायगी? आप इस भोगको श्रेष्ठ समझते हैं—इस वस्तुको श्रेष्ठ समझते हैं—**कामान् यत् कामयते**—देखनेमें बहुत मीठे लगते हैं। काम शब्दका एक अर्थ—बहुत मीठा है। देखनेमें मीठा लगता है पर परिपाकमें कड़वा होता है। कई चीज ऐसी होती है जो खानेके समय तो कड़वी मालूम पड़ती है पर परिपाकमें मीठी हो जाती है। आँवला खानेके समय कसैला मालूम पड़ता है पर परिपाकमें वह मधुर हो जाता है। संसारकी कामनाएँ मनमें आजायें, इसमें कोई दोष नहीं है। अपनेको हीन तो समझना ही नहीं, क्योंकि कामनाको आप पहलेसे नहीं रोक सकते। जब आजायेगी मनमें, उसका उदय हो जायगा तब यह ठीक है कि नहीं, यह ज्ञान हो जायगा! उस समय उसे जो गलत कामना है वे रोक सकेंगे और अच्छी कामनाको रख सकेंगे। लेकिन वह तो आपके सोचने-विचारनेसे पहले ही दबे पाँव जैसे चींटीके पाँवकी आवाज सुनायी न पड़ती हो, वैसे ही हृदयमें उदय हो जाती हैं। उनको मना करनेके लिए पहलेसे विवेक चाहिए। पहलेसे वैराग्य संस्कार चाहिए तब कामनाएँ कम उदय होंगी। लेकिन उदय हो जायँ तो यह कोई अपराध नहीं है। आगयी तो आगयी! हम जब उनके कहे अनुसार चलने लगते हैं—यहाँ चलेंगे तो यह कामनापूर्ति होगी और गलत जगह चले गये। अब कामनापूर्ति होगी। पहलेसे कामनाका उदय न हो यह एक नम्बरकी बात हुई। उदय होकर शान्त हो जाय यह दो नम्बरकी बात है। उदय होनेपर भी सही जगह ले जाय तो यह तीसरा नम्बर है। यदि गलत जगह पर ले जाये तो आपकी चेतना, आपका ज्ञान, आपकी जीवात्मा नष्ट-भ्रष्ट हो गयी। क्योंकि आप रामके अधीन नहीं रहे, कामके अधीन हो गये। ये ज्ञानके लुटेरे हैं। कौनसे—

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्ते।

ये काम किससे बनेगा? अमुक सेठके पास जायेंगे तो यह काम बन जायेगा। पुलिसके पास जानेसे बनेगा या अफसरके पास जानेसे बनेगा। हम अपने आत्मदेव, अन्तर्यामी, परमेश्वरको छोड़कर, अपने हृदयमें विराजमान जो प्रभु है, उसकी ओर पीठ करके, दूसरेके पास जाते हैं कि आप हमारी कामना पूरी कर दीजिये।

ऐसे ही जनम समूह सिराने।
प्राणनाथ रघुनाथ सों पति तजि, सेवत पुरुष बिराने॥

अपने पतिदेव हैं अपने घरमें, अपने हृदयमें—और हम दूसरे पुरुषके पास जाते हैं कि तुम हमारी कामना पूरी करो। यह व्यभिचार है, यह अपराध है। हमने ईश्वरकी ओर पीठ कर दिया और दूसरेकी ओर मुँह कर दिया। कहाँ जाते हैं? **प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।** बोले ये काम अच्छे देवतासे नहीं बनेगा। यह तो भूतसे बनेगा, यह तो भैरवसे बनेगा। मुकदमा जीतनेके लिए किसी ओझा-सोखाके पास जाते हैं तो वह कहता है देवताको माँस चढ़ाओ।

अब देवताको चढ़ानेके लिए माँस मँगवाना है। किसीसे घरमें पुरश्चरण हो रहा था तो उसके लिए कितनी योगिनी और कितने भैरव और कितने भूत हैं जो उनसे माँसकी बात करते थे। बलि देकर हम छोटे-छोटे देवताओंसे कामनापूर्ति चाहते हैं। उनके लिए नियम पालन करते हैं। ईश्वरसे नियम पूरा नहीं हुआ तो अब देवतासे नियम पूरा होगा। ऐसा क्यों होता है? सबकी एक प्रकृति होती है—पूर्वजन्मकी बनी प्रकृति होती है और इस जन्ममें भी होती है। जैसा संग किया और जैसा संस्कार पड़ा, जैसा पढ़ा-लिखा, जिनके साथ रहे—पूर्व जन्मकी प्रकृति जैसी बनी हुई है अपनी-अपनी प्रकृतिके हिसाबसे कम्पनी ढूँढ लेते हैं। जिनका मन तामसिक होता है—जिनका मन राजसी होता है, उनको तामस और राजस देवताकी शरणमें जानेसे उनका काम बनेगा, यह विश्वास होता है। किसको घूस दें तो हमारा काम बनेगा? ये अन्तर्यामीको छोड़कर बाहरकी वस्तुओंके पीछे दौड़ते हैं। वे बिचारे भी मजबूर हैं। क्योंकि उनकी सोसाइटी, कम्पनी ऐसी ही रही है। कम्पनी मनुष्यके जीवनको बनाती है।

आप कैसे लोगोंमें उठते-बैठते हैं? आप कैसे लोगोंकी सेवा करते हैं? आपके मनमें क्या बननेकी इच्छा है? इसके अनुसार आपके जीवनका निर्माण हो जायेगा। संगका असर पड़ेगा, श्रद्धाका असर पड़ेगा, अपनी इच्छाका असर पड़ेगा, पूर्व जन्मकी प्रकृतिका असर पड़ेगा। कहाँ जाते हैं आप? मनुष्यका मन बता देता है कि वह कहाँसे आरहा है। अगर मनुष्यका मन निर्वासन हो रहा है तो पुनर्जन्म नहीं होगा और यदि वासनापूर्तिके मार्गपर जा रहा है तो पुनर्जन्म होगा। यह तो देखनेसे ही मालूम पड़ जाता है।

प्रकृत्या नियताः स्वया,
यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।

अब उसमें बात क्या है—देवता शरीरकी पूजामें भी भक्ति और श्रद्धा होनी ही चाहिए। भगवान् कहते हैं, उस देवताके शरीरमें भी मैं ही रहता हूँ। श्रद्धाके पीछे रहकर वही तो श्रद्धाको फेंकते हैं और श्रद्धेयके पीछे रहकर वही श्रद्धाको लेते हैं यह देने-लेनेका जो रोजगार है यह प्रभुका ही है। वही श्रद्धा देते हैं और वही श्रद्धा लेते हैं। तब इसमें दोष क्या हुआ? दोष यह हुआ कि प्रभुकी पहचान नहीं है। वह समझता है अपनी होशियारीसे, अपनी बुद्धिमत्तासे, अपने नैपुण्यसे, हम यह श्रद्धा कर रहे हैं और जिसपर श्रद्धा कर रहे हैं उसमें परमेश्वर है, यह पहचानता नहीं। बुद्धि नहीं बनती।

एक राज्यमें राजकुमारीका विवाह हुआ। उस अवसरपर राजकुमार नहीं आ सका। तब उस राजकुमारकी तलवारपर सिन्दूर डालकर उसकी माँग भर दी। ऐसी राज्योंकी रीति थी। उसको युद्धमें जाना था इसलिए चला गया था। युद्ध जीतकर लौटा तो ससुराल गया और ससुरालमें बाहर सरायमें ठहर गया और ऐसी साँठगाँठ जोड़ी कि जिससे उसका विवाह हुआ था, वही लड़की उससे मिलनेको तैयार हो गयी। मिलनेपर उसने बता दिया कि मैं तो तुम्हारा पति हूँ जिससे तुम्हारा विवाह हुआ था। वह लड़की मूर्च्छित होकर गिर पड़ी। क्यों? इसलिए कि वह पतिके सामने व्यभिचारिणी सिद्ध हो गयी थी। उसने कहा—अब इनको मुँह दिखाने लायक नहीं हूँ। था वही जिससे उसका विवाह हुआ था; परन्तु बिना जाने वह उससे मिलने चली गयी तो अज्ञान भी एक अपराध होता है। हम जहाँ-कहीं जाते हैं, जिस किसीकी शरण लेते हैं। जिस-किसीसे अपना काम बनाना चाहते हैं लेकिन उसके भीतर जो परमेश्वर है उसको पहचानते नहीं।

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्॥ 7.22

भगवान् बड़े चालाक हैं। बड़े बुद्धिमान हैं। संसारमें सारी बुद्धि ईश्वरकी बुद्धिमें-से ही निकलती है। देखते हैं इसके अन्दर श्रद्धा है। बल्कि गीतामें तो यहाँतक कह दिया है कि शास्त्र-विधिका उल्लङ्घन करके भी यदि कोई श्रद्धा करता है तो वह श्रद्धा सात्त्विकी, राज़सी, तामसी होती है। उस श्रद्धाके हिसाबसे फल मिलता है।

श्रद्धामें फल देनेकी शक्ति है परन्तु अन्धी श्रद्धा हो गयी जहाँ श्रद्धेयका ज्ञान नहीं है। फल दे रहा है कोई और समझ रहे हैं किसीको। यही श्रद्धाकी अन्धता हुई। परमेश्वरकी पहचान नहीं रही। इस देवताके भीतर फल देनेवाला वही परमेश्वर है। देवतापर तो दृष्टि गयी; परन्तु परमेश्वरपर दृष्टि नहीं गयी। भगवान् कहते हैं—मैं ही फल देता हूँ और तत्काल फल देता हूँ। वह जो चाहता है वह फल भी देता हूँ। लेकिन वह जो फल मिलता है वह अनन्त परमेश्वरके द्वारा मिला। यह हमारी बुद्धि ग्रहण नहीं करती। इसलिए फल मिलनेके बाद वह देवता भी छूट जायगा और वह परमेश्वर भी छूट जायेगा। लेकिन यदि यह ज्ञात हो कि यह फल हमें परमेश्वरसे मिला, तो परमेश्वर अनन्त है, परमेश्वर पर और श्रद्धा होगी। आप भी बने रहेंगे। परमेश्वर भी बना रहेगा। आपकी श्रद्धा भी बनी रहेगी और आप कहेंगे, यह परमेश्वर हमको फल देनेवाला है।

पूर्वमीमांसामें कर्मसे अपूर्वकी उत्पत्ति करके फलकी प्राप्ति मानते हैं। परन्तु वेदान्त शास्त्रमें, उपनिषद्में, गीतामें यह बात मानी जाती है कि कर्म तो जड़ है, अन्धा है। कर्म तो कृतक है। कर्म तो अपना बनाया हुआ है। वह स्वयं फल देनेमें समर्थ नहीं है। असलमें ईश्वर ही फल देता है। कर्मकाण्डी लोग कर्मसे फलकी प्राप्ति मानते हैं, वेदान्ती परमेश्वरसे फलकी प्राप्ति मानते हैं। **अन्तवत्तु फलं तेषां।** उनका जो फल है वह अन्तवत् है। अन्तवत् माने एक बार वह अपने अन्तःकरणमें प्रतिफलित होगा। फल शब्दका अर्थ ही यह है। फल बाहर नहीं मिलता, फल भीतर मिलता है। यदि आपको लाखों-करोड़ों रुपयेकी प्राप्ति हो जावे और आपको मालूम न पड़े तो कुछ मिला? जबतक मालूम नहीं पड़ेगा तबतक कुछ नहीं मिला।

एकके पास सुन्दरी स्त्री आनेवाली है और महात्माने एक नस दबाकर समाधि लगा दी। आयी और गयी। पता ही नहीं चला कि कब आयी और कब गयी। फल मिला?

भोग हमेशा ज्ञानात्मक होता है। **निर्गुणं गुणभोक्तृ च। भोक्तृत्वं नाम उपलब्धृत्वं**—उपलब्धिका ही नाम भोग है। आपके जीभपर नमक पड़ा, नमक मालूम पड़ा तब सलोनेपनका स्वाद आया। आपकी जीभपर शक्कर पड़ी। जब शक्कर मालूम पड़ी तब मिठासका अनुभव हुआ। भोग होना माने मालूम पड़ना होता है। मालूम पड़ना और भोग होना एक ही चीज है। भोग अलग और ज्ञान अलग, ऐसा नहीं होता है। भोग ही ज्ञान है, ज्ञान ही भोग है। आपका ज्ञान कहाँ है, इसको देखें। फलकी उत्पत्ति कहाँ होती है? फल हमेशा अन्तरमें होता है। रुपया मिलना फल नहीं है। रुपया मिलनेपर जो सुख होता है वह फल है। क्योंकि रुपया नहीं खाया जाता। सुखका भोग होता है। स्त्रीका भोग नहीं होता। स्त्रीका जो सुख मिलता है अन्तःकरणमें उसका भोग होता है। कुरसीसे भोग नहीं होता, कुरसी मिलनेसे अन्तःकरणमें जो भोग होता है, उसका सुख होता है। सुख और ज्ञान अलग-अलग नहीं होते। सुख हमेशा ज्ञानात्मक होता है।

अन्तवत्तु फलं तेषां। ईश्वरके अनुग्रहसे हमारा अन्तःकरण सुखाकार हो। यदि देवताके अनुग्रहसे मानेंगे और ईश्वरके अनुग्रहसे मानेंगे तो उसमें अन्तर कहाँ पड़ेगा? अन्तर यही पड़ेगा कि देवता तो तौलके फल देता हैं आप जितना नियम पालन करोगे, जितनी पूजा करोगे, फल भी उसके परिमाणमें ही प्राप्त होगा।

एक आदमीको चाहिए बेटा और वह पाँच मिनटतक एक मन्त्रका जप करता है। वह बेटा तो है बड़ी चीज और चाहता है पाँच मिनटके रोजके जपमें—वह कैसे मिलेगा? एक आदमी चाहता है करोड़ रुपया और उसके लिए पाँच सौ रुपयेका दान करता है। बड़ा प्रतिबन्ध होता है तो उसके लिए बड़ा अनुष्ठान करना पड़ेगा। यदि आपको अनन्त फलकी प्राप्ति चाहिए तो आप अनन्त परमेश्वरकी आराधना कीजिये। मरनेवाला देवता, डीह-डामरमें रहनेवाला ग्राम देवता, बेचारा एक गाँवका भूत, एक गाँवका प्रेत थोड़े दिनतक रहनेवाला, फिर वह भूतयोनिसे छूट जायगा, वह देवता होनेपर भी नरकमें चला जायगा। देवता होनेपर ब्रह्मलोकमें भी चला जायगा, मुक्त भी हो जायगा। उसकी तो ड्यूटी ही थोड़ी है तो वह बेचारा चपरासी, आपको कितना फल देगा?

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।

इस देनेवालेका अधिकार बहुत थोड़ा है और आपकी बुद्धि भी छोटी है—**अल्पमेधसाम्।** अल्पमेधस् है—छोटा-सा यज्ञ करते हैं। मेधस् माने यज्ञ भी होता है। थोड़ा देते हैं, लेना चाहते हैं बहुत। पाँच रुपयेका दान करके पाँच हजार नहीं, पाँच लाख चाहते हैं। देवताओंको मानो हिसाब ही नहीं आता है। **छायेव कर्मसचिवः**—वह तो अपनी परछाँई है। वह देता है तौलकर। जितना दो उतना लो। परन्तु परमेश्वर जो है वह जिसमें जितना कम सामर्थ्य है, उसको उतना अधिक देता है। परमेश्वरके दानमें यह विशेषता है।

सनत्कुमारके सामने ईश्वरके प्रकट होनेकी कोई जरूरत नहीं। उनका ज्ञानसे ही काम चल गया। शुकदेवका ध्यानसे ही काम चल जाता है। वसुदेव देवकीके सामने प्रकट भी होकर छिप जाते हैं और जब उनके मरनेका समय आता है तब नारदजीसे कहलवाते हैं कि ये परमेश्वर हैं। बीचमें ज्ञान हुआ था तो भूल गये।

परन्तु जिनकी जाति ऊँची नहीं है, जिनका आचार ऊँचा नहीं है, जिनका ज्ञान ऊँचा नहीं है, उनको उठानेके लिए—जैसे धरतीमें कोई ताकतवर आदमी गिरा हुआ हो और उसको खुदकी ताकत हो तो उसको उठानेके लिए थोड़ी-सी ताकत लगानी पड़ती है—थोड़ी-सी सहायता करनी पड़ती है। लेकिन कोई आदमी गिरा हुआ हो और उसमें उठनेका सामर्थ्य ही न हो तो पूरी शक्ति लगाकर उसको उठाना पड़ता है। भगवान्, जो साधनसम्पन्न होते हैं, उनको उठानेके लिए थोड़ी-सी ताकत लगाते हैं अपने सङ्कल्पसे, अपनी शक्तिसे, अपने इशारेसे, उनको उठा लेते हैं। लेकिन जो दीन हैं, हीन हैं, जिनके पास कोई शक्ति नहीं है, साधन नहीं है, उनके लिए तो स्वयं आते हैं, आकर दोनों हाथसे उठाते हैं। अपनी छातीसे लगाते हैं। ***जेहि अति दीन पियारे।*** बहुत प्रिय—बहुत प्रिय वह दीन उनको होता है।

अल्पमेधसाम्—अपनी बुद्धि तो छोटी चीजोंमें लगा दी। **देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि।** देवताकी आराधना करनेवाले इन्द्रके पास जायेंगे। इन्द्र कितने दिन रहेंगे? एक मन्वन्तर। मन्वन्तर पूरा होनेपर तो इन्द्र ही बदल जायेगा—मिनिस्टर ही बदल गये। ब्रह्माजीका एक घण्टा भी नहीं। ऐसा मान लें कि ब्रह्माजीकी आयु सौ वर्ष है। उनके एक दिनमें चौदह मन्वन्तर होते हैं। अर्थात् चौदह घण्टे समझ लो। एक-एक मन्वन्तरका एक-एक इन्द्र होता है। एक घण्टेके लिए इन्द्र होता है। आपके ऊपर इन्द्र प्रसन्न हो जाय तो ब्रह्माजीके एक घण्टेके लिए कोई चीज दे सकता है। इतनी ही उसकी गति है। आप देवताको प्रसन्न करेंगे तो देवताके पास जायेंगे और यदि **मद्भक्ता यान्ति मामपि** जो भगवान्‌की भक्ति करेगा वह भगवान्‌के पास जायेगा। उनका घण्टा कितना? बोले ब्रह्माजीका एक घण्टा—एक मन्वन्तर, चौदह मन्वन्तरका एक कल्प और उससे बड़ा महाकल्प। विष्णु भगवान्‌का एक क्षण, ब्रह्माका एक महाकल्प—उनका पूरा जीवन शिवका एक क्षण, विष्णुका पूरा जीवन और परमेश्वरका एक सङ्कल्प और शिवका पूरा जीवन। परमात्मामें यह है सङ्कल्प कल्पित। यदि वह अगम्य—अद्वितीय वस्तु आपको मिल जाय तो आपके फलका, प्रतिफलित हुआ। आपके अन्त:करणमें जो वह विशाल है उसका कोई अन्त ही नहीं है।

देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि। 7.23
अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः॥ 7.24

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

प्रवचन : 8

देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि।

भगवान्‌ने यह विभाग कर दिया कि जो देवताकी पूजा करता है वह देवताके पास पहुँचता है और जो मेरी भक्ति करता है वह मेरे पास पहुँचता है। यहाँ भक्तिकी स्पष्ट दो विभक्ति कर दी। विभक्ति माने विभाग। व्याकरणमें विभक्ति शब्दका प्रयोग होता है वह बँटवारेके लिए होता है। यह कर्त्ता है, यह कर्म है यह करण है। विभाग करनेके लिए ही विभक्ति होती है। **विभागो-विभक्तिः।** देवताका यजन-देवताकी आराधना। देवता लोग होते हैं एकांगी। जैसे इस शरीरमें जिह्वा है एक देवता—एकांगी। वह केवल वस्तुका स्वाद देती है। ये देवता हैं वाक्, चक्षु, श्रवण मन। इनकी गति, इनका क्षेत्र बँधा हुआ है। रूपके क्षेत्रमें नेत्र देवता काम करते हैं। श्रवणके क्षेत्रमें कर्ण देवता काम करता है। ये एक-एक विभागके अधिकारी होते हैं और अपने विभागकी भी पूर्णता इनमें नहीं होती। यह नहीं कि वे कानसे सब कुछ सुन सकें या आँखसे सब कुछ देख सकें। इनकी यदि आराधना की जाय, इनका यजन किया जाय, इनकी पूजा कि जाय तो अपने क्षेत्रमें आपकी उन्नति कर सकते हैं। जो भगवान् हैं ये किसी एक विभागके अध्यक्ष नहीं हैं। असलमें सब देवताओंके गोलकमें वेष बदल-बदलकर वही पान करते हैं।

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु॥ 7.9

भगवान्‌ने कहा कि सूर्यमें जो तेज है, वह मेरा है। चन्द्रमामें जो तेज है, वह मेरा है। अग्निमें जो तेज है, वह मेरा है। अर्थात् मैं ही आँखमें देखनेकी रोशनी देता हूँ। मैं ही मनमें सोचनेकी रोशनी देता हूँ। मैं ही कानमें सुननेकी रोशनी देता हूँ। यह भी कह दिया कि मैं सूर्य, चन्द्र, अग्निको तो तेज देता हूँ परन्तु ये मुझे प्रकाशित करनेमें समर्थ नहीं है।

ईश्वरको प्रकाशित करनेके लिए सूर्य, चन्द्रमाका प्रकाश नहीं चाहिए—अग्निका प्रकाश नहीं चाहिए, माने नेत्रज्योति, वाक्ज्योति, मनोज्योति इनके प्रकाशमें परमात्मा नहीं दीखता है। वह इनको प्रकाशित करनेवाला है। आप जिसकी पूजा करेंगे वही हो जायेंगे।

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥ 7.21

आप जिसपर श्रद्धा करेंगे वही हो जायेंगे। **यच्चित्त तन्मये मर्त्याः।** मनुष्यका चित्त जहाँ है वह वहीं है। उसका मन जो हो वह वही हो गया। मनुष्य शरीर नहीं है। मनुष्य मन है। उसका मन देवतामें है

तो देवता हो गया। उसका मन राक्षसमें है तो राक्षस हो गया। उसका मन परमात्मामें है तो परमात्मा हो गया। परमात्माका रूप देखनेका प्रयास कीजिये—परमात्माका स्वरूप सुननेका प्रयास कीजिये। परमात्माको मनमें लाकर बोलनेका प्रयास कीजिये। यदि आप संसारको मनमें चढ़ावेंगे तो आपका मन, वाणी, नेत्र सब संसारमय हो जायेंगे। **मद्भक्ता यान्ति मामपि।** भगवान्‌की भक्ति कीजिये और भगवान्‌के पास पहुँच जाइये। अब यह प्रश्न हुआ कि जैसे देवता लोग हैं, ऐसे भगवान् भी कुछ होंगे। भगवान् अपनी विशेषता बताते हैं।

जैसे देवताओंकी जाति होती है—उनका विभाग होता है उनके क्षेत्र होते हैं—वैसे हमारा नहीं है। इन्द्र, चन्द्रादि दर्शन देते हैं वैसे राम, कृष्णादि भी तो दर्शन देते हैं। आप साइंसकी नोंकपर इस बातको मत परखिये। ईश्वर कभी अपनी जाँच करानेके लिए मशीनपर नहीं चढ़ता कि तौल लो, हमारा वजन कितना है? नाप लो, हमारी कितनी लम्बाई, कितनी चौड़ाई है। नाप लो, हमारी कितनी उम्र है। वह किसी देश, काल और वस्तुके तराजूपर अपनी उम्र नपवाने नहीं आता।

का पूछौ साधौ उमर हमारी।
छप्पन कोटि जादव भये, दस कोटि कन्हाई।

वह व्यक्तिके रूपमें दीखनेपर भी व्यक्ति नहीं है। क्योंकि वह कोई प्राकृत व्यक्ति नहीं है। कई चीजें हम लोग व्यक्त करते हैं। एक लकड़ी है, उसे गढ़ लिया, औरत बना लिया। मर्द बना लिया। एक लकड़ीमें व्यक्ति है—यह हाथ है, यह पाँव है, यह सिर है—इसका नाम व्यक्ति होता है।

अंजु धातुसे अञ्जन शब्द बनता है—अञ्जना शब्द बनता है। उसीमें उपसर्ग जोड़नेसे यह व्यञ्जन शब्द बनता है। व्यञ्जन होनेपर इन्द्रियोंका भोजन बन जाता है और व्यञ्जना होनेपर मनका भोजन बन जाता है। व्यञ्जना काव्यमें होती है और व्यञ्जन रसोई घरमें होता है। एक भागवत-व्यञ्जन नामकी पुस्तक है, अभीतक प्रकाशित नहीं हुई। भागवत-व्यञ्जन माने वैष्णवोंका व्यञ्जन—भागवतके अर्थके व्यञ्जना। **व्यञ्जनं व्यक्तिः।** व्यञ्जन माने आँखका भोजन, कानका भोजन, नाकका भोजन, मनका भोजन और यह व्यक्ति क्या है—व्यक्तिको हम भोजन देते नहीं हैं। हम भोजन देनेके बहाने उसका भोजन करते हैं। कोई आकर उपस्थित होता है—महाराज हम आपको भोग देनेके लिए उपस्थित हुए हैं। वह भोग देनेके लिए उपस्थित नहीं होता, वह भोग लेनेके लिए उपस्थित होता है। यह संसारका छल है। कि हम आपको भोग देनेके लिए उपस्थित हैं। यही संसारका स्वरूप है, इसीका नाम माया है, इसीका नाम कपट है, इसीका नाम छल है। असलमें—तुम क्यों भोग देना चाहते हो? आपको भोग देनेमें हमको बड़ा सुख हो रहा है, तब तुम अपनेको सुखी करना चाहते हो? **व्यञ्जनं व्यक्तिः। न व्यज्यते केनापि प्रमाणेन इति अव्यक्तं।** भगवान्‌ने कहा मैं अव्यक्त हूँ। अव्यक्त माने आपकी जीभ, नासिका, त्वचा इन प्रमाणों द्वारा गृहीत नहीं हूँ।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्। 7.24

कोई चीज प्रकृतिमें अपने आप व्यक्त हो जाती है। मिट्टीमें पत्थर अपने आप बनने लगते हैं। समुद्रकी बालूमें शंख अपने आप बनने लगते हैं। छोटे-छोटे घोंघे अपने आप बनते हैं। कीड़े पड़ जाते हैं, बना लेते हैं। कुछ प्रकृतिमें बनते हैं, कुछ कर्मसे बनते हैं। ये जो भगवान् हैं, ये कैसे बने? कर्मसे, किसी फैक्टरीमें गढ़े गये—स्वयं प्रकृतिमें पैदा हुए—ये दोनों बात भगवान्के श्रीविग्रहमें नहीं है। उनका जो प्राकट्य है-विलक्षण है। वे सच्चिदानन्दघन हैं। **मम अनुत्तमं अव्ययं परं भावं अजानन्तः अबुद्धयः अव्यक्तं माम् व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते।** भगवान्का अव्यय जो परमभाव है—अनुत्तम—जिससे उत्तम और कुछ नहीं होता। उत्तमताकी अवधि 'देखी री मैंने सुन्दरताकी सीमा।' यह सीमा जो है—अनुत्तम—जिससे उत्तम और कोई न हो उसका नाम होता है अनुत्तम। इसके लिए खास तरहके सूत्र-नियम बनाने पड़ते हैं। नहीं तो अनुत्तम शब्दका अर्थ ऐसे भी तो कर सकते हैं—'जो उत्तम न हो'—ऐसा अर्थ नहीं होता। **नास्ति उत्तमो यस्मात्।** जिससे उत्तम और कोई नहीं है। माने उत्तमताकी—उत्कर्षकी अवधि। **अक्षरात् परतः परः।** सबसे परे जो अक्षर है उससे भी परे। क्षरसे अलग है अक्षर और अक्षरसे भी विलक्षण है यह **अक्षरात् परतः परः।** सबसे परे अक्षर है। उससे भी परे यह साक्षात् पुरुषोत्तम है। इससे बड़ा और कोई नहीं।

दूसरी बात अव्यय—अव्यय माने जो कभी घिसता नहीं। कभी जिसका व्यय नहीं होता। किसीके पास बहुत धन हो और खर्च करने लगो तो अन्तमें 'ख' हो जायगा। ख+रचना—खकी रचना हो जायगी। खत्मा, ख+तमं। ये संस्कृतके ही शब्द हैं। आपकी जो तिजोरी है, उसमें आमदनी न हो, बैंकमें आमदनी न हो तब क्या होगा? ख+रचना हो जायेगा। शून्य हो जायगा। अतिशय शून्य हो जायगा। खर्च हो जायगा। तो जिसका व्यय होता है उसका खत्मा हो जाता है। खर्च ही खर्च नहीं होना चाहिए, आना भी चाहिए। लेकिन यह तो परमात्मा ऐसा है, इसमें कहीं व्यय नामकी वस्तु है ही नहीं। व्यय माने विपरीत गमन—जैसे पैदा हुआ था वैसे मिट रहा है। पैदा होनेके विपरीत, बढ़नेके विपरीत यदि उसकी गति है, तो उसको बोलेंगे—व्यय। परमात्मा कैसा है? अव्यय है। परमात्माका अस्तित्व अनुत्तम है, अव्यय है और वह परम है, आत्मरूप है। हम लोग इस बातको तो जानते नहीं हैं। **अबुद्धयः**—मूर्ख हैं। सँभलकर इस शब्दका व्यवहार है। अबुद्धयःका अर्थ होता है नासमझ। मूर्ख हैं, भ्रान्त हैं ऐसे नहीं बोलते। कष्ट भूले हुए हैं—भटके हुए हैं—ऐसा नहीं, समझते नहीं, वे क्या करते हैं?

अव्यक्तं मां व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते।

मैं कृष्णरूपमें भी, रामरूपमें भी साक्षात् अव्यक्त ब्रह्म ही हूँ। परन्तु नासमझ लोग ऐसा मानते हैं कि यह भी कोई प्रकृतिका विलास है, यह भी कोई देवता—दानी है, यह भी कोई व्यक्ति विशेष ही है। तो अव्यक्त सच्चिदानन्दघनको व्यक्तिविशेषके रूपमें मानना, यह मूर्खता है। पण्डित लोग इसमें-से कैसे अर्थ निकालते हैं इसका नमूना बताते हैं।

अव्यक्तं संतं मां अबुद्धयः व्यक्तिमापन्नम् मन्यन्ते।

मैं तो हूँ अव्यक्त, किन्तु मूर्ख लोग मुझे व्यक्ति भावको प्राप्त मानते हैं। इसीको उलट दो।

व्यक्तिमापन्नम् संतं मां अबुद्धयः अव्यक्तं मन्यन्ते।

जब मैं साक्षात् प्रकट हूँ, सच्चिदानन्दघन, मुरलीमनोहर, श्यामसुन्दर, मोरमुकुटवाला, मन्द-मन्द मुसकानवाला, वनमाली, पीताम्बरी, कुण्डली, किरीटी, जब मैं स्वयं प्रकट हूँ, मैं तो व्यक्त होकर आया तुम्हारे घरमें और तुम अव्यक्त की चिन्ता कर रहे हो! निश्चय ही आपकी बुद्धि ठीक नहीं है।

अव्यक्तं—जो मुझे साकार मानते हैं—जो मुझे अव्यक्त मानते हैं तो दोनों गलत हैं, क्यों ? अव्यक्तको व्यक्त मानते हैं वे भी अबुद्धि हैं और व्यक्तको अव्यक्त मानते हैं, वे भी अबुद्धि हैं अव्यक्त और व्यक्त दोनों माननेवाले अबुद्धि हैं क्यों? मैं व्यक्तसे भी, विलक्षण हूँ। अव्यक्तसे भी विलक्षण हूँ। दोनोंसे फर्क है। मैं इस दुनियाके रूपमें बनानेवाली प्रकृतिसे भी विलक्षण हूँ और जो दुनियाके रूप हैं उनसे भी विलक्षण हूँ।

परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्।

भगवान्से बढ़कर दूसरा कोई नहीं है और भगवान्में किसी प्रकारका कोई परिवर्तन विवर्तन होता ही नहीं। वह बिलकुल एक रस, सर्वथा एक रस है। उनकी एक रसतामें किसी प्रकारकी शंका नहीं है।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥ 24॥

उन्होंने बुद्धि नहीं बनायी। यदि वे सत्संग करते, यदि वे शास्त्रका श्रवण, मनन करते तो ऐसे अबुद्धि न होते। उनका तो संग बिगड़ गया। वे दुनियाके बारेमें तो सुनते हैं परन्तु परमेश्वरके बारेमें नहीं सुनते। अबुद्धयः—बुद्धि सम्पादनका उन्होंने प्रयास नहीं किया। कृतबुद्धि नहीं हुए। अजानन्तः। क्योंकि उन्होंने सत्संग नहीं किया। स्वशास्त्रका स्वाध्याय नहीं किया। कभी अन्तर्मुख होकर विचार नहीं किया। कभी ध्यान करने की कोशिश नहीं की। इसलिए वे ईश्वरके स्वरूपके बारमें गड़बड़ा जाते हैं।

अच्छा महाराज, आप स्वयं ही क्यों नहीं प्रकट होते? सबके सामने आकर ललकार दो कि देखो, मैं यह ईश्वर हूँ। सब लोग कैसे भटकेंगे? कैसे भ्रान्त होंगे? भ्रान्तिमें भ्रम है। भ्रम माने भ्रमण। भ्रमण करनेके लिए आप निकलते हैं न! उसमें क्या विशेषता होती है। जाते हैं- आते हैं-जाना-आना दोनों होता है भ्रमण। भ्रमणे भ्रमः-यही जो कभी आगे जाना, कभी पीछे जाना, कभी बाँयें जाना, कभी दाहिने जाना। यह जो अपनी बुद्धिका भटकना है, यही भ्रम है। निष्ठावती बुद्धि नहीं है। बुद्धिका दोष देखो-सोती है किसीके साथ और खाने जाती है किसीके घर। बुद्धिका शयन कहाँ होता? आत्माके साथ। किसीकी भी बुद्धि हो सोते समय, आकर अपने आत्माके पलंग पर, अन्तःकरणके पलंग पर और अपने साक्षी, द्रष्टा, स्वप्रकाश परमानन्दघन आत्माके साथ शयन करती है। बुद्धि सोनेमें दूसरेका साथ नहीं देतीं जब सायेगी तो अपने आत्माके पास सोयेगी। परमात्माके पास सोयेगी और जब इसको घास चरना होता है तो दूसरेके खेतमें चर आती है। गाँवमें ऐसा होता है-लोग अपनी गायको, बैलको, बकरीको रातको छोड़ देते हैं-वह रातमें चुपकेसे दूसरेके खेतमें, खलिहानमें चरकर रात रहते ही लौटकर आजाती है अपने खूँटे पर। यह हमारी बुद्धि शयनके समय तो अपने खूँटे पर रहती है-पतिके साथ, परमपतिके साथ, भगवान्के साथ रहती है। परन्तु जब खाने पीनेका समय आता है तो घास चरनेके

लिए-ग्रास चरनेके लिए जाती है। अभ्युदय: अजानन्त:। भगवान् सामने खड़े होकर ललकार दें। ऐ बुद्धि! कहाँ जाती है? बोले कि-नहीं। हम एक खेल खेलते हैं-

नाहंप्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥ 25॥
वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥ 26॥

भगवान्ने कहा-मैं सबके सामने नहीं आता। सबके सामने अपनेको प्रकाशित नहीं करता-**नाहं प्रकाशः सर्वस्य**। व्यवस्था ही बिगड़ जाती है। भगवान् स्वयं किसको मिलें और किसको न मिलें। उनके लिए तो सब एक सरीखे हैं। मिले तो सबको मिलें और न मिलें तो किसीको न मिलें। यदि सबको मिलेंगे तो सबमें खो जायेंगे। संसारका लोप हो जायेगा और यदि किसीको नहीं मिलेंगे तो भगवान् हैं, यह अनुभव किसीको नहीं होगा। यह दोनों पक्ष गलत है। भगवान् सबको मिलते हैं, यह पक्ष भी गलत है। इसके लिए एक ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि किसीको मिलें और किसीको न मिलें। भगवान्ने इस व्यवस्थाका भी वर्णन किया है।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते। 10.10

भगवान् कहते हैं—पहले उनको बुद्धियोग देता हूँ-किनको जो अपना चित्त मुझमें लगाते हैं। जो मेरे लिए जीने लगते हैं। जैसे संसारके लोग खानेको मिले तो जिन्दा रहें और खानेको न मिले तो जिन्दा न रहें। वैसे जो भगवद्गत:प्राण हैं- भगवान्का स्मरण हो, ध्यान हो, भगवान् मिले तो जिन्दा रहें। गाँधीजी कहते थे कि राम-नाम तो हमारी खुराक है। हमारा भोजन है। उसके बिना तो हम जिन्दा ही नहीं रह सकते।

एक बार 'कल्याण' कार्यालय में एक सज्जन थे। 'दादा' उनका नाम था। उनको स्वप्न आया कि गाँधीजीका जीवन अब बहुत थोड़ा बाकी रह गया है, अब उन्हें भगवान्का भजन करना चाहिए। तो हनुमान प्रसादजीने गाँधीजीको पत्र लिखा कि ऐसा स्वप्न कृष्णदासको आया है, अब आपको भगवद्-भजन करना चाहिए। गाँधीजीने उसके उत्तरमें पत्र लिखा था उन्होंने कहा—एक तो यह बात तुम्हारी नहीं जँची कि हमको मृत्युके डरसे भगवान्का भजन करना चाहिए। हमको मृत्युसे कोई डर नहीं है। रही बात राम-नामके भजनकी! सो तो मेरी खुराक है। इसके बिना मैं रह ही नहीं सकता। भगवान्का नाम तो मेरी साँस-साँसमें है।

मच्चित्ता मद्गतप्राणाः। हमारा प्राण भगवान्के भजनका भोजन करे। भगवान्की चर्चा ही करते रहना चाहिए। जैसे आप बोलते हैं, आज मौसम बहुत ठण्डा है, आज गरम है, आज धूप है—दोनों देख रहे हैं—आज मौसम ठण्डा है, गरम है, फिर भी बातचीत करनेके लिए वहींसे शुरू करते हैं। आप भगवान्की चर्चा शुरू कर दीजिये। कोई बादल देखता है, कोई इन्द्र देवताको देखता है—आप भगवान्को देखिये। आज भगवान्ने बादल भेज दिये हैं। आज भगवान् प्रेमरसकी वर्षा कर रहे हैं। अपनी दृष्टिको धरतीके पानी तक मत रहने दीजिये। केवल बादलतक मत रहने दीजिये। अपनी दृष्टिको इन्द्र देवता तक मत रहने दीजिये। ईश्वरतक अपनी दृष्टिको जाने दीजिये।

किसी भी घटनाके मूलमें परमेश्वरके हाथ हैं। उन्हींको एक दूसरेसे श्रोता मिलनेपर कथा सुनाइये। आपका तोष कहाँ है? भोग मिलनेमें है, रिश्तेदार, नातेदार मिलनेमें हैं—धन मिलनेमें है? बोलें नहीं, भगवान्‌के स्मरणमें सन्तोषका अनुभव कीजिये और रम जाइये उसमें। **रमन्ति च चरमन्ति च।** चरमवृत्तिका अनुभव कीजिये उसमें। तब भगवान् आपको मुक्ति देंगे और ज्ञानका मसाल लेकर आपको दिखावेंगे और यह देखो आप भगवान्‌के पास पहुँच रहे हैं। यही भगवान्‌के पास पहुँचनेकी रीति है। अब प्रश्न यह हुआ कि भगवान् सबको मिलें या सबको न मिलें—बोले यह नियम नहीं चल सकता। जो भगवान्‌की ओर पीठ करके खड़ा होगा, उसको भगवान्‌का दर्शन नहीं होगा। आप किस किनारेपर हैं? कूल होता है न! कूल माने किनारा—नदीकूल, गंगाकूल, जैसे बोलते हैं अनुकूल। अनुकूल माने—जिस किनारेपर भगवान् खड़े हैं, उसी किनारेपर आप हैं अथवा जिस किनारेपर भगवान् हैं—आप उसके उलटे किनारे पर? भगवान् कह रहे हैं—आज बादल होंगे, आज वर्षा होगी—बोले नहीं-नहीं आज वर्षा मत करना—तो प्रतिकूल किनारेपर बैठे। जो होता जाय उसको हाँ करते जाओ और जो होनेवाला हो उसमें सावधान रहो।

भगवान् जो करते हैं उसमें हमारा मंगल है। तो जो उनके किये हुए मंगलपर दृष्टि रखता है, उसे परमात्माकी प्राप्ति होती है और जो उनकी ओर पीठ करके, उलटा होकर, वे करते हैं कुछ और हम सोचते हैं कुछ तो उनको परमात्माका दर्शन नहीं होगा। वह कभी कहेगा हमारे दुश्मनने किया है। कभी कहेगा हमारे दोस्तने किया है। कभी कहेगा हमारे रिश्तेदारने किया है। अरे मालिकने किया है। बहुत होंगे तो कहेंगे भाई! अब प्रकृतिपर हमारा क्या वश है? उनको परमात्माका दर्शन नहीं होगा। ये परमात्मा छिपकर क्यों रहते हैं?

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।

योगाय या माया सा योगमाया। तथा **योगमायया समावृतः।** ये जो संसारके जीव हैं ये मेरी प्राप्तिके लिए प्रयत्न करें। मुझे समझनेके लिए यत्न करें। साधन करें। यह हमारा खेल है। **योगाय, संयोगाय भगवत्प्राप्तये या माया सा योगमाया।** भगवान् सब जगह हैं बल्कि सब जगह भगवान्‌में हैं। भगवान् सब कालमें है—बल्कि सब काल भगवान्‌में हैं। भगवान् सब वस्तुओंमें हैं—नहीं, सब वस्तुएँ भगवान्‌में हैं। तब वह गुप्त क्यों हैं? वे छिपे हुए क्यों हैं? **योगमाया समावृतः।** कहते हैं कि आप उनकी प्राप्तिके लिए कुछ साधना करें। वे चाहते हैं—उनकी प्राप्तिके लिए आपके प्रेमको, आपकी उत्कण्ठाको, आपकी उत्सुकताको, आपकी व्याकुलताको, आपके प्रयासको देखकर वे प्रसन्न हों। ये मेरी प्राप्तिके लिए कितना उत्सुक है, उत्कण्ठित है, आकुल है, व्याकुल है—आपकी लालसा देखकर, अभिलाषा देखकर वे आनन्दित हो रहे हैं।

योगमाया समावृतः। उन्होंने अपनेको ढँका, क्योंकि योगके लिए एक माया रच दी। जैसे यहाँ नहीं हों। बच्चा खेल खिलौनेमें लग गया, माँ किवाड़की आड़में खड़ी हो गयी। माँ! माँ! माँ!!! जब माँके लिए बच्चा रोया तो बोली देखो न! अभी है तो छोटा-सा बच्चा, पर मुझसे कितना प्रेम है। मेरे बिना इसको खिलौने भी अच्छे नहीं लगते। यह तो बच्चेकी स्थिति है।

एक बालक है, मानता ही नहीं है। खेल खिलौना छोड़ता ही नहीं है, वह अपनी माँके पास जाता ही नहीं

है—तो माँने आड़में-से ऐसी आवाज की जैसे भेड़ियेकी आवाज हो, जैसे बन्दरकी आवाज हो। अब बच्चा डर गया। डरके अपनी माँकी ओर भागा। इस संसारमें भगवान्‌की योगमाया है। कहीं डराकर, कभी छिपकर जीवोंको अपनी ओर आकृष्ट करना चाहते हैं। इस योगमायासे ही भगवान् समावृत हैं—ढके हैं।

यह आवाज, डरावनी आवाज किसकी है? छिपकर भगवान् कहाँ गया? छिपकर भगवान् कहीं गया नहीं है और यह डरावनी आवाज भी किसी दूसरेकी नहीं है। यह मूर्खता है मनकी। यह मूढ़ता है। परमात्मा छिपे हुए हैं, अभी हैं। परन्तु जो लोग—संस्कृतमें 'लोक' बोलते हैं पर हिन्दीमें 'लोग' है। ये संसारके लोग मूढ हो गये हैं। माने मुझे पहचानते नहीं हैं। दूसरी-दूसरी चीजें देख रहे हैं। **नाभिजानाति।** अभिज्ञानका अर्थ है पहचानना। **अभिज्ञाते साहचर्या।** शांडिल्यका सूत्र है कि जब अभि उपसर्गका प्रयोग होता है—उसका अर्थ होता है **अभिज्ञप्ति।** अभिज्ञप्ति माने पहचान है। तो वह है तो सामने लेकिन हम उसे पहचानते नहीं हैं। वह हमको देखता है, बोलता है, छूता है हजारोंरूपोंमें।

एक हमारा बचपनमें मित्र था। मैं था १५-१६ वर्षका। वह था १०-११ वर्षका। हम दोनों तीन दिन साथ रहे और हमारी मित्रता बहुत बढ़ गयी। फिर जबतक मिलना नहीं हुआ तबतक वह एम.ए. में पहुँच गया। चिट्ठी हम लिखते वह लिखता। एक दिन मैं प्रयागमें उसके होस्टलमें गया। मैं जाकर कुशल-मंगल पूछने लगा। घरकी बात पूछने लगा। पढ़ाईकी बात पूछने लगा। वह तो हमें पहचाने नहीं। ८-१० वर्ष हो गये थे। मैंने कहा मैं स्नान करूँगा और यही रहूँगा। वह काम तो सब करे पर पहचाने नहीं। तीन घण्टे बाद मैंने उसे अपना परिचय दिया। अरे वह तो लिपट गया हमारे साथ! अब देखो ३-४ घण्टेसे वह हमको देख रहा था पर पहचाना नहीं। देखना दूसरी चीज है और पहचानना दूसरी चीज है। उस पहचानको ही अभिज्ञान बोलते हैं।

जब ब्रह्मभूत हुआ तभीसे देखने लगा, परन्तु जब भक्ति हुई तब भगवान्‌का अभिज्ञान हुआ। यह 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्'में अभिज्ञान शब्द पहचानके ही अर्थमें है। वह अंगूठी खो गयी थी तो पहचान मिट गयी थी। शकुन्तला तो वही थी। पर पहचान दुर्वासाके शापके कारण अथवा ऐसा कोई-कोई बताते हैं कि पहचानकी जो अंगूठी थी वह किसी कारणसे खो गयी थी। तो ईश्वर कहीं गया नहीं है। ईश्वर तो योगमायाका गिलाफ ओढ़कर यहीं खड़ा है। जो हमारी पहचाननेवाली बुद्धि है वह मिट गयी है।

मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्।

यह शरीरवाला दीखता है पर अजन्मा है। यह शरीरधारी तो है परन्तु यह मिटनेवाला नहीं है। यह अजर है, अमर है—यह अमृत है। लोग परमात्माको पहचानते नहीं हैं। उसने एक पर्दा बना लिया है। जैसे नट अपना वेष बदल लेता है। वैसे ही अपना वेष बदल करके संसारके रूपमें दीख रहा है। हमको पुरुष दीखता है, ईश्वर नहीं। हमको मिट्टी, पानी, आग दीखता है, ईश्वर नहीं। खूब सयाना है—अनजाना होकर बैठा है। वह कौन, यह कौन, मैं कौन—वस्तु तो एक ही है। एक चीज परमात्मा, उसने ऐसा रूप धारण क्यों किया—इसलिए कि जब हम उसकी प्राप्तिके लिए उत्सुक होंगे तो हमको वह मिलेगा। न तो सबको मिलेगा, और न तो किसीको नहीं मिलेगा। सबको मिलेगा तो संसारका दोष और यदि किसीको नहीं मिले तो ईश्वरका दोष। अनुभवका विषय तो

होना ही चाहिए। यदि कभी किसीको ईश्वर अनुभवका विषय ही नहीं होगा तो ईश्वर है इसके लिए संसारमें कोई प्रमाण नहीं रह जायगा।

मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्।
वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥ 7.252-6

दृश्यतां दृश्यतां—यह मोहलीला देखिये, देखिये! भगवान् हमको अपनी गोदमें रख रहे हैं। भगवान् हमें अपनी आँखोंसे कभी ओझल करते नहीं। भगवान् अपनी गोदसे हमें कभी उतारते नहीं। भगवान् हमको जीवन देते हैं। ज्ञान देते हैं। आनन्द देते हैं। सब कुछ भगवान्‌की ओरसे हमें प्राप्त हो रहा है। भगवान् आदि, अन्त सब जानते हैं। जो बीत गया उसको भी जानते हैं। जो आगे आयेगा उसको भी जानते हैं। जो वर्तमान है उसको भी जानते हैं। असलमें कालभेद जीवकी दृष्टिसे होता है। ईश्वरकी दृष्टिसे होता ही नहीं है। जब हम एक जगह, यह क्षण—इस क्षणसे अगला क्षण नापनेकी सोचेंगे तबतक वर्तमान क्षण भी भूत हो जायेगा। भविष्यको नापना चाहोगे तब भी वर्तमान भूत हो जायेगा। भूतको नापना चाहोगे तबभी वर्तमान भूत हो जायेगा। भूत और भविष्यकी सन्धि कहाँ है? जहाँ वर्तमान रहता है। कालपर दृष्टि डालो, विचार करो, यदि आप भूत और भविष्यकी सन्धि कहीं निकाल सको तो वर्तमानमें चले गये। भूत अनादि है, भविष्य अनन्त है—अनादि और अनन्तकी कहीं सन्धि होती ही नहीं। परमात्मा अपनेको ही भूत-भविष्य और वर्तमानके रूपमें जानता है। वह सबको जानता है। सब उसकी आँखोंकी पुतलीमें बसे हैं। सब उसके हृदयके अन्दर बसे हैं। वही अधिष्ठान है, वही प्रकाशक है। वही सबके रूपमें स्फुरित हो रहा है। परन्तु स्फुरित होनेवाले उसको लोग नहीं देख पाते।

एक चीज हमारे बहुत पास है पर हम उसको देख नहीं पाते। हमारी आँख आप सबको देखती है। आँखमें पुतली है वह सब आकारोंको देखती है। लम्बे-चौड़े सबको देखती है। परन्तु ये आकार हमारी आँखको नहीं देख पाते। हमारे नेत्रेन्द्रिय तो सब रूप देख सकते हैं। परन्तु रूप आँखको नहीं देख पाता।

जैसे आकृतियोंके परे आँख है पर ये आकार आँखको नहीं देख सकते। इसी प्रकार परमात्मा—वह सबको अपने आपमें तौलता है। सबकी लम्बाई, चौड़ाई भी देख रहा है। मेरे सिवाय न इनका वजन है, न मेरे सिवाय इनकी शकल-सूरत है—न मेरे सिवाय इनकी उम्र है। अपने रूपमें परमात्मा सबको देख रहा है। पर सब परमात्माको नहीं देख सकते। यह रहा परमात्मा। जब परमात्मा सब है तो उसे देख क्यों नहीं पाते? अनेक रूपमें परमात्मा है। परमात्मा कहाँ है? देखो यहीं है—

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्।। 9.18

गति, भर्ता, प्रभु तीन हो गये। साक्षी, निवास, शरण छः हो गये। सुहृत्, प्रभव, प्रलय ये नव हो गये। स्थान, निधान, अव्यय-बीज बारह हो गये। एक श्लोकमें परमात्माका बारह रूपमें वर्णन किया हुआ है। यही—है परमात्मा परन्तु साधारण पुरुष यह नहीं जानते हैं और कोई-कोई मुझे तत्त्वतः जानते हैं।

****

तत्त्वसे परमात्माका ज्ञान होता है। पहचान होती है। आखिर इसका कारण क्या है? हम क्यों नहीं पहचानते? परमात्मा दीखता क्यों नहीं है? क्योंकि वह आपसे साधन करवाना चाहता है। आप उसका नाम लेकर पुकारो, आप उसके लिए रोओ, आप उसके लिए उसका ध्यान करो, वह आपका प्रेम देखकर, आपके प्रेमका भोग करके वह सुखी होगा, प्रसन्न होगा। आनन्दित होगा। उसके आनन्द और बढ़ जायेंगे। और हम क्यों नहीं देख पाते हैं?

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप॥ 7.27
येषां त्वन्तगतं पापं जानानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥ 7.28
जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥ 7.29
साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः॥ 7.30

अब परमात्माको देख क्यों नहीं रहे हैं? मूढ़ क्यों हो गये? परमात्माने साधन करवानेके लिए, हमारा प्यार देखनेके लिए उत्सुकता दिखायी। एक बार बच्चे आँखमिचौनी खेलने लगे। ढूँढते-ढूँढते खाने-पीनेकी मिठाई मिल गयी, फल मिल गया—तो कुछ बच्चे खाने-पीनेमें लग गये। कुछ लोगोंने देखा, यह काम बहुत जरूरी है, उसको करने लग गये। कुछ लोग ढूँढते-ढूँढते थक गये तो बोले कि हमने देख लिया! क्या देख लिया? भगवान् बड़े भोले हैं बोले भाई, इन्होंने देख लिया तो इनसे छिपनेकी क्या जरूरत है? कुछ लोग थे उन्होंने रोना शुरू कर दिया—भाई, हम ढूँढते-ढूँढते थक गये। तुम हमें ढूँढनेसे नहीं मिलते हो। अब हमारा आँखमिचौनीका खेल कबतक चलेगा? जब रोने लगे तो जो छिपा हुआ बालक था वह अपने आप ही बीचमें आगया। जो देख लिया, देख लिया बोलते हैं, वे बोलते तो बिना देखे ही हैं। लेकिन देख लिया, देख लिया—उनकी यह बात पूरी करने भगवान् उनके सामने प्रकट हो जाते हैं। हम फँसे कहाँ? मोहमें फँसे कि कर्ममें फँसे कि सम्बन्धमें फँसे। एक तो है इच्छा—हमको यह चाहिए यह चाहिए—यह चाहिए और एक है द्वेष—हमको यह न मिले, यह न मिले, यह न मिले। बस, यही द्वन्द्वका मोह है। द्वन्द्व माने दो दो—**द्वौ द्वौ इति द्वन्द्वः**—राग-द्वेष एक द्वन्द्व है। सुख-दुःख एक द्वन्द्व है। स्वर्ग-नरक एक द्वन्द्व है। जन्म-मरण एक द्वन्द्व है। जो जो चीज एक साथ रहती हैं उनको बोलते हैं द्वन्द्व। इच्छा-द्वेषका द्वन्द्व है। हम ईश्वरकी ओर देखते ही कहाँ है? हम तो कहते हैं—हमको यह चाहिए, यह चाहिए, यह चाहिए! दुनियाको हम जानते हैं, हम चाहते हैं, उसके लिए काम करते हैं। हम अपने दुश्मनको जानते हैं, उससे द्वेष करते हैं और इस द्वन्द्वके मोहमें ऐसे फँस गये कि जों अपने अन्दर, अपनी आत्मामें परमात्मा है उसकी ओर नहीं देख पाते। हम सम्मोहमें पड़ गये! मूढ़ हो गये!!

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

****

प्रवचन : 9

सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परंतप।

जब सर्वभूत-प्राणियोंकी सृष्टि होती है तब यह खेल प्रारम्भ हो जाता है। वह खेल क्या है? किसीकी इच्छा होती है कि यह मिले, किसीसे द्वेष होता है कि यह न मिले। यह इच्छा-द्वेषका चक्र—सर्गके प्रारम्भमें ही होने लगता है। एक अद्भुत बात है—बालक पैदा होता है। उसके मनमें दूध पीनेकी इच्छा आ जाती है। पशुके भी, मनुष्यके भी। हमने देखा, पशुओंके बच्चोंको माताओंके स्तनके पास मुँह कीजिए तो अपने आप वे पकड़कर दूध पीने लगते हैं। कुत्तियाँ लेट जाती हैं और उसके बच्चे जिनकी आँख अभी तक खुली नहीं है—अपना मुँह इधर-उधर घुमाकर स्तन पकड़ लेते हैं और दूध पीना शुरू कर देती हैं। उनको कोई रास्ता दिखानेवाला नहीं रहता। कोई पिलानेवाला नहीं होता है। उनके भीतर एक प्यास जन्मसे ही होती है।

बच्चा पैदा होता है, यदि न रोवे तो माताएँ उसे रुलाती हैं। चिकोटी काटती हैं और वह रोना शुरू कर देता है। माने चिकोटी काटना उसे पसन्द नहीं है। उससे द्वेष है। चिकोटीसे द्वेष है और दूधसे उसका राग है। इसका कारण क्या है? इसका कारण बताते हैं कि सृष्टिका चक्र ही ऐसा चल रहा है। पूर्व-पूर्व जन्मकी वासना जीवके साथ रहती है। प्रकृतिमें प्यास और तृप्तिका चक्र चलता रहता है। माँ-बापके संस्कार बच्चेमें आते हैं। इससे किसी वस्तुकी इच्छा होती है और किसीसे द्वेष होता है। यही है संसारका द्वन्द्व।

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परंतप॥ 7.27
येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥ 7.28

सृष्टिमें बन्धन क्या है? अब द्वेषको भी कम कर दो। केवल इच्छा, पानेकी इच्छा और प्रिय पानेकी इच्छा। हमको यह चाहिए, यह भी इच्छा है और हमको यह नहीं चाहिए, यह भी एक इच्छा है। इच्छा ही चाहती है और इच्छा ही नहीं चाहती। इसीसे यह सब द्वन्द्व चलता है। हमारे चाचा बचपनमें हमको गुड़ दिखाते थे। हम लेनेके लिए उनकी ओर जाते तो वे हाथ ऊपर उठा देते। एक बार, दो बार हम लपकते और वे नहीं देते तो हम फिर कहते—'हमको चाहिए ही नहीं।' अब चाहिए नहीं पर सारा झगड़ा खत्म हो जाता। वे फिर लाकर दे देते थे।

हम इच्छाके बन्धनसे बँधे हुए हैं। संसारमें हम जिस वस्तुको चाहते हैं, उससे छूटनेमें कष्ट होता है। क्या वह चीज हमें रस्सीसे बाँधती है? जंजीरसे बाँधती है? कोई उसमें चुम्बक है? नहीं, हमारी इच्छा ही उन-उन चीजोंके साथ लटकती है और इच्छा पूरी हो जावे तो थोड़ी देरके लिए तृप्ति होती है और इच्छा न पूरी हो तो और प्यास लगती है और तकलीफ होती है। इच्छाका नाम है बन्धन और इच्छाकी निवृत्तिका नाम है मोक्ष। दो शब्द हैं सीधे-सीधे। **वासना एव संसारः**। वासनाका नाम संसार है। यदि वासना मिट गयी तो संसारका कोई बन्धन नहीं रहा। बाहरकी चीज नहीं बाँधती है, भीतरकी चीज बाँधती है। ये हैं इच्छा और द्वेष।

हम ईश्वरको चाहते हैं या संसारको? जानेवाली चीज, मरनेवाली चीज, बेवफा—बहुत बार तो हम ऐसी चीजोंको चाहते हैं जो हमें पहचानती ही नहीं। जैसे चाँदी है, सोना है, हीरा है, मोती है। ये जड़ पदार्थ हमें पहचानते ही नहीं कि यह हमको चाहनेवाला है। यह हमको पाकर खुश होता है या यह हमारा मालिक बनकर अभिमान करता है। ऐसी चीजोंको हम चाहते हैं जो हमें जानती ही नहीं कि हम उनको चाहनेवाले हैं, उनके प्रेमी हैं, उनके इच्छुक हैं, उनके अभिलाषी हैं। परन्तु हमारी चाह, इच्छा ही हमें उनके साथ बाँधकर रखती है। आपको कभी तकलीफ हो तो आप निगाह कर लें कि ऐसी क्या चीज है जिसको मैं छोड़ना नहीं चाहता हूँ और मुझे तकलीफ हो रही है। आप कुछ-न-कुछ पकड़े रहना चाहते हैं जिससे तकलीफ हो रही है। द्वेष तो हम दूसरे प्राणियोंसे करते हैं। भक्ति-सिद्धान्तमें ऐसा कहते हैं—प्रधानतया भागवत-सिद्धान्तमें, कि परमात्मा सबमें है और सब परमात्मा है। सबसे परे, परमात्मा है, सबका साक्षी परमात्मा है और परमात्माको प्राप्त कर लो तो परमात्माके सिवाय और कोई दूसरी वस्तु नहीं है। भगवान् विश्व है। भगवान् विश्वका कारण है। भगवान् विश्वमें व्याप्त है। भगवान् विश्वसे अतीत है। भगवान् सर्वसाक्षी है। भगवान् कोई दूसरी वस्तु नहीं हैं।

अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा। —श्रीमद्भा० 3.29.21

मैं सम्पूर्ण वस्तुओं और प्राणियोंमें उन-उन वस्तुओं और प्राणियोंकी आत्माके रूपमें, उनके मैं के साथ एक उत्स, एक उद्गम, एक अधिष्ठान, एक प्रकाश सबके अन्दर 'मैं' बैठा हूँ। मेरे उस स्वरूपका तो मनुष्य परित्याग कर देता है। वह उसका अनादरकर मेरी पूजाका ढोंग रचता है। मेरी पूजाकी विडम्बना करता है।

तमवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्चाविडम्बनम्।

जो संसारके किसी प्राणीका तिरस्कार करता है, वह चाहे हजारों मन अन्नका भोग लगावे और हजारों-लाखों-करोड़ों रुपयेसे हमारी पूजा करे मैं उसकी पूजासे सन्तुष्ट नहीं होता।

यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम्।
हित्वार्चां भजते मौढ्याद्भस्मन्येव जुहोति सः॥
द्विषतः परकाये मां मानिनो भिन्नदर्शिनः।

—श्रीमद्भा० 3.29.22

भगवान् कहते हैं तुम्हारी आत्माके रूपमें मैं हूँ और जिससे तुम द्वेष करते हो, जिसको देखकर तुम्हारे दिलमें जलन आती है, उसकी आत्मा भी मैं हूँ। अपनेको बीचमें रखकर तुम अपनी आत्मासे तो प्रेम करते हो और दूसरी आत्मासे द्वेष करते हो, परन्तु वह मैं ही हूँ। दूसरा कोई नहीं है। तुम मुझसे द्वेष करते हो। जब किसीसे द्वेष करते हो, तब तुम मुझसे द्वेष करते हो। **द्विषतः परकाये मां**—दूसरे शरीरमें मुझसे द्वेष करते हो। **मानिनः**—अपने शरीरका अभिमान करते हो। **भिन्नदर्शिनः**—दूसरी आत्माको अपनेसे भिन्न समझते हैं। आप देखो—आपके हृदयमें द्वेषकी आग जली हो तो पहले आपको जलायेगी, पीछे दूसरेके ऊपर उसकी चिनगारी पड़ेगी।

भूतेषु बद्धवैरस्य न मनः शान्तिमृच्छति।

जो संसारके किसी भी प्राणीके प्रति वैर बाँधकर अपने हृदयमें रखता है, उसको शान्ति कभी नहीं मिल सकती। जिसके मनमें दूसरेके प्रति दुर्भाव है, द्वेष है, वैर है उसे कभी शान्तिकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिए भगवान्की पूजा कैसे करना?

अथ मां सर्वभूतेषु भूतात्मानं कृतालयम्।
अर्हयेत् दानमानाभ्यां मैत्र्याभिन्नेन चक्षुषा॥

—श्रीमद्भा० 3.29.27

भागवतमें तीसरे स्कन्धमें कपिलदेवजी माता देवहूतिसे कह रहे हैं—मेरा मन्दिर कहाँ ढूँढते हो। यह सम्पूर्ण प्राणियोंका जो शरीर है, यह मेरा आलय है, देवालय है, मेरा मन्दिर है, मेरा निवासस्थान है। इसलिए चाहे पशु हो, पक्षी हो—उसे मेरा मन्दिर समझो—मेरा निवासस्थान समझो और उसकी पूजा करो। पूजा कैसे करें?

अर्हयेत् दानमानाभ्यां मैत्र्याभिन्नेन चक्षुषा।

इसे कुछ दो, दान करो, मान दो, उसे सम्मान दो, उसके प्रति मैत्रीका, स्नेहका भाव रखो। अपनी आत्माको और उसकी आत्माको अलग-अलग मत समझो। भगवान्की सबसे बढ़िया सबसे बड़ी पूजा यही है।

जब हमारे मनमें इच्छाएँ और द्वेष आते हैं—ये पूर्व-पूर्व जन्मके संस्कारसे आते हैं, माता-पिता, दादा-परदादा, नाना-नानीके संस्कारसे भी आते हैं और गर्भमें जो माता खाती-पीती है, जैसा सोचती है—पिता-माताके मनमें जैसा भाव होता है, गर्भाधानके समय—उससे भी संस्कार आता है। इसी प्रकार गर्भमें बालकके रहनेपर माता जैसा सोचती है, उसका भी संस्कार आता है। बालक जैसा दूध पीता है, जिसकी गोदमें खेलता है, जिसको देखता है, उसका भी संस्कार आता है। यह सृष्टिका स्वभाव ही है। इससे मनुष्यके मनमें रागद्वेषका उदय होता है। द्वन्द्व होता है। उस द्वन्द्वमें मनुष्य इतना मोह कर बैठता है, इतना फँस जाता है कि सच्चाईको समझनेके लिए उसके मनमें कोई प्रवृत्ति ही नहीं होती। वह सत्यसे मुकर जाता है। जो अपनी पसन्दकी चीजोंको सटानेमें लग गया और नापसन्दकी चीजोंको हटानेमें लग गया वह उनमें बँध गया। जो सटाने-हटानेमें

लग गया, वह भीतर कौन बैठा है, हृदयके झरोखेसे कौन झाँक रहा है, उस आत्माको—परमात्माको भूल जाता है। इसलिए जब मनुष्य पुण्य कर्म करता है, उसके पाप अन्तको पहुँचते हैं तो वे लोग द्वन्द्वके मोहसे छूटकर दृढ़व्रत होकर भगवान्‌का भजन करते हैं।

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥ 7.28

भजन प्रारम्भ करते हैं, छूट जाता है। चार दिन करते हैं, फिर छूट जाता है। समयका नियम टूट जाय, कोई बात नहीं—स्थानका नियम टूट जाय, कोई बात नहीं—परन्तु जो व्रत अपने जीवनमें ग्रहण करें, उस व्रतका पालन करें। समयका लोप हो जाय, स्थानका लोप हो जाय, परन्तु कर्मका लोप न होने पावे। भगवान्‌का नाम-जप, भगवान्‌का भजन दृढ़ताके साथ करना चाहिए। व्रतमें दृढ़ता होनी चाहिए। भगवान् कहते हैं—दृढ़निश्चय होकर हमारा भजन करना चाहिए। जब भजनमें रम जाओगे तो क्या-क्या हमारे साथ सटे और क्या हटे इसका ख्याल छूट जायेगा।

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥ 7.29

देखो शरीरके पीछे परिवर्तन लगा है। क्षण-क्षण छीज रहा है। वैसे कण-कण भी छीज रहा है। क्षण और कण असलमें दो चीज नहीं है। प्रत्येक कण अपने क्षणमें पैदा होता है, अपने क्षणमें दीखता है, अपने क्षणमें बदल जाता है। ये संसारके कण और क्षण जुदा-जुदा नहीं है। यह भी एक मोह ही है।

श्रीमद्भागवतका कहना है कि यह दीपकी लौ क्या वही है जो घण्टेभर पहले जल रही थी? जो यह झरनेमें पानी बह रहा है, यह वही है जो कल बह रहा था? क्या यह वही पुरुष है जिसको मैंने कल देखा? नहीं ऐसा नहीं है। यह वचन भी मृषा है—झूठ है, ऐसा सोचना भी झूठ है और यह है क्यों?
इसलिए कि मनुष्य झूठमें ही अपना जीवन व्यतीत कर रहा है।

झूठ ही लेना, झूठ ही देना,
झूठ ही भोजन, झूठ चबेना।

वे भगवान् कहते हैं, यह मनुष्य कैसा अपना जीवन व्यतीत कर रहा है? जिसने इस सृष्टिको पैदा किया, उसको आप नहीं जानते हैं। **अन्यत् युष्माकं अन्तरं बभूव।** आपके और परमेश्वरके बीचमें कोई दूसरी चीज, भेद, बुद्धिभेद, भ्रम आ गया है। आपकी आँखें कुहासे से आच्छन्न हो रही हैं। बातचीत करनेमें आप बड़े निपुण हैं, इन्द्रियोंके भोगमें लगे हुए हैं।

यह मनुष्यकी स्थिति है देखिये—यह जरा=बुढ़ापा सिरपर सवार है। पैदा होते हैं उसी क्षणसे—वह क्षण, कण और मनको पकानेमें लगा हुआ है। मृत्यु सामने है। इस सत्यको देखते नहीं। इनसे मुक्ति पानेका उपाय क्या है? भगवान्‌का आश्रय लो और प्रयत्न करो। गीता पौरुषका ग्रन्थ है। यह नहीं कि भगवान्‌के मनमें आयेगा तो किसी दिन आकर आपसे मिल जायेंगे। ऐसे नहीं सोचना चाहिए—'हमको ईश्वरसे मिलनेकी कोई गरज नहीं

है। ईश्वरको गरज होगी तो वह हमसे मिलने आयेगा। उसको गरज भी होगी किसीसे मिलनेकी तो उसमें कोई विशेषता तो होगी न!' **यतन्ति ये**—जो ईश्वरसे मिलनेका प्रयत्न करते हैं। उनसे ईश्वर मिलता है। बोले—'अपने बलसे तो नहीं मिल सकता'—तो **माम् आश्रित्य**। उसीका आश्रय हो। उसीकी शरण ग्रहण करो और उसकी प्राप्तिके लिए प्रयत्न करो। सच पूछो तो ईश्वरका मिलना उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है—वह तो मिला-मिलाया है। महत्त्वपूर्ण है, ईश्वरकी प्राप्तिके लिए प्रयत्न, ईश्वरका मिलना उतना कीमती नहीं है, जितना हमारे जीवनमें ईश्वरकी प्राप्तिके लिए प्रयत्नका होना है और जो प्रयत्न करते हैं वे—

ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥ 7.29
साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥ 7.30

प्रयत्न—भगवान्का आश्रय लो। हम वस्तु-वर्गका आश्रय लेते हैं। हम हीरा-मोती, सोना-चाँदी भगवान्को अर्पित करेंगे और उसके बलपर भगवान् मिल जायेंगे। वस्तुका बल या कोई मददगार हो—भगवान्को हमें मिला दे। भगवान्का कोई कान पकड़े और कहे चलो मिला दें—ऐसा नहीं है। एक विश्वासकी, भरोसेकी बात अलग है। ईश्वर जहाँ प्राप्त होता है, वह अपने सूक्ष्मतर अन्तरका एक दिव्य प्रदेश है। हमारे हृदयमें ही भगवत्प्राप्ति होती है। वहाँ न बाहरका रुपया-पैसा जाता है, न बाहरकी ठूँसी हुई विद्या-बुद्धि जाती है। अन्तरमें ही परमात्माकी प्राप्ति होती है। अत: उस भीतरवालेका सहारा लेना। बाहरवालेका सहारा नहीं लेना।

माम् आश्रित्य—मामेकं शरणं व्रज। एक बार मेरी शरणमें आजाओ। **अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः**। भगवान् कहते हैं—'सब धर्मोंका परित्याग कर दो। अपने साधनका भी बल मत रखो।' इन्द्रियाँ जिन विषयोंमें लगती हैं—**सर्वेषां इन्द्रियाणां धर्मान्**—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धादि—सबको छोड़कर। श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज कहते थे—सात चीजें छोड़कर बैठो। ध्यान करने बैठना हो तो सात चीज छोड़ दो और जागते रहो। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, सुख और दुःख। इन सातोंसे मुक्त होकर अपने स्वरूपमें बैठ जाओ। इसका नाम ध्यान है। किसके साथ बैठते हैं? शब्द, रूप, रस, गन्धके साथ बैठते हैं या इनको जाहिर करनेवाली इन्द्रियोंके साथ बैठते हैं या इन्द्रियोंमें घूमनेवाली मनोवृत्तिके साथ बैठते हैं, नहीं—इनको घूमने दो और तुम जो सर्वान्तर्यामी परमात्मा है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेर्जुन तिष्ठति।

सबके हृदय देशमें ईश्वरका निवास है।

हमको क्या तू ढूँढे बन्दे हम तो तेरे पासमें।

सबके हृदयमें परमेश्वर रहता है। इस धर्मके बलसे ईश्वर मिलेगा। विषयोंका बल छोड़ दो। इन्द्रियोंका बल छोड़ दो। जो छूटे हुए हैं उनको छोड़ दो। जो अपनी आत्मा है वह तो कभी छूटता नहीं। छोड़ किसको सकता है? जो अपनी आत्मा नहीं है और पकड़कर रखा हुआ है, उसको छोड़ सकता है।

छूटे हुए को ही छोड़ना होता है। उसको छोड़ना कैसे होता है? छूटे हुएको छूटा हुआ समझ लेना—बस यही उसका छूटना है। तो परित्यज्यका अर्थ है—छूटे हुएको छोड़ना। जिनके बारेमें सोचते हो कि इन्होंने हमको पकड़ रखा है, वह तो तुम्हारी पकड़ है। असलमें वे तो छूटे हुए हैं ऐसा समझना ही परित्याग करना है।

मामेकं शरणं व्रज। अपने हृदयके मन्दिरमें, **सर्वधर्मान् अनात्म-धर्मान् परित्यज्य मामेकं, आत्मानं शरणं सर्वाधिष्ठानं व्रज।** आजाओ, अपने पास आजाओ। **अहंत्वेन अभिव्यक्तं अहम्।** मैं के रूपमें प्रकट होते हो तुम। **सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि**—अविद्या और अविद्याके कार्यसे मैं मुक्त कर देता हूँ। शोक और मोह स्वीकार करनेका कोई कारण नहीं है। **माम् आश्रित्य यतन्ते**—परमेश्वरका आश्रय लेकर, अपनी ओरसे प्रयत्न करो। श्रवण करो। स्वास्थ्यके लिए—आप चाहे जो आसन करें, उसका फल शरीरपर्यन्त ही है। आप प्राणायाम कीजिये, उलटे टँग जाइये। शीर्षासन कीजिये। वह सब दूसरी चीज है। भगवान्का आश्रय दूसरी चीज है।

माम् आश्रित्य—भगवान्पर विश्वास, भगवान्का आश्रय, भगवान्की शरणागति और अपनी ओरसे प्रयास करना। कोई वस्तु स्वर्गादिके रूपमें नित्य परोक्ष हो, सिवाय श्रवणके उसके ज्ञानकी और कोई प्रणाली नहीं है। शास्त्रसे उसका श्रवण करना। वाक्य ही प्रमाण होता है स्वर्गके सम्बन्धमें। धर्मानुष्ठानके साथ जो स्वर्गका सम्बन्ध है, उसके सम्बन्धमें आदि अन्ततक श्रद्धा—भावनाका प्राधान्य है। परमात्माके सम्बन्धमें—नित्य अपरोक्ष है—आत्माके रूपमें परमात्मा। परन्तु अज्ञात है। उस अज्ञानताको दूर करनेके लिए और ज्ञातता उत्पन्न करनेके लिए श्रवण करना चाहिए। श्रवण करनेके सिवाय दूसरा कोई उपाय नहीं है।

ईश्वरके बारेमें सुनिये, तब मनन होगा। ईश्वरके बारेमें सुनिये तब ध्यान होगा। ईश्वरके बारेमें सुनिये तब भजन होगा। ईश्वरके बारेमें सुनिये तब ईश्वरसे प्रेम होगा। लोग कैसे क्या सुनें? भगवान् अपनी ओरसे—सुननेकी सामग्री देते हैं। भागवतमें ऐसा आता है।

अपने दुर्गमतत्त्वको सर्वसाधारणके लिए सुगम करनेके लिए, भगवान् अवतार लेकर प्रकट होते हैं, शरीरधारी बनते हैं और ऐसे-ऐसे चरित्र करते हैं कि उन चरित्ररूपी अमृतोंके महासमुद्र बन जाते हैं। आप उसमें जरा उतरिये। उस चरित्रामृत-समुद्रमें अवगाहन कीजिये। स्नान कीजिये। डुबकी लगाइये। उसको पीजिये। उसको देखिये। यह भगवान्के चरित्रका अमृत महाम्बोधि है।

भगवान्के चरित्रमें—मजा आता है, रस आता है। भजन माने बेगार नहीं होती, पूरा कर दिया—टाल दिया, भजन माने रसास्वादन होता है। **भजनं नाम रसनं।** उपनिषद्ने कहा—भजन माने स्वाद लेना और रस आना। जब रस आने लगता है तब अर्थकी ओरसे रुचि हट जाती है। प्रेमका रस लेनेमें रुचि हो जाती है। जो नीरस होता है, वह रसिक हो जाता है। भगवान्के स्मरण, भजनमें—***हर्र लगे न फिटकरी, रंग चोखा आवे।*** उसको ऐसा रस आता है कि न धनका बोझ सिरपर लेना रहता है, न भोगोंकी पूर्तिके लिए प्यासा होना। न धर्मानुष्ठान करना है और न अपवर्गकी ही इच्छा रह जाती है।

अपवर्ग—माने निषेध—'नेति नेति।' महात्मा लोग कहते हैं 'नेति-नेति' करनेकी कोई जरूरत नहीं है। आओ भगवद्रसका आस्वादन करो। भगवान्‌का रस लो, भगवान्‌का आनन्द लो। अपवर्जन करनेकी—'नेति नेति'की कोई आवश्यकता नहीं है। कैसा है अपवर्ग—**अपगतो वर्गः** जिसमें पवर्ग भेद नहीं है। यह धनी है, यह गरीब है, यह धन है, यह भोग है, यह धर्म है, यह मोक्ष है। **पवर्ग-रहित अवस्था है। उसमें कोई छोटा और** बड़ा नहीं। **परमसाम्यमुपैति**—परम समताकी प्राप्ति होती है, उसको अपवर्ग **बोलते हैं। अपगतवर्ग अपवर्ग** अपवर्जन और अ'प' वर्गः जिसमें 'प' वर्ग नहीं है। पाप, पुण्य, फल, बन्धन, भोग, **स्वर्ग-मोक्ष कुछ नहीं**। यहाँ तो रसका समुद्र उमड़ रहा है। रसके कण उड़ रहे हैं। रसकी रश्मियाँ फैल रही हैं। रसकी वायु प्रवाहित हो रही है। **मधुः क्षरन्ति सिन्धवः**। सायंकाल मधु है। प्रातःकाल मधु है। रात्रि मधु है। दिन मधु है। मधु ही मधु—मधु ही मधु।

भजनमें न वर्ण-भेद है, न पाप-पुण्य, फल-बल, बन्ध, फल, मोक्ष है, पवर्ग कोई है ही नहीं। न इसमें 'नेति' है। यह तो प्रत्यक्ष भगवद्-रस है। इसका श्रवण करो। जितना-जितना श्रवण करेंगे उतना-उतना इस कानके रास्तेसे परमेश्वर हमारे हृदयमें प्रवेश करेगा। भगवान् नाकके रास्तेसे प्रविष्ट होगा—तुलसी सूँघनेसे—थोड़ा-सा भगवद्-संस्कार आयेगा। भगवान्‌का प्रसाद जीभसे लीजिए तो उससे भी थोड़ा-सा भगवद्-संस्कार आयेगा। आँखसे भगवान् की मूर्तिको, सत्पुरुषोंको देखिए, उससे भी थोड़ा संस्कार आयेगा। आप स्पर्श कीजिए—पण्ढरीनाथको। दोनों हाथसे पकड़कर अपने हृदयसे लगा लीजिए। इसका भी थोड़ा संस्कार आयेगा। श्रवणसे शब्दके गरुड़पर भगवान् चढ़ते हैं और कानके रास्ते भक्तके हृदयमें, पहुँच जाते हैं। श्रवण सर्वोपरि है। वेदान्तमें भी और भक्तिमें भी। **श्रवणं, कीर्तनं विष्णोः**—विष्णुका श्रवण कीजिए। **मन्तव्यो श्रोतव्य** कीर्तन कीजिए। **निदिध्यासितव्यः**—श्रवण कीजिए। संशय हो तो अनुकूल मनन, अनुकूल चिन्तन कीजिए। श्रुत और मत जो पदार्थ हैं, उसमें अपने मनको लगाइये। **यतन्ति ते ब्रह्म तद्विदुः**। उन्हें ब्रह्मज्ञान भी होता है, **कृत्स्नम् अध्यात्मं**—वे सम्पूर्ण अध्यात्मको जान जाते हैं। **कर्म चाखिलम्**—वे समग्र कर्मको जान जाते हैं।

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।

अधिभूत सहित, अधिदैव सहित, अधियज्ञ सहित परमात्माको पहचान लो। इन शब्दोंका अर्थ ८ वें अध्यायके प्रारम्भमें है। अर्जुनने प्रश्न किया है—ब्रह्मज्ञान क्या है? अध्यात्म क्या है? कर्म क्या है? अधिदैव क्या है? अधिभूत क्या है? अधियज्ञ क्या है? भगवान्‌ने उसका उत्तर दिया है। आप थोड़ा-सा ध्यान दें। परमेश्वरको समग्र रूपसे जानना। सातवें अध्यायके प्रारम्भमें यह बात कही गयी।

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः। 7.1

भगवान्‌का ही भरोसा, भगवान्‌से ही प्रेम और अपने साधनमें लगन—तत्परता। साधन करते रहो—प्रेम भी भगवान्‌से और आश्रय भी भगवान्‌का। इससे फल क्या निकलेगा?

असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसितच्छृणु।

समग्र परमेश्वरका ज्ञान होता है। यह भागवत-धर्मकी विशेषता है। आत्माकी समग्रताका ज्ञान यह कश्मीरी शैव दर्शन है। अपना आत्मा ही तरंगायमान हो रहा है। सम्पूर्ण विश्वके रूपमें और भगवान् ही अनेकरूप धारण करके विलास कर रहे हैं जगत्के रूपमें। यह भागवत-सिद्धान्त है।

भागवत-सिद्धान्त तत्-पदार्थकी ओरसे आता है और शैव-सिद्धान्त आत्मपदार्थकी ओरसे आता है। वेदान्त यहाँ आत्माकी आत्मा और वहाँ भगवान्की आत्मा दोनोंको एक बताता है। उसमें आत्मा और भगवान्का कोई भेद नहीं है। ये दोनों सिद्धान्त यह बताते हैं कि परमात्मा समग्र है। समग्र माने वही अधिभूत है, वही अधिदैव है, वही अध्यात्म है, वही अधियज्ञ है, वही कर्म है और वही ब्रह्म। यह वेदान्त है। **ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्।** जान लीजिए—समझ लीजिए कि सबके रूपमें परमेश्वर है। अपनी आत्मा ही सबके रूपमें है। **आत्मैवेदं सर्वं स एवेदं सर्वम्।** सबके रूपमें परमेश्वर है। देखो सबके रूपमें परमेश्वर, यह भागवत-सिद्धान्तकी विशेषता है। जो योग करते हैं, समाधि लगाते हैं, उसको समाधि-कालमें परमात्माका दर्शन होता है।

भागवत-धर्मका यह कहना है—आप जहाँ हैं वहीं—कहीं हटने-उठनेकी जरूरत नहीं—और जो देख रहे हैं, उसीमें यह समग्र भगवान्का ज्ञान है। आप समग्ररूपसे परमेश्वरको पहचानिये। सम्पूर्ण भूतोंमें आप भगवद्भाव कीजिए। सबमें भगवान्। मोरमें बैठकर परमेश्वर नाच रहा है। कोयलमें बैठकर वह कूहू-कूहू बोल रहा है। हमने देखा है वृक्षोंमें वह फूलता है। ओह! क्या फूलता है। फलके रूपमें वृक्षोंमें-से वही निकलता है। सुन्दर-सुन्दर मछलियोंके रूपमें वही नाचता है पानीमें। बूँद-बूँद पानी बनके वह छलकता है। **परमेश्वरः सर्वभूतेषु।** वही स्त्रीके रूपमें है। वही पुरुषके रूपमें है। वही कण-कणके रूपमें है। क्षण-क्षणके रूपमें वही है। मन मनके रूपमें वही है। तन तनके रूपमें वही है। आप सभी वस्तुओंमें—**भवन्ति इति भूतानि सर्वभूतेषु** परमात्माका अनुभव कीजिए। इससे क्या मिलेगा? यह मिलनेवाली बात पीछा नहीं छोड़ती है। कुछ न कुछ फायदा होना चाहिए। एक फायदा तो बिलकुल प्रत्यक्ष है कि जिस समय आप कण-कणमें भगवान्का दर्शन करने लगेंगे—भावना होगी तो थोड़ी ही दिनोमें आपके हृदयमें किसीसे स्पर्धा नहीं रहेगी।

भागवतमें आया है कि स्पर्धा दिलको टूक-टूक कर देती है। आपके मनमें असूया आती है? यह असूया बिलकुल बाँट देती है। यह असूया है—दूसरेके कर्ममें गुण-दोष निकालना। कोई सन्ध्या-वन्दना कर रहा है, माला-फेर रहा है। बढ़िया काम कर रहा है। बोले अरे! दिखानेके लिए कर रहा है। कोई अच्छा काम कर रहा है और आप उसमें खुचर निकाल रहे हैं। इसका नाम होता है असूया। यह हमारे हृदयमें होड़ लगाना होता है। हमारे हृदयमें दूसरोंके दोष देखनेकी वृत्ति रहती है। हम दूसरेका तिरस्कार करते हैं—और हमारे शरीरके प्रति, शरीर सम्बन्धियोंके प्रति, वस्तुओंके प्रति, विद्याके प्रति, बुद्धिके प्रति अहंकार धारण करते हैं। भागवत-धर्मका यह स्वरूप है कि उसमें किसी प्रकारका अहंकार नहीं है। बल्कि अहंकारीके बारेमें तो भागवतमें ऐसा-बोलते हैं—सब भगवान्को पा सकते हैं—क्योंकि सबकी आत्मा भगवान् है, सब

समय भगवान् है, सब स्थानमें भगवान्को देख सकते हैं, परन्तु भगवान्के देखनेमें परदा क्या पड़ता है? वे लोग भगवान्का नाम भी लेनेके अधिकारी नहीं हैं—कौन? जिसको अपनी जाति, जन्मका अभिमान, जिसको अपनी कुरसी, ऐश्वर्य, हुकूमत, विद्या, धनका अभिमान है, जिसका नशा छा जाता है। इससे नशा बँट जाता है, तब वह परमात्माका नाम लेनेका भी अधिकारी, हकदार नहीं होता है।

इसलिए जब हम सबमें भगवान्को देखने लगते हैं तो स्पर्धा, असूया, तिरस्कार और अहंकारकी निवृत्ति हो जाती है। एक सहज जीवनकी प्राप्ति होती है। पराश्रित जीवन नहीं रहता। दुःखमय जीवन नहीं रहता। अज्ञानमय जीवन नहीं रहता। मृत्युके भयवाला जीवन नहीं रहता। एक दिव्य जीवनकी प्राप्ति होती है—जब हमारे जीवनमें सर्वत्र भगवान्का दर्शन—भगवान्के दर्शनका आनन्द आने लगता है। इसलिए कि वह ज्ञान है। अधिदैव भी भगवान्का स्वरूप है। अधिभूत कहते हैं—पृथिवी, जल, वायु, अग्नि आदि। सूर्य, चन्द्र इत्यादि अधिदैव हैं। और जो भी कर्म हो रहा है शरीरसे नयी-नयी चीजें जिससे पैदा होती हैं और वह ब्रह्म जो सबकी आत्मा है, यह सब अधियज्ञ हैं। जो सबके हृदयमें रहकर केवल यज्ञ कर रहा है। लो दृष्टिशक्ति देखो आँखसे। लो कान—श्रवणशक्ति, सुनो। लो त्वचा—स्पर्श करो। लो जीभ—इससे रसास्वादन करो। लो नासिका, इससे गन्ध सूँघो। लो शरीर, इससे धर्मानुष्ठान करो। लो अन्तःकरण, इससे उत्तम-उत्तम विचार करो। परमात्मा हमेशा यज्ञ करता रहता है। वह स्वयं यज्ञरूप है। जैसे चन्द्रमा यज्ञ कर रहा है—सबको आह्लाद दे रहा है। हम एक दूसरेको कुछ-न-कुछ दें। दूसरेको समझें कि जो मेरे अन्दर है वही इसके अन्दर हे और किसीकी हिंसा न करें। किसीको दुःख न पहुँचावें। हम लोगोंका फिर मिलन हो, एक दूसरेको पहचानें, एक दूसरेको कुछ दें। एक दूसरेको नुकसान न पहुँचावें। क्योंकि यह यज्ञ-स्वरूप जो परमात्मा है—वह सब जगह बैठकर कुछ-न-कुछ, कुछ-न-कुछ यज्ञकर रहा है। दे रहा है।

सर्वभूतेषु मद्भावं ब्रह्म—अध्यात्म, कर्म, भूत, अधिदैव और अधियज्ञ—ये सबके रूपमें कौन है? परमेश्वर—इस परमेश्वरको जान लो, तब—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।

आठवें अध्यायका—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥ 8.14

आपका चित्त अनन्य हो जायगा। अब आप भगवान्के प्रति अनन्य हो जायेंगे। जो आपके सम्मुख आता है, जो दीखता है, उसमें भगवान्के बारेमें श्रवण करेंगे। यह हमारी जो श्रुति है—कान है—श्रवण है—श्रवण ही हमारे मनको मार्ग दिखाता है। हमारे हृदयमें परिवर्तन करता है।

आप लोगोंने बड़े प्रेमसे, बड़ी शान्तिसे, बड़ी लगनसे श्रवण किया और हमको बोलनेका मौका दिया। आपकी बात तो आप जानें, हमको सचमुच भगवद्स्वरूप, भगवत्तत्त्व, भगवद्रहस्य, भगवच्चरित—भगवद्गुणानुवाद और भगवद्वाणी—इनके बोलनेमें जो आनन्द प्राप्त होता है, उसके कारण मैं बोलता हूँ—वह

आनन्द ही हमसे बुलवाता है। यदि वह आनन्द नहीं हो तो हम बोल नहीं सकते। इस आनन्दके निमित्त आप लोग बनते हैं। भगवान् आप लोगोंको इस बोलनेका निमित्त बनाता है। आपके भीतर वही प्रभु बैठा हुआ है, जो यहाँ बैठकर बोलनेकी शक्ति देता है और वहाँ बैठकर बोलनेकी प्रेरणा देता है। वे दोनों दो नहीं हैं, बिलकुल एक हैं। इसलिए न तो कोई कृतज्ञता है, न तो कोई आभार है, न कोई धन्यवाद है—सब जो भगवान् कर रहे हैं उसमें आनन्द ही आनन्द है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

गीता-दर्शन

तीन खण्डोंमें पूज्य महाराजश्री
स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजीके
रोचक, सरस, प्रसन्न एवं गंभीर शैलीमें
प्रदत्त 130 प्रवचनोंका बेजोड़ संकलन है,
जिसके माध्यमसे भगवान् श्रीकृष्णका सन्देश
'गीता-दर्शन' के रुपमें, साधारण-से-साधारण
व्यक्ति भी समझ सकता है। पूर्ण विश्वास है कि
सुधी पाठक वर्ग पूज्य महाराजश्रीकी
प्रस्तुत व्याख्यासे अवश्य
लाभान्वित होंगे।

आनन्द कानन प्रेस